वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र
"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष · 4 शुक्रवार, 15 जनवरी, 1988
अंक · 1 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

माघ कृ 2 सवन 2044
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

आर्यसमाज ही कुरीतियों को समाप्त कर सकता है

—दत्तात्रेय

अजमेर, 3 जनवरी। आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने कहा है कि केवल आर्य समाज ही देश से सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन कर सकता है।

उन्होंने कहा कि देश की स्वाधीनता के पश्चात एक बार पुन अंधविश्वासों व सामाजिक कुरीतियों ने अपनी जड़ें जनसाधारण के मस्तिष्क में जमा ली हैं। सती जैसी कुप्रथायें पुन अपना वीभत्स रूप दिखा रही है। अत आज आर्य समाज के ऊपर इन सभी रूढ़ियों को समाज से दूर करने का एक भारी दायित्व आ गया है। और मेरी यह स्पष्ट मान्यता है कि आर्य समाज के अतिरिक्त अन्य कोई भी सगठन इस दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वाह नहीं कर सकता है।

आचार्य दत्तात्रेय जी स्थानीय 'समाज भवन में दिल्ली से देवराला' के अजमेर पदयात्रियों के सम्मान में आयोजित समारोह में अपना अध्यक्षीय भाषण कर रहे थे। उन्होंने कहा कि सती प्रथा हो जाति प्रथा हो या समाज में प्रचलित अन्य कोई सामाजिक कुरीति इन सब का आधार धार्मिक अंधविश्वास है। और इसलिए तथाकथित बुद्धिजीवी केवल मानवीयता या बौद्धिकता के सहारे इन कुरीतियों के उन्मूलन में कभी सफल नहीं हो सकते। आपने कहा कि आर्यसमाज के धार्मिक आधार पर भी इन कुरीतियों का खण्डन करने की क्षमता रखने और अपना कोई राजनैतिक स्वार्थ नहीं होने के कारण यही इन सभी सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं को समाप्त करने में सफल हो सकता है।

अपने भाषण में आचार्यजी ने कहा कि हिन्दुओं के अन्य सगठन हिन्दुओं में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध कोई उल्लेखनीय कदम उठाने का साहस नहीं रखते। पुरी शंकराचार्य के सती-प्रथा का समर्थन करने पर इन सगठनों की प्रतिक्रिया को सतोषजनक नहीं कहा जा सकता। हिन्दुओं में व्याप्त कुरीतियों को ऐसे ढुलमुल और यथा स्थितिवादी सगठन समाप्त नहीं कर सकते। इन कुरीतियों से तो आर्यसमाज जैसा क्रांतिकारी सगठन ही समाज को मुक्त करा सकता है। आपने कहा कि देश में हिन्दू बहुमत में है इसलिए इनकी सामाजिक उन्नति या अवनति का देश की प्रगति पर व्यापक प्रभाव पड़ता है।

आर्यों का आह्वान करते हुए आचार्य दत्तात्रेय ने कहा कि 'दिल्ली से दिवराला की पदयात्रा तो आर्य समाज के वर्तमान जन-साधारण अभियान का प्रथम चरण था। अतएव आप भविष्य में अभियान के आगामी चरणों के लिए पूर्ण रूप से तैयार रहें।

गर्भस्थ भ्रूण हत्या : एक अमानवीय कृत्य

वीरेन्द्र कुमार आर्य—

विज्ञान अपने आप में वरदान भी है और अभिशाप भी।

एम्निओसेंटेसिस' नामक एक परीक्षण का गर्भस्थ भ्रूण के स्वास्थ्य की जाच के लिए आविष्कार हुआ था। ताकि यदि भ्रूण के स्वास्थ्य में कोई असामान्यता नजर आए तो उसे उचित चिकित्सा द्वारा समयानुसार दूर किया जा सके। परन्तु नारी को दूसरे दर्जे का नागरिक समझने वाले आधुनिक भारतीय समाज में विज्ञान का यह वरदान नारी समाज के लिए एक अभिशाप बनकर रह गया और इसका दुरुपयोग भ्रूण का लिंग ज्ञात कर स्त्री भ्रूण हत्या के लिए होने लगा।

हिन्दू धर्म की आधार शिला विभिन्न अंधविश्वासों और पाखडों पर टिकी हुई है। इनके पुराणादि धर्मशास्त्र कहते है कि पुत्र के मुखाग्नि दिए बिना मुक्ति सभव नहीं। इसलिए मुक्ति कामना और वंश परम्परा को चलाए रखने के लिए पुत्र प्राप्ति की अनिवार्यता से इस अमानवीय कुकृत्य की उत्पत्ति हुई। और दहेज के खौफ ने हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य वर्गों के लोगों को भी इस कुकृत्य का समर्थक बना दिया।

वैदिक धर्म में नारी को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त हैं। चारों वेद नारी और पुरुष की समानता की बात करते है। लेकिन यह भी एक विडम्बना है कि वेदों का जयघोष करने वाला हिन्दूसमाज ही लड़के और लड़की को समान मानने के लिए तैयार नहीं। हिंदुत्व का आधार ही वस्तुत वेदादि धर्मशास्त्र न होकर मनुष्यकृत अमानवीयता व अंधविश्वास के प्रसारक पुराणादि शास्त्र हैं।

(शेष पृष्ठ 6 पर)

दत्तात्रेय आर्य की स्वामी अग्निवेश से भेंट

आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने स्वामी अग्निवेश से 29 दिसम्बर 87 को नई दिल्ली में भेंट की और नारी उत्पीडन विरोधी अभियान के आगामी कार्यक्रमों और आर्यसमाज के अन्य भावी जन जागरण अभियानों के विषय में विस्तृत बातचीत की।

स्वामी जी ने आचार्य जी को बताया कि अब वे राजनीति को छोड़कर आर्यसमाज के माध्यम से सुधारवादी कार्यों में ही अपना समस्त समय लगायेंगे। आचार्यजी ने उनके इन विचारों का स्वागत किया और 'जन जागरण' के उनके अभियान में अपनी समस्त सस्थाओं साथियों व स्वय का पूर्ण सहयोग उन्हें प्राप्त होने का विश्वास दिया।

सार्वदेशिक सभा के तत्वावधान में नारी उत्पीडन विरोधी तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आर्यसमाज के 'जन जागरण' अभियान की रूपरेखा तय करने के लिये 24, 25 जनवरी को दिल्ली में प्रमुख आर्य-विचारकों की एक विचारगोष्ठी का आयोजन किया गया है।

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक : रामसिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या : 21010

आर्य समाज की निष्क्रियता

स्वाधीन भारत के पुनर्निर्माण के साथ भारतीय संस्कृति का रूप भी बदला है। परिस्थितियों के इन कालों में आर्यसमाज के कर्णधार सोये रहे। नवीन भारत की सांस्कृतिक रूपरेखा पर वे वैदिक संस्कृति की छाप नहीं डाल सके। परिणाम यह हुआ कि देश का नैतिक बल शिथिल हो गया। विज्ञान के आधार पर देश ने उन्नति की किन्तु राष्ट्रीय चरित्र की नींव कमजोर रह गयी। आशा, उल्लास और निर्माण का स्थान निराशा, उदासी और दिशाहीन विद्रोह ने ले लिया।

—सत्यकाम विद्यालंकार

सम्पादकीय—

आर्य समाज राष्ट्रीय जीवन का केन्द्र बिन्दु बने

आगामी 26 जनवरी, 1988 ई. को हमारा राष्ट्र गणतन्त्र दिवस की 38वीं वर्षगांठ मनाने जा रहा है। 26 जनवरी, 1950 ई. को भारत का संविधान लागू हुआ था और इसे सर्वसत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया था। परन्तु आज राष्ट्र का जो स्वरूप निखर रहा है वह स्वतन्त्रता पूर्व की आशाओं के अनुरूप नहीं है। स्वतन्त्रता पूर्व जैसी आशा उत्साह जोश, कर्त्तव्य पालन, देशभक्ति, राष्ट्रीयता, त्यागवृत्ति की भावना जन-जीवन में दिखती थी आज उसका लोप सा होता जा रहा है। राष्ट्रीय एकता और अखण्डता एक प्रकार से आन्तरिक एवं बाह्य संकटों से खतरा महसूस कर रही है। पंजाब में खालिस्तान के नाम पर आतंकवाद एवं उग्र हिंसा का नग्न ताण्डव हो रहा है बंगाल के उत्तर में गोरखा लैण्ड की समस्या कहीं झारखण्ड तो कहीं उत्तरी-पूर्वी भारत में नागालैंड, त्रिपुरा, मेघालय और मिजोरम में सिर उठाती हुई विघटनकारी शक्तियां राष्ट्र की अस्मिता को चुनौती दे रही है। साम्प्रदायिकता भाषावाद, प्रान्तीयतावाद पृथकतावाद, क्षत्रीयतावाद एवं जातिवाद सभी विषधर सर्प माँ भारती को डराने को आतुर हो रहे हैं। चीन से सीमा विवाद अभी तक नहीं सुलझ पाया है, उधर पाकिस्तान भी अमेरिका के द्वारा अनापशनाप दिये जा रहे हथियारों के बल पर उन्मादग्रस्त होकर छेड़खानी से बाज नहीं आ रहा है। स्वार्थ के वशीभूत होकर तथा राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य को भुलाकर जनसाधारण चारित्रिक पतन की ओर अग्रसर है। रिश्वत भ्रष्टाचार, बेईमानी निकम्मापन तथा दीर्घसूत्रता एवं आलस्य भी राष्ट्रीय जीवन को खोखला करने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं। देश के सभी राजनैतिक दल भी वोट की राजनीति के चक्कर में तथा येनकेन प्रकारेण कुर्सी हथियाने की होड़ में विघटनकारी तत्वों के विरुद्ध खुलकर कुछ कहने और समझौतावादी एवं यथास्थितिवादी बनकर उन दुष्कर्मों को पनपाने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं।

ऐसे विषमकाल में आर्यसमाज जैसा प्रखर राष्ट्रवादी संगठन ही आशा की किरण दिखाई देता है। क्योंकि इसके संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती स्वयं राष्ट्रीयता, स्वराज्य और स्वदेशी के प्रथम उन्नायक थे और उन्होंने अपने जीवन और कार्यों से आर्यजनों को निर्भीकता, स्वदेशनिष्ठा श्रद्धा एवं कर्तव्यपरायणता का पाठ पढ़ाया था तथा आर्यसमाज जैसे संगठन की स्थापना कर उसे देश और सत्य में प्रचार प्रसार और निर्माण का अंग बनाया। आर्यसमाज का यह छठा नियम है कि "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति करना' तथा प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए परन्तु सबकी उन्नति को अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"

यही कारण था कि स्वामी श्रद्धानन्द जी अमृतसर कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष बने थे और बाद में अलीबन्धुओं के प्रति गांधीजी की तुष्टिकरणनीति को देखकर वे अलग हो गये परन्तु देशभक्ति की राह नहीं छोड़ी। भगतसिंह जैसे शहीद रामप्रसाद बिस्मिल जैसे क्रान्तिकारी और लाला लाजपतराय जैसे महान देशभक्त नेता आर्यसमाज की ही देन थे। सैंकड़ों आर्यजनों ने स्वाधीनता संग्राम में बढ़चढ़ कर भाग लिया। आर्यसमाज के प्रचार प्रसार की प्रेरणा से हजारों लोग जेलों में गये और अत्याचारों का मुकाबला किया। अब हमारी भी जिम्मेदारी है।

स्वाधीनता के बाद आर्यसमाज का संगठन भी कुछ शिथिल हो गया है। परन्तु फिर भी इस संगठन के लोग सामाजिक बुराइयों देशद्रोहितापूर्ण कार्यों, अन्धविश्वासों कुरीतियों का डंके की चोट विरोध करने में संकोच नहीं करते। आज भी इस संगठन के पास हजारों तपे हुए कार्यकर्ता, सधे हुए युवक हैं जो आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्र के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हैं। अतः आर्यसमाज रूपी सोते हुए शेर को अपनी शक्ति पहचान कर पुनः अपनी प्रामाणिकता एवं प्रखर राष्ट्रवादिता का परिचय देते हुए सबल और सशक्त रूप धारण कर भारत राष्ट्र को एक सूत्रता में आबद्ध कर विध्वंसकारी शक्तियों को कुचलने हेतु तत्पर होना चाहिये।

जाग उठो ए आर्य वीरो तुम हो ताकत से भरपूर।
एक बार फिर मार दो ठोकर करो शत्रु को चकनाचूर॥
वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः

—रासासिंह

वेदों की उपेक्षा क्यों ?

यूं तो पौराणिक समाज भी वेदों के यशोगान में बढ़ चढ़कर भाग लेता है। परन्तु इनके शंकराचार्य भी जब सती प्रथा और जाति प्रथा का समर्थन वेदों के आधार पर करते हैं तो इनकी वेदभक्ति और वेदज्ञान का आप अनुमान लगा सकते हैं। यद्यपि अनेक आर्य विद्वानों ने कुरान और सिक्खों के मान्य ग्रन्थ गुरु ग्रन्थ साहब में वेदों के अंश ज्यों के त्यों उद्धृत हुए सिद्ध किए हैं। लेकिन इन धर्मों के लोगों से वेदों के प्रचार-प्रसार की अपेक्षा रखना मूर्खता ही होगी।

महर्षि दयानन्द वेदों को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक कहते हैं। इससे अधिक वेदों की महिमा का गुणगान और क्या हो सकता है? उन्होंने वेदों का गुणगान ही नहीं किया अपितु उन्हें जनसाधारण तक पहुंचाने के लिए भी भारी उद्योग किया। मध्य काल में निर्जीव हुए वेद संहिताओं के प्रचार को दयानन्द ने ही पुनर्जीवित किया। आपने तो पंजाब के पटियाला विश्वविद्यालय में भी अपने प्रमाणित शुद्ध वेदभाष्य को विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कराने का उद्योग किया था। परन्तु खेद है कि अंग्रेजी सरकार ने अपने हितों को देखते हुए यह कार्य नहीं होने दिया।

दयानन्द के बाद वेदों के प्रचार-प्रसार का दायित्व उनके उत्तराधिकारी आर्यसमाज पर आया। परन्तु पं. ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के अतिरिक्त मेरे स्मृति पटल पर ऐसा कोई नाम नहीं है जिसने भारतीय विश्वविद्यालयों की संस्कृत परीक्षाओं में उनके वेदभाष्य को सम्मिलित करवाने के लिए कभी गंभीरता से प्रयास किया हो। मान्य जिज्ञासु जी ने पंजाब विश्वविद्यालय की संस्कृत परीक्षाओं में ऋषि के वेदभाष्य सहित वेद के कुछ सूक्त और 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' को भारी परिश्रम कर सम्मिलित कराया था।

आर्यसमाज अपने मंच से वेदों का स्तुतिगान करता रहता है। परन्तु 'कथनी और करनी' का अन्तर यहां भी साफ दृष्टिगोचर होता है। कहने को आर्यसमाज सैकड़ों वेदविद्यालय और गुरुकुल संचालित कर रहा है। लेकिन मात्र कर्मकांडी के अतिरिक्त इनके स्नातक कभी विज्ञान वेत्ता या इंजीनियर बन पाए? क्या प्रमाण दे पाए आप इसका कि वेदों में विज्ञान है?

प्राप्त समाचारों के अनुसार केन्द्र सरकार ने वेदों के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए वेदविद्यालयों को भारी अनुदान देना स्वीकृत किया है। क्या आर्यसमाज इस सुविधा का लाभ उठा कर वेद विद्यालयों द्वारा विज्ञानवेत्ता और अन्य आधुनिक विषयों के विद्वान समाज को देकर वेदों की प्रतिष्ठा को पुनर्स्थापित कर सकेगा?

—वीरेन्द्र आर्य

आर्यसमाज की वर्तमान दशा का आलोचनात्मक अध्ययन-

अनागत - चिन्तन

— श्री प गङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम ए —

आर्य समाज के भविष्य को उन्नतिशील बनाने के लिए मुझे इस वर्तमान काल में तीन बातें चिन्तनीय प्रतीत होती हैं। (1) मन्यताओं का परीक्षण (2) पर नीति (फारेन पालिसी) में परिवर्तन (3) गृह-नीति (होम पालिसी) का परिपालन। प्रत्येक के विषय में सक्षेप मे विचार करना है।

मान्यताओं का परीक्षण - मेरी धारणा ऐसी है कि हमारे पूर्वजो ने ऋषि दयानन्द के शरीरात के पश्चात् आत्म-त्याग, उत्साह और तत्परता से जब कार्य आरम्भ किया तो मन्तव्यो को निश्चित करने के लिए उनके पास पुष्कल सामग्री न थी, सत्यार्थप्रकाश, संस्कार विधि तथा अन्य ग्रथ वर्तमान रूप मे विद्यमान न थे और अधिक प्राचीन न थे। ऋषिवर के मौखिक व्याख्यानो के जो सस्कार उस समय के नव-वयस्क कार्यकर्ताओ के मस्तिष्क मे बने रहे उनकी विद्युत शक्ति उनको आगे बढाती रही। उस समय जो मान्यतायें बन गई वह अगली पीढी के लिए राजपथ या राज मार्ग बन गई। उनमे कुछ पुरानी परम्पराओ के अवशिष्ट भाग थे जो मूलत त्यागने से रह गये थे। कुछ उस युग की परिस्थितियो और आवश्यकताओ के कारण मनो-वैज्ञानिक कारणो से स्वत बन गई थी। कुछ स्वामी जी महाराज के खण्ड-नात्मक व्याख्यानो से ले ली गई थी। जब ऋषि के ग्रन्थ उपलब्ध होने लगे तो हमने उनका अध्ययन भी उन्ही मान्यताओ के आधार पर किया और कालान्तर मे वे मान्यतायें सीमेट की सड़क के समान सुदृढ हो गई। जब विपक्षियो से हमको शास्त्रार्थ करने पडे तो इन मान्यताओ को कूट पीट कर अधिक मजबूत बनाने की आवश्यकता पडी। हमने ऋषि के ग्रथो के शब्दो को ऊपरी दृष्टि से पढा। उन शब्दो मे ओतप्रोत जो आत्मा था वह हमारी दृष्टि से ओझल होता गया। इसलिए आजकल यदि कोई नया प्रश्न उपस्थित होता है तो वह धातु और प्रत्यय तक ही सीमित रह जाता है। यही कारण है कि दिन प्रतिदिन हमारी धारणाओ मे पौराणिकता का पुट लगता चला जा रहा है। और प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा के नाम पर हम उन मौलिक सिद्धांतो को भूलते चले जा रहे हैं जिनके आधार पर ही वैदिक धर्म विश्वव्यापी हो सकता था। और जिनके परित्याग पर वह आशायें विलीन सी होती चली जा रही हैं, यहां मैं कुछ की ओर सकेत करता हू —

(1) तीसरे समुल्लास मे श्री स्वामी महाराज ने सत्यासत्य के निर्णय की कुछ कसौटियां दी हैं। जिनमे 8 प्रमाण सम्मलित हैं। यहा प्रश्न यह है कि शब्द प्रमाण का उनमे क्या स्थान है? क्या शब्द प्रमाण या आप्त वाक्यो की मान्यताओ मे प्रत्यक्षादि का भी कुछ मान है या नही। जहा कही ऐसा लिखा है कि श्रुति के लिए कोई अतिभार नही है वहा क्या स्वामीजी महाराज को यह शब्दश मान्य है अथवा आप्तवाक्यो के मानवीय या अमानवीय होने के लिए भी कुछ ऊहापोह की गुजायश है। इस विषय मे हम लोग शकर या अन्य विद्वानो के कितने अनुगामी हैं और ऋषि दयानन्द के कितने। साधारण लोग इसकी उपेक्षा कर सकते है परन्तु जो यह जानते हैं कि आर्यसमाज के सिद्धान्तो के उद्यान मे पौराणिक झाड़झकार फिर न उग उठें जिसके कारण एक वेद मत के अनेक मत हो गये उनको सतर्क होने की आवश्यकता है।

(2) हमारी पद्धति मे याज्ञिक युग की भावनायें बड़े वेग से आ रही हैं। उन सूक्ष्म विचारधाराओ के परीक्षण की आवश्यकता है जो साधारण जनता को लोभ मे डाल रहे हैं और हमारा पुरोहित वर्ग उन पौराणिक रूढियो को प्रोत्साहन दे रहा है जिनके उन्मूलन के लिए 'यज्ञ' को सीमित करने की आवश्यकता है।

(3) वेद के विषय मे अभी हम इसी उलझन मे पड़े हैं कि वेदभाष्य की शैलियो मे कौनसी शैली यथार्थ है। हमारी महासभाओ मे जब वेद-सम्मेलन होते हैं तो वेद का कोई ऐसा रूप हमारे सामने नही आता जो विश्व के लोगो को ग्राह्य हो सके। हिन्दी और सस्कृत मे तो हम मूल शब्दो या उनके पर्यायों को ज्यो के त्यो रखकर अनिश्चितता के दोष को छिपा सकते हैं। परन्तु यदि किसी विदेशी भाषा मे अनुवाद करना हो तो भावो के व्यक्त करने मे कठिनाई होती है क्योकि स्वय लेखको के मन म वह भाव व्यक्त नही है।

(4) वैदिक समाजवाद क्या है यह समस्या अभी तक निश्चित नही हो सकी। वर्ण और आश्रम को क्या रूप दिया जाय कि वह विश्व व्यापी हो सके यह टेढा प्रश्न है।

परनीति -अब थोडा सा परनीति (फारेन पालिसी) पर विचार कीजिये, आर्य समाज से इतर सस्थाओ का आर्य समाज से क्या सम्बन्ध होना चाहिये जिससे आर्य समाज के विश्व धर्म होने मे सहायता मिले। इस विषय मे मुझे हमारी वर्तमान नीति आमूल चल दूषित प्रतीत होती है। आर्य समाज का मच, आर्य समाज का प्रेस, आर्य समाज के आन्दोलन, आर्य समाज के नारे, आर्य नेताओ की मनावृत्तिया और आर्य जनता की प्रगतिया बड़े उच्च स्वर से पुकार कर कह रही हैं कि हमारी परनीति फारेन पालिसी) वही है जो सैकड़ो वर्षो से सामान्य हिन्दुओ की थी और जिसके कारण न केवल दूसरे देशो मे अवैदिक मतो ने जन्म लिया अपितु उन्होने अवसर पाकर वैदिक सस्कृति को प्रनष्ट भी कर दिया। इस विषय मे साठ साल पहले हम सबसे आगे थे। और यह आशा पडती थी कि हम ससार मे वैदिक धर्म फैला सकेंगे, परन्तु अब तो कई सस्थायें हमसे अधिक उदार है और इसलिए उनका अधिक मान है, हम प्रतिक्रियावादियो के पजे मे है। हम वर्तमान साम्प्रदायिक उलझनो मे इतने उलझ गये है कि विदेशी ईसाइयो को भारत से कैसे निकाला जाय, प्रतिक्रियावादी पाकिस्तानियो से हिन्दुओ को कैसे बचाया जाय, इसकी ही हमे अधिक चिन्ता है परन्तु यह चिन्ता किंचित भी नही है कि मुसलमानो के विचारो मे परिवर्तन करने के लिए क्या उपाय सोचे जायें और विदेशो म आर्य समाज की आवाज कैसे पहुचाई जाय। जो चिन्ता हिन्दुओ को दो सहस्र वर्षों से रही वह आज भी है। इसलिए 'शुद्धि' आन्दोलन तो कभी का मर गया। इच्छामात्र बनी है केवल इच्छाओ से तो काम नही चलता। क्या यह सम्भव है कि देहली के कुछ मुसलमान स्वय सार्वदेशिक सभा के कार्यालय म आकर यह माग करें कि आप हम शुद्ध कर लीजिए। हम आर्य होना चाहते है? जब तक आर्यसमाजी मुसलमान को और मुसलमान आर्य समाजी को अपना कट्टर शत्रु समझता है तब तक क्या यह सम्भव है कि निकट भविष्य या दूरस्थ भविष्य मे कभी जादू से ऐसा समय आ सकता है कि सहयोग-विरोधिनी प्रवृत्तियां कम हो जायें? इसी प्रकार जब तक विदेशो मे यह धारणा पक्की होती रहेगी कि भारत मे आर्य समाज एक ऐसी सस्था है जो ईसाइयो को फूटी आँख से भी देखना नही चाहती उस समय तक आर्य समाज के मिशन को विदेश मे सफल होने की क्या आशायें रक्खी जा सकती है? और क्या वर्तमान अन्तर्जातीय वातावरण मे यह कभी सम्भव हो सकेगा कि भारत सरकार विदेशी ईसा-इयो के आने पर पुराने जमाने के समान कोई पाबन्दी लगा दे। और यदि किसी प्रकार ऐसी पाबन्दियां लगा भी दी गई तो आर्य प्रचारको के साथ शहर वालो का क्या बर्ताव होगा और भारतीय ईसाइयो की प्रगतिया कैसे रोकी जा सकेंगी। सामाजिक उत्सवो मे शान्ति प्रकरण के पाठ करने से तो शांति स्थापित न हो सकेगी जब तक कि अशान्त वातावरण मे शांति के बीज बोने का प्रयत्न नही होगा। क्या आर्यसमाज की वर्तमान प्रगतियो को देखते हुए कोई कह सकता है कि अमुक अशांत वातावरण की अशान्ति

(शेष पृष्ठ 4 पर)

स्व उपाध्याय जी ने यह लेख कई दशक पूर्व लिखा था। उनके यह लेख लिखने से आज तक आर्यसमाज की नीति और मान्यताओ मे कोई परिवर्तन नहीं हो पाया है। 'आर्य पुनर्गठन' की नीति आरम्भ से ही आर्यसमाज की वर्तमान दशा पर विशेष आलोचनात्मक सामग्री देने की रही है। उसी पर-म्परा को निभाते हुए हम अपने विचारशील पाठको के समक्ष मान्य उपाध्याय जी का यह महत्वपूर्ण लेख प्रस्तुत कर रहे है।

- सम्पादक

गौतम बुद्ध और वैदिक ब्राह्मण पर उनका चिंतन

— प्रो बुद्धिप्रकाश आर्य —

महात्मा गौतम बुद्ध को प्राय नास्तिक और वेद विरोधी बताया जाता है किन्तु ये दोना ही आरोप परम्परावादी बन चुके हैं। आरोप न तो ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे सही उतरते हैं और न तर्क की दृष्टि से वास्तविक सिद्ध होते हैं। यदि उक्त दोनो दृष्टियो से देखा जाये ता बुद्ध धम की समस्त शिक्षायें वेदो मे वर्णित आचार सहिताओ का ही बौद्धीकृत सस्करण हैं। मागधी व पाली भाषा मे अपने शिष्यो को सदेश व उपदेश देकर भगवान गौतम बुद्ध ने उन्ही प्रदत्त वेद मूलक मानव मूल्यो का प्रतिपादन किया है जिन्हे मध्यकालीन पौराणिक ब्राह्मणो ने विकृत कर डाला था। पौराणिक पडितो द्वारा यज्ञ मे पशु बलि, श्राद्ध छुआछूत तथा वीभत्स तान्त्रिक विधानो को देखकर गौतम बुद्ध को तथाकथित वेद मूलक पौराणिक धम से घृणा हो गई थी।

एक बार गौतम बुद्ध ने अपनी प्रवास यात्रा के समय देखा कि कुछ तिलकधारी ब्राह्मण पशुओ का काट-काट कर हवन मे उनके मास की आहुतिया दे रहे थे। गौतम ठिठक कर खडे हो गये। ब्राह्मणो को बुलाकर पूछा कि यज्ञ जैसे पवित्र काय मे यह घृणित हिंसा कम क्यो किया जा रहा है? ब्राह्मणो ने उत्तर दिया कि वेदो म लिखा कि—

'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात यज्ञादि कर्मों की हिंसा को हिंसा नही कहा जाता है। इस विधान का हिंसत पशु सीधा स्वग मे जाता है। गौतम ने फिर पूछा जिन वेदो म यह बात लिखी है उनका रचयिता कौन है? ब्राह्मण बोले वेद साक्षात ईश्वर की वाणी है। वेदो म कई स्थलो पर 'गवोलम्भन' (गोवध) आदि का विधान है।

प्रगतिशील समाज का नव-निर्माण कर सकते है। हम म से प्रत्येक के उद्देश्य व मक्सद तभी पूण हो सकते है, जबकि हम अपनी कौमी एकता का यथावत भगवान आचार माग के लिए वैराग्य उपशम, अभिज्ञा, सबोधि तथा निर्माण उत्पन्न करने म सहायक न होने के कारण उन सभी प्रश्नो को निरर्थक बताया इस विषय पर उन्होने एक सुन्दर दृष्टात भी दिया था। यदि एक व्यक्ति विषैले बाण स दग्ध होकर कराह रहा हो और वैद्य बुलाने के लिये सब लोग तत्पर हो तो उस समय क्या इस बात का विचार करना उचित है कि वैद्य का नाम, गोत्र, वश व रग आदि क्या है? उस समय तो तुरन्त वैद्य को बुलाकर उपचार कराना और विष के प्रभाव को दूर करना ही बुद्धिमता मानी जायेगी। भव रोग से आक्रान्त प्राणियो की दशा भी ठीक ऐसी ही है उसे आध्यात्म ज्ञान, दर्शन तथा युक्तियो के समाधान की क्या आवश्यकता है? गौतम का यह दृष्टान्त व्यावहारिक दृष्टि से तो बिल्कुल सही है किन्तु भावी समाज व्यवस्था तथा आत्मिक उन्नति की दृष्टि से इसे सिद्धान्त स्वीकार नही किया जा सकता। क्योकि सब कुछ वर्तमान नही है। भविष्य की चिन्ता भी जीवन का एक विशिष्ट लक्ष्य हुआ करता है। ससार को दुखमय मानना वस्तुत आत्मा की श्रेष्ठता को अस्वीकार करना है। यह दुख स्वाभाविक नही अपितु किन्ही कारणो से होता है। महात्मा बुद्ध ने इसके 12 कारण बताये हैं जैसे जरामरण, जाति, भव उपादान, तृष्णा वेदना, स्पश नामरूप षडायतन, विज्ञान, सस्कार तथा अविद्या। इन्ही का वैदिक शास्त्रो म पच क्लेश, षड रिपु और जैन ग्रन्थो मे कषाय आदि के नाम से पुकारा गया है योगदर्शन मे इनसे छुटकारा पाने के लिये अष्टाग याग का विधान किया है जिन्हे हम यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि के नाम से जानते हैं। भगवान बुद्ध ने भी मध्यम प्रतिपदा' के माध्यम से द्वादश निकाया (भवचक्र) को दूर करने का सन्देश दिया है जो लगभग योगदशन के ही प्रकारान्तरित रूप है। सम्यकदृष्टि सम्यक सकल्प सम्यक वचन सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव आदि ऐसे प्रमुख आधार है जो प्रज्ञा के उदय और मोक्ष मे सहायक हो सकते है। इसी प्रकार सम्यक व्यायाम सम्यक स्मृति तथा सम्यक समाधि भी ऐसी परवर्ती दशायें हैं जो मनुष्य को योग शास्त्र मे वर्णित समाधि की स्थिति प्रदान करती है। वस्तुत भगवान बुद्ध ने योग दर्शन के सिद्धान्तो के साधना पक्षो को इतना व्यावहारिक और ग्राह्य रूप प्रदान किया है जो जनसाधारण के लिए सहज स्वीकार्य हो गया है। विपश्यता विधि प्राणायाम का ही रूप है। ध्यान का केन्द्रीकरण इसी से सम्भव होना बताया गया है। योगदर्शन के अष्टाग योग मे इसे चौथा स्थान दिया गया है।

पता—दयानन्द कालेज अजमेर।

(शेष पृष्ठ 3 का)

वा कम करने के लिए आय समाज ने यह विधि निकाली? इसके विपरीत तो सभी को दृष्टिगोचर होता है। यह हमारी परनीति (फारेन पालिसी) का फल है कि लोग हमसे डरते तो है हमारी ओर आकर्षित नही होते। यह रोग इतना बढ गया है कि हमारी गृह नीति (होम पालिसी) पर भी इसका प्रभाव है और एक नेता दूसरे नेता स तथा एक विद्वान दूसरे विद्वान मे शकित रहता है गोर प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप मे साधारण जनता को उत्तेजित करने की धनाधुनी जारी रहती है।

गृहनीति—दूसरी बात है गृहनीति का परिपालन। मुझे आय समाज के नियम-उपनियम या विधान आदि म कोई विशेष त्रुटि दिखाई नही पडती। आर्यसमाज का यह विधान उस विधान से सवथा भिन्न है जो प्राचीन मठो के थ। वतमान वातावरण उनके अनुकूल है भी नही। सावजनिक वातावरण म यही सम्भव था। परन्तु इस विधान का परिपालन नही हो रहा। इसमे अधिकतर दोष तो हमारी पर-नीति (फारेन पालिसी) का है। कहावत तो यह है कि इस घर को आग लग गई घर के चिराग से। (अभूत्प्रेग्नि गेह-दीप-शिखया गेह गत भस्मताम्) परन्तु घर के चिराग पर पखा करने वाले तो बाहर से घुस आते हैं। आर्य समाज के नेताओ मे से कोई एक भी ऐसा नही जो किसी न किसी राजनीतिक दल के प्रभाव मे न हो और आयसमाज को उस दल के पीछे घसीटने म सहायक न हो। प्रश्न यह नही है कि हम किस तेजी से दौड रहे हैं प्रश्न यह है कि हम किस दिशा मे दौड रहे है और चालीस पचास वष पीछे हम कहा होगे। योग दशन का सूत्र है 'हेय दुखमनागतम्'। भविष्य म आने वाले दुख को हटाने का यत्न करो। अतीत तो चला गया। उसके लिए रोने से क्या लाभ? और वतमान तीव्र गति मे अतीत बन रहा है। अनागत परोक्ष है। सवसाधारण की दृष्टि से ओझल है। और हम उसकी ओर झाकने से डरते है कि कहो हमारी मान्यताओ को धक्का न लगे। तो क्या आखें बन्द करके अपने को परिस्थिति की लहरो पर छोड दें। और कहते रहे 'जिधर भेज देगा उधर जायेंगे।'

हरिश्चन्द्र आर्य को श्रद्धांजलि

लाडनू (राज)। आर्य समाज ने अपने नेता श्री हरिश्चन्द्र आर्य के निधन पर गहरा दुख प्रकट किया है और परमात्मा से उनकी आत्मा की चिरशाति के लिए प्रार्थना की है।

—मत्री

नारी जागरण यज्ञ

आय समाज कावाखेडा (भीलवाडा) के तत्वावधान मे 27 दिसम्बर 1987 को स्थानीय शिव मन्दिर मे नारी जागरण यज्ञ किया गया।

—अम्बा प्रसाद शर्मा (सयोजक)

श्रद्धानन्द बलिदान दिवस मनाया

25 दिसम्बर 87 को आर्य केन्द्रीय सभा, दिल्ली के तत्वावधान मे आयोजित स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान दिवस के अवसर पर अनेक वक्ताओ ने उन्हे श्रद्धाजलि अर्पित की। प्रमुख वक्ताओ म स्वामी अग्निवेश, स्वामी आनन्दबोध, क्षितीश वेदालकार आदि थे। इससे पूर्व प्रात नया बाजार स्थित श्रद्धानन्द बलिदान भवन' म एक यज्ञ का आयोजन किया गया। तत्पश्चात एक विशाल शोभायात्रा निकाली गई।

— विमलकान्त शर्मा (मत्री)

—महर्षि दयानन्द निर्वाण स्मारक न्यास मे दिवराला गये आर्य वीरागनाओ के जत्थे का स्वागत किया गया। स्वागत समारोह सकल्प समारोह के रूप म मनाया गया।

— वीरेन्द्र सिंह

वैदिक उपासना

— स्वामी रामेश्वरानन्द सरस्वती —

सिक्ख-मुसलमान-ईसाई-जैन पौराणिक आदि के यह उपासना प्रकार नवीन हैं। वैदिक उपासना ही सबसे प्राचीन एवं स्वाभाविक है। जैसे ईश्वर ने सृष्टि के आदि में रूप, रस, गन्धादि के ज्ञान के लिये नेत्र-रसना और घ्राणादि का निर्माण किया था, वैसा ही अनादि काल से आज तक और आगे भी बना रहेगा। कोई भी मजहब नेत्रादि के बिना रूपादि का ज्ञान कराने का नवीन प्रकार नहीं बना सकता, एवं सिक्ख गुरुओं से पहले सिक्खों की उपासना का प्रकार एवं मुहम्मद साहब, यीशुमसीह, जैन तीर्थंकर तथा पौराणिक अवतारों से पहले इनकी उपासना का कोई चिन्ह भी नहीं था, और उस समय के साधक भी ईश्वर की उपासना करते थे। क्योंकि उक्त मजहबों वाले जिस प्रकार और जिनकी उपासना करते हैं वे उपास्य और प्रकार मत सचालको अर्थात 4000 (सहस्र) वर्षों से पूर्व नहीं थे। और सृष्टि की उत्पत्ति को अरबों वर्ष हो चुके हैं, अतः यह निर्विवाद है कि वैदिक उपासना सर्वोपरि और सबसे पहले थी। उसके सिवाय ईश्वर की उपासना का प्रकार कोई हो ही नहीं सकता।

उपासक को सर्वप्रथम शरीर शुद्धि करनी चाहिये। बाह्य जलादि से और आन्तरिक मलमूत्रादि के शोधन से तथा यम नियमादि से आत्मा और बुद्धि की शुद्धि करनी चाहिये। शरीर में मल-मूत्रादि के आधिक्य से भी चित्त चचल रहता है। इसलिये बहुधा उपासकों को उपासना समय निद्रा आ जाती है। और योग के साधनों में रुचि का न होना भी इसका कारण है। जैसे शरीर के बाह्य भाग पर किसी पिपीलिका (चींटी) आदि का स्पर्श होने से ध्यान तुरन्त वहीं पहुचता है, वैसे ही मलमूत्र एवं दूषित वायु के आधिक्य से आलस्य, प्रमाद विषयासक्ति और चित्त की चचलता बढ़ जाती है। अतः शरीर के बाहर भीतर की शुद्धि उपासना में अनिवार्य है। उपासक को भोजन भी अत्यधिक, कुपाच्य, मादक एवं दुर्गन्धित नहीं करना चाहिये, क्योंकि— "आहार शुद्धौ सत्व शुद्धि सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृति" अर्थात यदि भोजन शुद्ध है तो बुद्धि शुद्ध होगी और बुद्धि शुद्ध होगी तो स्मरण शक्ति स्थिर रहेगी। योग में उपासक के लिये 'स्मृति' सर्वोत्तम साधन है। यदि स्मृति स्थिर है तो विस्मृति, नानास्मृति एवं सकल्प-विकल्प उत्पन्न ही न होगे। उपासक जहा उपासना करना चाहे वह देश धूलि धुआ एवं दुर्गन्धादि से सुरक्षित हो और एकान्त मच्छर-कोलाहल से रहित हो। ऐसे स्थान में जाकर आसन लगाकर स्थिर हो जावे, क्योंकि आसन की स्थिरता के बिना भी चित्त एकाग्र नहीं होता। पुनः शरीर से पृथक् अपने आत्मा को निश्चित जान कर परमेश्वर को भी अपने ऊपर, नीचे, आगे-पीछे सर्वत्र निश्चित करे। पुनः भस्त्रिका प्राणायाम करके चार प्रकार के बाह्यवृत्त आदि प्राणायाम करे। अपनी बुद्धि में कोई पूर्वानुभूत का स्मरण न होने दें। बहुधा उपासक पूर्वानुभूत का स्मरण करते रहते हैं और उपासना समय व्यर्थ हो जाता है। उस समय भावी कार्यक्रम पर भी कोई विचार न करे केवल अपने आपको ब्रह्म में ऐसे अनुभव करे जैसेकि ग्रीष्म ऋतु के निदाघ से सतप्त यात्री नदी आदि के जल में डुबकी लगाता है और जल की शीतलता का अनुभव करता हुआ यथाशक्ति जल में ही निवास करता है।

उपासक अपने आपको ब्रह्मस्थ अनुभव करता हुआ सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता, धारक, सचालक एवं नियामक मानकर पुनः पुनः उक्त गुण स्वभाव का विचार करे और विचार करने से ब्रह्म का निश्चय हो जाने पर जैसे गृहपति गृह में रहता हुआ अपने आपको गृह से पृथक् अनुभव करता है एवं विश्वपति को अपने सर्वत्र अनुभव करता हुआ उस अनुभूतावस्था में स्थिर रहने का यत्न करे। जब उपासक पूर्वानुभूत इन्द्रिय जन्य नवीनतम ज्ञान शून्य और निद्रारहित जागरूकावस्था में निवात प्रदीप शिखावत् अथवा निस्तरंग महोदधि समुद्र में मत्स्य स्थिर होता है इसी अवस्था का नाम समाधि अथवा योग है। समाधि समाधान योग को कहते हैं। कई उपासक यह कहते सुने जाते हैं कि "जब मैंने समाधि लगाई तो गुरु जी ने मेरे पैर में कील ठोंक दी और मुझे पता नहीं लगा।" यह सब ढोंग है। समाधि शब्द का अर्थ अज्ञान (बेहोशी) नहीं है। समाधि में तो जैसे हाथ पर रक्खी हुई वस्तु को नेत्रों वाला व्यक्ति नेत्रों से देखता है उसी प्रकार उपासक को उपासना समय विश्व की विविध वस्तुओं का ज्ञान होता है। इसलिये योग शास्त्र में "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" चित्त की वृत्तियों का निरोध योग कहा है। जब चित्त की चचलता अवरुद्ध हो जाती है तब 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' इस योग सूत्र के आधार पर बुद्धि में नवीनतम आत्मा, परमात्मा, प्रकृति और प्रकृति जन्य विश्व का ज्ञान समाविष्ट होता है, क्योंकि जीवात्मा एक काल में से एक ही ज्ञान कर सकता है और बिना ज्ञान के भी कभी नहीं रहता।

'भिद्यते हृदय ग्रन्थि ...' मुण्डक 2-2-8

जब इस जीव के हृदय की अविद्या अज्ञान रूपी गाँठ कट जाती है, सब सशय छिन्न होते और दुष्ट कर्म क्षय को प्राप्त होते हैं तभी उस परमात्मा में निवास करता है।

समाधिस्थ योगीजन सूर्य चन्द्रादि लोकलोकान्तरों का ज्ञान समाधि में ही करते हैं। उपासक कभी रोगी नहीं होता और न ही चोरी, जारी, व्यभिचार, मिथ्या भाषणादि कुकर्म करता है।

पता—गुरुकुल घरौंडा,
करनाल (हरियाणा)

***

ये कैसे दिन आये

—डॉ श्रीमती महाश्वेता चतुर्वेदी
प्रोफेसर्स कालोनी, श्यामगज, बरेली

गीत नहीं मधुवन में कोई
मधु कण वचित सागर रोई,
आतको का राज्य, त्रस्त
अपनों से ही सब पाये।
शिथिल प्रतिज्ञाओ के बन्धन,
व्यालो ने घेरे वह चन्दन,
कृषक, श्रमिक धनवान आदि
रोगों से घिरते पाये।
भरकी दीख रही तरुणाई
जर्जर असमय फिर अरुणाई,
है उपाधियाँ, किन्तु यथोचित,
पद किसने है पाये।
राम राज्य की स्मृतियाँ है,
विश्वासों की विस्मृतियाँ है,
है भविष्य उज्ज्वल कैसा,
जब वर्तमान अकुलाये।
विध्वसों में शक्ति लगाई,
वही राष्ट्र उन्नति कहलाई,
वामन के अवतार बने सब,
बलि लगते सकुचाये।
सीताओं की करुण-कथा है,
लगता है बन गई प्रथा है,
रावण से भी बढ़े-चढ़े
अधिकाश राम अब पाये।

***

व्यवहार भानु ब्रेललिपि में

आर्यसमाज, अजमेर ने मुजफ्फरनगर (उ प्र) के प्रज्ञाचक्षु श्री विजयेन्द्र 'कुसुम' को ऋषिकृत 'व्यवहार भानु' के ब्रेललिपि में प्रकाशन के लिये 301 रु की सहयोग राशि प्रदान की है।

उल्लेखनीय है कि श्री कुसुम इससे पूर्व 'आर्याभिविनय' का भी ब्रेललिपि में प्रकाशन कर नेत्रहीनो में प्रचारार्थ वितरित कर चुके हैं।

***

पत्र बोलते हैं—

आर्य समाज को बचाओ

आर्यसमाज ऋषि दयानन्द की यादगार है। स्वामी श्रद्धानन्द जी के मन की कसक है, प. लेखराम के हृदय की टीस है, अध्यात्म का प्रशस्त मार्ग है, राष्ट्रीय भावनाओं का स्रोत है, सामाजिक उत्थान का सोपान है, निस्सन्देह आर्यसमाज ने वेदों के आधार पर देश में सत्य का प्रकाश किया। रूढ़िवाद एवं पाखण्ड से जनता को बचाया और वेद के पवित्र पथ पर चलाने का प्रयास किया। आज मानवता की भावनाओं का जो विकास हो रहा है, साम्राज्यवाद के संसार में इस ज्योति को आर्यसमाज ने ही जगाया, राष्ट्र की स्वतन्त्रता का श्रेय भी मूल रूप से इसी संस्था को जाता है। परन्तु परन्तु प्रश्न होता है कि आज हम कहां खड़े हैं? वास्तविकता से आँखें मूंद लेने से कठिनाई दूर नहीं हो सकती, आज हम देख रहे हैं कि व्यक्तिगत स्वार्थों के कीचड़ में हम इतने धस गये है कि स्वकर्तव्य बोध भी समाप्त हो चुका है, तब आनन्द बोध कैसे सम्भव है?

सोए हुए लोग तो सोए हुए थे,
हम को जरा देखिए जाग के हम सो गये।

आज अ प देश भर की समाजों में आपसी रस्साकशी है, प्रतिनिधि सभाएं चुनावों का अखाड़ा बन के रह गई हैं। स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान दिवस पर शायद जामामसजिद का मिम्बर किसी आर्यसन्यासी की प्रतीक्षा करता होगा जो वेदमन्त्रों से वातावरण को सुवासित करे परन्तु अब वह सन्यासी हम कहां से लायें? कुछ साथी आर्य धर्म मे प्रविष्ट हुए हैं उनको सम्भाल कर उन्हें वैदिक धर्म से परिचित कराने वाली कोई संस्था नही, उनसे आर्य बन्धु अरबी तथा कुरान का ज्ञान प्राप्त कर सकते थे परन्तु अब मुसाफिर विद्यालय कहां से लायें? शास्त्रार्थ के महारथी जा रहे हैं उपदेशक वर्ग प्राय: समाप्त हो रहा है। आर्यों को पुरोहित तक मिलने कठिन हो गये हैं परन्तु सभाएं इस ओर देखना भी नहीं चाहती। समाजों के आपसी तकरार न्यायालयों तक जा रहे हैं, परन्तु सार्वदेशिक सभा सभाओं की उठापटक मे जूझ रही है। किसी का सम्मान सुरक्षित नही, प्रजातन्त्र गुटबन्दी का शिकार हो चुका है। मेरी आज की डाक मे हैदराबाद से इसी के सम्बन्ध मे पत्र आया, इधर रांची वालों का पत्र पढ़ा, दिल्ली के एक बन्धु का पत्र इधर पंजाब सभा का विवाद गुरुकुल मे आपसी तकरार, आखिर यह सब आर्यों के लक्षण तो नहीं है? आरोपों की भरमार है पदलोलुपता चरम सीमा पर है, किसको कहें?

"यहां पगड़ी उछलती है इसे मैखाना कहते हैं

दूसरी ओर नवधर्मियों ने आर्यों को मिटाने का निश्चय कर रखा है। देवबन्द मे उनका सुव्यवस्थित कार्य उनके प्रकाशन विभाग की कर्मठता कुछ देशों का उन्हें सहयोग देश में रहकर भी देशद्रोह का उनका साहस, सोचने पर विवश करता है कि राष्ट्रभक्त आर्यसमाज कहां है? धार्मिक संसार मे इसका पूछने वाला कोई नही सामाजिक क्षेत्र मे इसका मौन दु खद है, राजनीति मे तो यह आना ही नही चाहता, यद्यपि इसके नेता राजनैतिक पार्टियों के सम्मुख भिक्षुक बने रहते हैं कि कहीं से किसी सीट का टिकट इन्हें मिल जाए।

मैं दु ख से यह सब लिख गया, 'आर्य पुनर्गठन' के सम्पादक महोदय की योग्यता एवं कर्मठता का मैं प्रशंसक हूं परन्तु उनसे पूछना चाहता हूं कि क्या आर्यों का यह विघटन समाप्त किया जा सकता है? क्या पदलोलुप व्यक्ति हटाये जा सकते हैं? क्या आर्यों का पुनर्गठन सम्भव है?

"इसी आस अटको रहे अलि गुलाब के मूल
ह्वैहै फेर बसन्त ऋतु इन डारन के फूल"

—उत्तमचन्द्र शरर
पता—30/8 पानीपत (हरियाणा)

आवश्यकता है एक और रामायण की

प्रति रविवार दूरदर्शन पर रामायण का प्रदर्शन उल्लेखनीय लोकप्रियता अर्जित कर रहा है। आकर्षक प्रस्तुति के लिए दूरदर्शन को मेरी ओर से बधाई। इस शृंखला के माध्यम से घर–घर में रामलीला के दर्शन हो जाते हैं। यदि इसे मध्याह्न मे दिखाया जाता तो अधिक व्यक्ति लाभ उठा सकते। इस प्रस्तुति की पूर्णता के बाद भी एक शुद्ध रामायण के प्रदर्शन की आवश्यकता बनी हुई है, जो शेष रह गए अन्धविश्वासों को दूर कर सके। बालि, सुग्रीव आदि बन्दर रूप में दिखाये गए हैं और उनके पूँछ लगाई गई है। जबकि इनकी पत्नियाँ तारा–रूमा आदि साधारण नारियों के सभ्य वेश में हैं। सुग्रीव के दरबार में होने वाले सामूहिक नृत्य की नर्तकियों में एक भी बन्दरिया दिखाई नहीं दी। दैनिक हिन्दुस्तान दिनांक 26–12–87 में श्री गिरिजा किशोर माथुर की टिप्पणी युक्तियुक्त लगी। इक्कीसवीं सदी की ओर अग्रसर इस वैज्ञानिक युग मे अपनी मानवीय मान्यताओं पर जमी धूल को यदि हम नहीं धो सकेंगे तो कब धोयेंगे? अस्तु आवश्यकता है मर्यादा पुरुषोत्तम राम की शुद्ध ऐतिहासिक रामायण के प्रस्तुतिकरण की।

—श्रीमती दर्शन देवी भारद्वाज
एफ–42, मानसरोवर कालोनी

डा. सत्यकेतु विद्यालंकार सम्मानित

दिल्ली के उपराज्यपाल श्री हरकिशन लाल कपूर ने 28 दिसम्बर को हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा आयोजित वर्ष 85-86 के सम्मान अर्पण समारोह मे आर्यसमाज के मूर्धन्य विद्वान डा सत्यकेतु विद्यालंकार को हिन्दी की विशिष्ट सेवा के लिए 11 हजार रुपये, शाल, स्मृति चिन्ह एवं प्रशस्ति पत्र भेंट कर सम्मानित किया।

शहीदे आजम बिस्मिल की बहिन नहीं रहीं

आर्य जगत मे यह समाचार अत्यन्त दु:ख के साथ सुना जायेगा कि ऋषि दयानन्द के भक्त अमर शहीद प. रामप्रसाद बिस्मिल की क्रान्तिकारिणी बहिन श्रीमती शास्त्री देवी का 22 दिसम्बर को निधन हो गया। आपने अपने भ्राता श्रीयुत बिस्मिल' को अनेक बार क्रान्तिकारी कार्यों मे सहयोग दिया।

'आर्यपुनर्गठन परिवार की विनम्र श्रद्धांजलि सादर समर्पित है।
— सम्पा

(शेष पृष्ठ 1 का)

गत दिनों महाराष्ट्र सरकार ने 'एम्नियो से टेसिस के भ्रूण हत्या के लिए दुरुपयोग किए जाने को आधार बनाकर इस परीक्षण पर रोक लगा दी। परन्तु प्राप्त जानकारी के अनुसार 'अल्ट्रासोनोग्राफ नाम का एक और परीक्षण बाजार मे 'एम्निओसेंटिसस' के विकल्प रूप में आ धमका है। अत: मात्र नाममात्र या तकनीक भेद के कारण इस परीक्षण को भी कोई छूट नहीं मिलनी चाहिए।

ऐसे प्रबन्ध किए जा सकते हैं कि अर्थलोलुप डॉक्टर और पुत्रेष्णाग्रसित लोग 'अल्ट्रासोनोग्राफी' व एम्नियो-सेंटिसिस' परीक्षण का दुरुपयोग न कर सकें। केन्द्रीय सरकार, महाराष्ट्र सरकार से प्रेरणा लेकर इस भ्रूण हत्या को कारगर ढंग से रोकने के लिए एक विधेयक संसद द्वारा स्वीकृत करा सकती है। यह कोई ऐसा भी मामला नहीं है कि जिसके विरुद्ध विधेयक लाने से सत्ता पक्ष के किसी राजनैतिक [illegible] कोई आघात लगता हो। [illegible] किसी सामाजिक बुराई या अंधविश्वास को केवल उसके विरुद्ध कानून बनाकर समाप्त नही किया जा सकता। उसकी समाप्ति के लिए जन चेतना का होना भी आवश्यक है। और इस संदर्भ में यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि अन्य सामाजिक संगठनों के अतिरिक्त पिछले दिनों अग्निवेश ने भी अपनी नारी उत्पीडन विरोधी पदयात्रा मे स्त्री भ्रूण हत्या के विरुद्ध अपनी आवाज उठाकर जन साधारण मे इसके विरुद्ध वातावरण तैयार करने मे एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा आर्य प्रिण्टर्स अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 162
सृष्टि सम्वत् : 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 4 शनिवार, 30 जनवरी, 1988
अंक : 2 पं. स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

माघ शु 12 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

डी. ए. वी. स्कूल स्थापना शताब्दी मनायेगा

अजमेर का डी ए वी स्कूल आगामी 10 फरवरी, 1988 ई को अपनी स्थापना के सौ वर्ष पूरे करने जा रहा है। यह विद्यालय 1892 मे मिडिल स्कूल, 1895 मे हाईस्कूल तथा 1941 ई मे इस विद्यालय की स्वर्ण जयन्ती समारोह पूर्वक आयोजित की गई थी तथा उसी अवसर पर दयानन्द कॉलिज अजमेर की स्थापना का निश्चय हुआ जो आज राजस्थान की गैर सरकारी शिक्षण सस्थाओ मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

डी ए वी स्कूल प्रबन्ध समिति के विशिष्ट पदाधिकारियो, आर्य समाज शिक्षा सभा द्वारा सचालित 13 शिक्षण सस्थाओ के प्रधानाध्यापको एव डी ए वी स्कूल के भूतपूर्व छात्र प्रतिनिधियो की गत रविवार को प्रो दत्तात्रेय आर्य की अध्यक्षता मे सम्पन्न बैठक मे सर्व सम्मति से डी ए वी स्कूल स्थापना शताब्दी समारोह पूर्वक मनाने का निश्चय किया गया। 10 फरवरी 1988 ई से शताब्दी वर्ष शीघ्र ही वृहद स्तर पर मनाने हेतु स्वागत समिति एव व्यवस्था समिति का गठन किया जायेगा। शताब्दी वर्ष मे उपयुक्त तिथियो पर समुचित समारोह करने, विशिष्ट महानुभावो, शिक्षाशास्त्रियो को आमन्त्रित करने स्मारिका प्रकाशन, भूतपूर्व छात्र सम्मेलन, प्रदर्शनी, विशिष्ट भूतपूर्व छात्रो/अध्यापको/सचालको का सम्मान करने तथा अजमेर नगर मे किसी उपयुक्त स्थान पर पर्याप्त भूमि प्राप्त कर इसके शतवर्षीय गौरव के अनुरूप विद्यालय का निजी भवन बनाने सबधी विचार विमर्श हुआ।

10 छात्रो को लेकर प्रारम्भ किये गये इस विद्यालय से अब तक बीस हजार विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। यहा से निकले कई विद्यार्थी स्वतन्त्रता सेनानी, मत्री, विधायक, प्राचार्य, प्रशासक, न्यायाधीश, इजीनियर, डाक्टर, व्यापारी, उद्योगपति तथा श्रेष्ठ नागरिक के रूप मे भारत माता की सेवा कर रहे हैं। वर्तमान मे भी यह विद्यालय अजमेर नगर एव जिले के सबसे बडे और शिक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण विद्यालयो मे से एक हैं। इसमे कला, विज्ञान, वाणिज्य मे 29 सैक्शन, 1700 छात्र एव 60 अध्यापक एव कर्मचारी है।

आर्य समाज शिक्षा सभा के अध्यक्ष श्री दत्तात्रेय आर्य, मत्री श्री कृष्णराव वाब्ले तथा प्रधानाचार्य श्री रासासिंह ने सभी भूतपूर्व विद्यार्थियो तथा अजमेर के नागरिको से इस पुनीत अवसर पर पूर्ण सहयोग प्रदान करने की प्राथना की है। भूतपूर्व विद्यार्थियो से अपने पते तथा कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध मे जानकारी देने हेतु भी निवेदन किया गया।

गंगानगर में ईसाई मिशनरियों का राष्ट्र विरोधी षडयन्त्र

— मदन अरोडा —

एक ओर जहाँ दूरदर्शन एव आकाशवाणी द्वारा इस सीमावर्ती और सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण जिले मे सास्कृतिक हमले किये जा रहे है, वही दूसरी ओर ईसाई मिशनरियो द्वारा धर्म निरपेक्षता और भारतीय कानूनो की धज्जिया उडाते हुए गरीब हरिजनो को प्रलोभन देकर न केवल धर्मनान्तरण का कार्य जोर-शोर से चलाया जा रहा है, वरन बाल गोपालो को अग्रेजी माध्यम से सुशिक्षित करने के नाम पर उन्हे ईसाईयत की ओर घसीटा जा रहा है तथा उनके दिलो दिमाग में भारतीय सस्कृति को निकृष्टतम सस्कृति के रूप मे अकित करते हुए पाश्चात्य सस्कृति के रगो मे रगा जा रहा है।

भारत-पाक युद्धो के बाद ज्यो-ज्यो इस जिले को सामरिक दृष्टि से विकसित कर यहाँ सैन्य छावनियो का जाल बिछाने का काय शुरू हुआ त्यो-त्यों ईसाई मिशनरियो की गतिविधियाँ भी बढनी शुरू हो गई और जिले मे अग्रेजी माध्यम के स्कूलो का जाल बिछना शुरू हो गया। जिसके माध्यम से स्कूल के ईसाई सचालक बाल गोपालो को ईसाईयत मे रगने के साथ-साथ छावनियो मे रहने वाले सैन्य अधिकारियो से अपने सम्पर्क बनाने मे कामयाब होते जा रहे हैं।

ईसाई मिशनरी द्वारा शुरू मे लोगो को धन और ऐश्वर्य का प्रलोभन दिखाकर धर्म परिवर्तन का कुचक्र चलाया गया। जो उस समय अधिक कारगर साबित नही हुआ, परन्तु अब धीरे-धीरे ये अपनी साजिशो मे सफल होते जा रहे हैं तथा सीमावर्ती क्षेत्रो मे भारी सख्या मे धर्मान्तरण कराने मे कामयाब हो चुके है।

दिसम्बर 87 के प्रथम सप्ताह मे सीमावर्ती गजसिंहपुर कस्बे के निकट 35 बी बी चक मे दो परिवारो के दस-दस सदस्यो को हिन्दू धम से ईसाई बनाया गया। ये दोनो परिवार गरीब, मजबी सिखो के हैं तथा इनके मुखिया गुलजार सिंह और जगल सिंह मेहनत मजदूरी कर अपने परिवारो का पेट पालते आ रहे है। गुलजार सिंह उसकी बीबी बलविन्द्र कौर बटे राजन्द्र सिह एव महन्द्र सिंह तथा बेटिया छिन्द्रकौर एव पासी अब 'सिह और 'कौर नही बल्कि बप्तीस्मा अपना कर (ईसाई धर्म मे लाने की पद्धति) मरियम, मसीह और पॉल बन चुके हैं। यही नही, उनमे ईसाईयत इतनी कूट-कूट कर भर दी गई है कि वे अपने देश से ऊपर इसे तरजीह देने लगे है।

(शेष पृष्ठ 4 पर)

> ईसाई मिशनरियो द्वारा धर्म निरपेक्षता और भारतीय कानूनो की धज्जिया उडाते हुए गरीब हरिजनो को प्रलोभन देकर धर्मान्तरण बाल-गोपालो को अग्रेजी माध्यम से सुशिक्षित करने के नाम पर ईसाइयत की दीक्षा छावनियो मे रहने वाले सैन्य अधिकारियो से गुप्त जानकारियो की प्राप्ति हेतु आत्मीय सम्बन्ध स्थापित सलामत मसीह पादरी की राष्ट्रविरोधी गतिविधिया आर्यसमाज ने राज्य सरकार को पत्र लिखा।

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक : रासासिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या : 21010

सम्पादकीय—

डी. ए. वी. विद्यालय अजमेर की शताब्दी : एक ऐतिहासिक अवसर

राष्ट्रीयता के प्रथम पुरोधा, स्वराज्य, स्वधर्म, स्वभाषा और स्वसंस्कृति के प्रथम उन्नायक तथा वेदोद्धारक महर्षिदयानन्द सरस्वती अपने गुरु विरजानन्द से शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् 16-17 वर्षों तक निरन्तर देश, धर्म एवं समाज के उत्थान हेतु प्रचार के पुनीत कार्य मे सलग्न रहे। परन्तु अपनी दूरदर्शिता और योगविद्या के आधार पर उन्हें पूर्वाभास हो गया था कि अब उनकी जीवन सध्या अधिक दूर नही है। अत 1883 मे अपने निर्वाण के पश्चात् भी अपने द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को निरन्तर बनाये रखने, अपने द्वारा रचित ग्रन्थो का मुद्रण एव प्रकाशन अबाधगति से चलता रखने, देशदेशान्तर एव द्वीप द्वीपान्तर मे वैदिक धर्म प्रचार, अनाथ रक्षण अबला उद्धार आदि के लोकोपकारी कार्यों को अनवरत रूप से चालू रखने के प्रयोजन की सिद्धि के लिए अपनी एक स्थानापन्न सभा, परोपकारिणी सभा की स्थापना की। इससे पूर्व स्वामीजी 1875 ई में बम्बई नगरी मे आर्य समाज की स्थापना कर चुके थे। इसके बाद सात-आठ वर्षों मे ही देश के प्रमुख नगरो विशेषत उत्तरी भारत मे आर्य समाजो की स्थापना हो चुकी थी। **अजमेर मे भी आर्य समाज की 13 फरवरी, 1883 ई को स्थापना हो गई थी।**

ऋषि की मृत्यु के पश्चात् 28 एव 29 दिसम्बर, 1883 ई को मेयो कालेज स्थित मेवाड दरबार की कोठी मे सम्पन्न महर्षिदयानन्द की उत्तराधिकारिणी, परोपकारिणी सभा के प्रथम अधिवेशन मे लाला मूलराज की अध्यक्षता मे द्वितीय दिन हुए विचार-विमर्श के दौरान राव बहादुर पण्डित महादेव गोविन्द रानाडे ने यह प्रस्ताव किया और कविराज श्यामलदासजी ने सम्मति प्रकट की कि 'दयानन्दाश्रम" बनाया जाय और उसमे इतने स्थान हो अर्थात् पुस्तकालय **"अंग्रेजी वैदिक पाठशाला"**, विक्रयार्थ पुस्तको का भण्डार, अनाथाश्रम, अद्भुत वस्तु सग्रहालय, यत्रालय, व्याख्यानगृह। इनके लिये द्रव्य एकत्रित करने का उद्योग प्रारम्भ करने का निश्चय हुआ।

अत **आर्य समाज, अजमेर** ने महर्षिदयानन्द की पुण्य स्मृति मे उनकी निर्वाण स्थली अजमेर मे महर्षि की उत्तराधिकारिणी, परोपकारिणी सभा मे हुए निश्चय को क्रियात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए विधिवत् **दयानन्द आश्रम ऐंग्लो वैदिक पाठशाला** सन् 1888 मे स्थापित की। यद्यपि इससे पूर्व भी अनौपचारिक रूप से 1885 ई मे एक पाठशाला समाज की पाठशाला के रूप म प्रारम्भ कर दी गई थी। जिसका 1886 ई तक भी उल्लेख मिलता है।

परमपिता परमात्मा की महानअनुकम्पा से आगामी 10 फरवरी, 1988 ई का दिन **आर्य समाज, अजमेर** के इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखा जायगा। यही वह गौरवपूर्ण दिवस है जब इस समाज द्वारा सौ वर्ष पूर्व 10 फरवरी, 1888 ई को 'आटाफण्ड' शुरू कर 10-11 विद्यार्थियो को लेकर इस दयानन्द आश्रम पाठशाला का शुभारम्भ हुआ जो कालान्तर म दयानन्द आश्रम ऐंग्लो वैदिक पाठशाला (D A A V S) नाम से सचालित हुई और आज जिसे डी ए वी हायर सैकण्डरी स्कूल कहा जाता है। यह स्कूल 1892 म मिडिल स्कूल तथा 1895 मे हाई स्कूल बन गई। छात्र सख्या 1888 ई म 10-11 से बढकर 1888 के अन्त म 111 हो गई, 1893 मे 178 1894 म 325 और 1895 म 450 हो गई।

इस विद्यालय ने 1940 41 ई मे अपनी स्वर्ण जयन्ती मनाई तथा उसी अवसर पर कर्मवीर प जियालालजी ने दयानन्द कॉलेज की स्थापना की घोषणा की जो आज दत्तात्रेय जी आर्य तथा श्री कृष्ण राव जी वाब्ले के सद्प्रयत्नो और सतत् पुरुषार्थ से राज्य के सबसे बडे गैर सरकारी महाविद्यालयो म से एक है। एक लघु विश्वविद्यालय है।

यह विद्यालय 1958 ई मे बहुद्देशीय हायर सैकण्डरी स्कूल बना, वर्तमान म यह विद्यालय कला, विज्ञान एव वाणिज्य विषयो मे हायर सैकण्डरी स्तर तक मान्यता प्राप्त है। 29 विभाग, 1715 छात्र एव 60 अध्यापक एव कर्मचारी है। वर्तमान मे यह विद्यालय आर्य समाज शिक्षा सभा, अजमेर के अन्तर्गत सचालित है। प्रबन्ध समिति के प्रधान श्री बी पी बेरी पूर्व मुख्य न्यायाधीश राजस्थान, कार्यवाहक प्रधान श्री दत्तात्रेय आर्य एव मन्त्री श्री कृष्णराव वाब्ले हैं।

यह विद्यालय इस समय अजमेर नगर एव जिले के श्रेष्ठ अनुशासित एवं अच्छे विद्यालयो मे से एक है। यह विद्यालय एक छोटे से बीज रूप मे प्रारभ हुआ था जो आज विशालकाय वट वृक्ष बनकर तेरह शिक्षण सस्थाओ रूपी परिवार से सयुक्त हो गया है। इस विद्यालय का गौरवपूर्ण चिरस्मरणीय इतिहास एव परम्परायें रही हैं। यहा से पढकर निकले हुए छात्र प्रसिद्ध भजनोपदेशक, समाज सेवक, क्रान्तिकारी, स्वाधीनता सेनानी, विधायक, प्रशासक, डाक्टर, इन्जीनियर, प्रोफेसर प्राचार्य तथा शिक्षा शास्त्री, उद्योगपति, व्यवसायी एव व्यापारी आदि के रूप मे उत्तम नागरिक बनकर देश की सेवा कर रहे हैं। इस विद्यालय ने अनेक उतार-चढाव देखें हैं परन्तु फिर भी अपने लक्ष्य से कभी विचलित नही हुआ है। गाधीजी के आह्वान पर यहा के छात्रो द्वारा असहयोग आन्दोलन मे भाग लेने पर हडताल करने पर इसका अनुदान अग्रेजी सरकार ने बन्द कर दिया था। बी बी एण्ड सी आई रेल्वे ने भी इसे कई वर्षों तक अनुदान दिया था। दीनदयालजी, महात्मा कन्हैयालालजी, प कन्हैयालालजी, रघुनन्दनजी, हरनारायणजी, मगलचरणसिंहजी, विशम्भर दयालजी भार्गव, प्रकाशनारायणजी नरुल्ला, डा सूर्यदेवजी शर्मा, एम ए. एल टी, डी लिट् प मन्जुनाथ शास्त्री प्रभृति प्रधानाध्यापको की समृद्ध परम्परा रही है। इसी प्रकार यहा का शिक्षक वर्ग मिश्नरी भावना से सेवा कार्य करता रहा है जिसके फलस्वरूप आज भी विद्यालय का शिक्षा जगत् मे महत्वपूर्ण स्थान बना हुआ है।

इस विद्यालय को स्थापना काल से ही अनेक महानविभूतियो का वरदहस्त और आशीर्वाद रहा है जिनमे प्रारम्भिक वर्षों मे दीवान बहादुर हरविलास शारदा हीरालालजी, पदमचन्दजी, मथुराप्रसादजी, मुन्नालालजी शाहपुरा, प्रतापगढ, खैरगढ नरेश एव रावगोपालसिंहजी खरवा, बनवारीलाल जी, राधतमल जी, ईश्वरीप्रसाद जी, नथमलदास जी, दौलतराम जी, प बशीधर जी गोपीनाथ जी माथुर, बैरिस्टर गौरीशकर जी मध्य युग मे राय बहादुर मिट्ठनलालजी भार्गव, कर्मवीर, प जियालालजी, बाबू जवाहरलाल जी, गुलराज गोपाल जी, बाबू परमात्मास्वरूप जी, बाबूलाल जी सक्सेना, डा अम्बालाल जी, शिवप्रसाद जी, दीवान बहादुर, के एल पत्तनाष्कर तथा वर्तमान युग मे प्रमुख श्री दत्तात्रेय जी वाब्ले श्री कृष्णराव वाब्ले, श्री प्रो आर एस कपूर तथा श्री ठाकुर प्रेमसिंहजी, श्री देवदत्तजी एडवोकेट, प्रो, जी एल जोशी आदि हैं।

1888 ई मे संस्थापित इस डी ए वी स्कूल को आज स्वतन्त्र भारत का सबसे पुराना डी ए वी स्कूल होने का गौरव प्राप्त है क्योंकि महात्मा हसराज, लालालाजपतराय, प गुरुदत्त तथा लाला साईदास, मूलराजजी आदि द्वारा 1886 ई मे लाहौर मे सस्थापित डी ए वी स्कूल तो आज पाकिस्तान म चला गया। उसकी उत्तराधिकारिणी सस्था डी ए वी कालेज प्रबन्धकारिणी समिति, चित्रगुप्त रोड, नई दिल्ली है। जिसके अध्यक्ष प्रो वेद व्यासजी हैं तथा मन्त्री दरबारीलालजी शर्मा हैं। जिनके अन्तर्गत पजाब, हरियाणा, हिमाचल, दिल्ली, जम्मू कश्मीर, बिहार, उडीसा, महाराष्ट्र, आन्ध्र आदि मे सैंकडो डी ए वी स्कूल, कालेज तथा पब्लिक स्कूलें सचालित हैं। अजमेर का डी ए वी भी इसी विशाल परिवार से कुछ विशेष अनुबन्धो के अन्तर्गत सम्बद्ध हो गया है।

राजस्थान और विशेषत. अजमेर की मध्यम एव निम्न वर्गीय जनता इस विद्यालय की सेवाओ से कभी उऋण नही हो सकती।

हर्ष का विषय है कि विद्यालय प्रबन्ध समिति ने वर्ष 1988 ई. को शताब्दी वर्ष के रूप मे मनाने का निश्चय किया है। शीघ्र ही इस सम्बन्ध मे विस्तृत कार्यक्रम की जानकारी आर्य जगत् को दी जायेगी।

ईश्वर इस विद्यालय के सचालकों, रहनुमाओ को शक्ति प्रदान करे ताकि वे निरन्तर इस सेवा कार्य को उत्तरोत्तर प्रगति पथ पर अग्रसर करते रहे।

—रासासिंह

हमारा गणतन्त्र

प्रतिवर्ष 26 जनवरी को भारतीय 'गणतन्त्र दिवस' मनाया जाता है। इस वर्ष भी सरकारी स्तर पर दिल्ली और प्रदेशीय राजधानियो मे यह 'दिवस' समारोह पूर्वक मनाया गय । प्रमुख सरकारी एव गैर सरकारी भवनो पर रोशनी की गई। मिठाइया बाटी गई तथा परस्पर 'गणतन्त्र दिवस' की बधाईयो का आदान-प्रदान किया गया।

'गणतन्त्र दिवस' हमारा राष्ट्रीय पर्व है। इसे समारोह पूर्वक मनाया भी जाना चाहिए। परन्तु देश की वर्तमान परिस्थितियो ने इस पर्व के औचित्य के प्रति ही एक बडा प्रश्न चिह्न लगा दिया है। और जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

देश के स्वतन्त्र होने पर जन साधारण ने देश के कर्णधारो से बडी-बडी आशायें लगाई थी। गाधी जी की कांग्रेस से 'रामराज्य' आने का विश्वास उनके मनो मे पैदा हुआ था। परन्तु भारत के 'गण' की वे आशायें आज इतने वर्षों बाद भी पूर्ण नहीं हो पाई। और आज तो वे आशायें एक 'आकाश-कुसुम' हो गई हैं।

स्वाधीनता के इतने समय बाद भी यहा लोग भूख से मर रहे हैं। लाखो लोग बेघर हैं। और गदी नालियो के कीडो की भाति रेंग-रेंगकर जीने पर विवश हैं।

आर्थिक रूप से देश पूर्णतया दिवालिया हो चुका है। नित हम बाहरी देशों से ऋण पर ऋण लिए जा रहे हैं। विश्व बैंक के सामने भी प्रतिवर्ष गिडगिडाने की रिहर्सल करनी पडती है। देश का सम्पूर्ण शासनतन्त्र भ्रष्टाचार मे आकण्ठ डूबा है। प्रधानमन्त्री तक पर भ्रष्टाचार के आरोप हैं।

देश का कोई भी वर्ग जाति सतुष्ट नही है। पजाब मे सिख असतोष अपनी चरम सीमा पर है। अकेले जनवरी मे 200 के लगभग लोगो की उग्रवादियो द्वारा हत्या की जा चुकी है। प बगाल मे गोरखालैण्ड की माग की जा रही है। और इसे लेकर गोरखा लोग हिंसा के रास्ते पर हैं। त्रिपुरा टी एन वी. की हिंसा की आग मे झुलस रहा है। राजस्थान मे राजा मानसिंह हत्याकाँड को लेकर लोग आदोलन कर रहे हैं। देश का किसान वर्ग अपने आर्थिक शोषण से पीडित हो 'टिकैत' के नेतृत्व मे शासन से सघर्ष करन पर आमादा है।

देश का अल्पसख्यक वर्ग पूर्ण सुरक्षा एव अधिकारो की प्राप्ति के बावजूद भी सन्तुष्ट नही है। शाही इमाम और शहाबुद्दीन 'शरीयत रक्षा और बाबरी मस्जिद के मुद्दो को लेकर मुस्लमान वर्ग को विद्रोह के लिए उकसा रहे हैं। मिजोरम, अरुणाचल राजस्थान आदि सीमावर्ती राज्यो मे ईसाई मिशनरी अपनी राष्टविरोधी गतिविधियो मे सलग्न हैं। परन्तु सरकार सब कुछ देखते हुए भी अनदेखा कर रही है।

सैन्य शक्ति मे हम पिछडे हुए हैं। खबर है कि पाकिस्तान ने परमाणु बम बना लिया है। और हम नाकारा बोफोर्स खरीदने मे लगे हुए है।

हिन्दी आज भी सही अर्थों मे देश की राष्टभाषा नही बन पाई है। सरकार के सभी विभागो मे अग्रेजी का ही बोलबाला है। देश का राष्ट्रपति राष्ट्र के नाम अपना सदेश अग्रेजी मे देता है।

देश बडी गभीर परिस्थितियो से गुजर रहा है। सत्ताधारी लोग किकर्तव्यविमूढ बने हुए हैं। फिर भी हमे आशा का दामन नही छोडना चाहिए।

बकौल शायर—

किसको खबर है कश्ती सवाहो के हाल की,
लगता मगर किनारे कोई बह के आ गये।

—वीरेन्द्र आर्य

***

राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ का—

स्वामी दयानन्द विषयक संकीर्ण एवं पूर्वाग्रहग्रस्त दृष्टिकोण

—डा भवानीलाल भारतीय—

इस समय मेरे समक्ष राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ - एक सही चित्र शीर्षक 6 पृष्ठो का मुद्रित प्रचार पत्र है। इसका मुद्रण आनन्द आर्ट प्रिंटिंग प्रिन्टिंग हाउस, अजमेर से हुआ है। इसमें सघ पर लगाये जाने वाले कतिपय आक्षेपों का निराकरण सघीय दृष्टिकोण से किया गया है जिनके बारे मे हमें कुछ नही कहना। सघ की आर्य समाज और उसके प्रवर्तक ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध मे जो विरक्ति, जिसे हम दुर्भावना भी कहे तो अनुचित नही होगा सर्वविदित है। सघ वाले दयानन्द और आर्य समाज के गौरव और वर्चस्व के प्रति अत्यन्त असहिष्णु हैं इसे भूरिश प्रमाणित किया जा सकता है। उपर्युक्त चर्चित पत्रक मे विवेकानन्द अरविन्द और तिलक को श्रेष्ठ राष्ट्र निर्माता के रूप मे उल्लिखित किया गया है जबकि सघ की दृष्टि मे मानो दयानन्द राष्ट्र निर्माता कहलाने के योग्य ही नही है। इससे भी अधिक आपत्तिजनक बात आगे कही गई है—यहाँ जात पात छुआछूत आदि सामाजिक बुराइयो को उखाड फैंकने वाले समाज सुधारको मे राजा राममोहन राय मदनमोहन मालवीय और महात्मा गाधी को तो गिनाया गया है परन्तु यहाँ भी समाज सुधारको के शिरोमणि स्वामी दयानन्द का नाम जानबूझ कर हटाया गया है।

राममोहन राय को समाज सुधारक मानने मे हम कोई विप्रतिपत्ति नही है किन्तु अस्पृश्यता और जन्मगत जाति प्रथा का विरोध करने वालो मे दयानन्द ही शीर्षस्थ हैं। राममोहन राय द्वारा प्रचलित ब्रह्म समाज के प्रारम्भकालीन अधिवेशनो मे केवल आद्यदेशीय ब्राह्मण ही पर्दे के पीछे बैठ कर वेद पाठ करते थे। दयानन्द ने वेदाधिकार के द्वार स्त्रियो और शूद्रो सबके लिए खोले। अस्पृश्यता निवारण के लिए मदन मोहन मालवीय को श्रेय देना सत्य का अपलाप करना है। मालवीय जी कट्टर सनातनी थे। उनके नेतृत्व मे हिन्दू सभा के अधिवेशनो मे दलित वर्ग के वक्ताओ को अपनी बात कहने का भी अधिकार नहीं दिया गया जिसकी शिकायत स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने लेखो और सस्मरणो मे की है। (द्रष्टव्य श्रद्धानन्द ग्रन्थावली का 11वाँ जीवनी खण्ड) जहाँ तक अस्पृश्यता का प्रश्न है मालवीय जी तो भयकर किस्म की छूतछात मानते थे। 1924 मे वे जब गोलमेज सम्मेलन मे भाग लेने दिल्ली गये तो अपने साथ पीने के लिए गगाजल और हाथ धोने के लिए सगम की मिट्टी भी साथ ले गये। इस प्रकार की सकीर्ण दृष्टि वाले लोग तो सघ के विचार मे समाज सुधारक है और दयानन्द को इस श्रेणी मे रखने मे उन्हे सकोच है। महात्मा गाधी के जाति प्रथा विषयक विचार चाहे कितने ही उदार थे, किन्तु वे वर्ण व्यवस्था को जन्मना ही मानते थे। द्रष्टव्य-महर्षि दयानन्द और महात्मा गाधी ले उमदेव विद्या वाचस्पति।

अत मेरी समस्त आर्य जगत से पुरजोर अपील है कि वह अपनी पूरी शक्ति से सघ की इस दयानन्द विरोधी नीति का खुलकर विरोध करे। अन्यथा हिंदुत्व की जर्जर विचारधारा के पोषक ये लोग दयानन्द की क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रति अपना प्रत्यक्ष और परोक्ष विरोध भाव प्रकट करने से कभी विरत नही होगे।

शिक्षा का उद्देश्य चरित्र निर्माण होना चाहिए

अजमेर 28 जनवरी। शिक्षा का उद्देश्य रोजगार नही अपितु चरित्र निर्माण होना चाहिए।

उक्त शब्द आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने दयानन्द कालेज, अजमेर के वार्षिक पुरस्कार वितरण समारोह मे मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए कहे।

दयानन्द कालेज के सस्थापक प्राचार्य श्री दत्तात्रेय ने समारोह के मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए कहा कि डी ए वी सस्थाओं की स्थापना एक विशेष उद्देश्य को लेकर की गई थी और वह उद्देश्य था देश के लिए चरित्रवान नागरिक तैयार करना। आपने कहा कि आज कहा जाता है कि शिक्षा रोजगारोन्मुखी होनी चाहिए जबकि शिक्षा का उद्देश्य रोजगार न होकर चरित्र निर्माण होना चाहिए। तभी देश की उन्नति सम्भव है।

समारोह की अध्यक्षता श्री प्रियदर्शी ठाकुर क्षत्रीय आयुक्त अजमेर ने की। अन्त मे कालेज प्रबन्ध समिति के मन्त्री श्री कृष्णराव वाकर ने आभार प्रदर्शन किया।

दो न आँसू की दुहाई

—सावन सिंह भदौरिया 'सीमित'—

दो न आँसू की दुहाई, साधनाओं के सुमन दो।
रात से मत तिलमिलाओ, प्रात की हँसती किरन दो॥
भावनाओ से भरा मन,
साधनाओ से हरा मन,
हारते पग को समय की चेतना के नव चरण दो।
दो न आँसू की दुहाई, साधनाओ के सुमन दो॥
तप-प्रभा से फट रही पौ,
युग-निशा में जल रही लौ,
तुम सृजन के देवता को खिलखिलाता आचरण दो।
दो न आँसू की दुहाई, साधनाओ के सुमन दो॥
यदि पिघल कर प्राण बहने,
चल पड़े हों लहर बनने,
हो जगी बेचैनियाँ तो दर्द-दुख को सन्तरण दो।
दो न आँसू की दुहाई, साधनाओ के सुमन दो॥
व्यष्टि मे जो बिन्दु बन्दी,
कर सके जो सिन्धु बन्दी,
उस समष्टि उपासना को, भक्ति के भीगे नयन दो।
दो न आँसू की दुहाई, साधनाओ के सुमन दो॥
व्यक्ति मे विस्तार कितना,
बूँद, पारावार जितना,
प्यास कुम्भज-सी जगाकर, तुम तृषा को तृप्ति कण दो।
दो न आँसू की दुहाई, साधनाओ के सुमन दो॥
प्यास को वरदान कर दे,
तृप्ति को जो दान कर दे,
त्यागमय उस चेतना को भावनाओ के नमन दो।
दो न आँसू की दुहाई, साधनाओ के सुमन दो॥

पत्र बोलते हैं

आर्य समाज के मौलिक स्वरूप को बचाओ

(आदरणीय आचार्य वसालोकजी)

आपके ग्रन्थ रत्न 'दी आर्य समाज' का प्रथम आद्योपान्त ध्यानपूर्वक वाचन मैंने कल समाप्त किया। आर्य समाजों द्वारा सचालित विद्यालयो के सम्बन्ध मे जो वैधानिक जानकारी इस पुस्तक के माध्यम से आपने इस पुस्तक के पाठको को उपलब्ध कराई है यदि मुझको पूर्व ही विदित हो गई होती जब मैं स्थानीय दयानन्द आर्य विद्यालय लश्कर के प्रबन्ध से सम्बद्ध था तो मैं अवश्यमेव उसको बिकने से बचाने हेतु कटिबद्ध हो गया होता। अब मेरा आप से अनुरोध है कि कम से कम सब प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओ को तो अवश्य इस महत्वपूर्ण विषय से परिचित कर दीजियेगा। स्थानीय संस्थाओं के प्रबन्धकों को तो मैं सचेत करने का यत्न करूंगा।

मूल बात तो यह है कि हम सबको आर्य समाज के अपने मौलिक स्वरूप को पहिचानने हेतु प्रयत्नशील होना अविलम्ब नितान्त आवश्यक है। वर्तमान समय में तो न केवल अनेक आर्य समाज अपितु आर्य प्रतिनिधि सभायें भी अनार्यों के हाथ मे पहुच गई हैं जिनकी करतूतो से ससार के उपकार हेतु महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज बदनाम हो चला है।

इस विषय पर मैं इन दिनो एक लेख लिख रहा हूँ और आशा करता हूँ कि आगामी कुछ दिनों-पश्चात मैं आपकी सेवा मे वो लेख प्रस्तुत कर सकूंगा।

'आर्य पुनर्गठन' की तीन प्रतियां मेरे पास आ चुकी हैं। इसका उद्देश्य स्तुत्य है।

पुनश्च पुस्तक के उत्तरार्द्ध के वाचन के पश्चात मैं समझा कि इसका उपनाम "Hindu without Hinduism' आपने क्यो रखा है यह सर्वथा सोद्देश्य है।

—बाबूलाल आर्य,
ग्वालियर (म प्र)

(शेष पृष्ठ 1 का)

इन भोले-भाले ग्रामीणो को बरगला कर धर्मान्तिरण कराने का कार्य गगानगर और केसरीसिंहपुर के पादरियो और जगसिंह की बीवी ने किया जो दो साल पूर्व ही ईसाई धर्म ग्रहण कर चुकी है तथा फाजिल्का की रहने वाली है। बताया जाता है कि दोनो पादरी तथा जगसिंह की बीवी पिछले दो सालो से इन्हे धर्म परिवर्तन कराने मे जुटे थे और अन्तत वर्ष 1987 के जाते-जाते अपने मकसद मे कामयाब हो गए।

जिले मे चलाये जा रहे धर्मान्तिरण की इन साजिशो के पीछे जो चौंकाने वाले तथ्य सामने आए हैं, वे वास्तव मे काफी गम्भीर और राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रति खतरनाक साबित हो सकते हैं।

एकत्रित तथ्यो के अनुसार-धर्मान्तिरण का यह कार्य भारत-पाक सीमा से सटे क्षेत्रों और सैन्य छावनियो के आसपास चलाया जा रहा है तथा इसमे केसरीसिंहपुर को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाए सलामत मसीह नामक 55 वर्षीय पादरी सबसे ज्यादा सक्रिय है और उसकी गतिविधियाँ भी काफी सदिग्ध हैं। इसी के साथ जो चौंकाने वाली बात सामने आई, वह यह है कि इस पूरी साजिश का सचालन पाकिस्तान से ही सटे पजाब के फाजिल्का कस्बे से किया जा रहा है। जहाँ सैन्य छावनी तो है, परन्तु ईसाईयो की सख्या नाम मात्र की होते हुए भी चर्च बनी हुई है।

गगानगर जिले मे भी ईसाईयो की सख्या नगण्य के बावजूद कई स्थानो पर छोटी-छोटी चर्च बन चुकी हैं। जिनका उपयोग धार्मिक प्रार्थना के साथ-साथ धर्मान्तिरण और अन्य गतिविधियो के लिए किया जा रहा है। पता चला है कि ईसाई मिशनरियाँ पहले सीमावर्ती क्षेत्रों में ईसाई साहित्य वित-रित करने के साथ-साथ दवा और कम्बल व अन्य सामान गरीबों मे [illegible] हैं, और फिर हिन्दू धर्म की मनोवैज्ञानिक तरीके से आलोचना कर भोले भाले लोगो मे उसके प्रति नफरत पैदा कर उन्हे ईसा और बाईबल का पाठ पढा ईसाई धर्म अपनाने के लिए बरगलाते हैं। इसके लिए वे उन्हे आर्थिक प्रलो-भन तथा भविष्य मे ऐश्वर्यपूर्ण जिन्दगी के सपने भी दिखाते हैं। धर्मान्तिरित गुलजारसिंह और जगसिंह जो अब गुलजार मसीह और जग मसीह बन चुके हैं, हिन्दू अथवा सिख धर्म का नाम सुनना पसन्द नही करते और न ही उन्हे हिन्दुस्तान के बारे मे कोई बात सुनना गवारा होता है। वे कहते हैं कि ऐसा धर्म किस काम का जो उन्हे अपने धार्मिक स्थल गुरुद्वारो मे प्रवेश करने से भी वचित करे। 35 बी बी, जहाँ पड़े सूखे ने गाँव वालो की आर्थिक रूप से कमर तोड दी है अधिकाश आबादी हरिजन सिखो की है तथा उन्हे सम्भालने के लिए गाँव के कांग्रेसी सरपच नरेन्द्र सिंह कग जो पास मे ही 39 बी बी मे रहते हैं, कभी वहाँ नही आए। जिसके कारण ईसाई मिश-नरिया अपने षडयन्त्रो मे सफल हो 10 लोगो का धर्मान्तिरण करने मे काम-याब हो गईं।

ईसाई मिशनरियो द्वारा सीमावर्ती चको 8 एफ, 9 एफ, 28 एव 42 एफ, मोहल्ला, 33 बी बी, 35 बी बी, अरायन, चकसाना आदि मे धर्मा-न्तरण के कुत्सित एव राष्ट्रघाती प्रयास चलाये जा रहे हैं भारी सख्या मे लोगो को ईसाई बनाया जा चुका है। भारतीय जनता पार्टी के जिला महा-मन्त्री श्याम चुघ ने केन्द्रीय सरकार को पत्र लिखकर इस राष्ट्र विरोधी षडयन्त्र को विफल करने तथा धर्मान्तिरण के कार्य मे लगे लोगो के विरुद्ध कार्रवाई करने की माग की है।

इससे पूर्व पिछले साल इन्ही दिनो मे गगानगर के एक पत्रकार राकेश शर्मा एव जिला युवक कांग्रेस आई के सास्कृतिक प्रकोष्ठ के सयोजक निर्मल जैन ने ईसाई मिशनरियो की साजिशो का पर्दाफाश करते हुए सरकार से उनकी राष्ट्र विरोधी गतिविधियो पर प्रतिबन्ध लगाने की माग की थी, परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध मे कोई कार्रवाई नहीं हुई है। अलबत्ता पत्रकार राकेश शर्मा को एक ईसाई स्कूल के सचालको द्वारा गम्भीर परिणाम की चेतावनी देने के साथ उनके विरुद्ध अदालत मे भा द स की धारा 107 के अन्तर्गत [illegible] हुआ और राकेश शर्मा का [illegible] इसी धारा के अन्तर्गत स्कूल [illegible] या।

अत के राष्ट्रभक्त लोग और सस्थाए इस धर्मान्तिरण को लेकर काफी चिन्तित हैं। आर्य समाज ने राज्य सरकार को एक पत्र लिखकर ईसाई मिशनरियो की गतिविधियो पर अकुश लगाने की माँग राष्ट्र हित में की है।

आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि गुप्तचर विभाग द्वारा जिले मे धर्मान्तिरण और ईसाई मिशनरियो की गतिविधियों की रिपोर्ट दिए जाने के बाद भी केन्द्र और राज्य गृहमन्त्रालय कोई कार्रवाई करने के स्थान पर चुप्पी साधे राष्ट्र विरोधी गतिविधिया होते देख रहा है। (नवभारत टाइम्स से साभार)

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा आर्य प्रिन्टर्स अजमेर मे मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगज अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 सोमवार 15 फरवरी, 1988
अक 3 प स -433338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

फाल्गुन कृ 12 12 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे



डी ए वी विद्यालय शताब्दी समारोह को सबोधित करते हुए परोपकारिणी सभा के प्रधान स्वामी ओमानन्द सरस्वती एव दाए से प्रधानाचार्य श्री रासासिह, श्री दत्तात्रेय आर्य, श्री गोविन्दसिह गुर्जर, श्री जगनप्रसाद रावत, श्री किशन मोटवानी एव श्री कृष्णराव बाल्दे ।

डी. ए. वी. विद्यालय शताब्दी समारोह का शुभारम्भ

दि 10 फरवरी, 1988 ई को डी ए वी को स्थापित हुए 100 वर्ष पूरे हो गए हैं। इस उपलक्ष मे बुधवार दि 10 फरवरी 88 को शताब्दी शुभारम्भ समारोह का प्रारभ प्रात काल यज्ञ एव ध्वजारोहण स प्रारभ हुआ। यज्ञ डा बाबूरामजी शास्त्री, प्रो देव शर्मा वेदालकार प्रो कृष्णपाल सिह, प्रो बुद्धिप्रकाश आर्य एव आचार्य गोविन्दसिह के सानिध्य मे सम्पन्न हुआ। बैण्डो की धुन के बीच ध्वजारोहण उत्तर प्रदेश के भू पू गृहमन्त्री एव डी ए वी के ही भू पू छात्र श्री जगनप्रसाद रावत ने किया।

इस अवसर पर आर्य जगत के सुप्रसिद्ध सन्यासी एव परोपकारिणी सभा के प्रधान स्वामी ओमानन्दजी सरस्वती, आर्य समाज आगरा के प्रधान एव स्वाधीनता सैनानी श्री भोजदत्तजी शर्मा भी विशेष रूप से उपस्थित थे।

सायकाल 4 बजे राजस्थान के कृषि, खाद्य एव आबकारी मन्त्री श्री गोविन्दसिह गुर्जर की अध्यक्षता व श्री जगनप्रसाद रावत के मुख्य आतिथ्य म समारोह सम्पन्न हुआ।

अपने अध्यक्षीय भाषण मे श्री गोविन्दसिह गुजर ने कहा कि देश के बहुमुखी विकास के लिए शिक्षण सस्थाओ की महत्ती भूमिका है। यह सस्थाये ही देश के लिए अनुशासित नागरिक तैयार करती है। अत इनका दायित्व आज की परिस्थितियो मे अधिक बढ गया है।

श्री गुजर ने विद्यालय के बालको को आशीर्वाद देते हुए कहा कि वह अपने जीवन म स्वामी दयानन्द के पथ के अनुगामी बने व समाज मे व्याप्त अन्ध विश्वास जैसी कुरीतियो को दूर कर। श्री गुजर ने विश्वास दिलाया कि वह डी ए वी शिक्षण सस्था के भू पू विद्यार्थी होने के नाते इस सस्था की जो कुछ भी सुविधा व सहायता तथा साधन जुटाने मे सहायता कर सकेंगे, अवश्य करेंगे।

उत्तर प्रदेश के भू पू गृहमन्त्री श्री जगनप्रसाद रावत ने नन्हे मुन्नों को सम्बोधित करते हुए नन्हे अपने माता-पिता गुरु तथा अग्रजो के कहना मानने और उन्हे सम्मान देने हेतु कहा। श्री रावत ने अपने बालपन के सस्मरण सुनाने म बच्चो म इतने भाव विभोर हो गए कि स्वय भी इतनी वृद्धावस्था मे बच्चो जैसे हो गए। इन्होने विद्यार्थियो से अनुशासनहीनता जैसी बुरी आदत से दूर रहने की सलाह देते हुए कहा कि बालको मे एकता व सगठन की भावना से ही देश म राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न होती हैं जिससे देश मजबूत होता है।

समारोह म विशिष्ट अतिथि पद से बोलते हुए राजस्थान विधान सभा के उपाध्यक्ष श्री किशन मोटवानी ने राष्ट्र भाषा हिन्दी के प्रचार प्रसार के क्षेत्र मे दयानन्द शिक्षण सस्थाओ के योगदान की विशेष प्रशसा की। उन्होने कहा कि जिन उद्देश्यो को लेकर इस विद्यालय की स्थापना हुई थी, उन उद्देश्यो को प्राप्त करने मे तथा सामाजिक चेतना जाग्रत करने मे यह शिक्षण सस्था शिक्षा जगत मे अनूठी मिसाल रखती है। श्री मोटवानी ने डी ए वी सस्था के प्रगति के सोपानो का प्रदर्शन करने हेतु एक वर्कशाप आयोजित करने का भी सुझाव दिया।

समारोह का सचालन करते हुए विद्यालय के प्रधानाचार्य श्री रासासिह ने शिक्षण सस्था का गौरवशाली इतिहास प्रस्तुत करते हुए सस्था के शताब्दी वर्ष समारोह के उद्देश्यो पर प्रकाश डाला। उन्होने कहा कि शताब्दी वर्ष समारोह के अवसर पर भू पू छात्रो का एक सम्मेलन बुलाया जायगा शिक्षण सस्था के विस्तार के प्रयास किये जायगे तथा विद्यालय को एक आदर्श विद्यालय के रूप मे विकसित करने के प्रयत्न किये जायगे। इसी प्रकार शिक्षा जगत मे डी ए वी सस्था के योगदान पर सगोष्ठी का आयोजन तथा स्मारिका का प्रकाशन किया जायगा।

इस अवसर पर लगभग दो हजार दर्शको के सम्मुख विद्यालय के विद्यार्थियो ने योगासन व देश-भक्ति पूर्ण वीर रस की कविताए व सगीत के कार्यक्रम प्रस्तुत किए।

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रधान संपादक : रासासिह संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या : 21010

दयानन्द एक शक्ति पुन्ज

आधुनिक मार्ग दर्शको मे स्वामी दयानन्द का प्रथम स्थान है। वे भय और मोह दोनो से परे थे। उनका व्यक्तिगत जीवन एक खुली पुस्तक के समान था, चाकू, छुरे, विष और यहा तक की विषधर सर्प द्वारा उनकी हत्या के प्रयत्नो का उन्होंने सामना किया। अपशब्दो और लाछनो को अपने निष्कलंकित चरित्र और हिंसा का अपने दुर्दमनीय साहस से उन्होने प्रतिकार किया। वे द्वेष से मुक्त थे किन्तु असत्य के विरुद्ध उनका रोष ज्वालामुखी से निकले भडकते लावे के समानदाहक था और उसमे भारत की अन्तरात्मा को कुंठित करने वाले सब तत्वो को भस्मसात करने की क्षमता निहित थी।

स्वामीजी की अदभुत प्रतिमा का एकमात्र लक्ष्य भारतीय सस्कृति मे पुन आर्य युग की शक्ति और पौरुष उत्पन्न करना था। उनकी विद्वता मानवीय सामर्थ्य से भी ऊपर थी। वे अद्भुत भाषण शक्ति के धनी थे और उसमे ओज और गर्जना थी। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक निरन्तर घूम-घूम कर उन्होंने देश भर मे एक निर्माणिक शक्ति पुन्ज की किरणें प्रसारित की। शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति के एक माने हुए मानव, विद्युत उत्पादक केन्द्र थे। वे पहले आधुनिक व्यक्ति थे जिन्होंने अपने जीवन तथा उद्देश्यो से हमे अपनी सस्कृति के शाश्वत मूल्यो के अनुसार जीवन निर्माण करने की प्रेरणा दी। हमारी राष्ट्रीयता का आधार अधिकाश मे उनके द्वारा दिये गये सास्कृतिक पुन सगठन के कार्यक्रम पर स्थित है। जैसे जात पात तथा छुआछूत का उन्मूलन, नारी की समानता। उच्च से उच्च वैज्ञानिक शिक्षा को भारतीय शिक्षा से जोडने का प्रयत्न राष्ट्र भाषा का व्यवहार तथा राष्ट्रीय प्रेरणा के रूप मे सस्कृत का अध्ययन, पश्चिम के अन्धानुकरण का विरोध, वैदिक काल मे प्रचलित स्वतन्त्रता के आधार पर जीवन का पुन निर्माण और विदेशी राज्य तथा सस्कृति का दृढ प्रतिरोध।

जनवरी 1976 की "भवन पत्रिका" मे प्रकाशित मूल अग्रेजी का "भावानुवाद"

सम्पादकीय

सर्वतोमुखी क्रान्ति के अग्रदूत महर्षि दयानन्द को शत-शत नमन

कविवर 'शकर' ने एक स्थान पर क्या ही सुन्दर कहा है—'आनन्द सुधासार दया कर पिला गया, भारत को दयानन्द दुबारा जिला गया'। एक अन्य कवि के शब्दों मे धन्य है तुझको ए ऋषि, तूने हमे जगा दिया, सो सो के लूट रहे थे हम, तूने हमे बचा दिया। 'अन्धो को आखें मिल गई, मुर्दो मे जान आ गई जादू सा क्या चला दिया, अमृत सा क्या पिला दिया'। इन पक्तियो के यहा उद्धृत करने का मतव्य स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती सर्वतोमुखी समग्र क्रान्ति के अग्रदूत थे। यह उस अकेले साहसी व्यक्ति का ही कमाल था कि जीवन मे सत्रह बार विषपान करने विरोधियो द्वारा कई बार अपमानित करने के प्रयासो के बावजूद सत्य के मार्ग से नही डिगा और बडी से बडी चुनौतियो का भी हसते-हसते निर्भीकता के साथ मुकाबला किया।

सोये हुए भारतीयो मे स्वाभिमान पैदा करने, भारतीयो को आत्म गौरव का याद दिलाने प्रताडित एव पददलित हिन्दुओ मे आत्म विश्वास फूकने अग्रेजो के विरुद्ध जन जागरण कर स्वतन्त्रता का मत्र फूकने, सामाजिक कुरीतियो पाखण्डो, अन्धविश्वासो तथा बुराइया पर कठोर प्रहार करने तथा सृजनात्मक जीवन एव समाज का निर्माण करने हेतु मार्ग दर्शन करने का जो कार्य महर्षि दयानन्द ने किया है वह न भूतो न भविष्यति के आधार पर अब तक कोई अकेला व्यक्ति नही कर सका है। उपदेश दे देना, धर्म का प्रचार कर देना तो एक सामान्य बात है परन्तु उन उपदेशो से पूर्व पहले अपना व्यक्तिगत जीवन शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक एव आत्मिक दृष्टि से तदानुकूल बनाकर एक आदर्श प्रस्तुत करना, धर्म प्रचार की व्यस्तता होते हुए भी सतत् साहित्य साधना करते हुए वेदो का भाष्य करना तथा सत्यार्थ प्रकाश जैसे अमर ग्रन्थो का निर्माण करना अपने अकाट्य तर्कों एव प्रबल पाडित्य से पौराणिको को शास्त्रार्थों मे निरुत्तर कर देना, सम्पूर्ण समाज मे वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न कर सोचने को विवश कर देना उस महान ऋषि का ही प्रताप था। अपने बाद भी क्रान्ति की अजस्र धारा निरन्तर प्रवहामान करने हेतु आर्यसमाज जैसे क्रान्तिकारी सगठन का निर्माण किया। अनेक महापुरुषो ने ऋषि के इस क्रान्तिकारी स्वरूप को मुक्त कण्ठ से सराहा है।

महर्षि की क्रान्तिकारिता का बखान

दयानन्द ने अस्पृश्यता व अछूतपन के अन्याय को सहन न किया और उससे अधिक उनके अपहृत अधिकारों का उत्साही समर्थक दूसरा कोई न हुआ। भारत म स्त्रियो की शोचनीय दशा को सुधारने मे भी दयानन्द ने बडी उदारता व साहस से काम लिया। —फ्रेंच लेखक रोम्याँ रोला

ऋषि का आदेश—'आर्यावर्त, उठ जाग। समय आ गया है, नये युग मे प्रवेश कर। आगे बढ।' —पाल रिचर्ड

उनका विश्वास था कि आर्य जाति चुनी हुई जाति है, भारत चुना हुआ देश है और वेद चुनी हुई पुस्तक है। —रेमजे मेकडानल्ड

वह दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक, विश्व को प्रभु की शरण मे लाने वाला योद्धा और मनुष्य व सस्थाओ का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग म उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था। —योगी अरविन्द घोष

'स्वामी दयानन्द एक महान् सुधारक और प्रखर क्रान्तिकारी महापुरुष तो थे ही, साथ उनके हृदय मे सामाजिक अन्यायो को उखाड फेंकने की प्रचण्ड अग्नि भी विद्यमान थी। उनकी शिक्षाओ का हम सबके लिए भारी महत्व है। उन्होंने हमे ये महान् सन्देश दिया कि हम सत्य की कसौटी पर कस कर ही किसी बात को स्वीकार करें।

—सर्वपल्ली डॉ राधाकृष्णन

महर्षि दयानन्द महान् राष्ट्रनायक और क्रान्तिकारी महापुरुष थे। उन्होने व्यावहारिक रूप से जीवन के प्रत्येक पहलू मे अपनी छाप छोडी है। स्वामीजी को श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाना चाहिए। उन्होने देश मे धार्मिक, सास्कृतिक और राजनैतिक क्षेत्र मे जो कार्य किया वह अभूतपूर्व है। उन्होने जो काम पकडा उसे पूरी तरह निभाया। उन्होने हिन्दू धर्म का कल्याण किया। वह बडे दृढ व्यक्ति थे। उन जैसा क्रान्तिकारी नेता हौना बिरले ही लोगो का काम होता है। —लाल बहादुर शास्त्री

'स्वामी दयानन्द ने पददलित भारत का पुनरुत्थान किया, राष्ट्र को नवजीवन का सन्देश दिया। उन्होने सामाजिक क्राति की, अन्धश्रद्धा को दूर करने का प्रयत्न किया और राष्ट्र का निर्माण किया।'

—मोरारजी देसाई

मुझे इस बात का गर्व है कि मेरे गुरु ने मुझे स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार करना, बोलना और कर्तव्य पालन करना सिखाया तथा मेरी माता ने मुझे एक सस्था मे बद्ध होकर नियमानुवर्तिता का पाठ दिया।'

—पजाब केसरी ला लाजपतराय

'मैंने राष्ट्र, जाति तथा समाज की जो सेवा की है उसका श्रेय महर्षि दयानन्द को प्राप्त है। मैंने जो कुछ प्राप्त किया है उसमे सबसे बडा हाथ उस सर्वहितैषी वेदज्ञ और तेजस्वी युगद्रष्टा का है। मुझे उस स्वतन्त्र विचारक का शिष्य होने मे अभिमान है।' —श्यामजी कृष्ण वर्मा

महर्षि दयानन्द के क्रान्तिकारी व्यक्तित्व और कृतित्व ने तो हमे स्वामी श्रद्धानन्द पडित लेखराम शहीदे आजम भगतसिंह, शेरे पजाब लाला लाजपतराय, महात्मा हसराज क्रान्ति शिरोमणि श्री प रामप्रसाद बिस्मिल, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी सवतानन्द, गुरुदत्त, महात्मा नारायण स्वामी जैसे अनेक तपपूत, त्यागी, तपस्वी कर्मठ नेता और क्रान्तिकारी दिये परन्तु आज उसी ऋषि दयानन्द और उसके आर्यसमाज की धधकती हुई आग क्यों धूमयुक्त हो गई है यह हम सब के लिए घोर विचारणीय है। आज आर्यसमाज मे भी असली सिक्को के स्थान पर 'नकली सिक्को' का धडल्ले से प्रचलन हो रहा है फलस्वरूप हमारा प्रतिष्ठा कम हो रही है। नकली सिक्को के प्रचलन को बन्द करना होगा। कागजी शेरो से सावधान रहना होगा।

अत ऋषिबोधदिवस मनाने वक्त हमे अपने स्वय के तथा आर्यसमाज के उस क्रान्तिकारी स्वरूप को उजागर करने का सकल्प लेना होगा। हमे पहले सच्चा, तेजस्वी, आर्य बनना होगा। हमे दरबारी और 'सरकारी' तथा पदलोलुपी बनने के स्थान पर क्रान्तिवीर, स्वतन्त्री और निर्भीक आर्य बनना होगा। —रक्षसिंह

एक विचारोत्तेजक समस्या : राजनीति का भारतीयकरण

—डॉ भवानीलाल भारतीय—

उपर्युक्त शीर्षक युक्त एक विचारोत्तेजक लेख डा हर्षनारायण का लिखा आर्य-जगत के 13 दिसम्बर के अक मे प्रकाशित हुआ है। लेख के पूर्वार्द्ध मे भारतीय अल्पमत और बहुमत की समस्या का लेखक ने तर्कपूर्ण विवेचन किया है, जिस से असहमत होने की कोई बात नहीं है। उत्तरार्द्ध मे मेरे एक लेख मे उठाये कतिपय बिन्दुओ पर डा नारायण ने टिप्पणी की है जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। जब मैंने आर्यसमाज के प्रत्येक सभासद की अपने मनपसद राजनैतिक दल मे जाने की छूट की बात कही तो मेरा यह कदापि अभिप्राय नही था कि वह किसी ऐसे दल मे भी जा सकता है, जहा जाकर उसे वैदिक सिद्धान्तो की अवहेलना या हनन करने की छूट मिले। यदि कोई आर्यसमाजी काग्रेसी बन कर अजमेर के ख्वाजा साहब की दरगाह पर चादर चढाये या महाराष्ट्र के गणपति उत्सव पर गणेश की प्रस्तर या मिट्टी की प्रतिमा पर फूल चढाये, तो मेरी दृष्टि मे वह दयानन्द का अनुयायी कहलाने का अधिकारी नही है। उसी प्रकार कोई आर्यसमाजी मार्क्सवादी कम्युनिष्ट बनकर ईश्वर और धर्म का उपहास करे तो वह आर्यसमाजी ही कहा रहेगा ? अत निश्चय ही उसे ऐसे दल को चुनना होगा जिसका आर्यसमाज की धार्मिक मान्यताओ से विरोध न हो। अब भारत मे ऐसे दल कौन से हैं, यह मेरे विचार की परिधि मे नही आता, क्योकि मै स्वय एक गैर राजनैतिक व्यक्ति हू।

हिन्दू सभा और भारतीय जनता पार्टी की निश्चेष्टता और अप्रासगिकता पर टिप्पणी करना भी मेरे लेखन के दायरे मे नही आता। हा, यह सच है कि स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय जैसे तेजस्वी आर्य-पुरुष काग्रेस द्वारा अपनाई गई हिन्दू विरोधी और मुस्लिम तुष्टिकरण की नीतियो से खिन्न होकर ही हिन्दू सभा की और उन्मुख हुए थे। किन्तु यहा भी उन्हे निराशा ही हाथ लगी। जब स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि के कार्यक्रम को हिन्दू महासभा द्वारा मान्यता प्रदान करवाई तो पुरी के तत्कालीन शकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ ने मद्रास मे भाषण देते हुए कहा कि शुद्धि को हिन्दू सभा मे मान्यता दिलवाकर आर्यसमाज अपनी शक्ति का ही प्रसार कर रहा है। मालवीय जी जैसे उदार सनातनी नेता भी शूद्रों को वेदाधिकार



देने, उन्हे यज्ञोपवीत देने अथवा मदिर प्रवेश जैसे मसलो पर कट्टर रूढिवादी दृष्टिकोण अपनाये हुए थे। अत स्वामी श्रद्धानन्द का हिन्दू महासभा से शीघ्र ही मोह भग हो गया।

काग्रेस के प्रति विशनस्वरूप गोयल का आक्रोश यदि है, तो उसे हम आर्यसमाज के दृष्टिकोण से समझें न कि राष्ट्रीय स्वय सेवक या विश्व हिन्दू परिषद् के दृष्टिकोण से। मेरी तो यह मान्यता है कि इन सस्थाओ का घटाटोप ही भयकर है, वे वास्तविक अर्थ मे हिन्दू हितो की कितनी रक्षा कर सकती है, या कर सकेगी, यह सर्वथा शकास्पद है। स्वामी दयानन्द का अनुयायी होने के नाते गगाजल के घडो का जुलूस निकलवाने और राम जन्म भूमि के लिये राम और सीता के रथो को देश भ्रमण कराने मे मेरा कतई विश्वास नही है। मेरे जैसे लाखो आर्यसमाजियो के लिए राम और कृष्ण की जन्म भूमि ऐतिहासिक स्मारक से अधिक महत्व नही रखते। वहा राम-मदिर बनाये जाये और राम जानकी की मूर्तियो का षोडशोपचार पूजन आरम्भ हो, कम से कम कोई सच्चा आर्यसमाजी तो यह हरगिज नही चाहेगा। अत प्रश्न है बाबरी मस्जिद और राम जन्म भूमि पर किस वर्ग का स्वत्व रहे ? निवेदन है कि शताब्दियो से हिन्दुओ की निर्बलता के कारण उनके मठो, मन्दिरो तीर्थों और पुण्य स्थानो का विध्वस हो रहा है। उसके लिये रोना धोना हमने बहुत कर लिया। हमे इस समस्या का कोई तर्कसगत समाधान अवश्य निकालना चाहिए। मुस्लिम साम्प्रदायिकता और सैयद शहाबुद्दीन के तारसुबी रवैये के आगे आत्मसमर्पण की तो बात ही नही उठती। काग्रेसी सरकार मे जो हिन्दुओ का बहुमत है, उसका विवेक क्यो नहीं जाग्रत होता और उन नेताओ को सत्ता दिलाने वाला हिन्दुओ का विशाल मतदाता वर्ग अपने इन प्रतिनिधियो को इस बात के लिये विवश क्यो नही करता कि वे ऐसे मर्म को छूने वाले विस्फोटक प्रश्नो का कोई तर्क सगत समाधान ढूढें। राष्ट्रघात करने वाली सस्था मे यदि कोई आर्य सदस्य प्रविष्ट होता है तो उसे सरक्षण देने का भी कोई प्रश्न नहीं है।

देश मे यदि राजनीति का महाशून्य उत्पन्न हो गया है तो उसकी जिम्मेदारी इस देश के विशाल हिन्दू बहुमत पर ही है, हा, आर्यसमाज के चिन्तन की प्रखरता निर्विवाद है, किन्तु उस समाज के लोगो की राजनैतिक आस्थायें भी शतधा विभक्त हैं। अत वे इस महाशून्य को कैसे भरे ? डा नारायण को इस भ्रम को मन से निकाल देना चाहिए कि मैंने आर्यसमाज को सकुचित अर्थ मे धार्मिक सस्था कहा है। मेरा तो समग्र जीवन ही ऋषि दयानन्द के विचारो के अध्ययन, मनन, चिन्तन, तथा आर्यसमाज के इतिहास के अनुशीलन मे लगा है। दयानन्द के प्रखर राष्ट्रवाद, उनकी राजनैतिक सूझबूझ तथा दूरदर्शिता को मैंने अपने ग्रन्थो और व्याख्यानो मे भूरिश उद्धृत और व्याख्यात किया है। आर्यसमाज यदि अपने राजनैतिक दायित्व से मुह मोड लेता तो वह श्रद्धानन्द, लाजपतराय, भगतसिह, रामप्रसाद बिस्मिल तथा भाई परमानन्द जैसे देश के लिये सर्वस्व बलिदान करने वालो की जमात को ही पैदा नही कर सकता था। सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास और उसमे वर्णित राजधर्म प्रकरण से विमुख होने का भी कोई प्रश्न नही है। मैंने जो बात कही वह अतीत के कुछ तथ्य और वस्तुस्थिति की यथार्थता के आधार पर कही थी। यदि भारत के आर्यसमाजी इस देश के हित के लिये अपना कोई राजनैतिक मच बनाये, तो उन्हे रोकता कौन है ? विगत काल मे ऐसे कई प्रयोग हुए, किन्तु सभी असफल हो गये। जनसघ के पहले प बुद्धदेव विद्यालकार की अध्यक्षता मे भारतीय लोक सघ बना। उसके विधान की प्रति और उसके सस्थापक सदस्यो के नाम मेरे पास हैं। यह विशुद्ध आर्यसमाज का प्रयास था। उसके पश्चात यदि मैं भूलता नही हू, तो इस शदी के छठे दशक मे भारतीय लोक समिति बनी। इसमे भी प रामचन्द्र देहलवी और प रामगोपाल शास्त्री (वैद्य) जैसे अनेक सक्रिय आर्यसमाजी थे। राजार्यसभा बनाने के तो न जाने कितने प्रस्ताव पास हुए, समितिया बनी और उनका क्या परिणाम रहा, यह किसी से अविदित नही है। मेरे विचार से आर्यसमाज के वे लोग जो राजनीति मे रुचि रखते हैं, उनके अपने स्वार्थ भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलो मे रहने से ही पूरे होते है। अत वे स्वय नही चाहते कि आर्यसमाज के विचारो के अनुयायी कोई अपना पृथक् वर्चस्वपूर्ण राजनैतिक मच बनायें।

हरियाणा मे कुछ वर्ष पहले बनी आर्यसभा और उसके हश्र को भी सभी लोग जानते हैं। उस सस्था के सस्थापक नैष्ठिक सन्यासी लोग, जिन्होने आर्यसमाज के राजनैतिक दर्शन के व्याख्याता और प्रवक्ता होने का गर्व किया था, उनका स्वार्थ का ही परिणाम था कि आर्य सभा तो छिन्न भिन्न हुई ही, उनमे से एक सन्यासी लोकदल मे गये, दूसरे जनता पार्टी मे मे जाकर चन्द्रशेखर से टकराव कर बैठे और तीसरे काग्रेस (आई) के अनुयायी बन कर किसी निगम की अध्यक्षता ले पडे। किन्तु आचार्य दयानन्द की मूल शिक्षाओ से दूर हट जाने का ही परिणाम निकला कि आज इन तीनो सन्यासियो की न तो अपनी मातृसस्था आर्यसमाज मे ही कोई अच्छी प्रतिष्ठा है और तत्-तत् राजनैतिक दलो से तो इन्हे दूध की मक्खी की भाति निकाल बाहर किया है। अब हालत यह है कि इन्ही मे से एक सज्जन कभी तो बन्धुआ मजदूरो के अधिकारो की लडाई लडते है और कभी देवराला की सती के प्रतिरोध मे पदयात्रा आयोजित करते है, जब कि तथ्य यह है कि न तो सती काण्ड ही बार-बार होते और केवल पदयात्राओ से ही सती विषयक अन्ध विश्वास भी नही हटाये जाते।

आर्यसमाज अपना राजनैतिक मच अवश्य स्थापित करे किन्तु वह विशुद्ध भारत की राजनैतिक समस्याओ के समाधान के लिये ही होगा और वह आर्यसमाज के सार्वदेशिक सगठन से भी पृथक होगा। किन्तु हमारे आर्यसमाजी प्रचारको के अज्ञान को क्या कहा जाय ? वे जब मारिशस या अफ्रीका के आर्यसमाजो की वेदी पर प्रवचन करने बैठते है तो वहा भी वे पजाब के उग्रवादी या काश्मीर की 37वी धारा की ही बात करते हैं। वे यह भी भूल जाते हैं कि मारिशस, अफ्रीका या सिंगापुर के आर्यों को न तो पजाब से मतलब है और न फारुक अब्दुल्ला से। वे तो

(शेष पृष्ठ 4 पर)

(शेष पृष्ठ 3 का)

दयानन्दीय विचारधारा को जानना और समझना चाहते हैं। किन्तु एक बात मैं अवश्य कहूंगा। आर्यसमाज का यह राजनैतिक मंच स्वय के बल बूते पर खड़ा होना चाहिए। क्योंकि यदि हम इसमें राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ या विश्व हिन्दू परिषद् का सहयोग लेंगे तो इन सस्थाओं के सकीर्ण हिन्दुत्ववाद का अजगर आर्यसमाज को ही निगल लेगा। इस सम्बन्ध में जो अनेक कटु अनुभव आर्यसमाज को हुए हैं, उन्हें हमें ध्यान में रखना होगा। डा नारायण ने मेरे लेख से जिन दो वाक्यों को पसन्द कर उद्धृत किया है मेरे आलोच्य लेख के भी वे ही मूलभूत मुद्दे हैं और मेरे वाक्य मेरे नहीं अपितु ऋषि दयानन्द के ही हैं, जिन्होंने एक उपास्य देव, एक उपासना पद्धति, एक भाषा, एक वेशभूषा और एक ही वैचारिक पद्धति के बिना राष्ट्र की एकता को स्वप्न तुल्य माना था। इस सुरसा की भांति मुह फैलाये हमारे राष्ट्र के निगल जाने वाली भयकर समस्या का निदान न तो वह कांग्रेस कर सकती है जो एकता में अनेकता की बात करती है और न राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ ही उसका समाधान कर सकता है जो स्वामी विवेकानन्द की ही भांति हिन्दू धर्म और समाज में मौजूद दुर्बलताओं की आलंकारिक व्याख्या तो करता है, किन्तु दयानन्द की भांति जिन्हें ठुकराने का उसमें साहस नहीं है। सडी गली पौराणिक अवधारणाओं से तो मुक्ति पानी ही होगी।

हम भी यह चाहते हैं, कि आर्य समाज हिन्दू जाति का राजनैतिक नेतृत्व ग्रहण करे, किन्तु क्या उसके पीछे वे पदलोलुप हिन्दू आयेंगे जो सत्ताधीश बने रहने के लिये कांग्रेस के दुमछल्ले बने रहने मे ही अपना हित मानते हैं ? क्या आर्यसमाज का नेतृत्व वे मठाधीश, सन्त, महन्त और गद्दीधारी धर्माचार्य कभी स्वीकार करेंगे जो आज भी अपने करोडों अनुयायियों को नकेलबधे ऊंटों के समान सभाले हुए तो हैं किन्तु उनमें न तो विवेक शक्ति ही जाग्रत करते हैं और न राष्ट्र-भक्ति के भावों को ही बढावा देते हैं। पुरी का जो शंकराचार्य सुधारक शिरोमणि राममोहन राय और अर्थापत्ति से दयानन्द को भी पापी कहने का दुस्साहस करे और उसे धर्माचार्य के इस पद से च्युत न करें, उस हिन्दू समाज का यदि बेडा गर्क हो जावे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

***



ध्वजारोहण के पश्चात उपस्थित छात्र समुदाय को सम्बोधित करते हुए आचार्य दत्तात्रेय आर्य

पत्र बोलते हैं—

संघ स्वामी दयानन्द की उपेक्षा नहीं करता

महोदय,

आपके पत्र में एक लेख डा भवानीलाल भारतीय का पढा। लेखक ने आर्यजनों से अपील की है कि वे 'राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ' का महर्षि दयानन्द की उपेक्षा करने के कारण विरोध करें। बडा दु ख हुआ। वास्तव में यही कारण हिन्दुत्व की दुर्दशा के हैं। जब एक ही ध्येय के अनुगामी, भले ही उनके मार्ग अलग हैं, एक दूसरे की टांग वह भी सार्वजनिक रूप से घसीटने से नहीं चूकते।

लेखक ने जो तथ्य दिए हैं वह एकदम हल्के एव घटिया किस्म तथा सत्य से परे हैं। यह बात बडी दु खदायी है कि लेखक महोदय 'पत्र' के माध्यम से हिन्दुत्व के प्रति समर्पित एक सगठन के प्रति लोगो मे गलतफहमी पैदा करना चाहते हैं। शायद उन्हे सघ की कार्यपद्धति की बिल्कुल भी जानकारी नहीं है। सघ महर्षि का समाज-जागरण के कार्य मे महत्वपूर्ण योगदान मानता है। तभी सघ के प्रात स्मरण मे वह स्वामी दयानन्द का नाम श्रद्धा के साथ गाता है।

—नरेन्द्रपालसिंह भदौरिया,
नई सडक, ग्वालियर

संघ दयानन्द और आर्यसमाज को अछूत मानता है

सघ का व्यवहार सदैव ही आर्यसमाज व स्वामी दयानन्द के प्रति उपेक्षापूर्ण रहा है। और फिर पौराणिक ढकोसलो के समर्थक सघ और पाखड के प्रखर विरोध में आर्यसमाज दोस्ती सभव ही कहा है।

—विजय बंधु,
सोतीगज, मेरठ

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा आर्य प्रिंटर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह द्वारा आर्यसमाज भवन, केसरगज अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द · 163
सृष्टि सम्वत् . 1972949088

।। ओ३म् ।।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज को वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 4 सोमवार, 29 फरवरी, 1988
अंक : 4 प. स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

फाल्गुन शु 12 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

आर्यसमाज के पुनर्गठन की दिशा मे पहला कदम

समाज के द्वार सबके लिए खुले किन्तु सदस्यता पर प्रतिबन्ध

सार्वदेशिक सभा द्वारा आर्यसमाज की सदस्यता के बारे में महत्वपूर्ण निर्णय

— आचार्य दत्तात्रेय आर्य, संयोजक उपसमिति —

सदस्यता सम्बन्धी जिस नवीन शर्त को प्रण के रूप मे सभा ने 20 सितम्बर 1987 की बैठक में सर्व सम्मति से स्वीकार किया है, वह निम्न प्रकार है —

'मैं ईश्वर के प्रतीक स्वरूप किसी मूर्ति या जड वस्तु अथवा व्यक्ति की पूजा नहीं करूंगा, ना ही मृतक श्राद्ध, या स्थान विशेष को तीर्थ मानूंगा। तथा किसी अवैदिक या पौराणिक विधि विधान को नहीं मानूंगा। अर्थात् वेद विरुद्ध आचरण नहीं करूंगा। मैं जन्मगत जाति-पाति या छूआ-छूत को नहीं मानूंगा। मैं किसी भी सम्प्रदाय विशेष या जाति सगठन का सदस्य या अधिकारी भी नहीं बनूंगा तथा आर्य समाज के उपनियमो में वर्णित सदाचार के नियमों का पूर्णतः पालन करूंगा। यदि मैं इसके विपरीत आचरण करूं तो मेरी आर्य सभासदी समाप्त कर दी जावे।"

आर्यसमाज के पुनर्गठन के सम्बन्ध में प्रारम्भ से दो दृष्टिकोण रहे हैं। वर्तमान यथास्थिति मे स्वभावत कुछ प्रभावशाली लोगो का निहित स्वार्थ था, इसलिए वे किसी परिवर्तन के पक्ष मे नही थे। यह स्पष्ट है। दूसरा दृष्टिकोण आर्य समाज के वर्तमान सगठन मे क्रांतिकारी परिवर्तन का समर्थक था। किन्तु वर्तमान नेतृत्व या तो इसके प्रति उदासीन था या इसे अनावश्यक समझता था। परिणाम स्वरूप अनेक प्रमुख व्यक्तियो को यह आशा नही थी कि उपसमिति का कोई भी सुझाव सभा द्वारा स्वीकार किया जा सकेगा। किन्तु गत चार-पाच वर्षों के प्रयत्न के पीछे मेरी यह मान्यता रही है कि आर्यसमाज की वर्तमान स्थिति और भविष्य के सम्बन्ध मे विचार करने का न केवल अधिकार अपितु कर्तव्य भी आर्य समाज की शिरोमणि सभा का है। अत यह स्पष्ट था कि सभा का नेतृत्व और विशेषकर प्रधान स्वामी आनन्द बोध जी के आशीर्वाद के बिना इसमे कोई सफलता नही मिल सकती। अत जो चार सुझाव सभा द्वारा स्वीकार किए गए है, वे यद्यपि प्रारम्भिक है फिर भी उन्हे मै प्रधान जी के वर्तमान कार्यकाल की एक उपलब्धि समझता हू और आशा करता हू कि अन्य सुझावो के सम्बन्ध मे भी सभा उनके नेतृत्व मे विचार करेगी। फिर भी मुख्य प्रश्न यह है कि सदस्यता के सम्बन्ध मे जो महत्वपूर्ण निर्णय सिद्धान्त रूप मे स्वीकार किया गया है वह कार्यान्वित होगा या नही। अनेक मित्रो ने मुझे पहले भी चेतावनी दी थी कि इस सम्बन्ध मे सभा से कोई अपेक्षा करना व्यर्थ है उपरोक्त सशोधन के बाद भी मुझे इसी प्रकार के निराशाजनक पत्र मिलते रहे हैं। इसलिए सभा कार्यालय द्वारा इस सम्बन्ध मे जो उदासीनता दिखाई जा रही है उसका मैं यहा कुछ सकेत करना आवश्यक समझता हू।

गत कई वर्षों मे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा नियुक्त उपसमिति आर्य समाज की वर्तमान शिथिलता और उसके निराकरण के उपायो के बारे मे विचार विनिमय करती रही है। जहा सभा द्वारा इसे 'आर्यसमाज के भावी कार्यक्रम' के विचार के रूप मे प्रस्तुत किया जाता रहा वहा उपसमिति के कुछ सदस्य ही नही अपितु आर्य जगत् के अनेक विचारशील और मनस्वी व्यक्ति इसे आर्यसमाज की वर्तमान स्थिति और भविष्य के सम्बन्ध मे चिन्तन के रूप मे देखते रहे। वस्तुत इस पाक्षिक पत्र 'आर्य पुनर्गठन' का लक्ष्य ही इसी महत्वपूर्ण प्रश्न के बारे मे आर्य जगत् का ध्यान आकर्षित करना रहा है। गत वर्षों मे हमने इसीलिए समय-समय पर इस दिशा मे किए गए प्रयत्नो की ओर समाजो, प्रतिनिधि सभाओ और सार्वदेशिक सभा का ध्यान आकर्षित करना अपना मुख्य कर्तव्य समझा है। उपसमिति ने अपनी प्रारम्भिक रिपोर्ट सन् 1983 ई मे प्रस्तुत की थी। उसके बाद सभा द्वारा उस पर समाजो, सभाओ और प्रमुख आर्य पुरुषो की सम्मतिया निमन्त्रित की गई। सभा के प्रधान जी के आदेश पर उपसमिति की सिफारिशो को पाच सक्षिप्त बिन्दुओ मे व्यक्त कर पुन उन पर सम्मतिया निमन्त्रित की गई और स्वामी सत्यप्रकाश जी की अध्यक्षता मे 20-21 अप्रैल 1987 को आर्यसमाज, मन्दिर मार्ग, देहली मे प्रधान सा सभा के आदेशानुसार प्रमुख आमन्त्रित व्यक्तियो की एक विचार गोष्ठी मे उन पर विचार किया गया। और अन्त मे सार्वदेशिक सभा की एक विशेष बैठक 19 व 20 सितम्बर 1987 को समिति की इसी अतिम रिपोर्ट पर विचारार्थ बुलाई गई, जिसमे सदस्यो के अतिरिक्त अन्य निमन्त्रित आर्य पुरुष भी उपस्थित थे।

एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि आर्यसमाज के लिए जीवन मरण के इस प्रश्न के बारे मे विचार करने के लिए या तो अपेक्षित चिन्ता और उत्साह नही था अथवा कुछ व्यक्ति इन सारी सिफारिशो को 'दाखिल दफ्तर' करने के पक्ष मे थे। उनका कहना यह था कि आर्य समाज के वर्तमान उपनियमो मे उन सभी बातो का पहले से ही प्रावधान है जिनके निराकरण के लिए उपसमिति ने सुझाव दिए है। स्वभावत प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि यदि वर्तमान उपनियमो मे उन सब परिस्थितियो का इलाज है, जिनके कारण न केवल आर्य समाज का सगठन अपितु स्वय उसके क्रांतिकारी और लोकप्रिय

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक : रामसिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या : 21010

परमात्म-प्रेम से सम्पन्न जीवन ही जीवन है

परमात्मा से प्रेम होना ही प्राणी की सबसे बड़ी उपलब्धि है। परमात्मा में प्रीति होते ही प्राणी की सारी कामनाएँ परिपूर्ण हो जाती हैं। उसके दुख-दारिद्रय प्रकाश की उपस्थिति मे अंधकार के समान दूर हो जाते हैं। प्राणी आत्म-तुष्ट हो जाता है। उसकी सारी आकुलताएँ मिट जाती हैं। जीवन मे अनन्त और अक्षय सुख का सागर लहरा उठता है।

परमात्मा के प्रति प्रेम ही सच्चा प्रेम है अन्य सारे आकर्षण वासनाएँ है, जिनका सुख क्षणिक और परिणाम मे दुखकारक है। जिस प्रेम मे अनन्यता, अभयता और निरपेक्षिता न हो जो पवित्रता और सम रसता से रहित हो वह प्रेम नही मोह है। वास्तविक और नित्य नवीनतम प्रेम केवल ईश्वर विषयक ही हो सकता है ? ससार विषयक नही !

परमात्मा के प्रति प्रेम रखने वाला अपने सच्चे स्वरूप को जान लेता है और अन्य प्राणियो की वास्तविकता को समझ लेता है जिससे उसके अंदर विश्व प्रेम की भावना जाग्रत हो जाती है।

परमात्मा के प्रति प्रेम रखने वाला जीवन के सत्य को पहचान लेता है आत्मा के दिव्य दर्शन कर लेता है और उसे एक ऐसी अहेतुक परितृप्ति प्राप्त हो जाती है कि फिर किसी वस्तु की कामना नही रहती। —महर्षि रमण

सम्पादकीय—

समझौतावाद एवं यथास्थिति को मिटाना होगा

आर्य समाज का पुनर्गठन अवश्यमेव करना होगा

आर्य समाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती की निर्वाण नगरी अजमेर से ऋषि के अनन्य भक्त, सुप्रसिद्ध चिन्तक एव शिक्षा शास्त्री तथा अजमेर के "मालवीय" कहे जाने वाले, मन-वचन कर्म से समर्पित एवं निष्ठावान आर्य समाजी 78 वर्षीय प्रो दत्तात्रेय आर्य (वाब्ले) ने 1982 ई मे "आर्य समाज अजमेर" की शताब्दी के अवसर पर सुप्रसिद्ध सन्यासीद्वय स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती तथा श्री स्वामी विद्यानन्द जी की उपस्थिति मे जिस 'आर्य विचार मच' के सम्मेलन मे 'आर्य समाज आर्य समाज रहकर ही जीवित रह सकता है" के परिप्रेक्ष्य मे आर्य समाज के पुनर्गठन के मन्त्र को फूका था आखिर वह कई उतार चढावो से गुजरता हुआ आर्य समाज के सगठन की शिरोमणि सभा "सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली" की विगत कार्यकारिणी मे यत्किंचित रूप मे स्वीकृत हो ही गया। इसके पीछे आर्यसमाज अजमेर के प्रधान तथा आर्य समाज की अजमेर मे स्थित शिक्षण सस्थाओ के प्राण श्री दत्तात्रेय आर्य की सतत साधना और ध्येय निष्ठा ही प्रबल सूत्रधार रही। उन्होने शिरोमणि सभा की बैठको मे, विभिन्न सम्मेलनो मे निरन्तर इस ओर सबका ध्यान आकर्षित कर आर्य समाज को पौराणिक हिन्दुत्व की नमक की खान मे गिरने से बचाने के लिये "आर्य समाज" का शखनाद फूककर आर्य समाज के शुभचिन्तको, बुद्धिजीवियो, चिन्तको, मनीषियो एव नेताओ को विचार करने को उद्वेलित एव प्रेरित किया। अततोगत्वा उनका प्रयास रग लाया और सैद्धान्तिक दृष्टि से ही सही तथा भले ही अभी प्रारम्भिक सदस्यता के प्रतिज्ञा पत्र पर हो सही पर वर्तमान सनातन पौराणिक हिन्दू धर्म के छूआछूत, दहेज, मूर्ति पूजा, श्राद्ध, जानपान तर्पण तीर्थ व अवतारवाद, अधविश्वास आदि अन्य धर्म की जडो को खोखला कर देने वाली बुराइयो को स्वीकार नही करने की प्रतिज्ञा या घोषणा ही अपने आप मे अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

आर्य समाज के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रो दत्तात्रेय आर्य के सयोजन मे गठित उपसमिति द्वारा प्रस्तुत जिन 33 सुझावो में से अभी केवल चार सुझावो पर ही सार्वदेशिक सभा की अतरग ने मुहर लगाई है उसके लिये अतरग सभा तथा उसके प्रधान स्वामी आनन्द बोध जी सरस्वती आर्य जगत की ओर से बधाई के पात्र हैं वहीं उपसमिति के सदस्यगण तथा विशेषत उसके सयोजक श्री दत्तात्रेय जी आर्य भी धन्यवाद एव साधुवाद के पात्र हैं जिनके अथक प्रयास और सघर्ष से यह "पुनर्गठन योजना" कार्यान्वयन की ओर अग्रसर हुई है।

अब आवश्यकता इस बात की है कि स्वीकृत प्रस्ताव और मन्तव्य फाईलो या कार्यवाही रजिस्टरो मे ही बन्द न हो अपितु उन्हे आर्य जगत मे सभा के मुख पत्र 'सार्वदेशिक" प्रतिनिधि सभाओ के मुखपत्रो के माध्यम से तथा शिरोमणि सभा की ओर से समस्त आर्य समाजो को आवश्यक परिपत्र द्वारा अधिकाधिक प्रचार प्रसार कर परिपालनार्थ आर्य समाजो मे अनिवार्यता से क्रियान्वित किया जाय। अन्यथा वही "ढाक के तीन पात' वाली स्थिति होगी।

दुर्भाग्य से आज आर्य समाज पर पौराणिकता का छद्मवेशी जाल जकड़ता जा रहा है। आर्य समाजी लोग भी पौराणिक हिन्दुत्व की तथाकथित अनेकता में एकता के नाम पर अपनी प्रखरता, प्रचण्डता, तेजस्विता और मनस्विता को कुन्द करते जा रहे हैं, वह भी 'मैं बुरा नहीं बन जाऊ", 'मैं अलगाववादी नही समझा जाऊ" "मैं हिन्दुत्व का विरोधी नही कहलाऊ" की आड में समझौतावादी दृष्टिकोण का शिकार होता जा रहा है जो आर्य समाज की शिथिलता का बहुत बडा कारण है। तुष्टिकरण आर्य समाज के लिये घातक है। सत्य को सत्य, झूठ को झूठ कहना होगा। 'सबका प्यारा बन जाऊ" का मोह छोडकर बुराइयों पर प्रहार करना होगा।

अत यदि आर्य समाज को महर्षि दयानन्द के सपनों का आर्य समाज बनाना है यदि आर्य समाज को एक "क्रान्ति की जलती मशाल" बनाना है, यदि आर्य समाज को जीवित जाग्रत एवं सक्रिय सगठन बनाना है तो उसे समझौतावाद तथा यथास्थितिवाद के केंचुली को उतार कर फेंकना होगा। तथा नये सिरे से आर्य समाज का पुनर्गठन होगा। इससे आर्य समाज की शिथिलता उजागर नही होती अपितु यह उसकी महानता और जीवन्तता का प्रमाण होगा। हमारे महान ऋषि ने हमें यही पाठ पढाया है कि "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

—रणवीरसिंह

तमस से भी कुछ सीखो

देश विभाजन मे निभाई अपनी भूमिका के अपराध बोध स मुक्ति पाने के लिए कम्युनिष्टो ने 'तमस' को एक हथियार के रूप मे इस्तेमाल किया है। इससे पूर्व हमारी धर्म निरपेक्ष सरकार ने रामायण और बुनियाद दूरदर्शन म प्रसारित कर इसके लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया था। आखिर सरकार को सन्तुलन तो रखना ही था।

तमस म इतिहास को तोड-मरोड कर प्रस्तुत किया गया है। आर्य समाज मदिर का साम्प्रदायिक प्रचार का केन्द्र दिखाना साम्यवादियो का सफेद झूठ है। बम्बई उच्च न्यायालय का 'तमस' को इतिहास कहना भी पूर्णतया गलत है। तमस' इतिहास न होकर भीष्म साहनी की स्वय की कल्पनाओ और धारणाओं पर आधारित है। वस्तुत देश विभाजन का श्रेय मुस्लिम लीग और कम्युनिष्टो का प्राप्त है।

यह विचारणीय है कि आखिर किस बूते पर भीष्म साहनी और गोविन्द निहलानी वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना रखने वाले आर्यसमाज' को साम्प्रदायिक कहने का साहस कर सके। खाली हवा मे लाठी भांजने या वक्तव्य दागने से कुछ नही होता। चिंतन से ही प्रत्येक समस्या का सही समाधान होता है।

गत पचास वर्षों मे आर्यसमाज के शीर्ष स्तर के नेताओ के आचरण से जनसाधारण के मन में आर्यसमाज की छवि 'हिन्दुओ के एक सम्प्रदाय के रूप मे अंकित हो गई है। वर्तमान में आर्यसमाज को हिन्दुत्व की विचारधारा के एक प्रवक्ता के रूप मे ही जाना जाता है।

जरा सोचिए ! क्या आर्यसमाज हिन्दुत्व का पोषक है ? सदैव याद रखिए ! आर्यसमाज का लक्ष्य 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' है। यह न तो हिन्दुत्व का प्रवक्ता है और न ही ईसाइयत या इस्लामियत का। प्रत्येक मत या सम्प्रदाय मे व्याप्त बुराई का विरोध करना इसका उद्देश्य है। सगठन के ठेकेदारों ! आर्यसमाज को सकीर्णता की भावना से बचाओ ! अन्यथा 'तमस' का झूठ कालातर मे सत्य सिद्ध हो जाएगा। —वीरेन्द्र आर्य

आचार्य दत्तात्रेय आर्य के नाम सा. सभा के प्रधान स्वामी आनंद बोध सरस्वती का पत्र

मानमीय श्री दत्तात्रेय जी आर्य, दिनाक 24-11-87

सादर नमस्ते । पत्राक-3304

आपका 17-11-87 का पत्र आज मुगलसराय तथा बनारस से वापस लौटने पर प्राप्त हुआ। इससे पूर्व आपने भावी कार्यक्रम सबधी निर्णयो का जो प्रारूप भेजा था वह भी प्राप्त हो गया था। सार्वदेशिक सभा की 20–9–87 को सम्पन्न हुई अन्तरग सभा से पूर्व 19 सितम्बर को भावी कार्यक्रम सबधी उपसमिति की रिपोर्ट के मुख्य 4 बिन्दु क, ख, ग और घ पर विचार हुआ था। इन्ही बिन्दुओ पर जो राय बनी थी, उनपर 20 की अन्तरग सभा मे विचार हुआ था और उनमे कुछ सशोधन के साथ जो निर्णय हुआ था, वह निम्न प्रकार है—

बिन्दु (क)—आर्य समाज के किसी सदस्य व अधिकारी द्वारा जाति सूचक शब्दो का अपने नाम के आगे प्रयोग न करने के प्रस्ताव पर आम सहमति थी कि यह प्रेरणा का विषय है। सार्वदेशिक सभा पहले से ही ऐसी प्रेरणा आर्यों को देते रही है।

बिन्दु (ख)—आर्य समाज के उपनियम समस्त और सार्वभौम हैं। शब्दो की व्याख्या का प्रश्न नही है बल्कि उन्हे जीवन मे धारण करने और आचरण करने की बात आवश्यक है। इसलिए आर्य समाज के नियमों मे वर्णित सदाचार के नियमो का पूर्णत पालन करने वालो को ही 2 वर्ष के पश्चात् आर्य समासद घोषित किया जाये और उस समय उनसे एक शपथ पत्र भरवाया जाय जिसका प्रारूप निम्न प्रकार है।

प्रतिज्ञा पत्र : आर्य सभासद् की ओर से

श्री प्रधान जी,

आर्य समाज

मैं ईश्वर के प्रतीक स्वरूप किसी मूर्ति या जड वस्तु अथवा व्यक्ति की पूजा नहीं करूगा ना ही मृतक श्राद्ध या स्थान विशेष को तीर्थ मानूगा। तथा किसी अवैदिक या पौराणिक विधि विधान को नही अपनाऊगा। अर्थात वेद विरुद्ध आचरण नही करूगा। मैं जन्मगत जाति-पाति या छुआ–छूत को नही मानूगा। मै किसी भी सम्प्रदाय विशेष या जाति सगठन का सदस्य या अधिकारी भी नही बनूगा तथा आर्य समाज के उपनियमो मे वर्णित सदाचार के नियमो का पूर्णत पालन करूगा। यदि मैं इसके विपरीत आचरण करू तो मेरी आर्य सभासदी समाप्त कर दी जाये।

(ग) सक्रिय सदस्य—इस विषय मे निर्णय हुआ कि आर्य समाज के नियम उपनियमो मे सशोधन करने की आवश्यकता नही है। आर्य सभासद् बनने से पूर्व जो प्रतिज्ञा पत्र जारी किया गया है वह इसकी पूर्ति करता है, इसलिए सक्रिय सदस्यता का कोई औचित्य नहीं है।

(घ) 1- आर्य समाज के किसी भी सदस्य को जो किसी राजनीतिक पार्टी का पदाधिकारी हो, उसे आर्य समाज का पदाधिकारी बनने पर यदि वह राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु आर्य समाज अथवा सबधित सस्था को प्रभावित करना चाहता हो अथवा कर रहा हो तो ऐसे पदाधिकारी को पद से पृथक कर दिया जावे।

2- आर्य प्रतिनिधि सभाओ की नियमावली मे एक रूपता होनी चाहिये, इसके लिये एक समिति का गठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध सरस्वती की अध्यक्षता मे किया गया। समिति के सदस्य श्री छोटू सिंह एडवोकेट, श्री सोमनाथ एडवोकेट, श्री दत्तात्रेय आर्य और प रामचन्द्र राव वन्देमातरम् चुने गए।

आपको अन्तरग सभा मे जो कार्यवाही रिकार्ड हुई है, वह निर्णय लिख दिया है। आपने जो प्रारूप भेजा है, वह भी हमने देख लिया है।

आप उपरोक्त पत्र को पढकर जो निर्णय हुए हैं, उन्हे देखकर यदि उचित समझें तो यहा आकर मुझसे मिल लें ताकि उनके क्रियान्वयन के लिये आपसे चर्चा करके जारी किया जा सके। शुभकामनाओ सहित,

भवदीय

आनन्द बोध सरस्वती

प्रधान

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती का आर्यसमाज से त्यागपत्र

आर्यजगत् के मूर्धन्य विद्वान सन्यासी स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती ने आर्यसमाज के वर्तमान नेतृत्व के कार्य-कलापो से खिन्न होकर 1 जनवरी 1988 को आर्यसमाज की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया है। 10 फरवरी को जारी अपने वक्तव्य मे स्वामी जी ने कहा "मैंने आर्यसमाज के सगठन को छोडा है, वैदिक धर्म को नही। उसके प्रचार-प्रसार मे मैं पूर्ववत् प्रवृत्त रहूंगा।'

आर्य वीरों से

—साधन सिंह भदौरिया 'सोमित्र'

(1)

उषा खडी रक्त-अभिषेक करने के लिए,
खगो के स्वरा म सुनो जागृति की टेर है।
समय समीर झकझोर रही बार-बार
दीर्घ सुप्तता म हुई युगो की अबेर है।
जब रहा तब रहा बुद्धि का ही फेर बन्धु,
झूठ बात है कि रहा काल का ही फेर है।
भाग का ही फेर बता, चादरें न तानो मित्र,
उठो-उठो, अरे अँगडाई की ही देर है।

(2)

विश्व की निराश दृष्टि तुमको निहारती है,
नूतन प्रकाश भरो दीपक अमन्द का।
वेद का प्रकाश, चेतता की चन्द्रहास लिय,
गाते हुए गीत मीत सविता के छन्द का।
कूद पडो युद्ध हेतु तम की अनी को चीर,
ध्वस्त करो अनय अभाव व्यूह-द्वन्द का।
बाल बाँका कौन कर सकता है तुम्हारा बन्धु,
दायाँ हाथ शीश पर है ऋषि दयानन्द का।

**

'आर्य पुनर्गठन' का विवरण

फार्म न.-4

1	प्रकाशन का स्थान	अजमेर
2	प्रकाशन का अवधिक्रम	पाक्षिक
3	मुद्रक का नाम	रतनलाल गर्ग
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	श्री आर्य प्रिन्टर्स, बाबू मोहल्ला, अजमेर।
4	प्रकाशक का नाम	रासासिंह
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	मत्री, आर्य समाज, अजमेर।
5	सपादक का नाम	रासासिंह
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	मत्री, आर्य समाज, अजमेर।
6	उन हिस्सेदारो के नाम और पते जिनके पास कुल पूजी के प्रतिशत से अधिक के हिस्से हैं।	रासासिंह मत्री, आर्य समाज, अजमेर।

मैं रासासिंह घोषणा करता हूं कि उपरोक्त दिए गए विवरण मेरी जानकारी के अनुसार पूर्णतया सत्य हैं।

—रासासिंह (ह प्रकाशक)

(शेष पृष्ठ 1 का)

स्वरूप तक का दिन-प्रतिदिन ह्रास होता जा रहा है तो उसकी यह दयनीय स्थिति क्यो है ? और उसके लिए कौन उत्तरदायी है ? सार्वदेशिक सभा की ता 20-9-87 को द्वितीय दिन की बैठक मे भी पुन इसी प्रकार का वातावरण देखकर सदस्यो के सामने यह विषय एक चुनौती के रूप मे प्रस्तुत किया गया, परिणाम स्वरूप कुछ न कुछ करने या यथास्थिति बनाए रखने की कुछ लोगो को योजना सफल नही हो सकी। किन्तु फिर भी परिवर्तन या पुनर्गठन की बात स्वीकार करने के साहस का अभाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा था। इस स्थिति मे कोई ऐसा मार्ग निकालना आवश्यक था जिससे 'यथास्थिति' की पूर्व योजना जाहिरा तौर पर निरस्त न करके भी किसी नवीन दिशा या परिवर्तन के लिए कोई मार्ग निकल सके। इस प्रकार जहाँ कोई संशोधन न करने का आग्रह एक समझौते के रूप मे स्वीकार कर लिया गया, वही उपसमिति के लगभग 33 सुझावों में से 4 को इस रूप मे स्वीकार किया गया कि उन्हें उपनियमो मे संशोधन करके सम्मिलित किए बिना कार्यान्वित किया जा सके क्योकि कुछ सदस्यो और विशेषकर अधिकारियो की बराबर यह मान्यता थी कि आर्य समाज अथवा उसकी सभाओ के पुनर्गठन का कोई प्रस्ताव या योजना स्वीकार करने का अर्थ उसकी वर्तमान असफलता और निर्बलता को स्वीकार करने के समान होगा।

इस पृष्ठभूमि का यहाँ केवल इसलिए संकेत किया जा रहा है कि आर्य समाज जैसे एक समय के व्यापक और शक्तिशाली आन्दोलन की वर्तमान स्थिति स्वय हमारी या समाज की वर्तमान शोचनीय स्थिति का लक्षण है।

सार्वदेशिक सभा के मुख पत्र के गत चार अको को देखने से भी उपरोक्त तथ्य की पुष्टि होती है। सभा की अंतरंग सभा ने 24 जनवरी को अपने अधिवेशन मे 20-9-87 की अंतरंग मे स्वीकृत इन प्रस्तावो की पुष्टि करते हुए यह निश्चय किया था कि आर्य समाज के भावी कार्यक्रम के बारे में सभा द्वारा लिए गए निर्णयों को प्रभावी ढग से क्रियान्वित किया जाए।" किन्तु उसके 7 14 और 21 फरवरी के अको मे जहाँ अन्य प्रस्तावो का विस्तृत विवरण दिया गया वहा आर्यसमाज की स्थिति जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर किए गए निर्णय का उल्लेख तक नही है। यदि स्वय आर्यसमाज के शिरोमणि सगठन की स्वय अपने निर्णय के बारे मे ये उपेक्षा और उदासीनता है तो प्रतिनिधि सभाओ और आर्यसमाजो से यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वे इन निर्णयो को प्रभावी ढग से क्रियान्वित करेंगे।

सभा के मुख पत्र अथवा विशेष विज्ञप्ति आदि द्वारा इन निर्णयो की जानकारी दिए बिना यह आशा कैसे की जा सकती है कि उसका पालन किया जायेगा। अस्तु। इस सारी निराशाजनक स्थिति के उपरान्त भी आशा की केवल एक मात्र किरण यह है कि समिति के 33 मे से जो 4 संशोधन या सुझाव स्वीकार किए गए हैं वे यद्यपि अपर्याप्त और प्रारम्भिक हैं फिर भी उनमे आर्यसमाजो की सदस्यता सम्बन्धी उपरोक्त निर्णय इसलिए दूरगामी पहला कदम सिद्ध हो सकता है कि यदि उसे निष्ठा पूर्वक कार्यान्वित किया जाए तो आज आर्यसमाज के सामने हिन्दू धर्म की नमक की खान मे विलीन होने का जो सबसे बडा खतरा है उससे बचा जा सकता है। यद्यपि यह आधारभूत निर्णय सदस्यता सम्बन्धी उपनियम की धारा 3 मे स्पष्ट रूप मे स्वीकार किया जाना चाहिए था फिर भी उसे सार्वदेशिक सभा द्वारा निर्धारित आर्यसमाज मे प्रवेश सम्बन्धी फार्म मे सम्मिलित करने का जो निर्णय किया गया है वह भी इस दिशा मे एक कारगर पहला कदम सिद्ध हो सकता है।

इस संशोधन के पीछे एक दृष्टिकोण यह था कि आर्यसमाज जैसे सार्वभौम सगठन के द्वार जहा सबके लिए मुक्त रूप से खोले जाए जिसके आधार पर पौराणिक हिन्दू ही नही अपितु मुसलमान या ईसाई जैसे अहिन्दू भी शुद्ध होने पर आर्यसमाज के पुराने उपनियमो की संरक्षक सम्बन्धी धारा के अन्तर्गत सहायक या सहयोगी के रूप मे साधारण सदस्य बन सकते है वहा उसके पदाधिकारी या सक्रिय सदस्य बनने के लिए यह अनिवार्य है कि वे दस नियमो तथा ऋषि दयानन्द के धार्मिक मन्तव्यो में निष्ठा रखते हो।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए उन्हें यह घोषणा भी करनी होगी कि वे मूर्तिपूजा, श्राद्ध, तीर्थ छुआछूत आदि वर्तमान हिन्दू धर्म में प्रचलित धार्मिक और सामाजिक कुरीतियो मे विचार व व्यवहार दोनो में विश्वास नही रखते।

आर्य समाज के क्षेत्र मे अक्सर यह चिन्ता व्यक्त की जाती रही है कि न केवल उसकी शिक्षण संस्थाओ में अपितु उसके अन्य संगठनो मे भी अवसरवादी आर्य इसलिए आसानी से प्रवेश और अधिकार कर पाते हैं कि आर्यसमाज की वर्तमान सदस्यता केवल चन्दा देकर प्रवेश की औपचारिकता पूरी करने तक सीमित रह गई है। उसके लिए आर्यसमाज के विशिष्ट सिद्धान्तों का पालन तो दूर उनके प्रति आस्था तक रखना आवश्यक और अनिवार्य नहीं समझा जाता।

इस अंक में ही पृष्ठ 3 पर सार्वदेशिक सभा के प्रधानजी का वह पत्र प्रकाशित किया जा रहा है जिसमें उन्होंने [illegible] के रूप मे मेरे नाम सभा के निर्णय की [illegible] सूचना भेजी है।

सदस्यता के लिए अनिवार्य इस महत्वपूर्ण प्रण का व्यवहार मे यदि पालन किया गया तो यह आशा की जा सकती है कि उसके आधार पर आर्यसमाज का पृथक् धार्मिक अस्तित्व सुरक्षित हो सकेगा और वह केवल हिन्दू धर्म का नवीन या सुधरा हुआ सम्प्रदाय बनकर कालान्तर मे हिन्दू धर्म की खान मे विलीन नही हो जाएगा।

यह पत्र इसलिए भी प्रकाशित किया जा रहा है कि सार्वदेशिक सभा ने अपने पत्र या विज्ञप्ति द्वारा अभी तक इस निर्णय को न प्रकाशित किया है और न ही उनके [illegible] के लिए प्रतिनिधि सभाओ और समाजो को आदेश ही दिया है। [illegible] चाहिए कि इसके बाद सभा द्वारा इस निर्णय को अधिकृत रूप से प्रचारित और प्रसारित किया जाएगा।

वार्षिकोत्सव तथा वेद वेदांग एवं वेदोपदेशक पुरस्कार समारोह

आर्य समाज सान्ताक्रुज का 43 वा वार्षिकोत्सव 20 से 26 जनवरी 1988 तक समारोह पूर्वक मनाया गया। वार्षिकोत्सव में पूजनीय स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती, प शान्तिप्रकाश जी शास्त्रार्थ महारथी, श्री पन्नालाल जी पीयूष श्री सतीश सूटानी, श्री सत्यपाल जी पथिक, प सत्यकाम जी विद्यालंकार, श्री प्रभुदास जी यादव आदि अनेक वक्ताओ के प्रवचन तथा भजनोपदेशो से आर्य जनता आनन्दित हुई। 26 जनवरी को आचार्य [illegible] जी को 1988 का वेद वेदांग पुरस्कार एवं प शान्तिप्रकाश जी को वेदोपदेशक पुरस्कार प्रदान किया गया। —महामन्त्री

—दयानन्द बाल सदन मे 'आर्य कुमार सभा' के तत्वावधान मे 'महर्षि दयानन्द महिमा' पर [illegible] गायन एव भाषण प्रतियोगिता का आयोजन हुआ। विजेता छात्रो को 'सुरेन्द्र शर्मा स्मृति पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।

— वीरसिंह (मंत्री)

— आर्य समाज पुष्प नगर (आजमगढ) का वार्षिकोत्सव 8 फरवरी से 1? फरवरी 88 तक मनाया गया। डा पुष्पावती आचार्या व प सूर्यबली पाण्डेय के प्रवचन हुये।

—विद्याधर (मंत्री)

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिंटस अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह द्वारा आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 163

सृष्टि सम्वत् : 1972949088

।। ओ३म् ।।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 4 मगलवार, 15 मार्च, 1988
अक : 5 प. स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न: सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

चैत्र कृ 12 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

आर्यसमाज और स्वामी अग्निवेश

संगठन और आन्दोलन दोनों को सक्रिय करना आवश्यक

— आचार्य दत्तात्रेय आर्य —

स्वामी अग्निवेश एक अत्यन्त सक्रिय, सुयोग्य और निष्ठावान आर्य सन्यासी हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे कर्मठ और प्रगतिशील व्यक्ति के नेतृत्व से अभी तक आर्य समाज वचित रहा है। उनके सम्बन्ध मे आर्य जगत् मे समय-समय पर विवाद भी उत्पन्न होते रहे। मै इसके कारणो मे नही जाना चाहता। किन्तु इतना स्पष्ट है कि केवल निष्क्रिय व्यक्ति ही विवाद से मुक्त रह सकता है। व्यक्ति की दृष्टि से यह भले ही एक उपलब्धि हो किन्तु सगठन, समाज एव आन्दोलन तथा विशेषकर आर्य समाज जैसे प्रजातन्त्र पर आधारित सगठन मे इसकी न ही अपेक्षा की जा सकती है और न ही उसे एक आवश्यक उपलब्धि ही माना जा सकता है। स्वय स्वामी जी अब यह अनुभव करने लगे हैं कि उन्होंने आर्य समाज के स्थान मे राजनीति को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर एक भूल की है। मैं स्वय आर्यसमाज से अपने दीर्घकाल के सम्बन्ध के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुचा हूं कि आर्य समाज जैसे धार्मिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय सगठन का नेतृत्व उनके हाथ मे नहीं होना चाहिए जो हमारे देश की वर्तमान राजनीति मे सक्रिय हैं अथवा जिनकी कोई राजनैतिक महत्वाकांक्षा है। उनके कारण आर्य समाज जैसे सार्वभौम और सार्वदेशिक सगठन मे दलबन्दी, विवाद और निर्वाचन मे उखाड़-पछाड़ जैसी अनेक विकृतिया उत्पन्न होती हैं। इसी अभिशाप से हमारे देश का राजनैतिक वातावरण दूषित है। कई बार यह भी देखने मे आया कि हमारे देश की तथाकथित विकृत धर्म निरपेक्षता के कारण आर्य समाज मे सक्रिय राजनैतिक व्यक्ति उसकी धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओ की उपेक्षा ही नहीं करते अपितु **सब धर्मों** के प्रति आदर के नाम पर उन धार्मिक अध विश्वासो और सामाजिक कुरीतियो का भी समर्थन करते हैं, जिनका आर्यसमाज हो नही स्वय कांग्रेस के मच से भी निषेध और विरोध किया जाता रहा है। इस सैद्धान्तिक विरोध के अतिरिक्त आर्यसमाज का वर्तमान सगठन भी सत्ता और चुनाव के लिए हथियाए गए इन हथकडो से प्रभावित होता है और हुआ है।

शुभ अवसर

सती विरोधी पदयात्रा का आयोजन और नेतृत्व करने के बाद जहा स्वय स्वामी अग्निवेश पुन आर्य समाज के कार्यक्षेत्र मे लौटने के इच्छुक हैं, वही उनके प्रति अनेक गलत भावनाओ अथवा गलतफहमियो से प्रेरित आर्यसमाज के जो नेता उन्हे स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे वे भी अब अपने पहले के मतभेदो को भूलकर उनका स्वागत करने के लिए तैयार दिखाई देते हैं। इसे मैं आर्यसमाज के लिए एक **शुभ अवसर** समझता हूं।

अपने उपर्युक्त विचारो के सदर्भ मे मैंने भी स्वय अग्निवेश जी से पत्र व्यवहार तथा व्यक्तिगत भेंट करके उनकी वर्तमान स्थिति समझने का प्रयत्न किया तथा आर्यसमाज की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य के सम्बन्ध मे अपनी मान्यताओं के बारे मे भी उनसे विचार-विनिमय किया है। इन सबके परिणाम स्वरूप दो बातें उभरकर आई उन पर मैं यहा सक्षेप मे प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूं। एक तो यह कि मेरे समान उन्हे भी आर्य समाज की वर्तमान शिथिलता और प्रभावहीन स्थिति से असतोष और चिन्ता है, और दूसरे यह कि उसके वर्तमान और भविष्य के सम्बन्ध म गम्भीरता-पूर्वक विचार करके इस स्थिति के निराकरण का कोई उपाय तलाश करने की उत्कृष्ट इच्छा है।

उनके द्वारा दिल्ली मे 24 व 25 जनवरी 88 को "आर्य समाज की नई भूमिका और कार्यक्रम पर विचार करने के लिए एक सगोष्ठी का आयोजन किया गया था। यद्यपि इस प्रकार की गोष्ठी की आवश्यकता के बारे मे स्वय मेरी उनसे चर्चा हुई थी किन्तु निश्चित तारीखो की सूचना के अभाव मे मैं उसम उपस्थित नही हो सका फिर भी इस गोष्ठी मे जो विचार हुआ, उसका जो विवरण मुझे प्राप्त हुआ है उससे मैं सन्तुष्ट हूं और मोटे तौर पर उसका समर्थन करता हू।

इस गोष्ठी मे लगभग 50 प्रबुद्ध आर्य पुरुषो ने भाग लिया। जिनमे सार्वदेशिक सभा के प्रधान तथा प्रतिनिधि सभाओ के अधिकारी भी थे।

संगठन और आन्दोलन

जैसा गोष्ठी की रिपोर्ट से स्पष्ट है स्वामी अग्निवेश जी आर्यसमाज को पुन एक सक्रिय और प्रभावशाली आदोलन के रूप मे सक्रिय करना चाहते हैं। किन्तु उसके वर्तमान सगठन म परिवर्तन या सुधार के प्रश्न पर उनका दृष्टिकोण या तो उदासीनता का है अथवा वे अभी इस प्रश्न को उठाना उचित नही समझते। जैसा मैंने स्वामी जी को अपनी पहली भेंट म स्पष्ट किया था कि सगठन और आन्दोलन एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं, इतना ही नही आर्यसमाज का सगठन उसके वर्तमान और भविष्य का भी मुख्य आधार है। आन्दोलन सगठन की शक्ति का प्रतीक या प्रमाण मात्र है। दूसरी ओर इसमे भी सन्देह नही कि सामयिक आन्दोलनो के माध्यम से न केवल किसी सगठन की शक्ति का परिचय ही मिलता है अपितु उसके कारण उसम नवीन चेतना का सचार भी होता है। किन्तु यदि आधार-भूत सगठन स्वय शक्तिशाली और अनुशासित न हो तो इस प्रकार के सामयिक आन्दोलन केवल उसे अस्थायी या क्षणिक चेतना मात्र दे सकते है।

इस प्रकार यह निर्विवाद है कि आर्यसमाज को पुन गतिशील बनाने के लिए उसके वर्तमान सगठन मे सुधार करना और उसके प्रारम्भिक क्रातिकारी आन्दोलन को पुन सक्रिय करना **दोनो आवश्यक** है।

नेतृत्व का प्रश्न

स्वामी अग्निवेश जी का आर्य-समाज के सगठन से जो मतभेद रहा है, उसके गुण-दोषो का विवेचन करना अब अनावश्यक व अप्रासगिक है। विचार गोष्ठी म भी आर्यसमाज के सगठनात्मक पहलू पर विचार करने समय आर्यसमाज के वर्तमान ढाचे व नेतृत्व मे परिवर्तन के प्रश्न

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान संपादक : रासासिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या : 21010

आ॰ स॰ की स्थापना के समय व्यक्त की गई महर्षि दयानन्द की आशंका

"आप यदि समाज से पुरुषार्थ कर परोपकार कर सकते हो, समाज करलो इसमें मेरी कोई मनाई नहीं। परन्तु इसमें यथोचित व्यवस्था न रखोगे तो आगे गडबडाध्याय हो जाएगा। मैं तो मात्र जैसा अन्य को उपदेश करता हूँ वैसा ही आपको भी करूंगा और इतना लक्ष मे रखना कि कोई स्वतन्त्र मेरा मत नही है। और मैं सर्वज्ञ भी नहीं हूँ। इससे यदि कोई मेरी गलती आगे पाई जाये युक्तिपूर्वक परीक्षा करके इसी को भी सुधार लेना। यदि ऐसा कोई न करोगे तो आगे यह भी एक मत हो जाएगा, और इसी प्रकार से बाबावाक्य प्रमाण करके इस भारत में नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित होके, भीतर भीतर दुराग्रह रखके धर्मान्ध होके लडके नाना प्रकार को सद्विद्या का नाश करके यह भारतवर्ष दुर्दशा को प्राप्त हुआ है इसमें, यह भी एक मत बढेगा। मेरा अभिप्राय तो है कि इस भारतवर्ष मे नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित है वो भी वे सब वेदो को मानते हैं, इससे वेदशास्त्ररूपी समुद्र मे यह सब नदी नाव पुन मिला देने से धर्म एक्यता होगी। और धर्म ऐक्यता से सांसारिक और व्यवहारिक सुधारणा होगी और इससे कला कौशल्यादि सब अभीष्ट सुधार होके मनुष्यमात्र का जीवन सफल होके अन्त मे अपना धर्म बल से अर्थ काम और मोक्ष मील सकता है।"

सम्पादकीय—

"जग की पुकार है व युग की आवाज है। आर्य समाज है यह आर्य समाज है॥"

इस माह की 19 मार्च 1988 ई॰ को समस्त आर्य जगत् हर्षोल्लास के साथ महान यशस्वी एवं क्रान्तिकारी संगठन आर्यसमाज का 113 वा स्थापना दिवस हर्षोल्लास के साथ मना रहा है। 7 अप्रैल 1877 ई॰ तदनुसार चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का दिन भारतीय इतिहास मे स्वर्णाक्षरों मे लिखा जायेगा क्योकि इसी दिन स्वराज्य स्वधर्म स्वसंस्कृति एवं स्वभाषा तथा स्वाभिमान के प्रथम उन्नायक युगपुरुष महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने मिशन को निरन्तर चलाये रखने तथा आगे और भी गतिमान रखने के लिए बम्बई नगर मे आर्य समाज की स्थापना की थी। 1975 ई॰ मे इस महान संगठन की स्थापना शताब्दी केन्द्रीयस्तर पर भारत की राजधानी दिल्ली मे आयोजित की गई थी तब भी उस विराट समारोह की ओर समस्त विश्व का ध्यान आकर्षित हुआ था।

आज पुन पाखण्ड अन्धविश्वास मूर्तिपूजा, अवतारवाद, तीर्थ, बाल-विवाह दहेज सतीकाण्ड, आदि विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक बुराइयो का प्रबलबोलबाला हो रहा है तथा हर व्यक्ति बदले हुए जीवन मूल्यो का शिकार होकर पैसे को ही सबकुछ समझकर स्वार्थ का पुजारी हो गया है, गुरुडम का शिकार हो रहा है, 'शार्टकट् मैथड्स' मे विश्वास करने लग गया है, पुरुषार्थ तथा परिश्रम एवं संघर्ष के प्रति उसकी आस्था विचलित होने लग गई है। रही सही कमी गिरगिट की तरह रंग बदलने वाले सफेदपोश राज-नीतिज्ञो ने पूरी कर दी है। सर्व धर्म सापेक्ष के नाम पर समस्त बुराइयो और कुरीतियो को सह-अस्तित्व, और सहिष्णुता के नाम पर प्रोत्साहित किया जा रहा है, चरित्र, सच्चाई, ईमानदारी, आस्तिकता, परोपकार, सेवा, कर्तव्य परायणता, देशभक्ति व मानवता, निर्लोभता आदि का नामोनिशा मिटता चला जा रहा है। जो जितना ज्यादा निकम्मा गुण्डा, बदमाश, तेजतर्रार खाऊ, भ्रष्ट, रिश्वतखोर बईमान एवं कामचोर व वोटबटोरू है वही सब कुछ है, अर्थ प्रधानता तथा कामुकता का बोलबाला हो गया है तथा धर्म, मुक्ति, ईश्वर भक्ति, भजनभाव, बीते हुए जमाने की बात रह गई है।

ऐसी विषम परिस्थिति मे केवल आर्यसमाज ही एक मात्र आशा की किरण रह गई है। आज भी आर्यसमाज का निष्ठावान कार्यकर्ता, सेवक, अथवा अधिकारी प्रामाणिकता लिए हुए है, पुरानी पीढी के आर्यसमाजियो मे आज भी वही वेद प्रचार की ललक, मानवीयमूल्यो के प्रति अनन्य निष्ठा व्यक्तिगत चारित्रिक शुद्धता व सार्वजनिक सेवा के भाव भरे हुए हैं जो नई पीढी के आर्यवीरों के लिए मार्गदर्शन कर सकते हैं।

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित मन्तव्य तथा आर्यसमाज के सिद्धान्त तथा नियम सार्वभौम, अकाट्य तर्क संगत, विवेक सम्मत, बुद्धिग्राह्य तथा सार्वकालिक हैं। उनमे कही भटकाव नही है। उनका मूलाधार वेद है। वेद प्रतिपादित ही सच्चा आर्य वैदिक धर्म है। एक ईश्वर की उपासना है। संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक एवं सामजिक उन्नति करना। स्वामी श्रद्धानन्द, प॰ लेखराम, स्वामी दर्शनानन्द, महात्मा हंसराज, लाला लाजपतराय, भाई परमानन्द, श्यामजीकृष्ण वर्मा, हरदयाल, राजपाल, प॰ रामप्रसाद, बिस्मिल, स्वामी ध्रुवानन्द, आचार्य रामदेव, महाशय कृष्ण, जस्टिस मेहरचन्द महाजन जैसे महान नेताओ सन्यासियो एवं बलिदानियो द्वारा सिंचित एवं संपुष्ट लाखो आर्य नेताओ द्वारा रक्षित एवं प्रचारित, प्रमाणित **आर्य समाज** ही राष्ट्र का एकमात्र सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक संगठन है जो मानवता-तथा आर्यत्व का पोषक, सत्य धर्म का रक्षक, सच्चे ईश्वर का प्रचारक तथा वेद ज्ञान का संरक्षक है। आवश्यकता है हम इस स्थापना दिवस पर संकल्प ग्रहण करें कि **हम स्वयं सच्चे आर्य, दयानन्दी** बनेंगे, अपने परिवार को आर्य बनायेंगे, अपने पडौस और मौहल्ले को आर्य बनायेंगे, वेद ज्ञान का प्रचार प्रसार करेंगे, आर्य समाज के संगठन को निस्वार्थ भाव से सेवा की भावना से सबल बनायेंगे, पद लोलुपता त्यागेंगे। भाई चारा, मैत्रीभाव रखेंगे। तथा वेद के "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" के संदेश को सार्थक करने मे स्वाध्यायशील होकर मनसावाचा कर्मणा प्राण प्रण से जुट जायेंगे। तभी समस्त राष्ट्र कह उठेगा—

"जग को जगाने वाला आर्य समाज है,
जग की पुकार व युग की आवाज है।
ईश की उपासना का रास्ता बता दिया।
जड की आराधना के पाप से बचा लिया।
ढोंग-ढाग जिसके भय से डोल रहा आज है।"

—रामसिंह

अमर हुतात्मा पं. लेखराम का पुण्य स्मरण

महर्षि दयानन्द की मृत्यु के पश्चात जिन आर्य विद्वानो ने वैदिक धर्म की विजय पताका को ऊंचा उठाए रखा उनमे आर्य मुसाफिर कर्मवीर प॰ लेखराम का नाम अग्रगण्य है। विधर्मियो को आप उनके घर मे जाकर शास्त्रार्थ के लिए ललकारते थे। वैदिक धर्म एवं ऋषि के मन्तव्यो की सत्यता को असत्य सिद्ध करने की आपकी किसी भी व्यक्ति को खुली चुनौती थी। इसके लिए आपका आह्वान था—

नगाडा धर्म का बजता है आए जिसका जी चाहे।
सदाकत वेद अकदस, आजमाए जिसका जी चाहे।

वैदिक धर्म के प्रचार मे बाधा बनने पर सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दिया पारिवारिक दायित्वो की उपेक्षा की। दिन हो या रात आपके अहर्निश चौबीस घण्टे एक धर्म प्रचार की ही धुन रहती थी। ऋषि भक्त इतने कि उनके इस आदेश के, "25 वर्ष से पूर्व विवाह मत करना" का दृढता से पालन किया।

स्वयं को ज्वर होते हुए, एक मात्र पुत्र को गम्भीर बीमारी की अवस्था मे छोडकर अपने एक भाई के विधर्मी बनने का समाचार पा घर से चल देना और छोटे स्टेशन के कारण गाडी के न रुकने पर चलती गाडी से ही कूद पडना, उनके अतुलनीय धर्म प्रेम का उदाहरण है।

अनेको धमकियाँ मिलने एवं हजारो लोगो के जान के दुश्मन बन जाने पर भी दयानन्द का यह सैनिक धर्म प्रचार एवं अपने शुद्धि अभियान से तनिक विचलित नहीं हुआ। अपने इसी महाभियान मे जुटे इस मृत्युंज्य दयानन्द के शिष्य प्राणवीर प॰ लेखराम की जान 6 मार्च 1897 ई॰ को एक धर्मान्ध मुस्लिम हत्यारे ने ले ली, जो शुद्धि के बहाने आया था।

प्राण त्यागने से पूर्व हुतात्मा प॰ लेखराम की अन्तिम प्रार्थना-इच्छा थी—
'आर्यसमाज से तहरीर और तकरीर का काम कभी बन्द न होने पावे।"

हथियारो के साए मे भी जाकर पंजाब के आर्यों का मनोबल बढाने का साहस तक न करने वाले आर्य नेता क्या अमर शहीद प॰ लेखराम के जीवन से कोई प्रेरणा ले सकेंगे?

—वीरेन्द्र आर्य

आर्य समाज बचाओ

— डा पुष्पावती —

आर्य पुनर्गठन के 15 जनवरी के अक मे चुभती हुई प्रेरणा छपी कि आर्यसमाज को बचाओ। पढकर एक पीडा हुई, और आर्य समाज का अतीत और वर्तमान साकार हो उठा, और उसके साथ ही दिखाई दी दूर-क्षितिज से उठती हुई एक काली घटा जो आर्यसमाज रूपी सूर्य को धीरे-धीरे आच्छन्न करती हुई आगे बढ रही है।

आर्यसमाज का वर्तमान गति शैथिल्य सबको चिन्तित कर रहा है। पर इसका मूल भी खोजना चाहिये। बुराइया अनेक हैं, परन्तु इनके मूल पर प्रहार करने से सभी एक साथ निरस्त हो सकेंगी। मेर विचार मे मूलभूत एक ही कारण है कि आर्यो मे भौतिकतावादी दृष्टिकोण की प्रधानता हो रही है, जिसके कारण वे ऊपरी चमक दमक को ही वास्तविक उपलब्धि मान बैठे हैं, जो जितना भौतिक आडम्बर फैला सकता है वह उतना ही यहा पर शक्तिशाली हो रहा है। ऐसी अवस्था मे ब्रह्म तेज, त्याग, वेद ज्ञान सेवा सादगी, निराभिमानता, सत्यप्रियता आदि गुणो के मूल्यांकन का प्रश्न ही कहा उठता है? भौतिकतावादी दृष्टिकोण का प्रमाण यही हे कि आज सन्यासी को भी बढिया वस्त्रो की आवश्यकता रहती है, कार टैक्सी का उपयोग उसके महत्व का मापदण्ड हो गया है। बैंक बैलेन्स उसके लिए आवश्यक है। सन्यास लेने के पश्चात् भी घर मे रहना उचित है या नही, यह अभी निर्णायक स्थिति मे है।

आध्यात्मिक आश्रमो तथा शिक्षा स्थलो मे जब तक सुख सुविधा के उपकरण स हीन न हो तब तक उनका महत्व स्वीकृत नही होता।

उपदेशक, विद्वान सभी के लिए चमक दमक आवश्यक शत हो गई है, जनता की दृष्टि मे महत्वपूर्ण जचने के लिए। यह क्यो हुई? कैसे हुई? यह पृथक् विवेचनीय विषय है पर वास्तव मे यह स्थिति है। इसी की भूल-भुलैया मे समाज उलझ रहा है। वैभव का सग्रह इम युग मे बिना बेईमानी के हो नहीं सकता। सेठो का धन-वैपुल्य किस झूठ, छलकपट एव शोषण के बल पर है, सब जानते है परन्तु उसी धन की पूजा होती है और उसे दान मे रुपये लेने के लिए सतोगुणी व्यक्तियो विद्वानो, उपदेशको, सन्यासियो समज के अधिकारियो आदि को क्या-क्या विडम्बनायें करनी पडती है यह सर्वविदित है जिसका दुष्परिणाम सब बुराइया हैं जो आर्यसमाज के भविष्य को धूमिल कर रही है। समाजो मे गुटबन्दी का राक्षसी खेल चल रहा है। अनैतिक व्यक्ति पनप रहे हैं। सभी समाजो के निर्वाचन भ्रष्टाचार के उदाहरण बन रहे हैं। शिक्षा सस्थायें दयानन्द की आत्मा से दूर जा रही है। आध्यात्मिक साधना स्थलो मे बनावटीपन आ रहा है और इस सब मे वे मुट्ठी भर लोग बुरी तरह पिस रहे है, जो इस सब छलछन्द से दूर रह कर समर्पित भाव से ऋषि ऋण उतारने मे सलग्न है। आर्यों की करनी और कथनी मे कितना भयावह अन्तर आ रहा है, यह भुक्तभोगी ही जानता है। वचन देकर झुठलाना तो बायें हाथ का खेल हो रहा है। जिसकी वाणी सच्ची नही, उसका अन्त सच्चा कैसे हो सकता है? हमारा झूठ-मिथ्या हम खा रहा है, निगल रहा है और हम बेखबर खाई खन्दक की ओर चल रहे है।

किसी भी तरह इस झूठ अनृत के रे को तोडना होगा, जिसने चमचमाती कारो के नीचे किसी सच्चे तपस्वी की पदगति को रौद दिया हैं, जिसने झूठी आत्म श्लाघा के उदघोषो मे किसी निरीह कण्ठ की वेद ध्वनि को अनसुना कर दिया है, जिसने ढोगी की माया मे कर्मयोगी की कर्मशक्ति को अवरुद्ध कर दिया है और भी न जाने क्या-क्या अनर्थो की सृष्टि कर रखी है। कितनी हास्यास्पद स्थिति है कि जो व्यक्ति खूब ऊँचे ऊँचे स्वर मे सुन्दर-सुन्दर उद्घोष कर सके, आत्म प्रशसा का नाद कर सके, मिथ्या आश्वासन दे सके ऐंठ कर चल सके वाणी का क्रय विक्रय कर सके, नैतिकता का बाना पहलाकर अनैतिक कुकृत्या को छिपा सके, वाग्जाल मे जनता को उलझा सके, वह पूजनीय, माननीय है। जानते हुए भी लोग उसको प्रश्रय देते हैं। यह क्या रहस्य है? क्या तमाशा है? पचयज्ञ का पालन होता है या नहीं पर आर्य ट्रही है तथा समाज अधिकारी भी है, बच्चो को गुरुकुल मे प्रविष्ट कराया है या नही पर गुरुकुल का प्रबन्धक है वेद का स्वाध्याय किया है या नही पर वेद का व्याख्याता है। साधना का प्रकाश पाया हे या नही पर साधना शिविर का सचालक है। सन्यास की साधना आ‌ई है या नही, पर सन्यासी वेष म है। इत्यादि।

आर्यसमाज को बचाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम क तथ्या को आयसमाज-आयजनो क हृदयगम कराया जाये। तपश्चर्या की ओर आर्यो का ध्यान आकृष्ट कराया जाय। सरलीकरण के नाम पर विलासिता को प्रश्रय दिया जा रहा है वह बन्द हो। प्राय देखने म आता है कि जो पौराणिक लोग निष्ठा से मन्दिरा म जल चढाने या दशन करने जाते है शीत ऋतु म भी गगा स्नान करत है परन्तु वे ही व्यक्ति आयसमाज के क्षेत्र म आने पर सत्सग क लिए समय नही निकाल पाते। बाहर जाकर क्या होगा? मन म ही गगा है—या घर की जिम्मेदारिया हैं इत्यादि बहाने लगाकर हम लोग सन्तुष्ट हो जाते हैं यह हमारी सुविधावादी दृष्टिकोण का ही दुष्परिणाम है। हम कष्ट स बहुत घबराते हैं, यही कारण है कि अनेक पिछडे हुए क्षेत्रो मे ईसाई प्रवश कर रह है। हम वहा जाने मे डर रह है और भालीभाली जनता को विदेशी मिशनरियो के चगुल म फसते हुए टकुर टकुर देख रह है। अनेक आय सस्थायें बर्बाद हो रही हैं, पर कष्ट व असुविधा के कारण उनके समीप जाकर उनकी रक्षा नही कर पा रहे है।

इस भौतिकतावादी दृष्टिकोण और तज्जनित विलासितामयी प्रवत्ति के पाश से कैसे छटकारा हो, यह अनिवाय रूप से विचारणीय तथा करणीय भी है, यदि आर्यसमाज को बचाना है। इस प॰ हम समथ व्यक्तिया के सुझाव तथा सुनिश्चित कदम की प्रतीक्षा कर रहे हैं। स्मरण रह नैतिकता का दीप बिना त्याग व तपश्चर्या के प्रज्वलित नही हो सकता और बिना नैतिकता के कोई समाज या देश जीवित नही रह सकता।

पता—आचार्या, मातृ मन्दिर
कन्या गुरुकुल, वाराणसी

यज्ञ-कुण्ड जागो, आहुति लो

—लाखन सिह भदौरिया 'सौमित्र'—

सकल्पो के बने खण्डहर, सस्कृतिया क राज महल म।
सूरज के घर घिरी अमावस, रश्मि-रथी तम के दल-दल मे।
कालजयी धमकाये जात, मर-पिपीलिका की फौजा से,
नीलकण्ठ कतराने दिखते, उठी हलाहल की मौजो से।

'स्वर्गादपि गरीयसी धरती पर होता, अभाव का नर्तन।
देवो की क्रीडा का आँगन, दैत्यो के कृत्यो का साधन।
मत्रा-गु जित, अन्तरिक्ष मे फैला कल-युग का कोलाहल
श्वास-श्वास अवरुद्ध घुटन से, माँग रही मानवता सम्बल।

आह-कराह विवशताओ से, डसी हुई जीवन की तानें।
चेहरो पर उदासिया उभरी राह भूल गयी मुस्काने।
एक अनिश्चित भाग-दौड के बीच फँसा मानव का जीवन
अपना खोया सुख तलाशत भरे-भरे लग है, सूनापन।

चहल-पहल की चकाचौध मे हम अपनी ममतायें भूल।
उसी डाल को काट रहे हैं जिस पर डाल रहे है झूल।
युद्धो के बादल ऋषियो की कुटियो पर गडगडा रह है
अस्ति नाम की युग वेना मे, युग दधीचि थरथरा रह है।

कल्पवृक्ष का देश, क्षुधा की महाज्वाल मे धधक रहा है।
कामधेनु के घर म कान्हा दुग्ध-बूँद को सिसक रहा है।
तमसा-तट से चीत्कार का कोई छन्द नही जगता है
शान्ति-वधिक की निममता को कोई शाप नही लगता है।

यज्ञ कुण्ड जागो आहुति लो, चरम पतन की महानाश की।
मगल मधु वर्षो पर्जन्यो धारायें बरसो प्रकाश की।
सम्बल-हीन, आस्थाओ को अपन गौरव की ममता दो
अमृत-घट साधे, सस्कृति को कृति जगाने की क्षमता दो।

विश्वासो को अभय दान दो, प्राणो म जी उठें ऋचायें।
माता सतयुग लौट न जाये, लेकर चन्दन की समिधायें।
युग का विश्वामित्र कह रहा, राम उठो सन्ताप मिटाओ।
युगपिनाक तोडना ठहरकर पहले शिव क। चाप चढाओ।

पत्र बोलते हैं—

आर्यसमाज अपना विशुद्ध रूप धारण करे

मान्यवर आचार्य दत्तात्रेय आर्य

सादर नमस्ते।

'आर्य पुनर्गठन' का 29 फरवरी का अंक मिला। उसके मुख पृष्ठ पर मुद्रित आपका लेख पढ़ा। मेरी जो धारणा बनी है वह मैं निवेदन करता हूं।

मैं आपसे पूर्णतया सहमत हूं कि हमारे राष्ट्र मे जितनी कुरीतियां (धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र मे) इस समय व्याप्त हैं तथा भविष्य मे उत्पन्न हो सकती हैं, उन सबका उन्मूलन केवल आर्यसमाज ही कर सकता है। परन्तु इस महान कार्य को करने की सामर्थ्य आर्यसमाज मे तब ही उत्पन्न हो सकती है जब वह अपना विशुद्ध रूप धारण कर ले।

—बाबूलाल आर्य,
चित्रगुप्त गंज, लश्कर,
ग्वालियर।

आर्य समाज बनाम संघ

महोदय,

आर्य पुनर्गठन दिनाक 15 फरवरी 1988 के अंक मे नरेन्द्रपाल सिंह भदौरिया ग्वालियर का पत्र पढने से ऐसा लगा कि या तो वह सच्चाई को छुपाना चाहते हैं या फिर सच्चाई से अनभिज्ञ हैं।

मैं श्री भदौरिया जी को बताना चाहता हू कि मैंने अपने जीवन का बहुत बडा भाग राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ मे बिताया है।' अनेक स्थानो पर विस्तारक के रूप मे भी कार्य किया है। इस नाते मैं अधिकार पूर्वक कह सकता हू कि केवल प्रात स्मरण मे नाम लिख देने मात्र से संघ की आर्य समाज मे निष्ठा स्वीकार नही की जा सकती।

प्रात स्मरण के अतिरिक्त मैं अनेक उदाहरण दे सकता हूं, जहां ऋषि दयानन्द के नाम का विरोध किया गया। मुझे याद है कि अबोहर मे जब संघ द्वारा एक स्वाध्याय मण्डल की स्थापना की जाने लगी तो उसके नाम पर विचार होने लगा। प्रो राजेन्द्र जिज्ञासु ने दयानन्द स्वाध्याय मण्डल नाम रखने का अनुग्रह किया। इस पर बैठक के संयोजक तथा संघ के तात्कालिक प्रचारक ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि वह तो साम्प्रदायिक था। इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। यदि संघ से सम्बन्धित पत्र-पत्रिकाओ को देखा जाय तो भी आर्य समाज की अवहेलना स्पष्ट दिखाई देती है। कभी कभार महर्षि दयानन्द को याद अवश्य करते हैं किन्तु वह भी अन्य पौराणिक महापुरुषो के मुकाबले नगण्य ही, केवल आर्य समाज के नाम का लाभ उठाने के लिये। न कि आर्य समाज को सम्मान देने के लिए।

डाक्टर भारतीय जी ने जो भी इस सम्बन्ध मे लिखा वह सत्य है। मैं मेरठ (मोनीगंज) के श्री विश्वबन्धु के प्रकाशित पत्र से पूर्णतया सहमत हूं कि संघ सदैव ही आर्य समाज व स्वामी दयानन्द सरस्वती की उपेक्षा करता है।

अशोक आर्य पत्रकार,
[illegible] (पंजाब)

केवल वैदिक मान्यताओं पर आधारित लेख दें

'आर्य पुनर्गठन पत्र वास्तव मे बहुत ही अच्छा पत्र है। सम्भव है यह आर्यसमाज के पुनर्गठन का मार्गदर्शक बन सके। आर्यसमाज का वास्तविक स्वरूप कुछ समाप्त सा होता जा रहा है। आर्यसमाजी अपने विश्वकल्याणकारी सिद्धान्तो से विमुख होते जा रहे हैं।

यदि आप आर्यसमाज को बचाना चाहते हैं तो अपने पत्र मे विशुद्ध रूप से वैदिक धर्म, आर्यसमाज तथा महर्षि जी के सिद्धान्तो व मान्यताओ पर आधारित अधिक से अधिक लेख दीजिये।

—जगदीशचन्द्र वसु
पानीपत।

मांस मानव आहार नहीं है

दैनिक हिन्दुस्तान दिनांक 26 फरवरी 1988 [illegible] 'प्राचीन भारतीय मांसाहारी थे' आकार मे छोटा किन्तु [illegible] मे [illegible]' समाचार पढ़कर मन उद्विग्न हो उठा। मैसूर के द्वितीय [illegible] सम्मेलन मे श्री के टी आचार्य द्वारा प्रस्तुत शोध पत्र मे जो वह [illegible] व असामयिक बात कही गई इसीलिये उसे प्रचार मिल गया। मानव सभ्यता ने जब से होश सम्भाला तब से निरन्तर मांसाहार को घृणित व त्याज्य मान कर इसका विरोध किया जाता रहा है। संसार के पुस्तकालय में प्रतिष्ठित सर्वप्रथम ग्रंथ वेद इसके प्रमाण हैं, जिनमें कठोरतापूर्वक मांसाहार का निषेध किया गया है। करोड़ो वर्ष पूर्व मूल वैदिक साहित्य से पुरानी कौनसी सभ्यता आचार्य जी बता सकते हैं।

खुदाई मे प्राप्त पत्थरो के उपकरण मांसाहार की पुष्टि नहीं करते, प्रत्युत हिंसक वन्य पशुओ से रक्षा के संकेत करते हैं। आज के अन्य उपकरण व आग्नेय अस्त्र तो अत्यन्त संहारक हैं, उन्हें मांसाहार के साधन के ही रूप मे नही प्रयोग किया जाता है, बचाव व सुरक्षा मे भी प्रयोग किया जाता है। वर्तमान मे तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी मांसाहार को त्याग कर शाकाहार की प्रेरणा के लिए संगठन कार्यरत हैं, [illegible] आचार्य जी का यह [illegible] प्रचार निष्प्रभावी रहेगा, क्योंकि धर्म-संस्कृति से पृथक् मानव स्वास्थ्य हेतु भी मांसाहार एव मद्याहार अनुपयुक्त ठहराये जा रहे हैं।

—श्रीमती दर्शन देवी भारद्वाज,
एफ–42 मानसरोवर कालोनी,
रामघाट मार्ग, अलीगढ।

संगठन और (शेष पृष्ठ 1 का)

पर विचार किया गया और इस विषय से सम्बन्धित विवादो और कठिनाइयो पर विचार करने के बाद किसी प्रकार के संघर्ष मे पड़ने की बजाय यह सर्वसम्मत निश्चय किया गया कि वर्तमान संगठन और संस्थाओं की यथास्थिति स्वीकार करके उन सबसे सहयोग प्राप्त किया जाय और इस प्रकार नारी उत्पीड़न विरोधी तथा अन्य इस प्रकार के आन्दोलन जिनका आर्य समाज के उद्देश्यों और मान्यताओ से सम्बन्ध है, उन्हें व्यापक जन समर्थन के आधार पर कार्यान्वित किया जाय।

बीच का मार्ग उपयुक्त

मैं समझता हू कि वर्तमान स्थिति मे बीच का यह मार्ग ही विकल्प आर्यसमाज की दृष्टि से भी सर्वथा उपयुक्त और स्वागत योग्य है। [illegible] स्वामी अग्निवेश जी का पूर्व अनुभव, और योग्यता [illegible] पृष्ठभूमि से सम्बन्धित रही है। इसलिए इस प्रकार के किसी [illegible] का संचालन और नेतृत्व करने के लिए उनसे अधिक उपयुक्त कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। आर्य जगत् को उनके प्रस्ताव का स्वागत करना चाहिए और उनके द्वारा संचालित ऐसे प्रत्येक आन्दोलन मे तन, मन, धन से उत्साहपूर्वक सहयोग देना चाहिए, जिससे आर्यसमाज की लोकप्रियता, शक्ति और प्रभाव मे वृद्धि होती हो अथवा जो ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के किसी कार्यक्रम के अनुकूल हो।

पुनर्गठन भी आवश्यक

दूसरी ओर मेरे जैसे जो व्यक्ति इच्छा, अनिच्छा या परिस्थितियों के कारण आर्यसमाज के वर्तमान संगठन से जुड़े हुए हैं उन्हें भी उसके वर्तमान संगठन के ढांचे मे आवश्यक सुधार करने के प्रयत्न को जारी रखना चाहिए। यह कितना कठिन और विरोधी स्वार्थों के कारण उलझा हुआ है, यह मेरे जैसे भुक्तभोगी से अधिक शायद और कोई नही जानता। फिर भी जैसा मैंने निवेदन किया है कि आर्यसमाज जैसा कोई क्रांतिकारी संगठन बिना सामयिक आन्दोलन किए वर्तमान स्थिति मे जीवित, जाग्रत नही रह सकता है, और न ही कोई बडे से बडा आन्दोलन बिना चिरस्थायी सैद्धान्तिक और संगठनात्मक आधार के सफल हो सकता है। इस प्रकार आर्यसमाज का पुनर्गठन और उसके तत्वावधान मे होने वाले आन्दोलन दोनो एक दूसरे के बाधक बन ही नही अपितु पूरक और सहायक हैं।

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिंटर्स,अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

वेदोऽखिलोधर्ममूलम
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163

सृष्टि सम्वत् 1972949088

।। ओ३म् ।।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 बुद्धवार 30 मार्च, 1988
अक 6 प स-43338/84 II

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

चैत्र शु 12 सवत 2045
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

डी ए.वी. हाई स्कूल अजमेर का

स्वाधीनता आन्दोलन में अनुकरणीय योगदान

— उत्तरप्रदेश के भू. पू. गृह मंत्री श्री जगनप्रसाद जी रावत के सस्मरण —

1 1919 में 12 दिसम्बर को देश मे ब्रिटिश सरकार ने प्रथम महायुद्ध के बाद विजय दिवस मनाया था। उसका नाम उन्होने आवर डे (our day) रखा था। मैगजीन के सामने शहर भर के स्कूलो से छात्र इकट्ठे किये गय थे और सबको एक-एक रुमाल जिस पर बादशाह की तस्वीर छपी थी दिया गया था। इस रुमाल में बूदी के लड्डू जिनका वजन लगभग एक सेर था रखकर सब छात्रो को बांटा गया था। जलियांवाला काण्ड हो चुका था। उस समय डी ए वी स्कूल के हम सब छात्र मिलकर एक साथ नारे लगाने लगे। "क्या छात्रों के खून मे सने हुए लड्डू हम लोग खायेंगे ?" उत्तर मिला "कभी नही।" हम लोगो ने फिर नारे लगाय। 'इन लड्डुओ को सड़क पर फेंक दो' और सड़क पर लड्डुओ की चादर सी बिछ गयी और सभी छात्र महात्मा गाधी की जय, भारत माता की जय के नारे लगाते हुए अपने घरो को वापस चलेगये।

2 1920 ई मे ईदगाह मे राजपूताना राजनैतिक कान्फ्रेन्स थी। मौलाना शौकत अली मुख्य अतिथि थे। राव साहब खरवा स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। नगी तलवार हाथ मे उठाकर उन्होंने स्वागत भाषण दिया था। मैं उस समय आठवी कक्षा मे था। हम सब छात्रो ने अपनी कक्षायें छोडकर सामूहिक रूप से कान्फ्रेन्स में भाग लिया था।

3 1920 मे अपने स्वर्गवास से पहले एक बार लोकमान्य तिलक अजमेर आये थे। हम डी ए वी स्कूल के छात्र रेलवे स्टेशन उनके



श्री जगनप्रसाद रावत

स्वागत के लिए उपस्थित थ। उनके स्वागत के लिए लाई हुई गाडी म जुते हुए घोडे हम लोगो ने खोल दिये थे और स्टेशन से कैसरगज तक छात्र स्वय उस गाडी को खींचकर लाये थे।

4 1921 मे गाधी जी साबरमती जाते हुए अजमेर स्टेशन पर कुछ समय के लिए रुके थे। डी ए वी स्कूल के छात्रो ने कक्षायें छोडकर स्टेशन पर जाकर उनका स्वागत किया था और गांधी जी के आह्वान पर हम लोगो ने अपने-अपने विदेशी कपडे उतार कर प्लेट फार्म पर उसकी होली जलाई थी। और सब कक्षाओ के विद्यार्थियो ने सामूहिक रूप से गांधी टोपी पहन कर स्कूल मे आना प्रारम्भ किया था। स्कूल प्रारम्भ होने पर प्रार्थना के समय सफेद टोपियां ही दिखाई देती थी।

5 1921 ई मे गांधी जी के स्कूल कालेज छोडने के आह्वान पर डी ए वी स्कूल के छात्र' मे से बहुतो ने राष्टीय स्कूल जो श्री गौरीशकर भार्गव जी की धमशाला मे चलता था वहाँ जाकर पढना शुरू किया था। हमार स्कूल के मास्टर रतनलाल जी उसके प्राधानाचाय थे। आन्दोलन ढीला पडने पर हमारे प्र म स्व श्री विश्वम्भर दयाल भागव जी ने सब छात्रो को उनकी अपनी-अपनी कक्षा मे वापस ले लिया था और सरकार के आदेश के बावजूद भी छात्रो के विरुद्ध कोई कार्यवाही नही की थी।

6 उन्ही दिनो हमारे स्कूल मे प्रतियोगितायें (Debates) हुआ करती थी। एक बार हम लोगो ने विषय रखा 'आय समाय और असहयोग कायक्रम बहुत अच्छा चला। हम लोगो ने सत्यार्थ प्रकाश के वाक्यो को उदधृत करके यह सिद्ध किया कि महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तो के अनुसार प्रत्येक आय समाजी को असहयोग आन्दोलन म भाग लेना चाहिये।

7 1927-28 की घटना तो दत्तात्रेय बाब्ले व कृष्णराव बाब्ले को (बाब्ले बन्धु इसी स्कूल के भू प छात्र हैं।) पूरी तरह याद होगी जब साइमन कमीशन का बायकाट हुआ था। उस समय स्कूल के छात्रो ने अपनी कक्षायें छोड़कर 'साइमन गो बैक के नारे लगाये थे। हमारे **स्कूल के अधिकारियों ने सरकारी आदेश के बावजूद भी केवल अनुपस्थिति लगाकर एक आना प्रति विद्यार्थी जुर्माना किया था और कोई सजा नहीं दी थी।** 1927-28 म दिल्ली मे एक आर्य कान्फ्रेन्स भी थी। 1927 का अन्त हो या 1928 का प्रारम्भ ये मुझ याद नही है। कुछ छात्र भी उस कान्फ्रेन्स मे भाग लेने गय थे। साथ ही स्कूल की हाकी टीम का सेण्ट स्टीफन कालेज की टीम के साथ मैच भी तय कर लिया गया था। मैच तो खेले ही लेकिन अधिक समय कान्फ्रेन्स के कार्यक्रम मे दिया। आय कान्फ्रेन्स के अवसर पर दिल्ली शहर मे एक जुलूस निकालना शामिल था लेकिन सरकार ने जुलूस के खिलाफ धारा 144 लगा दी। इस पर **कान्फ्रेन्स मे बहस हुई और तय हुआ कि जुलूस नहीं निकलेगा। लेकिन हमारे डी ए वी स्कूल के छात्रो ने और आर्य समाज के कार्यकर्ताओ ने जिसमे स्व जियालाल जी भी शामिल थे और** वे खादी भी पहनते थे ने बहस के दौरान अपनी राय धारा 144 को तोडने के पक्ष म दी थी। अजमेर मे ये सब बातें व घटनायें **डी ए वी स्कूल के** छात्रो तक ही क्या सीमित रही हालांकि और स्कल के छात्रो ने भी छिटपुट सख्या मे साथ दिया। **ये सब महर्षि दयानन्द के सिखाये रास्ते का ही छात्रों के मन पर प्रभाव पड़ा, उसी का परिणाम था।**

इसके अलावा 1942 के आन्दोलन म भी डी ए वी स्कूल के छात्रो का सहयोग रहा था जिसकी जानकारी दत्तात्रेय एव कृष्णराव आदि को अधिक है क्योकि मैं उस समय उत्तर प्रदेश मे था और 31 मई 1942 को ही गिरफ्तार कर लिया गया था और 1945 म गाधी जी व

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य
प्रधान संपादक : रामसिंह
संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य
कार्या . 21010

दो मुक्तक

— लालसिंह भदौरिया "सौमित्र" —

(1)

रात घिर आयी है तो क्यो घबराता है।
यदि काली घटा छायी है तो क्यो कतराता है।
अरे पग रुक रहे है क्यो, क्या तुझे ज्ञात नही
कि रात की राह से ही तो प्रभात आता है।

(2)

हाथ पर धर हाथ बैठने से हार होती है।
बाहो की बल्ली से नाव पार होती है।
पाँव जब उठते अडिग विश्वास लिए राही के
तो राह देने को क्षितिज मे दरार होती है।

सम्पादकीय—

"शंकराचार्य होश में आओ, धर्म का यूं न मान घटाओ"

आज की बीसवी शताब्दी मे भी पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी निरंजनदेव के तीर्थ अभी भी अपने को मध्यकालीन पौराणिकता तथा संकीर्णता के मकड जाल से मुक्त नही कर पाये हैं। सुप्रसिद्ध समाजसुधारक एव भारतीय सामाजिक एव धार्मिक पुनर्जागरण के अग्रदूत महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहस, स्वामी श्रद्धानन्द महादेव गोविन्द रानाडे, महात्मा गाधी, अम्बेडकर आदि ने जिन सामाजिक कुरीतियो, अन्धविश्वासो तथा धार्मिक रूढियो का मूलोच्छेदन कर एक परिष्कृत एव सुधरे हुए प्रगतिशील समाज के निर्माण का जो सुखद स्वप्न सजोया था और जिन सुधारो के कारण हिन्दू धर्म विश्व के समस्त धर्मों मे अपना मस्तक ऊचा रखकर स्वाभिमान तथा गौरव का अनुभव करता है वह सभवत पुरी के शंकराचार्य को नही भाता है और वेदो के पौराणिक भाष्यकारो तथा मध्यकालीन दासताजन्य दकियानूसी पुरातन प्रथाओ का अन्ध समर्थन कर पुन सती प्रथा, जन्मगत जाति प्रथा, छूआ-छूत, पर्दा प्रथा, नरबलि, स्त्रियो को शिक्षा मे वचित रखना आदि भ्रम जाल के निबीड अन्धकार म ढकेल देना चाहते हैं। समस्त देश के जागरूक महानुभाव, बुद्धिजीवी पत्रकार, सामाजिक सस्थाए प्रगतिशील धार्मिक सगठन, हिन्दू धर्म के नेतागण तथा नई पीढी के लोग जिन पुरातन रूढियो, अन्ध विश्वासों सामाजिक कुप्रथाओ को छोडकर एक सगठित समाज का निर्माण करने के लिए जिन वैज्ञानिक एव तर्कसगत विवेक युक्त बातो का समर्थन करते हैं वही शंकराचार्य अपने 'धर्म मच' के झण्डे तले अपनी ढफली पर अपना राग अलाप रहे हैं। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के आदेशो के विपरीत उन्होंने मेरठ के पास पुरा में आयोजित समारोह मे सती प्रथा की महिमा को तोड-मरोड कर मण्डित करने का दुस्साहस किया है तथा नेपाल के विश्व हिन्दू सम्मेलन मे अटल बिहारी बाजपेयी द्वारा उदघोषित "जाति प्रथा कर्मगत है, जन्मगत नही" का जिस ढग से उपहास किया है वह न केवल आर्यसमाज के लिए एक चुनौती है अपितु समस्त देश, प्रशासन और व्यवस्था का भी मखौल है। इससे हम सब की आँखें खुल जानी चाहिए।

"कौओ के काटने से बैल नही मरा करते" परन्तु फिर भी उस समारोह मे महर्षि दयानन्द द्वारा किये गये वेद भाष्यो के सम्बन्ध में भी विचार विमर्श कर कुछ 'प्रलाप और वितण्डावाद किये जाने की चर्चा है जो आर्य जगत के लिए चिन्तनीय एव विचारणीय है।

उन्होंने स्वामी अग्निवेश जी का नाम लेकर शास्त्रार्थ की चुनौती स्वीकार करने और शास्त्रार्थ करने का आह्वान किया है तो समस्त आर्य समाज को इस चुनौती को स्वीकार कर सगठन का परिचय देते हुए आर्य विद्वानो को सामने आना चाहिये। भले ही शंकराचार्य मिलने से कतरायें, अस्वस्थता का बहाना बनायें परन्तु उन्हे मुह तोड जवाब देना होगा, पोगापथियो की धज्जियाँ उडानी होगी और दूषित मनोवृत्ति वाले दकियानूसी विचारो के जनक तथा घोर प्रतिक्रियावादी शंकराचार्य का मुह तर्क तीरो से बन्द करना अत्यावश्यक है।

नन्दिता की बलि

देश के सामाजिक जीवन पर धर्म के नाम पर पिछले दिनो एक और कलक लग गया जब महाराष्ट्र के ठाणे नामक नगर मे हसती खेलती मासूम अबोध बालिका को आदि माता शक्ति के मन्दिर के पुजारी ने चोरी छिपे उस बालिका का देवी को प्रसन्न करने के नाम पर नवरात्रा के दौरान हत्याकर नरबलि का काण्ड कर दिया और उस लाश को पवित्र मन्दिर के आँगन मे दबाकर अपनी आत्म तुष्टि की। बाद मे दो-तीन दिन की जाँच-पडताल के बाद बदबू आने पर पुलिस ने उस शव को निकाला और उस धर्मध्वजी नरबलि काण्ड के हत्यारे पुजारी को गिरफ्तार किया। यह देश इन पौराणिक जालो मे पडकर अन्ध-विश्वासो का शिकार होकर कब तक निर्दोषो की हत्या को सहन करता रहेगा। **धिक्कार है ऐसे पुजारी को और लानत है ऐसे अन्ध विश्वासों को।** कौन सुनेगा उस अबोध नन्दिता की चित्कार को? कौन करेगा उद्धार? उस बालिका के माँ-बाप भाई, बहनो परिजनो पर क्या गुजर रही होगी?

खुदा के बन्दो को देखकर, खुदा से मुनकिर हुई है दुनियाँ।"
जिस खुदा को ये मानने वाले है, वह खुदा कोई अच्छा खुदा न होगा।'

—रासासिंह

वेदामृत—

हजार धार का प्रवाह

इन्द्राय पवत मद सोमो मरुत्वते सुत।
सहस्रधारा अत्यव्यमर्षति तमी मृजन्त्यायव ॥10॥

(सामवेद, पावमान पर्व)

(सोमो मरुत्वते सुत) सोम-रस की पैदायश प्राणो के पति के लिए हुई है। (मद इन्द्राय पवत) यह मस्ती इन्द्रियो के राजा के लिए एक पवित्र प्रवाह के रूप मे बह रही है। (सहस्राधार अतिमव्यम् अर्षति) यह हजार धार का प्रवाह रोगटे-रोगटे से पार हो रहा है। (ई) अरे! (आयव त मृजन्ति) आती-जाती तरगें इसका सशोधन करती है!

सोम-रस एक नशा है—अत्यन्त आह्लाद-कारक, अत्यन्त हर्षोत्पादक नशा। इसका पान करने के लिए शक्ति चाहिये। श्वास मे शक्ति हो इन्द्रियो म बल हो, तब इस रस का स्वाद लिया जा सकता है। निर्बलो के लिए यह नशा नही निरिन्द्रियो के लिए यह मस्ती नहीं। भक्ति बलवानो का नशा है। प्रभु क भक्त की फुकार से पापी ससार थर्रा उठता है, पाप का कलेजा काप जाता है। भय डरकर भाग जाता है। प्रभु का भक्त सयमी होता है, इन्द्रिया उसके इशार पर नाचती है। वह दास नही, आर्य होता है।

जब प्रभु की भक्ति का नशा सहस्र-धार होकर रोम-रोम से बह निकलता है तब भावना के उस परम पुनीत प्रवाह के क्या कहने? इस प्रवाह को और किस चलनी में छानना? सात्विक रोमाच स्वयं एक चलनी है—चिति की पवित्र भावना की चलनी। जो आता-जाता भाव इस चलनी मे से गुजर गया वह स्वय पवित्र हो गया। प्रभु की भक्ति का सहारा लेकर राष्ट्र-भक्ति, देश भक्ति विश्व-भक्ति सब अत्यन्त पवित्र हो जाती हैं। उनमें आध्यात्मिकता की लहर भी दौड जाती है। वे पार्थिव भावना न रह कर एक दिव्य साधना बन जाती हैं। प्रभु-भक्त को राष्ट्र राष्ट्र नहीं, विश्व विश्व नहीं ये सब स्वय प्रभु की प्रतिकृतिया प्रतीत होती है। वह दरिद्रो मे दरिद्र नारायण के, शिशुओ मे बाल लीला-धर के, अबोध बालाओ मे "मातृ-भक्ति" के दर्शन करता है। ये मूर्तिया आने जाने वाली, क्षण-भर की छायामात्र-सी है। इन की आधार-भूत वह अमूर्त वात्सल्यमयी जगदम्बा है जो बूढा भी है और बाला भी, जो नित नई है और हमेशा पुरानी। वह ध्रुव सत्य है—अविकृत सत्य। सोम के स्तनो का दूध है उसी की आँखो के प्रमाण हैं।

भोले मनुष्य प्रभु भक्ति के रस को देश तथा राष्ट्र की भक्ति मे छानना चाहते हैं। उन की दृष्टि मे प्रभु-भक्ति देश-भक्ति तथा समाज-भक्ति का रूप धारण कर पवित्र होती है। वास्तव मे प्रभु-भक्ति के ये सब सामयिक रूप हैं। और जब तक ये उस के रूप नहीं, इन में पवित्रता, ध्रुव निर्मलता नही आती।

— प चमूपति (सोम सरोवर में)

क्रान्तिकारियों के पितामह : श्यामजी कृष्ण वर्मा

— वीरेन्द्र कुमार आर्य —

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित आर्यसमाज ने जहाँ एक ओर पराधीन भारत मे सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्रों में महान सुधारात्मक कार्य किया था, वहीं दूसरी ओर स्वाधीनता की लड़ाई मे भी बढ़-चढ़कर भाग लिया था। आर्यसमाज के जिन प्रमुख व्यक्तियो ने परतत्र भारत की बेड़ियो को काटने मे अपने जीवन का सर्वस्व स्वतत्रता की देवी को अर्पित कर दिया था, उनमे श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा का नाम अग्रगण्य है।

4 अक्टूबर 1857 ई को गुजरात प्रांत की कच्छ रियासत के माण्डवी गाव मे जन्मे श्यामजी को परिस्थिति वश छोटी आयु मे ही अपना गाव छोड़कर अपने पिता के साथ बम्बई आना पड़ा। बालक श्यामजी बड़ी कुशाग्र बुद्धि के थे, किन्तु इनके पिता श्री कृष्ण अपनी आर्थिक विपन्नता के कारण इनकी समुचित शिक्षा की व्यवस्था करने मे असमर्थ मे थे। ऐसे कठिन समय मे ये दैवयोग से सेठ मथुरादास लवजी के सम्पर्क मे आए एव बालक श्यामजी की कुशाग्रता से प्रभावित हो सेठजी ने इन्हे अपने सरक्षण में ले लिया। और आगल विषयो के साथ इनके सस्कृत अध्ययन का भी विशेष प्रबन्ध कर दिया। सेठ मथुरादास जी द्वारा प्रदत्त सुविधाओ का श्याम जी ने भरपूर उपयोग किया एव आधुनिक विषयो सहित उन्होंने सस्कृत मे भी विशेष दक्षता प्राप्त कर ली।

युवक श्याम जी समाज मे व्याप्त पाखड व रूढियो से बहुत खिन्न थ। अतएव सन 1874 ई मे जब स्वामी दयानन्द का बम्बई आगमन हुआ तो उन्होने उनसे भेंट की। स्वामी जी के सुधारवादी विचारो स वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उनके भक्त बन गए। ऋषिवर भी श्यामजी की विद्वता से अत्यन्त प्रभावित थे। इसका पता उनके द्वारा श्याम जी को लिखे पत्र के इस अश से चलता है विद्वानो के मान्य, सर्वशोभायुक्त, पाखड खडन मे अभग उत्साही अपनी वाक्य विन्यास शैली से सर्व सज्जनो को प्रमुदित करने वाले पडित श्यामजी कृष्ण वर्मा के लिए अब वैदिक धर्म प्रचार मे लग जाना श्रेयस्कर है।'

इधर श्यामजी स्वामी के निर्देशानुसार प्रचार कार्य कर ही रहे थे कि उन्हे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के सस्कृत प्रोफेसर मि मोनियर विलियम्स का निमन्त्रण मिला और मार्च, 1879 के अत मे श्यामजी इग्लैंड चले गए। आपने वहाँ आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे सस्कृत के अध्यापन के साथ बैरिस्टरी की उपाधि भी प्राप्त की। इस विश्वविद्यालय के प्रथम भारतीय स्नातकोत्तर होने का श्रेय आपको ही प्राप्त है।

अपने इग्लैंड प्रवास के दौरान ही श्यामजी को 1881 मे पचम अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के बर्लिन अधिवेशन मे भारतीय प्रतिनिधि के रूप म सम्मिलित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसी अधिवेशन मे आपने अपना विख्यात शोध पत्र 'सस्कृत भारत की जीवित भाषा" पढा था। जिसमे अत्यन्त विद्वतापूर्ण ढग से सस्कृत भाषा को एक जीवित भाषा सिद्ध किया और भारत की राष्ट्र भाषा होने मे समर्थ बताया।

श्यामजी सस्कृत भाषा के अतिरिक्त लैटिन व ग्रीक भाषा के भी अद्वितीय विद्वान थे। उनकी सस्कृत संबधी योग्यता का लोहा यूरोप के तत्कालीन सस्कृतविदो ने भी माना था। अध्ययन की समाप्ति पर श्यामजी को दिए डा मोनियर विलियम्स ने अपने प्रशसा पत्र मे लिखा कि इस समय यूरोपीय सस्कृतज्ञों मे ऐसा कोई नही है जो श्यामजी के तुल्य पाणिनीय व्याकरण का ज्ञाता हो तथा भारत में भी ऐसा कोई पण्डित नही है जो सस्कृत मे अपूर्व योग्यता रखने के साथ लैटिन तथा ग्रीक का उच्चकोटि का ज्ञाता हो।

सन् 1885 में श्यामजी स्वदेश लौटे। परन्तु स्वामी दयानन्द से राष्ट्रीयता और स्वतत्रता का पाठ पढने वाले श्यामजी ने अग्रेजी सरकार की सेवा करना स्वीकार नही किया। जब कि स्वदेश लौटने से पूर्व भारत के भू पू वाइसराय लार्ड नॉर्थ ब्रुक ने उन्हे एक प्रमाण पत्र दिया था जिसमें उन्हे भारत मे किसी उच्च राज्य सेवा में नियुक्त करने की सस्तुति की गई थी। यदि श्याम जी चाहते तो इस पत्र का उपयोग कर सकते थे परन्तु उन्होने ऐसा नही किया।

भारत आने पर श्यामजी ने अपना नाम 19 जनवरी 1885 ई को बम्बई हाई कोर्ट मे एक वकील के रूप अकित मे कराया परन्तु। परिस्थितिया कुछ ऐसी बनी कि उन्हे मार्च, 1885 ई मे मध्य भारत की देशी रियासत रतलाम के दिवान पद का कार्यभार सभालना पडा। इसके पश्चात आपने मालवा, मेवाड और कठियावाड आदि देशी रियासतो मे भी दीवान पद पर काय किया। और इन्ही रियासतो मे रहकर श्यामजी ने निकट से देखा कि किस प्रकार अग्रेजी सरकार भारतीयो के राजनैतिक और समाजिक अधिकारो का हनन कर रही है। स्वामी दयानन्द की राष्ट्रवादी शिक्षाओ ने श्यामजी के हृदय मे जो भाव भरे थे इन परिस्थितियो ने उन्हे और भी दृढ कर दिया। और देश को स्वतत्र कराने का पुनीत ध्येय अपने हृदय मे सजोये 1897 ई मे वे इगलैंड प्रस्थान कर गए।

इग्लैंड पहुचकर श्यामजी अपने स्वदेश-मुक्ति के लक्ष्य की प्राप्ति हेतु जी-जान से जुट गये। पराधीन भारतीयो के मन मे स्वतन्त्रता के भाव उत्पन्न करने के उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए उन्होने जनवरी 1905 ई मे दि इण्डियन सोसोलोजिलिस्ट नामक अग्रेजी मासिक पत्र का प्रकाशन किया। पत्र के प्रत्येक अक मे अग्रेजी सरकार के दमनपूर्ण रवैये को आलोचना की जाती थी तथा भारतीयो को निरकुश विदेशी सरकार का दृढता से मुकाबला करने की प्रेरणा दी जाती थी। पत्र के द्वितीय अक मे ही आपने लिखा कि वर्तमान भारत मे विद्यमान बेईमानी, धोखाधडी पाखण्ड, झूठ तथा अन्य प्रकार की सभी बुराईयोके जन्म का श्रेय विदेशियो का निरकुश तथा अत्याचार परिपूर्ण शासन को है। इसी पत्र के सितम्बर1908ई के अक मे उन्होने बारूद का आचारशास्त्र और भारत मे 'ब्रिटिश तानाशाही' नामक अपने निबन्ध मे लिखा कि ब्रिटिश सरकार के अत्याचारो का प्रतिकार करने के लिए यदि भारतीय युद्ध की घोषणा भी करते हैं तो वह अनुचित नही है।

श्यामजी जीवन भर भारत की स्वतन्त्रता क लिए उद्योग करते रहे। इण्डियन होम रूल सोसाइटी व इण्डिया हाउस की स्थापना भी इन्होने स्वदेश की स्वतन्त्रता को दृष्टिगत रखते हुये की थी और जिसे केन्द्र बनाकर भारतीयो मे स्वदेश भक्ति, आत्म गौरव की रक्षा के भाव फू के थे। इण्डियन होम रूल सोसायटी का स्पष्ट घोषित मुख्य उद्देश्य था भारत को स्वराज्य दिलाना। यह भी उल्लेखनीय है कि इण्डिया हाउस मे रहकर स्वातत्र्यवीर सावरकर को अपनी क्रान्तिकारी गतिविधियो को सचालित करने के लिए आश्रय भी मिला था।

वस्तुत यह सच है कि श्यामजी ने स्वय हाथ मे शस्त्र लेकर आजादी के लिए सघर्ष नही किया था। उनकी भूमिका केवल एक ऐसे आचार्य क रूप म ही रही थी जो केवल सिद्धान्तस्थापक था। फिर भी सेनापति बापट, लाला हरदयाल सावरकर आदि क्रान्तिकारियो के निर्माण म उनका विशेष हाथ था।

श्यामजी भारत ही नही अपितु अन्य सभी पराधीन देशो की भी स्वतन्त्रता के पक्षधर थे। उल्लेखनीय है कि टर्की के क्रातिकारी नेता मुस्तफा कमालपाशा के लदन आगमन पर उनके सम्मान म आयोजित समारोह मे उन्होने पाशा का अभिनन्दन करते हुए टर्की, मिश्र आदि देशो के शीघ्र स्वाधीन होने की कामना की थी।

श्यामजी की ऋषि दयानन्द के प्रति जीवन भर अगाध श्रद्धा रही। यहा नही उन द्वारा प्रदत्त छात्रवृतियो मे गुरुवर दयानन्द के नाम पर भी एक छात्रवृति थी। स्विटजरलैंड की राजधानी म श्यामजी से भेंट करने वाले प रामनारायण मिश्र ने अपने सस्मरण मे लिखा है कि राजनैतिक क्रातिकारी जीवन जीते हुए भी उन्हे आर्यसमाज से अगाध प्रेम था।

श्यामजी ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष स्विटजरलैण्ड म व्यतीत किए एव उनकी मृत्यु जिनेवा शहर म 31 मार्च 1930 को हुई।

क्राति सग्राम के प्रथम सेनापति स्वातन्त्र्यवीर भारतीय सस्कृति के उन्नेता ऋषि दयानन्द के अमर शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा को उनकी 58 वी पुण्य तिथि पर कृतज्ञ राष्ट्र की ओर से कोटिश श्रद्धाजलिया सादर समर्पित हैं।

पत्र बोलते हैं

संघ की कारगुजारी

महोदय

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ अपने अथवा B J P V H P समर्थक एजेन्टों को आर्यसमाज में बिठाकर जात-पात, साम्प्रदायिकता, मूर्ति पूजा आदि पाखण्ड को बढ़ावा दिलाता है। समाज के गुरुकुल आश्रम, स्कूल आदि संस्थाओं को हड़पता है। वेद ईश्वर, धर्म की चर्चा नहीं करता। महर्षि दयानन्द का सम्मान नहीं करता। 'नमस्ते' के बजाय नमस्कार करवाता। ध्वजपूजन और गुरुडम फैलाता।

आज आर्यसमाज के अस्तित्व को संघ के घुसपैठियों के कारण खतरा पैदा हो गया है। यह खतरा देश भर की आर्यसमाजों को है, वहां के आर्य भाई खबर देंवे। आन्ध्र प्रदेशस्थ आर्यसमाज इस खतरे में है। इसे कोई भी देख सकता है।

—नरसराय वानप्रस्थी
हैदराबाद (आ प्र)

कथनी और करनी का भेद

आज संसार में आर्य समाज की मान्यताओं का महत्व बहुत बढ़ गया है। लेकिन स्वयं आर्यसमाजी ही पथभ्रष्ट होते जा रहे हैं। जब वैद्य ही बीमार होवे तो बीमारों का इलाज कैसे कर सकता है। अपनी शिक्षण-संस्थायें खाली पड़ी हैं और हमारे बच्चे अंग्रेजी स्कूलों, कालेजों में जाते हैं। कहाँ तक लिखने आइएगा, सर्वत्र वैदिक धर्म का ह्रास ही नजर आता है। कागजी कारगुजारी तो अच्छी है परन्तु प्रायोगिक और व्यावहारिक हालत बहुत खस्ता है।

— विनय, पुरोहित
आर्यसमाज मलोट (पंजाब)

सराहनीय प्रयास

महोदय

आर्य पुनर्गठन' पत्र की प्रशंसा के लिये मेरे पास शब्द नहीं हैं। आर्य-जगत में जितनी पत्र-पत्रिकायें निकलती हैं उनमें सबसे अधिक निष्पक्षता और निर्भीकता आपके पत्र में झलकती है। निःसंदेह आप इस पत्र द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

—...नाथ आर्य टेलर
...(उ प्र)

आर्य समाज किस ओर?

15 मार्च के 'आर्य पुनर्गठन' में प्रकाशित आपके (आचार्य दत्तात्रेय जी के) लेख में सटीक विश्लेषण है। किन्तु परिस्थितियां जिस ढंग से करवट ले रही हैं और आर्यसमाज का नेतृत्व जिस प्रकार दिग्भ्रमित, दिशाहीन और अकर्मण्य है उससे एक भयंकर संकट आसन्न है। आर्यसमाज का अन्तर्द्वन्द्व इसे कमजोर बना रहा है। स्वामी अग्निवेश निश्चय ही आर्यसमाज में गतिशीलता ला... किन्तु प्रज्ञा को उन्हें अपनी विश्वसनीयता पुनः स्थापित और सिद्ध करनी पड़ेगी।

—अभिमन्यु आर्य
सुल्तान बाजार, हैदराबाद

विद्वदभिनन्दन समारोह

'आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट' द्वारा आर्यसमाज, नया बांस के वार्षिकोत्सव के अवसर पर 3 अप्रैल को समायोजित विद्वदभिनन्दन समारोह में श्री विशुद्धानन्द जी मिश्र को सम्मानित किया जाएगा। यह पुरस्कार स्व ला दीपचन्द आर्य की स्मृति में प्रारम्भ किया गया है।

—धर्मपाल आर्य
मन्त्री

—आर्यसमाज बालोतरा (राज) का वार्षिकोत्सव 17 फरवरी से 19 फरवरी 88 तक मनाया गया। स्वामी दीक्षानन्द आचार्य सत्यानन्द व डा कुसुमलता वेदाचार्य के प्रवचन हुए। —भगवानदास



डी ए वी. विद्यालय के शताब्दी समारोह को सम्बोधित करते हुए श्री जगतप्रसाद रावत, नीचे पास ही खड़े हैं प्रधानाचार्य श्री रासासिंह

(शेष पृष्ठ 1 का)

कांग्रेस कार्यकारिणी के छूटने के बाद ही जेल से रिहा किया गया था।

मुझे खेद है कि स्थापना दिवस की शताब्दी पर अधिक नहीं ठहर सका। यदि निकट भविष्य में शताब्दी वर्ष के सम्बन्ध में कार्यक्रम करने के लिए कोई गोष्ठी रखेंगे तो मैं पहुंचने का प्रयास करूंगा।

भाई रासासिंह जी से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनमें स्कूल के प्रति बड़ी आस्था है।

डी ए वी. विद्यालय ने वार्षिकोत्सव मनाया

9 मार्च, 1988 को डी ए वी उच्च मा विद्यालय, अजमेर का 100 वां वार्षिकोत्सव जिला शिक्षा अधिकारी श्री आई सी मंगल की अध्यक्षता व जिला प्रमुख श्री हनुवन्तसिंह रावत के मुख्य आतिथ्य में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। इसमें प्रतिभावान छात्रों को पुरस्कृत किया गया एवं प्रधानाचार्य श्री रासासिंह ने विद्यालय का वार्षिक प्रतिवेदन पढ़ा।

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री नहीं रहे

वेदों के प्रख्यात विद्वान-भाष्यकार, अनेक ग्रन्थों के रचयिता, सार्वदेशिक सभा के धर्माधिकारी आचार्य वैद्यनाथ जी का 12 मार्च 1988 को नई दिल्ली में असामयिक निधन हो गया। "आर्य पुनर्गठन" परिवार आचार्य जी को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए परमपिता परमात्मा से उनकी आत्मा की चिरशांति के लिए प्रार्थना करता है। — संपादक

'आर्यसमाज स्थापना दिवस' मनाया

अजमेर 20 मार्च। स्थानीय आर्य समाज, केसरगंज में आर्य समाज का 113 वां स्थापना दिवस दयानन्द कॉलेज, अजमेर के प्राचार्य श्री डा दिनेश सिंह जी की अध्यक्षता में समारोह पूर्वक मनाया गया जिसमें श्री दत्तात्रेय जी आर्य, डा कृष्णपाल सिंह जी, श्री बाबूराम जी शास्त्री तथा ... के स्वतन्त्रता सेनानी श्री नरसिंह राव जी ने आर्य समाज के गुणगान गौरवपूर्ण इतिहास, अतवर्षीय सेवा कार्य आदि पर प्रकाश डालते हुए देश की वर्तमान विषम परिस्थिति में महर्षि दयानन्द और आर्य समाज की शिक्षाओं की महत्ती आवश्यकता प्रतिपादित की। इससे पूर्व आचार्य श्री गोविन्द ...आयोजन में बृहद् यज्ञ सम्पन्न हुआ तथा रामचन्द्र जी आर्य व वेदरत्न जी आर्य, श्री निर्मल तथा विभिन्न विद्यालयों के बालक-बालिकाओं के मधुर भजन हुए।

अन्त में आर्य समाज के मन्त्री श्री रासासिंह जी ने सबके प्रति आभार व्यक्त किया।

—आदर्शनगर अजमेर के प्रवासी गुरुकुल उपदेशक महाविद्यालय का त्रिदिवसीय उद्घाटन समारोह 1, 2 व 3 अप्रैल 1988 को मनाया जा रहा है। स्वामी आनन्दबोध सरस्वती, आचार्य दत्तात्रेयआर्य, डा. सत्यकेतु विद्यालंकार व श्री वीरेन्द्र एम ए आदि विद्वान पधार रहे हैं। 1 अप्रैल को श्री रासासिंह के नेतृत्व में नगर में विशाल शोभायात्रा निकाली जाएगी।

—आचार्य

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिंटर्स अजमेर में मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द . 163

सृष्टि सम्वत् : 1972949088

॥ ओ३म् ॥

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 4 शुक्रवार 15 अप्रैल, 1988
अंक · 7 प स-43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

बैशाख कृ 14 सवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

आर्य समाज के पुनर्गठन की आवश्यकता

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

आर्य समाज की वर्तमान स्थिति मे उसके संगठन के किसी प्रश्न पर कोई विचार गोष्ठी तथा विचार विनिमय केवल तभी प्रासंगिक हो सकता है जब आर्य समाज के पुनर्गठन के प्रश्न पर गम्भीरता पूर्वक विचार किया जाए। अन्यथा इस विषय पर कोई भी चर्चा या केवल तात्त्विक विवेचन सर्वथा अवास्तविक, अनुपयोगी व व्यर्थ सिद्ध होगा।

पुनर्गठन से चौंकने का कारण—

सार्वदेशिक सभा द्वारा 1983 मे मेरे सयोजकत्व मे जो एक उपसमिति गठित की गई उसे स्वय सार्वदेशिक सभा आर्य समाज के भावी कार्यक्रम पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई उपसमिति कहती रही है। जब कि मेरे जिस प्रस्ताव के आधार पर और बार-बार के आग्रह के उपरान्त इस उपसमिति का निर्माण किया गया, उसका मुख्य उद्देश्य आर्य समाज की वर्तमान चिन्तनीय स्थिति और उसके निराकरण के सम्बन्ध म विचार विनिमय के बाद सभा को कुछ रचनात्मक सुझाव देना था। इसलिये मैं सदा इसे आर्य समाज के पुनर्गठन सम्बन्धी उपसमिति मानता रहा हू। उपसमिति के नाम के बारे मे इस अन्तर के पीछे ऐसी तात्त्विक मतभेद है, यह बात प्रारम्भ से ही स्पष्ट थी। कुछ व्यक्ति पुनर्गठन शब्द को ही एक खतरे की घण्टी मानकर उसका विरोध करते रहे हैं। इनमे दो प्रकार के व्यक्ति हैं। एक वे जिनका आर्य समाज के वर्तमान सगठन के ढांचे को यथावत बनाये रखने मे निहित स्वार्थ है। आर्य समाज में जो तथाकथित हिन्दु-संनिष्ठ तत्व हैं वे यह अनुभव करते हैं कि उनके राजनैतिक तथा अन्य हितो की सुरक्षा आर्य समाज के मच से तभी सम्भव है जब वे उसकी वर्तमान स्थिति को बनाये रखें। दूसरे कुछ तत्व ऐसे हैं जो आर्य समाज के सगठन और सस्थाओ मे अपना वर्चस्व बनाये हुए हैं किन्तु आर्य समाज के सिद्धान्तो और ऋषि दयानन्द के मिशन के प्रति उनकी अनास्था नही तो स्पष्ट उदासीनता है।

सिद्धान्त और सगठन—

सबसे पहले ये स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि आर्य समाज के पुनर्गठन का यह वर्तमान आन्दोलन जिसके प्रचार और प्रसार के लिये आर्य समाज अजमेर की ओर से एक पाक्षिक पत्र 'आर्य पुनर्गठन" का भी प्रकाशन किया जा रहा है, वह आर्य समाज के सैद्धान्तिक आधार मे संशोधन करने का आन्दोलन नही है अपितु उसके वर्तमान सगठनात्मक ढाचे मे उपयुक्त परिवर्तन करने का है। वस्तुत इस पुनर्गठन का भी उद्देश्य ऋषि दयानन्द और आर्य समाज के सिद्धान्तो को सुरक्षित रखना है। इसलिये सिद्धान्त और सगठन के इस भेद को स्पष्ट समझने की आवश्यकता है।

यह प्रथम प्रयत्न नहीं है—

आर्य समाज के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे कुछ लोगों की धारणा रही है कि यह कोई नवीन या प्रथम प्रयत्न है। जैसा उपसमिति की पहली रिपोर्ट की समालोचना करते हुए कहा गया है कि आर्य समाज का सगठन तो पहले ही बना हुआ है इसलिये उसके पुनर्गठन का प्रश्न नही उठता। जैसा पुनर्गठन शब्द से ही स्पष्ट है कि जिसका सगठन मौजूद हो उसी का पुनर्गठन किया जा सकता है। अस्तु।

आर्य समाज की स्थापना का इतिहास—

आर्य समाज की स्थापना के बारे मे जो नवीन तथ्य सामने आये हैं उनसे स्पष्ट है कि सबसे पहले स्वामी जी के कुछ प्रशसको व भक्तो के आग्रह पर गुजरात मे तत्कालीन देशी राज्य राजकोट मे उसकी स्थापना का प्रथम प्रयत्न किया गया। अंग्रेजी सरकार ऋषि दयानन्द के स्वराज्य सम्बन्धी क्रांतिकारी विचारो के कारण आर्य समाज को एक राजद्रोही सस्था मानती थी इसलिये राजकोट के तत्कालीन अंग्रेज पोलीटिकल एजेण्ट की चेतावनी के कारण वहा आर्य समाज की स्थापना का यह प्रस्ताव त्याग दिया गया। उसके बाद पुन अहमदाबाद मे उसकी स्थापना का दूसरा प्रयत्न किया गया। किन्तु यह समझा जाता है कि उसके समर्थको मे वहा के कुछ ऐसे प्रभावशाली और सम्पन्न व्यक्ति थ जो ऋषि दयानन्द के विचारो से प्रभावित होकर आर्य समाज के माध्यम से वहा प्रचलित और भ्रष्ट स्वामी नारायण मत के प्रभाव को निरस्त करना चाहते थे। आर्य समाज के सिद्धान्तो के प्रति उनकी विशेष निष्ठा नही थी। *सभवत स्वामीजी न इसलिये इस दूसरे प्रयत्न मे अधिक रुचि नही दिखाई। 1875 मे आर्य समाज की स्थापना वास्तव मे इस दिशा मे किया गया तीसरा प्रयत्न था किन्तु इसे प्रथम आर्य समाज की स्थापना मानना एक प्रकार से इसलिये भी उपयुक्त है कि इस बार औपचारिक रूप से उसकी स्थापना की गई और उसके नियम आदि निर्धारित करके उसे एक सगठित और सवैधानिक रूप दिया गया।

लाहौर आर्य समाज—

जैसा सर्व विदित है कि सन 1877 मे लाहौर मे बम्बई मे स्थापित आर्य समाज का पुनर्गठन किया गया जिसमे बम्बई के 28 नियमो के स्थान म वर्तमान 10 नियम निर्धारित किये गये। उन्हे आर्य समाज के सिद्धान्त या उद्देश्य कहा जा सकता है। उनके व्यापक और महत्वपूर्ण स्वरूप के सम्बन्ध मे बहुत कहा तथा लिखा जा चुका है उस पर चर्चा करना यहा अप्रासंगिक होगा। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया जाने लगा कि आर्य समाज को एक व्यापक और प्रभावशाली आन्दोलन का रूप देने के लिये ये दार्शनिक और तात्त्विक आधार पर्याप्त नही है। इतना ही नही उनको लेकर स्वामी जी के समकालीन तथा लाहौर आर्य समाज की स्थापनाकाल से उनके एक प्रमुख अनुयायी श्री मूलराज जी तथा उनके कुछ साथियो ने कहना शुरू कर दिया कि आर्य समाज की सदस्यता क लिये केवल इन दस नियमो को स्वीकार करना मात्र आवश्यक है। अन्य मामलो म आर्य समाज के सदस्य अपने विचार और व्यवहार म स्वतन्त्र है। कुछ लोगो न यहा तक देकर मास भक्षण तक का औचित्य सिद्ध करना प्रारम्भ कर दिया जबकि दूसरी ओर य तर्क दिया जाने लगा कि स्वामी दयानन्द मास भक्षण के विरुद्ध थे और इस प्रकार पजाब मे मास पार्टी व घास पार्टी बनी जिसे कालान्तर म कालेज पार्टी तथा गुरुकुल पार्टी का नाम दिया गया। वस्तुत स्वामी जी के शिक्षा दर्शन के सम्बन्ध मे भी इसी आधार पर मतभेद प्रारम्भ हो गया कि आर्य समाज के सदस्यो के लिए नियमो के अतिरिक्त स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित खान-पान और शिक्षा आदि सबधी अन्य मन्तव्य भी मान्य नही है। किन्तु जैसा लाला लाजपतराय ने

(शेष पृष्ठ चार पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान संपादक : रामसिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या : 21010

मननीय

इतिहास के कुछ महानतम व्यक्ति तब तक अपना असली रूप नहीं देख सके जब तक उनके हौसले और चरित्रबल के अलावा सब कुछ नष्ट न हो गया या जब तक उन पर कोई बड़ी मुसीबत न आ गई और हताश होकर उन्हें अपने लिए नया रास्ता बनाने पर मजबूर न होना पड़ा। —स्वेट मार्डेन

सम्पादकीय—

"हँस हँस के हंसराज ने तन, मन व धन लुटा दिया"

आर्य समाज के जन्मकाल से ही समय-समय पर कोई न कोई महान विभूति जन्म लेती रही है जिन्होने आर्यसमाज के गौरव में चार चाद लगा दिये। ऐसी ही महाविभूतियो मे से एक हैं 'महात्मा हसराज"। महात्मा लोगो मे प्रकृति प्रदत्त निम्न गुण सहज भाव से ही होते हैं—विपत्ति के समय, धैर्य अभ्युदय के समय ही क्षमाशीलता, सभा मे वाक्पटुता, युद्ध मे विक्रम, यश के प्रति अभिरुचि तथा शास्त्रो के स्वाध्याय का व्यसन। यह कहने म कोई अत्युक्ति नही कि सचमुच हसराज जी एक सच्चे महात्मा थे। उनकी आत्मा महान थी। मलिनताए, सकीर्णताए एव स्वार्थमयी भावनाए उनसे कोसो दूर थी। समाजोत्थान तथा महर्षि के मिशन को आगे बढाने हेतु उन्होने सर्वस्व समर्पित कर दिया था। त्याग की वे साक्षात् प्रतिमा थे।

महात्मा जी का जन्म 19 अप्रैल 1864 ई को पजाब के होशियारपुर जिले मे बजवाडा नामक ग्राम मे हुआ था। पिता का नाम चुन्नीलाल और माता का नाम गणेश देवी था। एक अत्यन्त साधारण परिवार मे जन्मा यह प्रतिभावान युवक लाहौर के आर्य समाज के तत्कालीन मत्री साईदास की प्रेरणा से आर्य समाज की ओर आकर्षित होकर फिर आर्य समाज का ही बन गया। योग्य एव समर्पित व्यक्तित्व के धनी हसराज ने 1885 ई मे पजाब विश्व विद्यालय से बी ए की परीक्षा उत्तीर्ण की। इतिहास तथा सस्कृत मे विशिष्ट योग्यता हासिल की। 30 अक्टूबर 1883 ई को अजमेर नगर मे महर्षि दयानन्द का निधन हुआ। उनके निधन पर उनकी स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए साईदास, लालालाजपत राय, प गुरुदत्त, लाला मूलराज ने 1886 मे लाहौर मे डी ए वी कॉलेज स्थापित करने का निश्चय किया। उस समय इस सस्था के सस्थापक प्राचार्य पद पर हसराज जी को अधिष्ठित किया गया। इन्होने अपने आपको सर्वात्मना डी ए वी को समर्पित कर दिया। डी ए.वी और हसराज एक दूसरे के पर्याय बन गये। स्वय की आर्थिक स्थिति सुदृढ नहीं होते हुए भी इन्होने अवैतनिक रूप मे कार्य करते हुए प्राचार्य पद स्वीकार किया। इनकी गृहस्थी का गुजारा इनके बडे भाई लाला मुल्कराज ने चलाया। यह हसराज के त्याग, साहस, मिशनरी भावना, कुशलनेतृत्व और कर्मठता का ही परिणाम था कि स्कूल के रूप मे स्थापित डी ए वी धीरे-धीरे लाहौर पजाब और देश का तत्कालीन प्रमुख गौरवपूर्ण राष्ट्रीय शिक्षण सस्थान बन गया। डी ए वी एक आन्दोलन बन गया। आज देश मे जो सैकड़ो डी ए वी स्कूल कॉलेज, हसराज कालेज आदि समाज की शिक्षण सस्थाओं का जाल बिछा हुआ है उनके मूल मे महात्मा हसराजजी का त्याग, बलिदान एव समर्पण भाव ही प्रमुख कारण है। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली मे जो महत्व स्वामी श्रद्धानन्द जी का है वही स्थान भारतीय और पाश्चात्य, शास्त्र और विज्ञान, पूर्व और पश्चिम की मिलीजुली ऐंग्लो वैदिक शिक्षण सस्थाओ के इतिहास मे महात्मा हसराज का है। यद्यपि उस समय आर्य समाज मे दो विचार धाराओं का प्राबल्य हुआ जिसे व्यग्य मे 'घास" और "मास" पार्टी तक कहा जाता था परन्तु आर्य समाज और महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तो के प्रचार प्रसार तथा सेवा भाव मे महात्मा हसराज जी भी कभी पीछे नही रहे। बिना कोई सरकारी अनुदान लिए, जन सहयोग से समर्पित और प्रोत्साहित होकर उन्होने अपने जीवन काल मे इस शिक्षण सस्था को शिक्षा का प्रमुख केन्द्र बना दिया। कला, विज्ञान, वेद, सस्कृत, आयुर्वेद, कला कौशल उद्योग आदि की महा विद्यालय स्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था हो गई। उनके त्याग और तपस्या ने ही इस सस्था द्वारा भारत को शहीदे आजम भगतसिंह जैसे क्रान्तिकारी, तथा कई महान व्यक्ति प्रदान किये। महात्मा जी सच्चे ईश्वर भक्त, वैदिक धर्म के दीवाने तथा महर्षि के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे। ऐसे ही महान व्यक्तित्व के धनियो ने आर्य समाज के गौरव को आगे बढाया। ठीक ही कहा गया कि "हस हस के हसराज ने तन, मन व धन लुटा दिया।" काश! आज की डी. ए वी सस्थाओ के कर्णधार सचालक गण, व्यवस्थापक, शिक्षक, कर्मचारी गण डी ए वी आन्दोलन के जनक महात्मा हसराज के जीवन से प्रेरणा ग्रहण कर 'मरसीनरी' और मशीनरी, के स्थान पर सच्चे मिशनरी' बनें, सादगी, समर्पण और सेवा का आदर्श प्रस्तुत करें। यही कार्य महान प्रणेता को सच्ची श्रद्धाजली होगी। "कीर्तियंस्य स जीवति"

—रासासिंह

शंकराचार्य का दिमागी दिवालियापन

पुरी के शकराचार्य स्वामी निरजन देव तीर्थ जो आचरण कर रहे हैं, उसे देखकर सदेह होता है कि कही यह व्यक्ति मानसिक रूप से विक्षिप्त तो नही है, विधवा विवाह निषेध, सती प्रथा और जन्मगत जात-पात जैसी कुरीतियो को वेद सम्मत बतलाकर समस्त ससार मे वेदो को 'गडरियो के गीत' सिद्ध करने का पक्षधर यदि मानसिक रूप से दिवालिया नही है तो धर्म द्रोही अवश्य है।

आज जिन कुरीतियो और कुप्रथाओ का विरोध कांग्रेस जैसी राजनैतिक पार्टियो के मच से भी होता है, उन्ही कुरीतियो का अपने को शकराचार्य कहने वाले व्यक्ति द्वारा समर्थन किया जाना एक विडम्बना ही कहा जाएगा। उस पर दावा ये कि मैं यह समर्थन वेदो के आधार पर कर रहा हूँ। वेदो का सबसे बडा प्रवक्ता होने का दावा करने वाला ही जब वेदो की महिमा को लाछित करे तो उसे क्या दड मिलना चाहिए ?

श्री शकराचार्य कहते हैं कि वेदो की अनेक सहिताए विलुप्त हो गई हैं और ये आर्य समाजी उनके बारे मे कुछ नही जानते तथा उन्ही सहिताओ म विधवा विवाह निषेध व सती प्रथा और जन्मगत जात-पात का उल्लेख मिलता है। वाह जनाब! क्या दूर की कौडी लाए। भला इस पाखण्डाचार्य से कोई पूछे कि यदि नारी दहन व विधवा विवाह निषेध जैसी कुरीतियो की महिमा का विलुप्त सहिताओ मे उल्लेख होता तो वह विद्यमान सहिताओ म भले ही अश मात्र ही सही लेकिन देखन को तो मिलता।

श्री निरजन देव का आरोप है कि आर्य समाज हिन्दू समाज के सगठन की एकता को ऐसे सवालो को बहस का मुद्दा बनाकर कमजोर कर रहा है। इस सदर्भ मे हमारा कहना है कि हिन्दुओ की एकता के सबसे बडे शत्रु शकराचार्य जैसे महानुभाव ही हैं, आर्य समाज नही। हमारी मान्यता है कि जब तक हिन्दुओ मे मूर्ति पूजा और अवतारवाद, जन्मगत जात-पात, छूत-छात और मृतक श्राद्ध व फलित ज्योतिष जैसे अध विश्वास और कुरीतियां विद्यमान हैं तब तक हिन्दुओ मे एकता व सगठन की बात सोचना एक दिवास्वप्न जैसा है। आर्य समाज हिन्दुओं को उनके इन्हीं कलको से मुक्ति दिलाकर उनका एक शक्तिशाली सगठन बनाने का विचार रखता है।

श्री शकराचार्य ने यह भी कहा है कि यदि आर्यसमाज के लोग इसी तरह हम से, वाद-विवाद और बहस करेंगे तो वे भी अपनी तरफ से समझौते का पालन नही करेंगे। प्रत्येक आर्यसमाजी के ही नहीं अपितु जन साधारण के मन मे इस कथन से यह प्रश्न पैदा होगा कि आखिर आडम्बरो और कुप्रथाओ के प्रखर विरोधी आर्यसमाज और अध विश्वासो की दल-दल मे गरदन तक डूबे हिन्दुओ मे क्या कोई समझौता सभव है ? हम मानते हैं कि कोई भी सच्चा ऋषि भक्त ऐसा समझौता नही कर सकता। पाखड खण्डन ही तो आर्यसमाज का प्राण है। यदि इस कार्य मे भी वह समझौता करने लगे तो हिन्दुओ के अन्य सगठनों में और उसमे अन्तर ही क्या रहेगा। अस्तु। इस सबके उपरान्त भी आर्य समाज के कर्णधारों का यह दायित्व बनता है कि वे शकराचार्य के इस आरोप का दृढतापूर्वक और स्पष्ट शब्दो मे खण्डन करें।

—वीरेन्द्र आर्य

आर्य समाज को समझो

—बाबूलाल आर्य—

आर्य समाज को स्थापित हुए यद्यपि शताधिक वर्ष व्यतीत हो चुके और इस सुदीर्घ काल मे इससे अनेक महत्वपूर्ण कार्य भी किये हैं तथापि न केवल जन साधारण मे अपितु भारत के सुपठित लोगो मे भी आर्य समाज के सबन्ध में घोर अज्ञान व्याप्त है। अधिक शोचनीय एव खेदजनक स्थिति तो यह है कि आर्य जगत के अन्तर्गत भी ऐसे अनेक व्यक्ति उत्पन्न हो गये हैं जो आर्य समाज का रूपान्तर करने पर तुले बैठे हैं। पिछले कुछ समय मे लेखक का पत्राचार ऐसे दो महानुभावो से हुआ है। प्रथम सज्जन जो स्वय को अनेक आर्य समाजो के पदाधिकारी रह चुके होना बताते हैं चाहते है कि आर्य समाज अपने सब मन्तव्यो को त्याग कर अब केवल एक त्रैतवादी सम्प्रदाय बन जावे। दूसरे प्रख्यात विद्वान आर्य समाज की वर्तमान असन्तोषजनक स्थिति से क्षुब्ध होकर आर्य बुद्धिजीवियो का एक ऐसा महा सम्मेलन आयोजित करने हेतु प्रयत्नशील हैं जो ऊहापोह करके आर्य समाज की भावी रूप रेखा निर्धारित कर सके।

इसमे कोई सन्देह नहीं कि आर्य समाज की वर्तमान स्थिति सन्तोषप्रद नही है। वह न केवल उन लोगो को जो अभी तक आर्य समाज के सपर्क मे नही आए अपितु अन्य बहुत से ऐसे लोगो को भी जिनका एक न एक प्रकार से आर्य समाज से सम्बन्ध रह चुका है अब प्रभावित नही कर रही। इस असन्तोषजनक स्थिति का कारण यह नही कि इस सस्था के नियमो, सिद्धांतो और मन्तव्यो मे ऐसी मौलिक त्रुटियाँ है कि उनके अनुसार आचरण करना हानिकारक अथवा दुष्कर है अपितु इस सगठन के अन्दर ऐसे बहुत से व्यक्ति घुस पडे हैं जिनकी आर्य समाज के नियमो, सिद्धान्तो और मन्तव्यो के पालन मे लेश मात्र भी रुचि नही है।। अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि हेतु न केवल आर्य समाजों की साधारण सदस्यता ही ग्रहण किये हुए हैं अपितु अनेक आर्य समाजो के पदाधिकारी बन कर उन पर और उनके द्वारा सचालित सस्थाओ पर कब्जा भी जमा बैठे हैं। परिणामत ऐसे सिद्धान्त हीन व्यक्तियो का आचरण आर्य समाज की बदनामी का कारण बनता जा रहा है।

आर्य समाज को समझने के लिए सबप्रथम हमको इसके नियमो पर दृष्टि डालनी होगी। इसके दस नियम है जिनको इस सस्था के सस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने स्वय निर्धारित किया था और जो बिना किसी परिवर्तन के आज तक ज्यो के त्यो विद्यमान हैं। छठे नियम द्वारा ससार का उपकार करना अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य निर्धारित किया गया है। ससार के अन्तगत न केवल भारतवासी न केवल मनुष्य मात्र अपितु प्राणी मात्र आते हैं। अत ऐसी सपूर्ण लोक हितकारी सस्था के सबध मे वास्तविक जानकारी प्राप्त करना प्रत्येक समझदार व्यक्ति का परम पुनीत कर्तव्य है।

आर्य समाज के चतुर्थ और पचम नियम क्रमश सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने हेतु सर्वदा उद्यत रहना चाहिये एव सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य को विचारकर करने चाहिये। यदि उपर्युक्त दो नियमो का पालन ही सब मनुष्यों का अभ्यास बन जावे तो जितनी धोखेबाजी, मक्कारी, चोरी आदि बुराइया वर्तमान समय मे जनता को कष्ट पहुचा रही है वे बहुत शीघ्र समाप्त हो जावें। हमारा पारस्परिक व्यवहार कैसा हो इसक दिग्दर्शन आर्य समाज का सातवा नियम करता है अर्थात सब से प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिये, ससार मे ऐसे अनेक महापुरुष हुए है जिन्होने लोगो को आपस मे प्रीतिपूर्वक व्यवहार करने का उपदेश दिया है किन्तु इस नियम की विशेषता यह है कि हमारा व्यवहार प्रीतिपूर्वक अर्थात द्वेषरहित होने के साथ-साथ धर्मानुसार तथा यथायोग्य भी होना नितान्त आवश्यक है। हमारा व्यवहार धर्मानुसार तो निश्चित रूप से प्रत्येक के साथ होना नितान्त आवश्यक है किन्तु सबको स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि धर्म शब्द का तात्पर्य हिन्दु धर्म, इस्लाम धर्म आदि मतो से नहीं है अपितु आर्य समाज के पाचवे नियम के अन्तर्गत जैसा बताया गया है इसका तात्पर्य सत्य पर आधारित होन से है।

हमारे अधिकाश कष्टो का कारण अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। आर्य समाज का आठवा नियम अविद्या का नाश एव विद्या की वृद्धि करनी चाहिये है। इस सर्वकालिक और सार्वदेशिक नियम को स्वीकार करने मे कदाचित ही किसी समझदार व्यक्ति को आपत्ति हो। आर्य समाज का नवा नियम सब लोगो को परामर्श देता है कि प्रत्येक को केवल अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सब की उन्नति मे अपनी उन्नती समझनी चाहिये।' आजकल हमारे अधिकाश देशवासी स्वार्थचिन्ता के चक्रवात मे फस चुके हैं। सार्वजनिक हित की ओर विरले ही दृष्टिपात करते हैं। किन्तु यदि हम अपना दृष्टिकोण बदलकर आर्य समाज के नवें नियम का पालन करने लग जावें तो जनता का कल्याण होने मे देर न लगेगी। आर्य समाज का दसवा और अन्तिम नियम यह है कि सब मनुष्यो को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने मे परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम मे सब स्वतन्त्र रहे। इस नियम का पूर्वार्द्ध भाग तो ऐसा है जिसका पालन किये बिना राजमार्ग पर चलना भी निरापद नही है। उपर्युक्त छह नियमो की समीक्षा से से यह स्पष्टतया सिद्ध हो गया कि आर्य समाज की स्थापना के समय इसके सस्थापक ने छठ नियम के अन्तर्गत सामाजिक उन्नति कराने का लक्ष्य जो इस सस्था के सामने रखा था वह इन नियमो के यथावत पालन करने से नि सन्देह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल मे सिद्ध हो सकता है।

सब मनुष्यों की शारीरिक और बौद्धिक क्षमता एक समान नही होती। उनकी प्रवृत्तियो और रुचियो मे भी प्राय असमानता पाई जाती है। क्षमता और रुचि की भिन्नता एक ही माता-पिता की सन्तानो मे भी दिखाई दे जाना सामान्य बात है। सुगमता पूर्वक जीवन निर्वाह करन हेतु प्राय प्रत्येक मनुष्य को दूसरो के सहयोग की अपेक्षा रहती है। इस अपेक्षा ने ही समाज मे वर्गीकरण को जन्म दिया है। जो वर्गीकरण मनुष्यो के गुण, कर्म और स्वभावो पर आधारित होता है वह तो सपूर्ण समाज की उन्नति मे सहायक सिद्ध होता है परन्तु जो वर्गीकरण केवल मनुष्यो के जन्म पर आधारित जाति उपजाति प्रथा है वह अस्वभाविक होने के कारण प्राय हानिकारक और उनकी उन्नति मे बाधक ही सिद्ध हो रही है।

यदि सम्पूर्ण मनुष्य समाज की तुलना मनुष्य के शरीर से की जावे तो त्यागी तपस्वी और विद्या के प्रचार प्रसार मे रत मनुष्यो के समुदाय को ब्राह्मण की सज्ञा देकर उसको समाज रूपी शरीर का मुख कहा जा सकता है। बल पराक्रम से युक्त दुष्टो के दमन हेतु सदैव तत्पर रहन वाले मनुष्यो को क्षत्रिय पुकारा जाकर उनको मनुष्य समाज का बाहुअर्थात भुजाए माना जा सकता है। जीवनोपयोगी समस्त सामाग्री का कृषि पशुपालन और विविध उद्यमो द्वारा उत्पादन और वाणिज्य द्वारा उसका आवश्यकतानुसार समस्त जनता मे वितरण करने वाले समुदाय को वैश्य की सज्ञा देकर उनकी तुलना उरु अर्थात शरीर के मध्य भाग से की जा सकती है। समाज के शेष लोग जो मन्द बुद्धि होने के कारण स्वत तो कोई व्यवसाय करन मे असमर्थ हो किन्तु अपने शारीरिक श्रम द्वारा ही समाज की सेवा कर सकते हो उनको शूद्र कहा गया है उनकी तुलना पैरो पर टिका रहता है इसी प्रकार शूद्र भी सपूर्ण मनुष्य समाज के लिए उपयोगी हैं।

आर्य समाज के सस्थापक महर्षि दयानन्द मनुष्य समाज के ऊपर वर्णित वेदोक्त वर्गीकरण के ही अभिलाषी थे किन्तु खेद है कि वर्तमान समय मे आर्य समाज के नेतागण इस परम उपयोगी व्यवस्था को पुनर्जीवित करने की ओर से सर्वथा उदासीन प्रतीत होते हैं। इस वेदोक्त वर्णव्यवस्था के अनेक लाभ हैं। व्यक्तियो की योग्यता का यथोचित मूल्याकन इसी व्यवस्था के अधीन हो सकता है। हिन्दुओ का एक बडा भाग जो अछूत माना जा रहा है उसका उद्धार इसी व्यवस्था के प्रचलन से सम्भव हो सकेगा। आजकल दहेज प्रथा के रूप मे जो एक भयकर रोग भारतीय समाज म फैल गया है उसके उन्मूलन मे भी यह व्यवस्था लाभदायक सिद्ध हो सकेगी। राष्ट्रीय दृष्टि से प्रमुख लाभ यह होगा कि हमारे राष्ट्र का बहुसख्य भाग जो हिन्दू माना जाता है और जो हजारो जाति उपजातियो मे बिखरा हुआ है उसका एक दृढ सगठन बन सकेगा।

आर्य समाज की दूसरी महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि सामान्यतया प्रत्यक मनुष्य का जीवन चार भागो मे विभाजित किया जावे जिनको आश्रमो का नाम दिया जावे। प्रथम भाग ब्रह्मचर्याश्रम है जो पुरुषो के लिए उनके जन्म से लेकर न्यूनतम पच्चीस वर्ष की आयु प्राप्त होने तक और स्त्रियो के लिए कम से कम सोलह वर्ष की आयु तक न केवल अविवाहित रहना ही, अपितु

(शेष पृष्ठ 4 पर)

डाक पं. सं. RJ/AJ-169

आर्य समाज की

(शेष पृष्ठ 3 का)

प्रत्येक प्रकार के व्यसनो से असिप्त रह कर बल वीर्य की वृद्धि करते हुए विद्योपार्जन मे व्यस्त रहने हेतु आवश्यक है। मनुष्य जीवन का द्वितीय भाग गृहस्थाश्रम है जो पुरुषो के लिए पच्चीस वर्ष की आयु के उपरान्त पचास पचपन वर्ष की आयु पर्यन्त ही बताया गया है। इस पच्चीस तीस वर्ष की अवधि मे वे अपने-अपने वर्णानुसार जीविकोपार्जन करते हुए गृहस्थ धर्म का पालन कर सकते हैं। तदोपरान्त उनको वानप्रस्थाश्रम मे प्रविष्ट होना अनिवार्य है। यह आश्रम सम्पत्ति का मोहत्याग कर अपनी आत्मिकोन्नति हेतु साधना करने और परोपकारी जीवन व्यतीत करने का है। चतुर्थ आश्रम सन्यास आश्रम है अर्थात् पूर्ण वैराग्य प्राप्त होने पर मृत्युपर्यन्त सर्वथा लोकोपकार करते रहने का है।

यदि आर्य समाज की मान्यता के अनुरूप राष्ट्र में आश्रम व्यवस्था प्रचलित हो जावे तो राष्ट्रवासी जहाँ स्वस्थ और बलिष्ठ बनेंगे वहाँ वे धन लोलुप भी न होंगे क्योंकि जब ब्रह्मचर्याश्रम मे वे त्यागी, तपस्वी एवं अविलासी जीवन व्यतीत करने के अभ्यस्त हो चुकेंगे और उनके सामने केवल सीमित काल तक ही गृहस्थ जीवन का ऐश्वर्य भोग कर पुन वानप्रस्थाश्रम एव सन्यास आश्रम में संयमित तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करने का लक्ष्य होगा तो उनके भ्रष्टाचारी होने की आशंका अति न्यून है। जीवन के विविध अंगो का अनुभव प्राप्त किये हुए निःस्वार्थी वानप्रस्थियों की एक बहुमूल्य सेना राष्ट्र को उपलब्ध हो सकेगी। वे वानप्रस्थी लोग परामर्शदात्री समितियों के सदस्यो विधायकों सांसदों और मन्त्रियों के रूप में भी राष्ट्र के लिए अति उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे।

पारिवारिक कल्याण कार्यक्रम के अन्तर्गत स्थान-स्थान पर पुरुषों और स्त्रियो के नसबन्दी शिविर लगाये जा रहे हैं और न केवल बसो बाजारो मे भाँति-भाँति के विज्ञापन लगाकर ही अपितु छविगृहों मे और दूरदर्शन पर भी आकर्षक रूप मे इस कार्यक्रम को विज्ञप्त किया जा रहा है। प्रशासन द्वारा इस तथ्य को सर्वथा भुला दिया गया है कि उपर्युक्त उपाय और उसका विज्ञापन एव अन्य कामुकता वृद्धि के प्रदर्शन नासमझ युवक और युवतियों मे दुराचार की प्रवृत्ति को कितनी तीव्र गति से बढा रहे हैं। शासन को सुपथ पर चलाने का प्रयास तो अतिकठिन है परन्तु आर्य समाज संस्कार विधि में वर्णित संस्कारो का प्रभावी ढंग से प्रचार करके अवांछनीय सन्तानोत्पत्ति पर रोक लगाने हेतु अवश्य ही राष्ट्र की महती सेवा कर सकता है।

आर्य समाज का सिद्धान्त है कि इस संसार का रचयिता, नियन्ता और पालनकर्ता एक ऐसी अदृष्ट शक्ति है जो निराकार निर्विकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्ति सम्पन्न और न्यायकारी है। हमारा कोई भी कार्य मनसा, वाचा कर्मणा ऐसा नहीं है जो उस सर्वान्तर्यामी परमात्मा से अविदित रह सके और उसकी न्याय व्यवस्था के अधीन जिसका यथोचित फल हमको न मिले। जब लोगो को उस सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान परमेश्वर के अस्तित्व के ऊपर अटल विश्वास हो जावेगा तब पापाचार स्वतः बन्द हो जावेगा और संसारवासी सुखी जीवन व्यतीत करने लगेंगे। आर्य समाज का छठा नियम उसी समय सार्थक हो जावेगा। पता—बुद्धि भवन, लश्कर (ग्वालियर)

(शेष पृष्ठ 1 का)

[illegible] सुझाव" मे स्पष्ट किया है कि कुछ व्यक्तियों के मतभेद के उपरान्त "श्री आर्य" ने सर्वसम्मत मान्यता बन गई थी कि आर्य समाज की सदस्यता के लिये दस नियमों के अतिरिक्त स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित धार्मिक तथा सामाजिक मान्यताओं को स्वीकार करना भी आवश्यक है। यह आवश्यकता इसलिये भी अनुभव की जाने लगी कि कुछ स्पष्ट निश्चित और तर्क सम्मत धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार किये बिना मुसलमान और ईसाई धर्म प्रचारकों का ही नहीं स्वयं पौराणिक हिन्दुओं के विरोध का भी मुकाबला नहीं किया जा सकता था और न ही उनके उत्थान मे आर्य समाज के सिद्धान्तो का व्यापक और प्रभावशाली प्रचार और प्रसार ही किया जा सकता था। जैसा कि समाज के कटु अनुभव से स्पष्ट है।

संगठन का सैद्धान्तिक आधार—इस प्रकार आर्य समाज के संगठन को एक सैद्धान्तिक आधार पर पुनर्गठित करने का यह पहला [illegible] प्रयत्न था परिणामस्वरूप 1934 मे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की [illegible] सभा ने इस पर विचार करने के लिये एक विशेष सम्मेलन महात्मा [illegible] स्वामी की अध्यक्षता में आयोजित किया जिसमे यह निश्चय किया गया कि भविष्य मे आर्य समाज का सदस्य होने तथा रहने दोनों के लिये केवल दस नियमों को स्वीकार करना पर्याप्त नहीं है किन्तु उनके अतिरिक्त उन सिद्धान्तों को भी जो वेदों के आधार पर महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में लिखे हैं मानना और उन पर आचरण करना आवश्यक है।

इतिहास की पुनरावृत्ति—आर्य समाज की सदस्यता के सम्बन्ध में किये गये इस महत्वपूर्ण निर्णय के परिणामस्वरूप आर्य समाज का वर्तमान पुनर्गठित रूप अभी तक चल रहा है किन्तु गत 50 वर्षों, के अनुभव से यह सिद्ध हो गया है कि केवल दस नियमो की [illegible] सम्बन्धी विवाद के कारण जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी ठीक [illegible] स्थिति आज कहीं अधिक उग्रता से आर्य समाज के सामने पुन उत्पन्न [illegible] इस चिन्तनीय स्थिति के कारणो पर मैं अपने विचार अपनी [illegible] पुस्तक "आर्य समाज हिन्दू विदाउट हिन्दूइज्म" तथा उसके हिन्दी [illegible] आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं है" में व्यक्त कर चुका हूं, उनकी पुनरावृत्ति यहां करने की आवश्यकता नहीं है। आर्य समाज के सैद्धान्तिक आधार के प्रति इन वर्षों मे धीरे-धीरे उत्पन्न उदासीनता के कारण उसके संगठन मे जो गम्भीर निर्बलता और निरन्तर गिरावट आ गई है वह सर्व विदित है उसके नवीन पुनर्गठन के विरोधी भी इस दयनीय स्थिति से इन्कार नहीं कर सकते। वे केवल यह कहकर इस वस्तुस्थिति का सामना करने से कतराते हैं कि आर्य समाज की वर्तमान दशा के अन्य कारण हैं और उसके निराकरण के लिये भी अन्य उपाय हैं। उपसमिति को भी इसकी अनुभूति थी और है इसलिये उसकी प्रारम्भिक रिपोर्ट मे इन अन्य कारणों तथा उपायों के बारे में भी उपयुक्त सिफारिशें की गई हैं जिनका विवेचन फिर कभी किया जायेगा किन्तु वर्तमान प्रसग में इतना कहना पर्याप्त होगा कि आर्य समाज के संगठन की वर्तमान निर्बलता का मुख्य और पहला कारण उसके सैद्धान्तिक आधार के प्रति बढती हुई उदासीनता है।

जिस प्रकार सर्वत्र न दीखने वाला पावरहाउस या जिनरेटर सर्वत्र दीखने वाली बिजली की बत्तियों का स्रोत या आधार है उसी प्रकार आर्य समाज के संगठन की स्थानीय, प्रांतीय और यहां तक कि सार्वदेशिक इकाइयों द्वारा प्रकाशित अथवा उसके सैद्धान्तिक जिनरेटर द्वारा प्रदत्त शक्ति या वोल्टेज पर निर्भर है। आर्य समाज के झण्डे के नीचे संचालित आन्दोलनों तथा उसकी संगठनात्मक शक्ति का भी यही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। आन्दोलन बिजली की बत्तियो के समान उसके संगठन के इस सैद्धान्तिक आधार का प्रतीक या प्रमाण है और कुछ सीमा तक उसमे सहायक भी है किन्तु वह उसकी शक्ति या प्रभाव का मुख्य स्रोत या आधार नहीं बन सकता।

पौराणिक मान्यताओं से समझौता—जहां तक आर्य समाज के संगठन या आन्दोलन के इस सैद्धान्तिक आधार का प्रश्न है यह निर्विवाद है कि हिन्दू धर्म की पौराणिक मान्यताओ के साथ धीरे-धीरे जो समझौते की नीति अपनाई गई उसी का यह परिणाम है कि आज न केवल खुले या छुपे रूप से मूर्तिपूजा करने वाले व्यक्ति आर्य समाज के सदस्य ही नहीं कहीं-कहीं अधिकारी तक भी हैं। ठीक यही स्थिति श्राद्ध, तीर्थ, जातपात, छुआछूत आदि धार्मिक और सामाजिक कुरीतियो के सम्बन्ध मे उत्पन्न हो रही है। जिसके निराकरण और निषेध के लिए आर्य समाज की स्थापना की गई थी।

(क्रमश)

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिंटर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163

सृष्टि सम्वत् : 1972949088

।। ओ३म् ।।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष · 4 शनिवार 30 अप्रैल, 1988
अक . 8 प. स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

वैशाख शु 14 सवत 2045
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

आर्य समाज के सम्बन्ध में सार्वदेशिक सभा का दूरगामी निर्णय

आर्य समाज के भावी कार्यक्रम विषयक, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा गठित उपसमिति की कई बैठको के पश्चात् समिति के सयोजक आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने जो रिपोर्ट सार्वदेशिक सभा को प्रस्तुत की थी, उस पर 19 सितम्बर 1987 को सार्वदेशिक सभा के अन्तरग सदस्यो, प्रतिनिधि सभाओ के प्रधान और मन्त्रियो तथा समिति के सयोजक तथा सदस्यो एव अन्य विद्वानो के सम्मेलन मे विचारार्थ रखा गया और सम्मेलन द्वारा स्वीकृत निर्णयो पर सार्वदेशिक सभा की 20 सितम्बर 87 की बैठक मे विचार करके भावी कार्यक्रम समिति के केवल चार बिन्दुओ पर अन्तरग सभा ने अपना निणय निम्न प्रकार दिया

बिन्दु (क) आर्य समाज के किसी भी सदस्य व अधिकारी द्वारा जाति सूचक शब्दो का अपने नाम के आगे प्रयोग न करने के प्रस्ताव पर निर्णय हुआ कि सार्वदेशिक सभा पहले से ही इस विषय मे उचित प्रेरणा करती रही है।

बिन्दु (ख) आर्य समाज मे सदस्यो की दो श्रेणियाँ होती हैं। सभासद् तथा आर्य सभासद्। साधारण सभासदो को उपरोक्त सिद्धान्त सम्बन्धी नियमो के अन्तर्गत प्रवेश दिया जाए। आर्य सभासद् बन जाने के उपरान्त वे समाज द्वारा सचालित कार्यक्रमो मे से किसी एक या अधिक मे नियमित रूप से कार्य करते रहने पर सक्रिय सदस्य समझे जाएगे।

इस बिन्दु पर गम्भीरता से विचार विमर्श के उपरान्त निश्चय हुआ कि आर्य समाज के नियम सशक्त और सार्वभौम हैं। शब्दो की व्याख्या का प्रश्न नही है, बल्कि उन्हे जीवन मे धारणा करने और आचरण की बात आवश्यक है। इसलिए आर्य समाज के नियमो मे वर्णित सदाचार के नियमो का पूर्णत पालन करने वालो को ही 2 वर्ष पश्चात् आर्य सभासद् घोषित किया जाए और उस समय उनसे एक शपथ पत्र भरवाया जाए जिसका प्रारूप निम्न प्रकार हो।

प्रतिज्ञापत्र (आर्य सभासद्)

मैं ईश्वर के प्रतीक स्वरूप किसी मूर्ति पूजा या जड वस्तु अथवा व्यक्ति की पूजा नही करूगा ना ही मृतक श्राद्ध या स्थान विशेष को तीर्थ मानूगा। तथा किसी अवैदिक या पौराणिक विधि विधान को नही मानूगा। अर्थात् वेद विरुद्ध आचरण नही करूगा। मैं जन्मगत जाति-पाति या छुआ-छूत को नही मानूगा। मैं किसी भी सम्प्रदाय विशेष या जाति सगठन का सदस्य या अधिकारी नही बनूगा। तथा आर्य समाज के नियमोपनियमो मे वर्णित सदाचार के नियमो का पूर्णत पालन करूगा।

यदि मैं इसके विपरीत आचरण करू तो मेरी आर्य सभासदी समाप्त कर दी जावे। ह आर्य सभासद्

(नोट प्रतिज्ञा पत्र का यह प्रारूप आर्य समाज के प्रवेश पत्र (फार्म) के दूसरी ओर मुद्रित किया जावे अथवा अलग से प्रकाशित करा लिया जावे)।

बिन्दु (ग) आर्य समाज के पदाधिकारी सक्रिय सदस्यो मे से ही निर्वाचित हो सकेंगे।

निश्चय हुआ कि सक्रिय सदस्यता का कोई औचित्य नही है, आर्य सभासद् बनते समय प्रतिज्ञा पत्र द्वारा इसकी पूर्ति हो जाती है।

बिन्दु (घ) किसी राजनैतिक दल का पदाधिकारी तथा उसका सासद या विधान सभा मे निर्वाचित व्यक्ति आर्य समाज, आर्य प्रतिनिधि सभा या सार्वदेशिक सभा का पदाधिकारी नही हो सकेगा।

इस विषय पर गम्भीरता से विचारान्तर निम्न निणय हुआ

आर्य समाज के किसी भी सदस्य को जो किसी राजनीतिक पार्टी का निर्वाचित प्रतिनिधि अथवा पदाधिकारी हो तो आर्य समाज का पदाधिकारी बनने पर यदि वह राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्य समाज अथवा सम्बन्धित सस्था को प्रभावित करना चाहता हो, या कर रहा हो तो ऐसे पदाधिकारी को पद से अन्तरग सभा द्वारा पृथक् कर दिया जावे।

नोट आर्य समाज के भावी कार्यक्रम विषयक सार्वदेशिक सभा की अन्त-रग सभा 20-9-87 द्वारा स्वीकृत तथा 24-1-88 की अन्तरग द्वारा पुष्ट उपरोक्त निर्णय तत्काल समूचे आर्य जगत पर लागू समझे जाएगे।

—आनन्दबोध सरस्वती
प्रधान-सार्वदेशिक सभा,
नई दिल्ली

लकीर पीटने वाले तो बेवकूफ होते हैं

— वीरेन्द्र कुमार आर्य —

गत दिनो कामराजनगर मे हुए कांग्रेस के महाधिवेशन मे गृह मन्त्री बूटासिह ने भूतपूर्व राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिह पर जो गम्भीर आरोप लगाए हैं वे भारतीय राजनीति के घटिया चरित्र के मुह बोलते सबूत हैं। हम इस बहस मे नही पड़ना चाहते कि आरोप सही हैं या गलत। लेकिन बूटासिह के इन आरोपो से जो प्रश्न उठे हैं, उन पर चर्चा करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

श्री बूटासिह फरमाते हैं कि पूर्व राष्ट्रपति षडयन्त्रकारी विदेशी शक्तियो के इशारे पर नाच रहे थे और उनके कार्यकाल मे राष्ट्रपति भवन अपराधियो का शरण स्थल बन गया था। देश का अदने से अदना व्यक्ति भी इस सब को लेकर गृहमत्री को सवालो के कठघरे मे खड़ा कर सकता है। वह पूछ सकता है कि पुख्ता सबूतो और दोनो सदनो मे सत्ता पक्ष का स्पष्ट बहुमत होने पर भी आखिर राष्ट्र-विरोधी कृत्यो मे लिप्त राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग क्यो नही लाया गया?

देश के गुप्तचर विभाग का मुखिया गृहमत्री ही होता है। इस लिए श्री बूटासिह के बयान को गभीरता से लेना आवश्यक है। इस तथ्य को मध्येनजर रखते हुए कहा जा सकता है कि वे एक कमजोर गृहमत्री साबित हुए है और उनके कारण देश को काफी नुकसान उठाना पड़ा है। अपने कर्त्तव्य पालन म लापरवाही बरतने के लिए आखिर क्यो न उन्हे दण्डित किया जाए?

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रधान संपादक : रामसिंह संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य कार्या : 21010

सम्पादकीय—

मुरारी बापू का अनर्गल प्रलाप निन्दनीय

राम कथा के लिये प्रसिद्ध गुजराती सन्त मुरारी बापू ने पिछले दिनों उत्तर प्रदेश मे शुक्रताल (मुजफ्फर नगर) मे रामकथा करते हुए मूर्ति पूजा विषयक प्रकरण के सदर्भ म आर्य समाज के प्रवर्तक तथा जीवन भर मूर्ति पूजा के विरुद्ध अनवरत सघर्ष करने वाले एव इस दुष्कृत्य पर कडा प्रहार कर शास्त्रार्थ मे पौराणिको के दात खट्टे करने वाले अनतुबल महर्षि दयानन्द सरस्वती के विरुद्ध जो अनर्गल प्रलाप किया है वह सर्वथा निन्दनीय एव आपत्तिजनक है। उनका यह कहना कि स्वामी दयानन्द जी ने प्रारम्भ में तो अपरिपक्व बुद्धि एव अज्ञानता के कारण मूर्ति पूजा का विरोध किया था परन्तु बाद मे परिपक्व होने पर अपने जीवन मे छिपकर मूर्ति पूजा किया करते थे" मुरारी बापू का यह आक्षेप शरारतपूर्ण, विद्वेष युक्त तथा क्षोभकारक है। उन्हे ज्ञात होना चाहिये कि स्वामी दयानन्द का जीवन एक खुली पुस्तक था जिसमे छिपाव अथवा दुराव के लिये कोई स्थान नही था। उन्होने हरिद्वार के कुम्भ मेले मे पाखण्डखण्डिनी पताका गाडने के बाद सर्वत्र वैदिक धर्म की मान्यताओ और वेद का प्रचार-प्रसार करते हुये तथा सभी पौराणिक गढो मे विजय पताका फहराते हुये अन्त मे पौराणिको के दुर्ग काशी (वाराणसी) मे इसी विषय पर शास्त्रार्थ कर पौराणिको के गर्व को चूर-चूर कर दिया था। सारा जगत् इस अकाटय तथ्य को जानता और मानता है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी थे। आर्य समाज के दूसरे नियम मे स्वामीजी ने **ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में** स्पष्ट उद्घोषित किया है कि—

"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी अजर अमर अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।"

यह सच्चाई का खुला हुआ पृष्ठ और स्पष्ट उद्घोषणा है। महर्षि दयानन्द इस मूर्ति पूजा की अवैदिक परम्परा को आर्य जाति को पतन के रसातल मे पहुचाने वाली, दासता के बन्धन मे बाधने वाली तथा घोर पुरुषार्थहीन और अकर्मण्य बनाने वाली तथा भाग्यवादिता और आलस्य तथा भ्रष्टाचरण को बढावा देने वाली घोर कुप्रथा मानते थे।

अत मुरारी बापू स्वय गुजराती होते हुये गुजरात की टकारा धरती के उस महान सपूत दयानन्द पर स्वार्थवश लाछन लगाने से पूर्व थोडा स्वाध्याय और आत्मालोचन और चिन्तन कर लेते तो उत्तम रहता। जैसे कौओ के काटने से बैल नही मरा करते। सत्य सत्य ही रहेगा। सत्य से सत्य का ही जन्म होगा। परन्तु यह उलूकवृत्ति मुरारी बापू जैसे सत के लिये अशोभनीय है। उन्होने सामान्य जनता की अन्ध श्रद्धा का लाभ उठाकर उसे भ्रमित करने का दुस्साहस किया है जो सर्वथा निन्दनीय है।

स्वय वेद मन्त्र कहता है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (यजुर्वेद अध्याय 40, मन्त्र 8)

अर्थात्

(स) वह परमेश्वर (परि-अगात्) हर वस्तु के चारो ओर व्याप्य व्यापक भाव से उपस्थित है। (शुक्र) वह ससार की बीज शक्ति है (अकायम्) वह कायाधारी नहीं है (अव्रणम्) वह व्रण आदि रोगों से मुक्त है। (अस्नाविर) वह नाडी आदि बन्धनो मे जकडा नही है। (शुद्धम्) वह मलरहित है। (अपापविद्धम्) पाप उसको बींध नहीं सकते वह (कवि) ज्ञानी है। (मनीषी) विचारवान् है (परिभू) सब स्थानो को घेरे हुये है, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं है (स्वय भू उसका कोई दूसरा उत्पादक या प्रभु नहीं है, वह स्वय अपना स्वामी है। उसने (शाश्वतीभ्य समाभ्य) अपनी नित्य रहने वाली सनातन प्रजाओ के लिये (अर्थात्) पदार्थों का (याथातथ्यत) ठीक-ठीक रीति से (वि-अदधात्) विधान बनाया है।

तथा

'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्यनाम महद्यश"

अर्थात् उस महान यश वाले परमेश्वर की कोई मूर्ति नहीं होती।

ईश्वर सबको सन्मति दे।

—रातासिंह

विदेशी मिशनरियों की बढ़ती हुई अराष्ट्रीय गतिविधियों पर अंकुश लगाओ

पाश्चात्य देशो से गरीबो तथा असहायो की सहायता के नाम पर प्राप्त होने वाले करोडो रुपयो की धन राशि के बल पर भारतीय सविधान की धर्म निरपेक्षता का लाभ उठाकर विदेशी ईसाई मिशनरी गिरजाघरो के इर्दगिर्द सचालित विभिन्न केन्द्रो के माध्यम से घोर दुर्भिक्ष तथा अकाल से सत्रस्त और पीडित भोलेभाले ग्रामीण निधन व्यक्तियो तथा पिछडे वनवासी एव आदिवासियो का धर्म परिवर्तन करने के कुचक्र मे रात-दिन लगे हुये हैं। नागालैंड, अरुणाचल, मणिपुर, मिजोरम, झारखण्ड, छोटा नागपुर आदि क्षेत्रो मे तो ईसाई मिशनरियो के कुचक्र से पृथक्तावाद की प्रवृत्तिया पनपकर आज भारत की एकता और अखण्डता को चुनौती दे ही रही हैं परन्तु धीरे-धीरे उन द्वारा देश के अन्य प्रान्तो मे भी सवेदनशील स्थलों का चयन कर दूध, कपडे, दवाइयो की आड मे तथा स्कूल, अस्पतालो आदि के नाम पर सहायता सामग्री निरन्तर वितरित कर बेसहारा अतिनिर्धन लोगो को धर्म परिवर्तन पर मजबूर किया जा रहा है। राजस्थान मे भी अजमेर, ब्यावर, कोटा बासवाडा, डूंगरवाडा आदि क्षेत्रो मे तथा मध्य प्रदेश के झाबुआ, खरगौन, बस्तर आदि क्षेत्रो मे ये अपना जाल फैलाने मे लगे हुये हैं। समय रहते हुये यदि भारत सरकार तथा सम्बन्धित राज्य सरकारें नही चेती तो मिशनरी सकट पैदा कर देंगे। सबसे पहला उपाय तो अतिशीघ्र यह करना चाहिये कि इस प्रकार की विदेशी सहायता का सरकार के माध्यम से देश में आर्य तथा सरकारी कल्याण एजेन्सियों के माध्यम से वितरण हो एव मजबूरी का लाभ उठाकर और ईमान की खरीद करने वाले विदेशी पादरियों को भारत से निकाला जाय।

—रातासिंह

मुनिवर पं. गुरुदत्त विद्यार्थी

महर्षि दयानन्द की मृत्यु के पश्चात् जिन प्रमुख आर्य विद्वानो ने उनके काम को आगे बढाया उनमे पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का नाम उल्लेखनीय है। अजमेर मे स्वामीजी की मृत्यु के दिव्य दृश्य को देख नास्तिक से महाआस्तिक बन गुरुदत्त विद्यार्थी ने अपना जीवन आर्यसमाज के लिये बलिदान कर दिया।

लाहौर मे प्रथम डी ए वी स्कूल के सस्थापको मे से एक होने पर भी उसकी ओर से वेदो की उपेक्षा देखकर उदासीन हो जाना, आपकी ऋषि भक्ति का अप्रतिम उदाहरण है।

यदि इस ग्रन्थ का मूल्य हजारो रुपये होता तो भी मैं अपनी समस्त सम्पत्ति बेचकर इसे खरीदता यह कहकर ऋषि के अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की महिमा का यशोगान करने वाले मनस्वी गुरुदत्त विद्यार्थी जीवन भर उनके मन्तव्यो के प्रचार-प्रसार मे लगे रहे। वेदो के वैज्ञानिक स्वरूप को जनता के सम्मुख लाने का आपने भारी उद्योग किया। इसके लिए आपने टर्मिनोलोजी आफ वेदाज नामक एक कोष का निर्माण किया और उपनिषदो का अंग्रेजी मे अनुवाद किया।

विद्यार्थीजी एक उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होने पर भी सादा जीवन जीने में विश्वास रखते थे। एक मात्र ऋषि के कार्य को प्रभावपूर्ण ढग से आगे बढाना ही उन्हें अभीष्ट था। यही कारण था कि कभी भी उन्होंने स्वय को एक नेता के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न नही किया। निरन्तर मौन भाव से वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार मे लगे रहे। घर फूक तमाशा देखा। अत्यधिक कार्य करने के कारण आप क्षय के शिकार हुए और (जन्म 26 अप्रैल, 1864) अल्पायु मे ही 19 मार्च, 1889 को आपका देहान्त हो गया।

आज समाज के पैसे से देश के अन्दर भी प्रचारार्थ हवाई जहाज से सफर करने वाले विद्वता में बिलकुल कोरे तथाकथित आर्य नेता क्या मुनिवर गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवन से कोई प्रेरणा ले सकेंगे? या फिर विश्व सम्मेलनो मे डींगें हाकते रहेंगे और समाज के नाम पर गुलछर्रे उडाते रहेंगे।

—वीरेन्द्र आर्य

ऋषि भक्त ठाकुर कर्णसिंह

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

राजस्थान के तत्कालीन राजे व रजवाड़ो का नैतिक एव चारित्रिक पतन देख ऋषि ने अपने समाज-सुधार कार्यक्रम मे इन्हें प्रमुखता दी थी। उनके प्रचार जीवन का अधिकांश समय राजस्थान मे व्यतीत हुआ। इन्हीं राजे और रजवाड़ो के सुधार हित ही 1881ई मे ऋषि के जीवन का बलिदान हुआ।

ऋषिवर के इस सुधारवादी प्रचार का रजवाड़ो पर व्यापक प्रभाव पड़ा था और अनेक राजा, जागीरदार-ठिकानेदार उनके भक्त बन गये थे। जोबनेर के ठाकुर कर्णसिंह भी इनमे से एक थे।

ठाकुर कर्ण सिंह महर्षि दयानन्द की भक्ति के रग में पूर्णतया रग गये थे। उनके द्वारा 1893 ई मे प्रकाशित 'राजस्थान के क्षत्रियो के चाल-चलन पर एक सरसरी निगाह' नामक पुस्तक के मुख पृष्ठ पर उन द्वारा दिया दोहा इस सदर्भ मे विशेष उल्लेखनीय है

राज त्रिलोकी को हमे मिलणो छै आसान।
गुरु दयानन्द सारखे मिलणो कठिन जहान॥

ऋषि दयानन्द के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु हो जाने के कारण ठाकुर कर्णसिंह के समय जोबनेर आर्य समाजी गतिविधियो का एक प्रमुख सचालन केन्द्र बन गया था। 1894 ई में पण्डित लेखराम 'आर्य मुसाफिर' की अगुवाई मे जोबनेर में शुद्धि आन्दोलन भी चलाया गया था।

ठाकुर कर्णसिंह एक अच्छे प्रशासक थे। जयपुर महाराजा के अधीनस्थ रहकर उन्होने जरायमपेशा मीणा जाति का सुधार कर उसे सम्मानजनक जीवकोपार्जक व्यवसायो में लगाया था। मीणो की सामाजिक एव आर्थिक उन्नति के लिये उन्होंने अन्य कई रचनात्मक कदम भी उठाये थे।

एक सुशिक्षित व्यक्ति होने के कारण वे देश की स्वतन्त्रता का महत्व जानते थे। इसीलिये परोक्ष-अपरोक्ष रूप से वे क्रान्तिकारियों को सहयोग देते रहते थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला लाजपत राय व केसरीसिंह बारहठ आदि क्रान्तिकारियो से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध थे। कहा तो यहा तक जाता है कि केसरीसिंह बारहठ के गुप्त क्रान्तिकारी सगठन की एक बैठक जोबनेर की हवेली मे भी हुई थी।

ठाकुर कर्णसिंह शिक्षा प्रसार को समाज-सुधार एक विशेष साधन मानते थे। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुये उन्होने 1891 मे जोबनेर मे 'एग्लो वैदिक स्कूल' की स्थापना की थी। आर्य समाज के क्षेत्र मे यह जानकर अति प्रसन्नता होगी कि ठाकुर कर्णसिंह ने इस स्कूल मे ऋषि दयानन्द प्रवर्तित गुरुकुल-पद्धति को अपनाया था। यहा वेद मत्रो द्वारा दैनिक प्रार्थना होती थी। स्कूल मे पढ़ने वाले समस्त छात्रो के साथ समानता का व्यवहार किया था। छूआछात व ऊच-नीच के भावो के लिये यहा कोई स्थान नही था। यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि अपने इकलौते पुत्र नरेन्द्रसिंह को उन्होने जागीरदारो के बच्चो को पढ़ाने हेतु उपयुक्त समझे जाने वाले किसी अग्रेजी स्कूल में भर्ती न कराकर जोबनेर के 'एग्लो वैदिक स्कूल' मे ही भर्ती कराया था। ऋषि भक्ति का यह अप्रतिम उदाहरण है।

ठाकुर कर्णसिंह एक ऊचे चरित्र के आदमी थे। सामन्तों मे आम पाये जाने दुर्व्यसनो से वे कोसो दूर थे। देशभक्ति, समाज सेवा, दयाशीलता और परोपकार जैसे गुणो से वे समलकृत थे। उनके इन्ही गुणो को देखते हुये समाज ने उन्हे 'राजर्षि' की उपाधि से अलकृत किया था। उनकी शिक्षा यद्यपि अग्रेजी पद्धति पर आधारित मेयो कालेज मे हुई थी लेकिन उनके आचार-विचार पर पाश्चात्य दूषित विचारधारा का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा था। चन्दन की भाति वे सर्प रूपी विषैले वातारण मे रहते हुए भी उससे अछूते रहे थे। उनकी वेशभूषा पूर्णतया देशी थी।

ठाकुर कर्णसिंह की ऋषि भक्ति और उनके अनुकरणीय जीवन को देखते हुये अन्य ऋषि भक्त, राजे-रजवाड़े उनकी तुलना मे बौने प्रतीत होते हैं। ऋषि के इस अनन्य भक्त जनसाधारण मे अपने असाधारण गुणो के लिये विख्यात ठाकुर कर्णसिंह का अल्पायु मे ही सन् 1911 ई मे देहावसान हो गया।

बाल विवाह और सरकार

वैसे तो अपने पूरे देश मे ही बाल विवाह होते हैं परन्तु राजस्थान मे इस कुप्रथा का प्रचलन अत्यधिक है। प्रतिवर्ष अक्षय तृतीया को हजारो छोटे-छोटे बच्चो को शादी के बन्धन मे बाध दिया जाता है। इस वर्ष भी समाचार-पत्रों ने ऐसी अनेक शादियो के सचित्र समाचार प्रकाशित किये हैं जिनमे दुल्हन और दूल्हा मात्र 3 या 4 वर्ष के थे।

1929 ई मे बने 'शारदा एक्ट' के बावजूद भारी शोर-शराबे के साथ बाल-विवाहो का होना सरकार की अकर्मण्यता का परिचायक है। यदि कोई व्यक्ति जन चेतना की कमी का तर्क देकर बाल-विवाहो का औचित्य सिद्ध करना चाहे तो इसे उसकी नादानी ही समझा जाएगा। आज सरकारी और गैर सरकारी प्रचार माध्यमो ने जनसाधारण को बाल-विवाह के सभी दुष्परिणामो से अवगत करा दिया है और यदि इसके उपरान्त भी बाल विवाह होते हैं तो उसकी मुख्य दोषी सरकार है। उसे चाहिये कि कानून की अवमानना कर बाल-विवाह करने वाले अभिभावको और इस कार्य मे सम्मिलित समाज के अन्य सभी व्यक्तियो के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करे।

—वीरेन्द्र आर्य

वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज, देसराज कालोनी पानीपत का प्रथम उत्सव ला आदित्य प्रकाश आर्य की अध्यक्षता मे 27 व 28 फरवरी 1988 को मनाया गया। स्वामी अरुणवेश, स्वामी नित्यानन्द, श्री वेद सुमन वेदालकार, श्रीमती राजरानी व बहन सविता के प्रवचन व गीत हुए।

—वसु (मन्त्री)

हम मिल राष्ट्र जगायें

—डॉ (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी

वेद ज्योति से आलोकित बन,
हम मिल राष्ट्र जगायें।
चहु अज्ञान, तिमिर है छाया,
धूमिल हुई दिशायें।
भूल गये सब, सुलभ हुई थी,
हम को प्रिय आभायें।
दूर-दूर हम जिस सुमार्ग से,
पुन उसे पा जायें।

सम्प्रदाय का गरल निरन्तर,
बढ़ता ही है जाता।
धर्म चेतना से वचित,
अलगाववाद पनपाता।
उग्रवाद के इस अराति को,
मिल हम दूर भगायें।

अन्तर्दाह निरन्तर चलता,
मानवता है रोती।
देख भारती कापुरुषो को,
विकल प्राण है खोती।
गरुण बने, आतकवाद के,
व्यालो को ग्रस पायें।

उठो आर्य वीरो मेधावी!
सौरभ चहु फैलाओ।
जो वैचारिक महा प्रदूषण,
परिशोधित कर पाओ।
दिशा दिशा वैदिक नादो से,
करें मुखर, हर्षायें।

पता —प्रोफेसर्स कालोनी, श्याम गज, बरेली–243005 (उ प्र)

द्वितीय विश्व हिन्दू सम्मेलन :

हिन्दुत्व के नाम पर फिर लगा दरबार

— वीरेन्द्र कुमार आर्य —

25 से 28 मार्च 1988 तक नेपाल की राजधानी काठमाडो मे द्वितीय विश्व हिन्दू सम्मेलन का आयोजन हुआ। विभिन्न सम्प्रदायो के 26 देशो के लगभग 1500 प्रतिनिधि इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। विचार गोष्ठियाँ हुई, प्रस्ताव पारित किया गया। प्रस्ताव पढने-सुनने मे बहुत ही प्रभावी और दूरगामी नजर आता है।

सम्मेलन द्वारा जो पृष्ठीय प्रस्ताव पारित किया गया है उसमे हिन्दू धर्म को पूर्ण विज्ञान सम्मत बनाने की वकालत करते हुए इसके लिए 12 विभिन्न सूत्रो का उल्लेख किया गया है। 'प्रस्ताव मे सभी हिन्दू समान हैं और ईश्वर के अंश हैं' की दुहाई देकर संकल्प किया गया है कि हिन्दू समाज को जात-पात से मुक्त किया जाएगा और छुआ-छूत को जड से खत्म कर दिया जाएगा।

सम्मेलन के इस संकल्प से भला किसको असहमति हो सकती है। आखिर हिन्दुओं के पतन की ये दो बुराईयाँ प्रमुख कारण रही हैं। लेकिन खेद तो इस बात का है कि प्रस्ताव मे इन कलंको (बुराइयो) की समाप्ति का कोई उपाय नही बताया गया है। और तो और जब सम्मेलन के प्रतिनिधि प्रस्ताव के इस महत्वपूर्ण अंश को जोर-शोर से विज्ञापित कर रहे थे, तभी भारत मे पुरी के शंकराचार्य जगद्गुरु निरंजनदेव जन्मगत जाति-पात और हरिजनो का मंदिर प्रवेश निषेध वेदोक्त ठहरा रहे थे। अब ये संकल्पकर्ता ही ही जानें कि उनका संकल्प कैसे पूरा होगा ?

सम्मेलन मे हिन्दुओ के लिए एक आचार संहिता बनाने की भी बात चली। पता नही इन लोगो को इतनी सी बात भी कैसे मालूम नही कि वैदिक काल मे वैदिक धर्मी सभी लोगो की एक ही आचार संहिता थी। बाद मे सभी सम्प्रदायो ने अपनी स्थापना के समय सुविधानुसार अपनी-अपनी आचार संहितायें बना ली। अब यदि वे अपनी इस आचार संहिता का त्याग करते हैं तो उनके सम्प्रदाय का अस्तित्व भी स्वयं समाप्त हो जाएगा। और ऐसा वे कभी नही चाहेगे।

सम्मेलन मे गोहत्या पर प्रतिबन्ध और संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार पर भी बल दिया गया है। जहा तक हम समझते हैं; गौहत्या एक धार्मिक समस्या न होकर आर्थिक और सामाजिक समस्या है। और धर्म से जोडकर इसे अत्यधिक जटिल बना दिया गया है। संस्कृत का प्रचार-प्रसार तभी हो सकता है जबकि उसके विशेष महत्व को अन्य भाषाओ की तुलना मे सिद्ध किया जा सके।

हिन्दू धर्म को और अधिक विज्ञान सम्मत बनाने की बात प्रस्ताव मे दोहराई गई है। लेकिन प्रश्न उठता है कि जब किसी धर्म का आधार ही वैज्ञानिक न हो तो उसे अधिक विज्ञान सम्मत कैसे बनाया जा सकता है। लगता है कि शायद सम्मेलन मे सिर जोड कर बैठने वाले प्रतिनिधि अपने सम्प्रदायो की विज्ञान विरोधी मान्यताओं को भूल गये थे। या फिर उन्होने अपने-अपने तथाकथित धर्मग्रन्थों का भली-भाँति अध्ययन नहीं किया है।

सम्मेलन ने नेपाल मे ही एक 'अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दू केन्द्र' की स्थापना का निर्णय लिया है। ये केन्द्र शायद पारित प्रस्तावो पर अमल करने का कार्य करेगा। कैसे करेगा ? य सम्मेलन वाले ही जानें ! सम्मेलन मे एक सुझाव हिन्दू धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए एक शक्तिशाली शार्टवेव रेडियो स्टेशन स्थापित करने का भी आया। प्रश्न इस बात का नही है कि यह केन्द्र किस देश म स्थापित हो प्रश्न इस बात का है कि आखिर परस्पर विरोधी मान्यताओ पर आधारित विभिन्न सम्प्रदायो के प्रचार कार्य मे यह केन्द्र कैसे संतुलन रख पाएगा ?

आर्यसमाज देशराज कालोनी का निर्वाचन

संरक्षक श्री प्रभुदयाल गुलाटी व श्री आदित्य प्रकाश आर्य, उपप्रधान श्री सुरेन्द्रपाल त्यागी व श्री अमरसिंह सैनी, मन्त्री श्री जगदीश चन्द्र बसु, कोषाध्यक्ष श्री ओमप्रकाश गोयल, प्रचार मन्त्री श्री पूर्णचन्द पथिक।

पत्र बोलते हैं—

आर्य समाज के नेता सावधान हों

आर्य समाज के प्रति निष्ठा रखने वाले लोगो ने जब श्री विद्यानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की प्राथमिक सदस्यता को त्याग देने की बात पढी होगी तो उनको धक्का लगा होगा। बासठ वर्ष तक आर्य समाज की सेवा करने के बाद उसकी सदस्यता त्यागने के वास्तविक कारण यदि कुछ अन्यथा रहे भी हो तो भी आर्य समाज में स्वार्थपरता का जो घुन लग रहा है उसे उन्होंने बहुत अच्छी तरह पहिचाना है इसमें दो राय नही हो सकती हैं। जब बाड ही खेत को खाने लगे तो रखवाली कौन करेगा ? पदाधिकारी पदो और समाजो को अपनी जागीर बनालें। उनका मनमाना दुरुपयोग करें, बन्दर बाँट के चक्कर मे अदालतों में समाज का पैसा फूकें, नये रक्त के लिए समाज के द्वार बन्द कर दिये जावें, गुण्डा तत्वो की सहायता लेते फिरें और भले और निष्ठावान लोगो को बदनाम करके बाहर निकालनें की साजिशें रचते रहते हो तो कर लिया आर्य समाज ने वसुधैव कुटुम्बकम् 'या' 'विश्वमार्यम' का लक्ष्य पूरा ?

यदि प्रतिनिधि सभाओ को इस रोग से मुक्त मान भी लिया जावे (यद्यपि वे हैं नही।) तो यह निर्विवाद है कि वे पूर्णत निर्बल और असहाय हैं। अपने से नीचे की इकाइयो पर उनका कोई नैतिक या वैधानिक नियन्त्रण नहीं है और न ही उनमें ऐसा करने का साहस है क्योंकि चुनावी लाभ भूखे उच्च पदाधिकारी स्वय ही उनके पीछे गिडगिडाते फिरते हैं। आर्य समाज के अधिकांश सन्यासी व प्रचारक प्रचार की अपेक्षा अचार (उत्तम भोजन, भारी दक्षिणा) की चिन्ता अधिक करते हैं। समाजो का कार्य मात्र एक दो उत्सव करके जनता को अपने जीवित रहने का भान करा देने तक सीमित हो गया। आर्य समाजो और आर्य समाजियो ने नया धन्धा प्रकाशन का पकड लिया है। महर्षि सहित आर्य विद्वानो के ग्रन्थो को छापो और औने के पौने दामो मे बेचकर अपना घर भरो। वे गीता प्रेस गोरखपुर की प्रकाशन पद्धति से कुछ भी सीखने को तैयार नहीं हैं। आर्य साहित्य लिखना, छापना, पत्र पत्रिकाए निकालना, हवन यज्ञ करना, उत्सव करना, भाषण करना और नई शोध करना ये सभी हो रहे हैं। होने भी चाहिए। परन्तु लाखो को सच्चे आर्य बनाने का कार्य, संस्कार प्रतिष्ठा का कार्य, सच्ची वैदिक शिक्षा देने का कार्य व जुआ, शराब, दहेज, नारी दहन, बलात्कार, नर बलि, छुआ-छूत, जाति भेद और अन्ध-विश्वासो के कलंको से समाज को मुक्त कराने केलिए कितनी समाजें योजना बद्ध कार्य कर रही हैं। समाज के लिए अनुपयोगी किले खंडहर बन गये हैं। आर्य समाज भी अनुपयोगी बनता जा रहा है। खंडहर बनने के कगार पर खडा है। संभव है शीघ्र खंडहर बन जावेगा और उसमे मात्र कुछ उल्लू (अवांछनीय पदाधिकारी) ही जहाँ तहाँ शेष दिखलाई देंगे।

स्वार्थान्धता की आँधी मे फसा आर्य समाज यदि इसी राह पर चलता गया तो निष्ठावान आर्य समाजियो को अपना कल्याण इसी मे दिखेगा कि वे भी श्री विद्यानन्दजी की भांति समाज का पल्ला छोडकर एक ओर हट जावें। जब एक-एक करके शिष्टजन आर्य समाज से किनारा कर जावेंगे तब देश की जनता यही कहेगी कि "हर शाख पे उल्लू बैठे हैं, अन्जामे गुलिस्तां क्या होगा ?" आर्य समाज के करोडों सदस्यो मे से एक विद्यानन्दजी का कम हो जाना सर्वथा महत्वहीन घटना हो सकती है परन्तु यह भी हम याद रखें कि आर्य समाज के भविष्य के लिए एक महत्वपूर्ण चेतावनी भी है। आर्य समाज के नेता सावधान हों।

— अम्बा प्रसाद शर्मा
आर्य समाज कावाखेडा, भीलवाडा।

लकीर पीटने (शेष पृष्ठ 1 का)

प्राप्त समाचारो के अनुसार पिछले दिनो राजीव गांधी की नजरो मे बूटासिंह का महत्व कम हुआ है। पंजाब मे गलत रूप से बरनालादाजी की राज्यपाल रे की शिकायत को लेकर श्री गांधी ने श्री पी चिदम्बरम् को उनका कार्य सौंप दिया था। हो सकता है कि आरोपो की इस राजनीति का सहारा लेकर श्री बूटासिंह पुन अपना स्थान पाने का प्रयास कर रहे हो। लेकिन प्रत्येक काम मे विवेक से तो काम लेना चाहिए ही। ऐसा लगता है कि ज्ञानीजी के विरुद्ध ये आरोप लगाते समय वे विवेक से काम लेना ही भूल गए। अब कोई उनके प्रधान मन्त्री राजीव गांधी से भी प्रश्न कर सकता है कि जब देश का राष्ट्रपति राष्ट्र विरोधी ताकतो को शह दे रहा था तो जानकारी होते भी आप मौन क्यो रहे ?

श्री रतनलालगग द्वारा श्री आर्यप्रिंटर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

रविवार

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

॥ ओ३म् ॥

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 रविवार 15 मई, 1988
अंक 9 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

ज्येष्ठ अमावस्या सवन 2045
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

महाराजाधिराज जोधपुर "सर" प्रतापसिंह ने हिन्दूधर्म, इस्लाम और ईसाइत से निराश होकर कैसे आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को अपना धर्मोपदेशक तथा गुरु स्वीकार किया ?

प्रस्तुतिः आचार्य दत्तात्रेय आर्य

यह लेख सर प्रतापसिंह की उस अप्राप्त जीवनी पर आधारित है जो उनके समकालीन और स्वामी जी के भक्त रावराजा रघुनाथसिंह के सुपुत्र तथा मेरे मित्र ठाकुर प्रेमसिंह, सेवा निवृत आर ए एस की कृपा से मुझे पढ़ने को मिली।—द आर्य

सर प्रतापसिंह की जीवन-गाथा के अंग्रेज लेखक आर बी वानवर्ट उनकी धार्मिक विचारधारा को अपने शब्दो मे प्रकट करते हैं—

"ये मेरे व्यक्तिगत विचार हैं जिनके लिए मैं स्वय उत्तरदायी हू।'

"प्रारम्भ से ही धर्म सम्बन्धी विषयो को सावधानी से छोडते (बदलते) रहने की मेरी आदत रही है। बाल्यकाल मे मैं अपना पर्याप्त समय रूढिवादी परम्परा मे पूजापाठ मे बिताया करता था। मैं रामायण, गीता और भागवत के पाठ सुना करता था, लेकिन इनमे किसी से मेरी आत्मा को सुख न मिला क्योकि कहानियो और नीति कथाओ के अतिरिक्त उनमे बहुत कम सार था। इतिहास बताता है कि हिन्दुओ मे मूर्तिपूजा और पुराण का प्रचलन बहुत थोड समय से हुआ—लगभग उन दिनो मे जिसे सचमुच "अन्धकार युग" कहा जा सकता है। उस काल मे हिन्दुओ ने अपने यथार्थ धर्म ग्रन्थो-वेदो एव विशुद्ध शास्त्रो का अध्ययम छोड दिया था और अज्ञान में पड-कर, अपने प्राचीन व विशुद्ध धर्म मे बहुत सी काल्पनिक धारणाओं तथा शाश्वत पूर्व रीति-रिवाजो का समा-वेश कर लिया था। परिणाम स्वरूप हिन्दूधर्म आज तक असगत कल्पनाओ का सग्रह व अन्धविश्वासो का बण्डल समझा जाना है, और इसकी असारता हास्य का विषय बन गई है।"

हिन्दूधर्म पर अनास्था के कारण—

"किन्तु इन परवर्ती कलेवर वृद्धि से विशुद्ध, हमारा सत्यधर्म, जिसकी शिक्षा केवल वेदो मे दी गई है, किसी विचारशील व्यक्ति का अनुमोदन प्राप्त करने मे पीछे नही रहते। गम्भीर अध्ययन और अनुसधान के बाद पश्चिम के दार्शनिको तथा विद्वानो ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि हिन्दुओ के प्राचीन धर्म-ग्रन्थ—वेदो तथा उपनिषदो मे उत्तम कोटि का ज्ञान भरा पडा है जो सबके द्वारा सम्मान करने के योग्य है। यथार्थरूप मे हिन्दू धर्म की वर्तमान स्थिति कुछ ऐसी है कि कोई शिक्षित व्यक्ति उसकी महत्ता पर विश्वास नही कर सकता और न ही इसका प्रामाण्य स्वीकार कर सकता है। बहुत काल तक मैंने अपने विश्वास को इस धर्म मे केन्द्रित रखा किन्तु अन्ततोगत्वा यह मुझे ऐसी भूल प्रतीत हुई जिसे छोडना ही श्रेयस्कर था। सावधानी से परीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो आएगा कि इस विशुद्ध वैदिक धर्म को भ्रष्ट करने वाले परकालीन ब्राह्मण ही थे।"

"श्रद्धा-भक्ति के लबादे मे वे अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए तथा बुरे रीति रिवाजो के निगूहित दुरितो को प्रचलित करने के लिये शास्त्रो मे मे स्वकल्पना प्रसूत नये-नये अशो के पैबन्द लगाते रहे। इस प्रकार हमारा प्राचीन धर्म अब इस अवस्था में है कि इसके बहुत से अश अवश्य त्याग देने चाहिए।

कुरान और बाईबिल से निराशा

अत इसे छोडकर बाद मे मैंने मुस्लिम धर्म ग्रन्थो का परीक्षण किया और कुरान के बहुत से अशो को कण्ठस्थ किया। यही नही मैंने कुछ कट्टरपथी मुसलमानो की सगति की ताकि उनके व्यावहारिक जीवन का कुछ प्रभाव मुझ पर पडे किन्तु उनका सम्प्रदाय भी मुझे सतुष्ट न कर सका।"

"अपने लक्ष्य मे अग्रसर होते हुए मैंने बाइबिल भी खोली, निश्चित ही, इसकी कहानियो और नीति-कथाओ ने मेरी कल्पना को प्रभावित किया, किन्तु मेरे दिल या दिमाग पर इसका ऐसा प्रभाव नही हुआ कि मैं इसे ईश्वर का शब्द मान सकता और जीसस का ईश्वर-पुत्र होना, उनका एक कन्या (मरियम) मे जन्म लेना-आदि ऐसी बाते थी जिनका मतलब मेरी समझ के परे था।"

"थोडे समय मे किसी भी धर्म ने मुझे सतुष्ट नही किया जिनका मैंने अध्ययन किया। मेरा विचार है—कि धर्म का सम्बन्ध शरीर से बहुत कम आत्मा से अधिक है किन्तु मतो के साधारणीकरण ने विश्वास की आधारशिला उन वस्तुओ पर रखी है जो ग्राह्य और मूतविषयक है और अच्छाई या बुराई की प्राप्ति के साधनरूप मे उसी वर्ग की वस्तुओ की सस्तुति की है। किन्तु सच्ची धार्मि-कता सत्य सिद्धान्तो, सदाचार और पवित्र आत्मा म निहित है।"

वेद और स्वामी दयानन्द का प्रभाव

"जब मेरा मन इन सन्देहो और अनिश्चयो से उद्विग्न था मुझे एक बार एक टाँग टूट जाने के कारण "EYPORE' मे दो माह के लिए अपने बिस्तर पर बधना पडा। उस समय वेदो को सुनने और उनमे क्या है? इसे जानने की इच्छा जाग्रत हुई। तदनुसार, समय बिताने के साधन रूप मे तथा अपने हृदय के अन्तर्द्वन्द्व को दूर करने की आशा मे-मैंने वेदो के मन्त्रो का पाठ और उनकी व्याख्या सुनना और उन पर ध्यान-पूर्वक विचार करना प्रारम्भ कर दिया। मैं सम्पूर्ण वेदो को पढ लेने या उनमे किसी रूप मे पारगत होने का दावा नही करता किन्तु उनसे, निश्चित रूप मे, मेरे क्लान्त हृदय पर बडा सुखद प्रभाव पडा इसलिए अन्त-तोगत्वा मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि आर्यों के प्राचीनतम और प्रतिष्ठित धर्म ग्रन्थ [illegible] मे धर्म के सम्बन्ध मे वास्तविक [illegible] सर्वांगरूपेण अन्तर्निहित है। दूसरे सभी धर्मग्रन्थो मे-अच्छाई-बुराई, सच-झूठ, सशयास्पद-रूप मे मिश्रित हैं।" "इसके कुछ समय बाद, जब मै जोधपुर मे था।- स्वामी दया-नन्द सरस्वती वहा आए और मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की मैं भी उनसे मिलने को उत्सुक था मैने उनकी बडी प्रशसा सुनी थी अत मैं अपने बडे भाई महाराजा यशवन्त सिंह के साथ उनसे मिलने गया। थोडे वार्तालाप के बाद ही हम लोगो को उनके बडप्पन का विश्वास हो गया।

ऋषि दयानन्द का भव्य व्यक्तित्व

आकृत्या निस्सन्देह वे प्राचीन ऋषियो की भाति थे उनकी वाणी सिंह के गर्जन सदृश थी ब्रह्मचर्य का तेज उनकी आँखो से दमकता था। अब तो सम्पूर्ण विश्व उनकी विस्तृत विद्या और महान् व्यक्तित्व से परिचित हो चुका है। मेरे विचार से यह भारत के लिए गौरव की बात है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती उसे दीर्घ सुप्तता की प्रगाढ निद्रा से उद्बुद्ध करने के लिए प्रकट हुए। वे भारत माँ के महानतम और सच्चे से सच्चे शुभ-चिन्तक थे जिन्होने जीवनभर केवल उसी के लिए कार्य किया।'

आर्यसमाज से आशाएँ

'मैं उनका अत्यधिक सम्मान करता हूँ, वस्तुत मैं उन्हे अपना गुरु मानता हूँ, क्योकि उन्होने मुझे बहुत सी

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान संपादक : रासासिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   फोन कार्या : 21010

सम्पादकीय

दयानन्द शोधपीठ खत्म नहीं की जाय
हरियाणा सरकार से विशेष अपील

आर्य समाज अजमेर ने अपनी एक विशाल सभा मे सर्वसम्मत से प्रस्ताव पारित कर हरियाणा तथा विशेषत मुख्यमन्त्री श्री देवीलाल तथा हरियाणा राज्य के शिक्षामन्त्री एव कुरुक्षत्र विश्वविद्यालय के उपकुलपति से पुरजोर शब्दो म अपील की हे कि विगत 15 वर्षो से सुस्थापित एव सुसचालित दयानन्द चेयर (वैदिक शोधपीठ) को समाप्त नही किया जाय तथा इसे पूर्ववत कायरत रहने दिया जाय। ' इस शोधपीठ मे पूर्व मे श्रीनिवास शास्त्री तथा आचार्य कपिलदेव शास्त्री जैसे प्रकाण्ड विद्वानो ने सेवाकार्य के दौरान महत्वपूर्ण शोधकार्य करते हुए कई अनमोल ग्रन्थ देश को अर्पित किये हैं अब यकायक किन्ही वेद व्यासपीठ के तथ पौराणिक सचालको द्वारा सरकार से इस चेयर को समाप्त कराने का कुत्सित प्रयास किया जा रहा है। **सम्भवत देश के महान समाज सुधारक वेदोद्धारक, राष्ट्रीयता के प्रथम उद्घोषक और सत्यान्वेषी महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचारो पर शोधकार्य करना पौराणिक प्रोफेसरों के गले नहीं उतर रहा होगा। इसी आधार पर सितम्बर 87 ई. के बाद अभी तक दयानन्द पीठ के प्रोफेसर पद को नहीं भरा गया है।** पजाब विश्वविद्यालय के अन्तगत चडीगढ मे दयानन्द शोधपीठ कायरत है इसी प्रकार राजस्थान मे दयानन्द कालेज अजमेर म भी शोधपीठ की स्थापना की गई है।

हरियाणा जैसे जाग्रत और आर्य समाज बहुल प्रदेश मे कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय मे **पूर्व स्थापित दयानन्द शोधपीठ का सचालित रहना नितान्त आवश्यक एव अनिवार्य है।** लाखो आर्यों और देशभक्तो की भावनायें जुडी हुई हैं। आर्य समाज का विश्वव्यापी, लोकोपकारी सगठन इस शोधपीठ को बन्द करना कभी बरदाश्त नही करेगा। देश की प्रबुद्ध जनता विशेषत आर्य समाजो, आर्य प्रतिनिधि सभाओ तथा आर्य नेताओ से प्रार्थना **है कि वह** हरियाणा सरकार तथा मुख्यमत्री श्री देवीलाल को पत्र लिखकर, प्रस्ताव प्रेषित कर यह आग्रह करे कि **कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के अन्तर्गत दयानन्द शोधपीठ को चालू रखा जाय, रिक्त प्रोफेसर के पदों को भरा जाय ताकि वेद और दयानन्द पर अनवरत शोधकार्य हो सके।** इससे हरियाणा सरकार की ही शोभा बढेगी। —रासासिह

आतंकवाद का "मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की"

देश मे सामान्य तौर पर और भारत की भुजा कहलाने वाले पजाब राज्य मे विशेषत गत पाच छ वर्षो के दौरान **आतकवाद की बीमारी दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती ही जा रही है।** ब्ल्यू स्टार ओपरेशन से लेकर सीमा की सीलबन्दी और रेड अलर्ट, बरनाला सरकार की बर्खास्तगी, राष्ट्रपति शासन राष्ट्रपति सुरक्षा अधिनियम, राम और रिबेरो के प्रयासो आदि समस्त क्रियाकलापो के अन्तिम चरण मे पुन अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर से पिछले कुछ दिनो से लगातार आतकवादियो द्वारा किलेबन्दी कर सुरक्षा बलो से गोलियो से मुकाबला करना और आतकवादियो द्वारा स्वर्ण मन्दिर से हाथ खडे कर आत्म समर्पण करने के लिए प्रस्तुत होना आदि तक भी अभी आतकवाद की आधी थमने का नाम ही नही ले रही है। मज बढता ही चला जा रहा है ज्यो 2 दवा की जा रही है। रोज 20-25 निर्दोष व्यक्ति बालक बूढे, जवान, कर्मचारी, सैनिक, मजदूर, माताए बहनें ए के 47 राइफलो से निकलन वाली गोलियो का शिकार हो रही हैं। निर्दोषो का खून बहाया जा रहा है। क्यो ? एक ही उत्तर है मर्ज सही नही पहचाना गया। इसलिए बढना जा रहा है। पत्तो को पानी दे रहे है जडो को नही।

पजाब की धरती रक्त रजित हो चुकी है। लोगो का जानमाल खतरे मे है। हजारो हिन्दू और कही कही देशभक्त सिक्ख भी सीमान्त क्षेत्रों के गावों को खाली कर अपने घरबार छोडकर अपने मासूम बीबी बच्चो को लेकर शहरो की ओर भाग गये हैं। उत्तरी भारत के विभिन्न शहरो मे शरणार्थियो का जैसा जीवन बसर कर दाने दाने को मोहताज हो रहे हैं, हिन्दू-सिख एकता और भाईचारे मे दरारें पडन लगी हैं और हमारी यह राजीव गाँधी की सरकार एक के बाद एक प्रयोग कर कडी कार्यवाही करने, कठोर कदम उठाने का कोरा स्तोत्र पाठ कर रही है।

मातृभूमि, देश की रक्षा तथा इन्सानों को बचाने से बढकर कोई मन्दिर, मस्जिद की पवित्रता नहीं हो सकती। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक समिति अथवा अकाली दल के विभिन्न धडों या विभिन्न जत्थेदारों और रागियो की ओर टुकुर-टुकुर ताकने या देखने से काम नहीं चलेगा। यदि सिखिस्तान या खालिस्तान के नारों को कुचलना है तो उनकी वाहियों को नेस्तनाबूद करना होगा अन्यथा पजाब के हर गांव मे रोज नये 2 आतकवादी सगठन कुकुरमुत्तो की तरह अपना सिर उठा रहे हैं। इनसे निपटने का एकमात्र उपाय पजाब को सेना के हवाले सौंपना है तथा इन पृथकतावादी आतकवादियों के पक्षों की बिना परवाह किये हुए सरकारी सरक्षण मे ग्रहण कर कड़ा पहरा बिठा देना है ताकि वे भगवान के तथाकथित मन्दिर आतकवादियों की शरणस्थली न बने। आतंकवादियों के नेताओं से कोई बात नहीं की जाय। राजनैतिक मोर्चेबन्दी-लाभ करने का चुनाव-खेल बन्द किया जाय। राष्ट्रहितों को सर्वोपरि मानकर कठोरतम कदम उठाकर एक बार निर्णायक कदम उठा लिया जाय। अब धैर्य का प्याला छलकने वाला है बहुत परीक्षण कर लिये। बन्द करो इन नाटकों को। समझ मे नही आता दयानन्द का आर्य समाज क्यो सो रहा है ? —रासासिह

उफ ! अनाथ होने की इतनी बड़ी सजा

सरकारी भोपू चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे हैं कि आजादी के चालीस वर्षों मे देश ने आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक रूप से बहुत उन्नति की है।

तथाकथित सुधारवादी सगठनो से जुडे लोग यह कहते हुए नही अघाते कि हमने स्वतत्र भारत के सभी नागरिको मे समानता के भाव को गहरे तक भर दिया है।

वास्तविकता कुछ और ही है। गत 7 मई को जयपुर के 'राज्य महिला सदन' ने 'नारी निकेतन' की 13 आवासनियो की शादी सम्पन्न कराई।

सूत्रो के अनुसार ये सभी लडकिया बचपन से ही किसी न किसी रूप से अनाथ थीं। इनको निकेतन ने ही पढाया और लिखाया था।

पढाया-लिखाया कितना ? इसको लेकर प्रशासन को सवालो के कठघरे में खडा किया जा सकता है। परन्तु हमारा यहा इस पर चर्चा करना अभीष्ट नही है।

समाचारो के अनुसार ये सभी लडकिया कक्षा छह तक पढ़ी हुई थी और इन सभी के दूल्हो के लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' था।

इसी के साथ ही एक खेदजनक बात (एक राष्ट्रीय पत्र का सवाददाता इसे एक मजेदार बात लिखता है—बहुत खूब !) यह है कि इन सभी दूल्हो की यह दूसरी शादी थी। इनकी पहली पत्निया मर चुकी हैं।

राज्य का समाज कल्याण विभाग कहता है कि हमारा उद्देश्य आवासनियो का किसी सुयोग्य एव कामकाजी युवक से विवाह करना था। अपने इस उद्देश्य मे विभाग पूर्ण सफल हुआ है, इसमे भी हमें सन्देह है।

प्राप्त जानकारी के अनुसार विवाह करने वाले सभी युवक निम्न से भी निम्नतर आय वर्ग से सम्बन्ध रखने वाले थे।

प्रत्यक्षदर्शियो के अनुसार इन युवको मे से अधिकाश देखने मे अधेड लगते थे। जबकि वे अपनी उम्र बहुत ही कम बता रहे थे (अनपढ व्यक्तियो की जन्मतिथि देखने के लिए कोई शैक्षिक प्रमाण पत्र तो हो सकता नही—सो चाहे जो बता दो)।

'नारी निकेतन' की इन आवासनियो के इन विवाहो से आज के समाज का जो चेहरा उभरता है, वह अत्यन्त ही घिनौना है।

इससे सिद्ध होता है आज भी हम रूढ़िवादिता ग्रस्त मान्यताओ से छुटकारा नहीं पा सके हैं। कक्षा छह उत्तीर्ण एक लडकी को एक अधेड विधुर अनपढ और निम्न स्तर का जीवन जीने वाले व्यक्ति के साथ मात्र इसलिए बधना पडता है कि वह अनाथ है (चुल्लू भर पानी मे डूब मरो—समाज-सुधार के ठेकेदारों)।

जब कोई योग्य युवक आवासनियों को जीवन सगिनी बनाने हेतु तैयार न हो तो उन्हें फिर विवश हो उपलब्ध किसी भी व्यक्ति से विवाह के लिए सहमत हो जाना पडेगा ही। आखिर वो भी तो सेक्स को ही विवाहित जीवन का मुख्य उद्देश्य मानने वाले समाज का ही एक हिस्सा हैं।

—वीरेन्द्र आर्य

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रचार कार्य

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा के आमन्त्रण पर स्वामी दयानन्द 'विदेह' ने प गोविन्द प्रसाद आर्य 'विद्यावारिधि' के साथ अप्रेल मास मे निम्नलिखित स्थानो पर वेद प्रचार का कार्य किया—कार्के के ब्लाक चौक और पशु चिकित्सा महाविद्यालय के पशुपतिनाथ मन्दिर, नमरा टोली बेलगढा गुमला, बाबरा लोहरदगा, निवनी ग्राम, नगर उन्टरी,, चपरी ग्राम, टाऊनशिप, बरसली, भवनाथपुर और कन्द्रावेर ग्राम के माता स्थान।

हजारीबाग जिले के केरेडारी प्रखण्ड के कन्डावेर ग्राम में तीन दिनो तक वेदमाता गायत्री यज्ञ एव आर्य सम्मेलन का भव्य आयोजन किया गया।

—दयाराम पोद्दार (मन्त्री)

शिमला में आर्य महासम्मेलन

आर्य प्रतिनिधि सभा हिमाचल प्रदेश की ओर से आर्य समाज लोअर बाजार शिमला मे दिनांक 10 से 12 जून तक एक "आर्य महासम्मेलन" का आयोजन किया जा रहा है जिसमे अनेक गणमान्य नेता महात्मा विद्वान और संगीतज्ञ पधार रहे हैं। 11 जून को एक भव्य शोभा यात्रा भी निकलेगी।

—भगवान देव 'चैतन्य' (मन्त्री)

गऊशाला जींद शहर की उल्लेखनीय उपलब्धियां

जींद शहर की गऊशाला का शुभारम्भ सन् 1894 को हुआ। यह हरियाणा प्रान्त की पुरानी गऊशालाओ मे से एक है। इसमे 600 गऊओ से ज्यादा के रहने का पूरा प्रबन्ध है। गत वर्ष भयकर सूखे के कारण गऊशाला के प्रबन्धको ने विशेष रूप से सक्रिय काम किया। आस-पास के इलाके की भूखी बीमार गऊओ को अपने यहा रखकर उनकी चारे द्वारा सर्दी-गर्मी से बचाव किया। उनकी पूरी सुरक्षा की व्यवस्था की गई। इस समय मे गऊशाला मे 1200 से ज्यादा गऊए हैं। इनके रखाव के लिए लाखो रुपये की लागत से बैरकें बनवाई। सूखी और हरे चारे का प्रबन्ध किया। इसके अलावा शहर मे इधर-उधर भटकती गऊओ के लिए नागरिको को गऊशाला के अधिकारियो ने प्रेरित करके उनके चारे का प्रबन्ध किया।

इस समय गऊशाला की देखरेख के लिए 50 कर्मचारी काम करते हैं। सब गऊओ का पानी का इन्तजाम इनकी बैरको मे ही है। उनके चारे के लिए हर रोज 12 बग्गी आती हैं। गऊशाला के पास 95 एकड भूमि है। 11 ट्यूब वैल, तीन ट्रैक्टर, दो बैल गाडिया और दो झोटा बुग्गी हैं। गऊशाला का बजट लगभग 8 लाख का होता है। गऊशाला के खर्चे की पूर्ति दुकानो और क्वार्टर्स के किराये आदि से होती है। अब कमेटी ने दो लाख की लागत से नई बैरकें बनवाने का निर्णय लिया है। गऊशाला का सारा स्थान पक्का है। जो बाकी है उसे पक्का किया जा रहा है। गऊशाला से दूध उचित दाम पर शहर के नागरिको को वितरित किया जाता है।

सरकार का गऊशाला को पूरा सहयोग मिलता रहता है। इस साल सूखे से निपटने के लिए हरियाणा सरकार ने भरपूर आर्थिक अनुदान दिया।

—छबील दास आर्य
(उपप्रधान)

—गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन मे 1 मई, 1988 से छात्रो का प्रवेश प्रारम्भ है। —मुख्याधिष्ठाता

—लक्ष्मीबाई इन्दुमति पवनाष्कर विद्यालय, पटेल भवन के पास, जयपुर रोड, अजमेर की नर्सरी कक्षाओ मे प्रवेश प्रारम्भ है। —संचालक

ऋषि दयानन्द से

—लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र'

समय दे रहा है, चुनौतियो पर चुनौतिया,
देखता हूँ—पिये जा रहे हैं लोग।
यह कैसी जिन्दगी है तेरे दीवानो की,
अपमानो मे जिये जा रहे हैं लोग।

तेरी समाधियो के आगन मे,
आधियो के नृत्य होते हैं।
आज धधक रहा है घर अपना,
वीर मरदाने पडे सोते हैं।

और अगिरा की गिरा पाकर भी
ओठ सिये जा रहे हैं लोग।
समय दे रहा है चुनौतियो पै चुनौतिया,
देखता हू—पिये जा रहे है लोग।

अपनी दक्षिणा की याद दिलाते हैं गुरु विरजानद
चार लोगो का समर्पण कहाँ गया।
कुछ तो कहो अपनी वाणी से—
दहकती सासो का क्रन्दन कहाँ गया।

चुप खडे हैं आप गुरु सम्मुख,
दोष पर दोष दिये जा रहे हैं लोग।
समय दे रहा है चुनौतिया पर चुनौतिया,
देखता हूँ—पिये जा रहे है लोग।

प्रात लाने को रात भर जागे,
शिव खोजने को घर से भागे थे।
रात गयी कहा है ? अब तक है,
भोग जिसके लिये सब त्यागे थे,

वेदमाता की कोख रोती है,
वार पर वार किये जा रहे हैं लोग।
समय दे रहा है चुनौतिया पर चुनौतिया,
देखता हू—पिये जा रहे है लोग।

किसलिये, पिये थे, विष प्याले,
यह तो बताओ ऋषि हमको,
डसे इस लिया है कृतघ्नता की नागिन ने,
फिर से तुम जगाओ, ऋषि हमको।

तुम्हारे बलिदानो का कर्ज कितना है,
इसे शीश पर ढोये लिये जा रहे हैं लोग।
समय दे रहा है चुनौतियो पर चुनौनिया,
देखता हू—पिये जा रहे हैं लोग।

तुमने तरुणायी जिस पर होमी थी,
वह कौन लब्धि थी, जिसका सगर था।
वह कौन प्राप्ति थी जिसे पाने को,
तुम्हारा मुक्ति-सुख निछावर था।

तुम बताओ इसका है उत्तर क्या ?
प्रश्न पर प्रश्न किये जा रहे है लोग।
समय दे रहा है चुनौतियो पर चुनौतिया,
देखता हू—पिये जा रहे हैं लोग।

इस सवाल ने फिर सिर उठाया है,
'समाज' श्मशान है कि बगीचा है।
जिसके सपनो मे आप खोये थे
जिसे अपने लहू से सीचा है।

कैसा पहरा चौकीदारो का,
बाग, बरबाद किये जा रहे है लोग।
समय दे रहा है चुनौतियो पर चुनौतिया,
देखता हू— पिये जा रहे है लोग।

(शेष पृष्ठ 1 का)

महाराजाधिराज जोधपुर ..

अच्छी चीजें पढ़ाई। बाद मे उन्होने "आर्यसमाज" नामक एक सगठन की स्थापना की मैं इसमे सम्मिलित हुआ जोधपुर मे एक समाज की स्थापना की। मेरा विश्वास है कि यह समाज भारत की प्रगति के लिए एक शक्तिशाली उपाय के रूप मे काम करेगा। इसके द्वारा बहुत कम समय मे जो काम हुए हैं और जो सुधार हुआ है, उनसे आशा जगी है कि भारत को उसकी वर्तमान अधोगति से उबारने के लिए इसका महत्तम योगदान होगा।"

"स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाएँ हम दोना भाइयो के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुई।"

मांस भक्षण पर मतभेद

"सर प्रतापसिंह और उनके बड़े भाई महाराजा यशवन्त सिंह, जो उस समय जोधपुर रियासत के शासक थे, को यह सन्देह था कि एक क्षत्रिय होने के कारण, आखेट एव मासभक्षण की परम्परा वाले क्या वे आर्यसमाज के सदस्य हो सकते हैं। जैसा कि सर प्रतापसिंह ने स्वय स्पष्ट किया है कि यद्यपि स्वामी जी मासभक्षण के पक्षधर नहीं थे किन्तु उन्हे उन लोगो के आर्यसमाज मे सम्मिलित होने मे कोई एतराज नहीं था।"

"इसमे सन्देह नहीं कि "सर" प्रतापसिंह स्वय इस विचार के थे कि बहादुर और युद्धप्रिय जातियाँ मांसाहारी नहीं। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम सस्करण के कुछ विवादास्पद अंशो का उद्धरण देत हुए जो कि स्वामी जी की अनुमति के बिना प्रक्षिप्त कर दिये गये थे उन्होंने तो यहा तक कहा कि जैनमत के (अहिंसा) के सिद्धान्त ने भारतवासियो को कमजोर और आत्महीन बना दिया। 'सर" प्रतापसिंह इस तथ्य की पुष्टि करते हैं 'भारत की वर्तमान परिस्थितियो मे वे इसके सहयोगी समर्थक नहीं हो सकते। फिर भी उन्होंने उदयपुर के महाराणा को परोपकारिणी का अध्यक्ष (प्रधान) नियुक्त किया तथा महाराजा यशवन्त सिंह एव स्वय (सर प्रतापसिंह) आर्यसमाज के सदस्य बन गये।"

महात्मा हसराज को श्रद्धाजलि

'डी ए वी आन्दोलन के सचालक दिवगत महात्मा हसराज को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए सर" प्रतापसिंह कहते हैं कि—

'जो काय स्वामी जी के द्वारा आरम्भ किया गया था, उनकी मृत्यु के बाद उसे (कम से कम उसका शिक्षा और धर्मोपदेश का अग) दयानन्द-ऐंग्लो-वैदिक कालिज लाहौर के प्राचार्य लाल हसराज बी ए ने अपने हाथो मे लिया और सभी इसे भली-भाँति जानते हैं कि वे इसे किस प्रकार अब तक वहन करते रहे हैं। स्वामी जी की स्मृति मे 20 वर्ष तक लाहौर मे एक कालिज स्थापित किया गया, अप्रेल 1905 में उसकी इमारत का शिलान्यास करने का सौभाग्य मुझे मिला, लगभग 20 वर्षों तक ला हसराज बिना किसी वेतन के इस कालेज की सेवा करते रहे, और यह सर्वविदित है कि इसकी सेवा के लिए उन्होने अपना जीवन अर्पित कर दिया। यह प्रसन्नता का विषय है कि उनके बहुत से शिष्य उनके पुनीत मार्ग का अनुसरण करने को तत्पर हैं। तीरा से लौटते हुए मैंने प्रथम बार कालिज को देखा था, पुन 1905 मे शिलान्यास के समय इसका अध्यापकों से निरीक्षण किया।

मेरी दृष्टि मे हिन्दुओं के शैक्षणिक विकास के लिए भारत में यह एक विशिष्ट सस्था है और इससे और अधिक अच्छाई की आशा की जा सकती है।"

जीवन-गाथा लेखक निम्नलिखित निष्कर्षों के साथ "सर" प्रतापसिंह के "धार्मिक विचारो" के इस अध्याय का उपसहार करता है —

"सन् 1916 मे 'सर" प्रतापसिंह ने इन विचारो को प्रकट किया, इसमे आश्चर्य नहीं कि उन्होने खुले मस्तिष्क से परिश्रम पूर्वक धर्म के उस स्वरूप की खोज की हो जो उनकी आत्मा को शान्ति ला सके।"

आर्य समाज के प्रति उनका स्याग उन लोगो के प्रति उनकी अव्यभिचरित भक्ति का ज्वलन्त दृष्टान्त है जिनसे कभी उन्होने मित्रता की थी। राजनीतिक क्रिया-कलाप जिनमे कि समाज के कुछ सदस्य सलग्न थे—उनको घृणास्पद लगते थे और किसी भी रूप मे वे उनका समर्थन करने वाले अन्तिम व्यक्ति होते किन्तु साथ ही किसी भी मूल्य पर वे उस समाज से सम्बन्ध विच्छेद करना नही चाहते थे जिसके धार्मिक पक्ष से उन्हे पूर्ण सहानुभूति थी।'

"जीवन-गाथा" लेखक के द्वारा उल्लेखित एक महत्वपूर्ण घटना

"सर" प्रतापसिंह के जीवन मे घटित एक महत्वपूर्ण घटना से यह प्रकट होता है कि वे उस समय प्रचलित जाति-ससाकर्य (कास्ट टेबूस) से सम्बद्ध स्वामी दयानन्द के विचारो से किस सीमा तक प्रभावित थे। सन् 1897 मे जोधपुर मे एक अंग्रेज जे डी कैंडेल (सैनिक) टाईफाइड से मर गया वहा केवल तीन अंग्रेज और थे जो अर्थी को उठा सकते थे क्योंकि कोई सवर्ण हिन्दू जनाजे को नहीं छू सकता था, इस कठिनाई मे सैनिक के निराश पिता जी.टी कैंडेल सी सी ने "सर" प्रतापसिंह को सुझाव दिया कि वे एक भगी को बुला लें क्योकि उसकी कोई जाति नही जिससे छूत होने का डर हो। किन्तु लोगो के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब अर्थी उठाने वालों मे चतुर्थ सर प्रताप स्वय बन गये पर जब महाराजा को जातिच्युत करने वालों इस अनहोनी पर कुछ ब्राह्मण क्रोधान्ध हुए तो "सर" प्रतापसिंह ने उन्हें यह कहते हुए डांट लगाई कि ब्राह्मण और राजपूत सभी इसी मिट्टी मे मिल जाएंगे और सभी सहृदय जनो की जाति एक है।"

"सर' हेनरी न्यूबोल्ट ने अपने- "बाल्क ऑफ सर प्रतापसिंह"—मे इस घटना का सुन्दर वर्णन किया है।

(मूल अंग्रेजी का हिन्दी अनुवाद. डॉ भवानीलाल भारतीय)

पत्र बोलते हैं....

निर्णय को लागू कौन करेगा ?

महोदय,

आर्य पुर्नगठन की प्रतीक्षा रहती है। घण्टे दो घण्टे लिए कुछ पठनार्थ मिल जाता है। इन पृष्ठों मे दर्द छिपा हुआ मिलता है उससे ऐसा आभास मिलता है कि अभी भी कुछ लोग तो हैं जिनको आर्यसमाज तथा देश का दु ख दुखी कर रहा है।

30-4-88 के अक मे 'आर्यसमाज के सम्बन्ध मे (सार्वदेशिक) सभा का दूरगामी निर्णय' लेख पढ़ा। पढ़ कर गालिब का निम्न शेर याद आया—

हम को मालूम है जन्नत की हकीकत लेकिन
दिल के बहलाने को 'गालिब' यह खयाल अच्छा है

इस निर्णय को लागू कौन करेगा ? इस निर्णय को लागू करने मे सभा कुछ करेगी ? कदापि नहीं। किन बातो से प्रेरित होकर यह निर्णय लिया गया है। इस बात को केवल प्रभु ही जानते हो। जो सभासद और आर्य सभासद होंगे, उनका निर्णय कौन करेगा ? जिस समाज में केवल झूठ का बोल बाला है वहां क्या आशा की जा सकती है ? आप स्वय कितने ही लोगो के सम्पर्क में आते होंगे। क्या आपने कभी पता करने का कष्ट किया है कि कितने आर्यसमाजी अपनी आय का शतांश आर्यसमाज को देते हैं ? हममें से कितने ऐसे हैं जो दस नियमो को मान कर तदनुसार आचरण करने का प्रयत्न करते हैं।

जी तो हमारा भी चाहता है कि ऐसे समाज से अलग हो जाए परन्तु ऋषि दयानन्द का इतना ऋण है कि उस को हम उतार ही नही सकते। जो कुछ कर पाते हैं उसको छोड़ पूर्ण रूपेण कृतघ्नो की श्रेणी मे सम्मिलित नहीं होना चाहते। स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती जी ने घोषणा तो कर दी (केवल अक्षुण्ण क्षुब्ध होकर) परन्तु क्या वे आर्यसमाज से पृथक हो सकते हैं ? लेखन कार्य कर रहे हैं और करते रहेंगे। किसका ? आर्यसमाज का। तो क्या वास्तव मे अलग हो पाए हैं ? नहीं। वे अलग हो ही नही सकते।

जरूरत है इस बात की कि आर्यसमाज रूपी भवन मे जो गली-सड़ी ईंटें (धूर्त लोग) हैं उन सहित सारे भवन को गिराकर केवल पूरी तरह पकी हुई ईंटें छांट कर पुन इस भवन का निर्माण करने का प्रयत्न किया जाय। कैसे किया जाय ? यह सोचना आप जैसे प्रबुद्ध व्यक्तियों काम है।

—रघुबीर सिंह आर्य,
प्रधान, आर्यसमाज, बहादुरगढ़ (हरियाणा)

श्री रतनलालगर्ग द्वारा श्री आर्यप्रिंटर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

DUPLICATE

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

॥ ओ३म् ॥

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 सोमवार 30 मई, 1988
अंक 10 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

प्रथम ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्दशी स 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

ईसाई मिशनरी और धर्मान्तरण

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

टाइम्स आफ इंडिया के 23 और 24 मई, 1988 के अंको मे श्री रामस्वरूप का 'Proselytization As It Is Pratised' नामक लेख धारावाही रूप से प्रकाशित हुआ है। इसमे लेखक ने ईसाई मिशनरियो के धर्मान्तरण कराने के तरीकों तथा उसके धार्मिक औचित्य पर चर्चा की है।

लेखक ने यह लेख मिशन की पुस्तिका (14,15 मार्च) मे प्रकाशित श्री कुवलिला चेन्डी के विचारो की प्रतिक्रिया स्वरूप लिखा है। श्री चेन्डी ने धर्मान्तरण के लिए किए जाने वाले कार्य को अपनी दृष्टि से उचित एव मान्य ठहराया है। वे इसकी तुलना राजनैतिक दलो के लोगों के द्वारा किए गए दल-बदल से करते हैं। जबकि इसके प्रत्युत्तर मे श्री रामस्वरूप का कहना है कि धर्मान्तरण का कार्य ईसाइयत मान्यता धर्म अथवा व्यवहार में अमान्य है। यहा तक कि ईसाई धर्म की सर्वोच्च धार्मिक सस्था चर्च द्वारा भी इसे मान्यता नही दी गई है।

अपने लेख में लेखक महोदय आगे लिखते है कि किसी भी पथ-सम्प्रदाय का वास्तविक रूप तब देखने मे आता है जब उन्हे सत्ता मे भागीदारी मिलती है। वे इस सदभ मे आगे लिखते हैं कि जैसे ही ईसाई मत के लोग शासक बने तो उन्होने विधर्मियो के धार्मिक स्थानो को नष्ट कर दिया और उन स्थानो की आय को गिरजाघरो को दे दिया।

लेखक थीयोडोसीयान 380 ए डी कोड का हवाला देता है हम आदेश करते हैं कि विधर्मियो के समस्त देवालय पूजास्थल यदि अभी भी बचे हो तत्काल समाप्त कर दिए जाए।

श्री रामस्वरूप के अनुसार ऐसा ही अभियान यूरोप के उत्तर म भी चलाया गया था। और उस दौरान ईसाई पादरियो साधुओ ने जो ग्रट ब्रिटेन और जमनी के थे अन्य धर्मों से सम्बन्ध रखने वाले देवालयो व धार्मिक स्थानो को नेस्तनाबूद कर दिया। तेरहवी शताब्दी मे लिटकोनिया व ट्यूरोनिक म धार्मिक तथा फौजी सरदारो द्वारा बलपूवक धर्मान्तरण कराया गया।

लेखक आगे बताता है कि किस प्रकार मध्ययुगीन काल मे चच ने शिक्षा दी कि पोप पृथ्वी पर भगवान है इसलिए पृथ्वी का समस्त राज्य एव अधिपत्य उसी का है। उस मध्य युग मे चर्च की मान्यता थी विधर्मियो (ईसाइयत के अतिरिक्त) के देशो-स्थानो पर एकमात्र अधिकार उन पर आक्रमण करना जीतना उन्हें अपने अधीन रखना हमारा (ईसाई) धम है। उस युग मे किस प्रकार बलपूवक अन्य धर्मावलम्बियो का धर्मान्तरण किया गया इसकी बड़ी लोमहषक कहानी है। लेखक इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए एक-दो उदाहरण भी पश करता है।

मैक्सिको के प्रथम बिशप जुआन डी जुमैरेज ने सन 1553 मे प्रकाशित अपने लेख मे यह दावा किया था कि उसने स्वय 2000 मूर्तिया एव 500 देवालयो स अधिक को नष्ट-भ्रष्ट किया जो कि विधर्मियो के थ। द्वितीय कोचीन से से ट जेवीयर द्वारा पुतगाल के बादशाह के नाम भेजे एक सदेश का उद्धरण दिया है जिसमे जेवीयर ने लिखा था आपको स्पष्ट व प्रभावशाली आदेश देने चाहिए कि जो मेरे राज्य मे रहत है यदि उन्हे बचना है जीवित रहना है तो वे तत्काल धर्मान्तरण (ईसाई बनें) कर लें।

उपयु क्त उदाहरणा के आधार पर श्री रामस्वरूप श्री चेन्डी की मान्यता कि धर्मान्तरण राजनीतिक दल बदल जैसा है को ईसाइयत क इतिहास के आधार पर अमान्य करार देते हैं। लेखक महोदय धर्मान्तरण के इस काय को ईसाईयो की हठधर्मिता और कट्टरपथता एव ईसा मसीह की शिक्षाओ को स्वीकार न करना कहता है। इस सन्भ मे लेखक ईसाई धम के गभीर अध्येता महात्मा गाधी के निम्न विचारा को भी अपने समथन मे प्रस्तुत करता है यह काय (धर्मान्तरण का) मृत्युकारक भयकर तथा सत्य की जड को चट कर जान वाला है। यह हठधर्मिता सनकीपन एव द्विगुणित झूठ है।

धर्मान्तरण करने म किसी की भी चाह या भूख नही होती न ही इसका कोई आध्यात्मिक पक्ष है। ऐसी मिशनरिया किसा सामान के व्यापारी के सदृश है जिनका उद्देश्य मात्र अपना ही भला करना होता है। यदि मेरे मे शक्ति होती तो मैं ऐसे धर्मान्तरण को तत्काल टोक देता।

श्री रामस्वरूप ने अपने लेख मे

(शष पृष्ठ 4 पर)

धर्मान्तरण कराने के प्रयास का ताजा उदाहरण

गत दिनो पर्वतीय प्रदेश लद्दाख के 54 बच्चो को स्टीफन नाम का एक पादरी अच्छी शिक्षा, मुफ्त भोजन, कपडे देने का लालच देकर श्रीनगर ले गया। उसने बच्चों के मां-बाप को यह लालच भी दिया था कि वह उन्हें डॉक्टर, इजीनियर बनाएगा और कहते हुए उसने एक कागज पर अभिभावकों के हस्ताक्षर या अंगूठे के निशान ले लिए थे। क्या लिखा था इन कागजो मे जिसे कानूनी भाषा मे समझौता पत्र का नाम दिया गया ? यह समझौता पत्र वस्तुत ईसाई मिशनरियों की धोखाधडी जालसाजी और कपट व्यवहार का ही नहीं बल्कि असमानता का भी प्रमाण कहा जा रहा है। इस समझौते मे यह शर्त है कि मां-बाप अपने ही बच्चों से साल भर में एक बार आकर किसी पादरी की उपस्थिति मे ही मिल सकगे और 18 वष तक बच्चे अपने घर नही आ सकेंगे।

यह सहज कल्पना की जा सकती है 18 वष के बाद ये बच्चे घर लौटेंगे है तो वे पूरी तरह से ईसाई बन चुके होते हैं। 54 परिवारो में ये ईसाई प्रचारक लद्दाख की बौद्ध सस्कृति और व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने के लिए पर्याप्त होते हैं।

प्रसन्नता की बात है कि ईसाई मिशनरियो के इस षडयन्त्र को लद्दाख के बौद्धो के जागरूक एव जुझारू सगठन बौद्ध सघ ने जनान्दोलन कर विफल कर दिया और केन्द्र सरकार के सहयोग से सभी 54 बच्चों को मिशनरियो के चगुल से मुक्त करा लिया। (पाचजन्य के सौजन्य से)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान संपादक रामसिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   फोन कार्या : 21010

सम्पादकीय–

हम सिद्धान्तवादी एवं कर्तव्यनिष्ठ बनें

एक समय था कि आर्यसमाज समस्त राष्ट्र और विश्व के मस्तिष्क पर छाया हुआ था। बुद्धिजीवियो सुधारवादियो एव प्रगतिशील कहे जाने वाले तबको मे वह चर्चा का विषय बना रहता था। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन पर भी उसका अमिट प्रभाव था। जहा-2 आर्यसमाज था वहा-2 जीवन धडकता था। एक क्रान्ति रहती थी। एक चेतना का निवास होता था। अधविश्वास सामाजिक कुरीतिया, कुव्यसन और दानवता वहां पास फटकने का भी साहस नही कर सकते थे।

परन्तु आज सख्यात्मक दृष्टि से आर्य समाजों, आर्य समाज के स्कूल गुरुकुलो एव आर्य समाजियो की कहीं अधिक सख्या होने के बावजूद भी आर्य समाज का वह प्रचण्ड प्रभाव और तेजस्विता एव ओजमय स्वरूप राष्ट्रीय जनजीवन मे नहीं झलकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द द्वारा सस्थापित और स्वामी श्रद्धानन्द एव लाला लाजपत राय एव प रामप्रसाद बिस्मिल द्वारा पोषित आर्य समाज अपने मन्दिरो भवनो विद्यालयो की चहार दीवारी तक ही सीमित हो गया है। कहा जाता था कि पजाब मे आर्य समाज की बहुत शक्ति है परन्तु विगत चार-पांच वर्षों से रक्तरजित एव गोलियो की आवाज से गु जायमान हत्याओं की शरणस्थली एव आतकवादियो एव देशद्रोही तत्वो की नाम क्रीडास्थली पजाब मे आर्यसमाज कछुआ धर्म की अथवा शुतुर्मु ग धर्म' की प्रवृत्ति को अपनाकर सर्वथा असहाय, निरुपाय होकर केवल अखबारी घोषणायें करके एक निर्जीव ढाचा मात्र रह गया है। उसकी क्षात्रत्व एव ब्रह्मत्व की शक्ति लुप्तप्राय हो गई है। न्यूनाधिक यही स्थिति देश के आम राज्यो मे भी रह गई है।

प्रतिनिधि सभाओ के आपसी विवाद, अधिकारो के लिये पदलिप्सा की होड कुर्सियो की छीना झपटी, सस्थाओ के माध्यम से अपनी आजीविका का निर्वाह करने, कोर्टों मे चल रहे चुनावी झगडे उपदेशको एव विद्वानो की उपेक्षा, आर्यवीर दलो की समाप्त प्राय स्थिति, नई पीढी का अभाव प्रचार की नवीनतम तकनीकों का अभाव, नये विद्वानो एव उपदेशको की कमी बढता हुआ व्यक्तिवाद एव स्वार्थ परायणता आदि सस्थाओ तथा सस्थाओ के लिये सरकारी निर्भरता एव येन केन प्रकारेण उनके माध्यम से दोहन प्रवृत्ति ने आर्य समाज रूपी वृक्ष को खोखला एव जर्जरित कर दिया है। परिणाम स्वरूप आर्य समाज रूपी आग की उस भट्टी पर राख आ गई है और वह यत्रतत्र धुआ उत्पन्न करने लग गई है।

अत आज इस बात की परम आवश्यकता है कि आर्य समाज पुन अपना पूर्व तेजस्वी एव प्रामाणिक स्वरूप प्राप्त करे। आर्यसमाज की विचारधारा मे विश्वास रखने वाले आर्यजन सुदृढ सिद्धान्त निष्ठ एव कर्तव्यपरायण बनें। सेवा की भावना को बलवती बनायें, सेवा कार्य को प्रोत्साहन दें। आर्य समाज के विद्वानो, उपदेशको तथा सन्यासियो एव प्रचारको का महत्व बढे। कथनी और करनी मे तनिक भी अन्तर नहीं रहे। जिन सिद्धान्तो, नियमो की हम मचो से उदघोषणाए करते हैं उनके प्रति हममें दृढ आस्था हो। उन सिद्धान्तो को हम अपने जीवन मे चरितार्थ कर दिखा सकें। खण्डन मण्डन एव स्वाध्याय का आधार पुन ग्रहण करे तथा पाखण्ड खण्डिनी पताका फहराने का सकल्प करें। "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिये" के मूलमत्र को जीवन मे मनसा, वाचा, कर्मणा धारण कर दृढ प्रतिज्ञ होकर कार्य क्षेत्र मे उतरना चाहिये तथा अपनी प्रामाणिकता विश्वसनीयता एव व्यापकता की स्थिति को पुन प्राप्त करने को सचेष्ट रहना चाहिये। आइये आप और हम सब सकल्प करें कि कृण्वन्तो स्वयमार्यम अर्थात पहले स्वय आर्य बनें और फिर विश्व को आर्य बनावें।

—रतनसिंह

एक और हुतात्मा दिवंगत

महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तो के प्रति अनन्य निष्ठावान तथा अंग्रेजी शिक्षादीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी आर्यसमाज के सम्पर्क में आने पर सदा के लिये आर्य समाज के रग मे रग जाने वाले और अपने को समर्पित भाव से आर्यसमाज के कार्यों को सौंप देने वाले महान कर्मयोगी और जात पांत तोडक मण्डल के संस्थापक के रूप मे जातिवाद के जहर के विरुद्ध जीवन भर जिहाद छेडने वाले सतराम शर्मा बी ए 101 वर्ष की आयु में दिवंगत हो गये। वे सर्वात्मना आर्य समाज को अर्पित थे। उच्च कोटि के विद्वान, महान लेखक तथा कर्तव्यनिष्ठ 'हुतात्मा' पुरुष थे। "आर्यपुनर्गठन" ऐसे महापुरुष के निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त करता है तथा परमपिता परमात्मा से उनकी दिवंगत आत्मा को चिर शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना करता है।

—रतनसिंह

राजनैतिक दल और जातिवाद

देश की प्राय प्रत्येक राजनीतिक पार्टी अपने को प्रखर जातिवाद विरोधी होने का ढिंढोरा पीटती है। इन सभी पार्टियो के नेता सार्वजनिक मंचो पर जातिवाद के विरुद्ध नारा भी बुलन्द करते हैं। लेकिन वास्तविकता ये है कि जात-पांत जैसी महाविनाशकारी और अमानवीय कुप्रथा के सबसे बडे सरक्षक व प्रसारक ये राजनैतिक दल और उनके नेता ही हैं।

गांधी जी की उक्ति-अस्पृश्यता मानवता के प्रति अक्षम्य अपराध है की दुहाई देने वाले कांग्रेसी हो या फिर 'हिन्दू समानता' का नारा बुलन्द करने वाले 'भारतीय जनता पार्टी' के लोग, सभी के सभी जात-पांत की विषदायी बेल को सींचने वाले हैं। लोकदल के देवीलाल और जनता पार्टी के अजितसिंह जैसे लोगो के बारे में तो यह सर्वविदित ही है कि ये शुद्ध जातिगत आधार पर राजनीति करने वाले लोग हैं।

अपने को धर्मनिरपेक्ष कहने और जात-पात के भाव से मुक्त मानने वाले तथाकथित नेता लोग अपनी जातियों के विभिन्न आयोजनों-उत्सवो में स्वयं सम्मिलित होते हैं।

ये लोग छद्म रूप से अपने जाति सगठनो मे भी हस्तक्षेप रखते हैं। मेरी जानकारी मे ऐसे अनेक राजनीतिक नेताओ के नाम हैं जो जातीय सगठनो से पूर्णतया सम्बद्ध हैं और उनके सहारे अपनी राजनीतिक दुकान चलाते हैं।

जातीय सगठनो से राजनीतिज्ञो के सम्बन्ध रखने की बात कोई नई नहीं है। जानकार लोगों को यह बताने की आवश्यकता नही है कि देश के दिवगत भूतपूर्व प्रधानमन्त्री प जवाहरलाल नेहरू जैसे लोग भी कश्मीरी ब्राह्मणो के सगठन की सभाओ मे प्राय सम्मिलित हुआ करते थे। यही कारण है कि लोकदल नेता स्व श्री चरणसिंह के इस सुझाव को कि 'सरकारी कानून द्वारा सरकारी कर्मचारियो व अधिकारियो के लिए अन्तर्जातीय विवाह अनिवार्य कर दें', उन्होंने अव्यावहारिक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मामला बताकर अस्वीकार कर दिया था।

जातिवाद का घिनौना रूप लोकसभा व विधान सभा के चुनावो मे देखने को मिलता है। इसमे जातिगत आधार पर उम्मीदवारो का चयन किया जाता है जिस क्षेत्र मे जिस जाति की अधिक जनसख्या होती है, उस क्षेत्र से प्रत्येक राजनीतिक पार्टी उसी जाति के उम्मीदवार का चयन करती है। जातीय समीकरणों के अनुसार जातीय नेताओ को अपनी जाति के मतदाताओं को प्रभावित कराने के लिए प्रचार सभाएं कराई जाती हैं। क्या जातिवाद का सहारा लेकर जीतने वाले व्यक्तियो से जाति मुक्त समाज के निर्माण मे भूमिका के निर्वहन की आशा की जा सकती है? कदापि नहीं।

यह भी एक विडम्बना है कि अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए जातिवाद का आलम्बन करने के लोभ का सवरण आर्यसमाज के कतिपय नेता भी नहीं कर पाए हैं। मेरी जानकारी मे ऐसे अनेक आर्य नेताओं के नाम हैं, जिन्होने मात्र एक राज्यसभा, लोकसभा या विधानसभा की सीट की खातिर आर्यसमाज के सिद्धान्तो की बलि देकर जातिवाद का सहारा लिया। अपने आपको आर्यसमाज के शिखर नेता कहने वाले लोग भी जब जातीय नामो पर आधारित पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशनो व जातीय सगठनो से जुडते हैं तो बडा दु ख होता है। आखिर ऐसे लोगों को ऋषि द्रोही न कहा जाए तो और क्या कहा जाए?

आचार्य दत्तात्रेय आर्य के सयोजकत्व मे गठित उपसमिति की रिपोर्ट की सिफारिश कि 'आर्यसमाज के सदस्य या अधिकारी द्वारा जाति सूचक शब्दो का अपने नाम के साथ प्रयोग न किया जाय', पर जब सार्वदेशिक सभा यह कहकर कि 'यह प्रेरणा का विषय है और सभा पहले से ही ऐसी प्रेरणा आर्यों को देते रही है', इस विषय की महत्ता को कम करती है तो बडा मानसिक आघात लगता है। और इससे अधिक पीडा का अनुभव तब होता है कि जब कि उपसमिति के सदस्यों के सहित अन्य प्रमुख आर्य विचारकों के द्वारा अत्यन्त श्रम से तैयार की गई रिपोर्ट के महत्वपूर्ण सुझावों व सिफारिशों को आर्य जनता व सार्वदेशिक सभा का अपेक्षित समर्थन नहीं मिल पाता है।

—[illegible]

क्या महमूद गजनी धर्मनिरपेक्ष था ?

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

हाल ही में, भारतीय दूरदर्शन द्वारा दिनांक 18 व 25 मई, 88 को प्रदर्शित खुसरो धारावाहिक कहानी के अन्तर्गत जानबूझ कर महमूद गजनी के भारत पर आक्रमणो का मिथ्या वर्णन करके पूर्ण रूपेण धर्मनिरपेक्ष बताया गया है। यह भी अमीर खुसरो के जीवन से असम्बधित और तालमेल नही खाता। यह तो सर्वमान्य एव विश्व प्रसिद्ध तथ्य है कि मुस्लिम काल में सैनिक आक्रमणो का प्रथम एव अन्तिम उद्देश्य कट्टर व धार्मिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए ही था। धन का प्रलोभन एव क्षेत्रीय विजय-राज्य प्राप्त करना तो सहयोगी कारण थे। यही कारण है कि श्री मोहम्मद इकबाल ने तो स्पष्ट व अविच्छिन्न रूप से एक लम्बी कविता "शिकवा" मे दावा किया है कि इस्लामिक आक्रमण का आधार न तो धन की ललक-लालच और ना ही भारतीय जमीन को हथियाना था। उनका आधारभूत उद्देश्य काफिरो (हिन्दू) को इस्लाम धर्म मे परिवर्तन करना, साथ ही काफिरो के मन्दिर, देवालय—मूर्तियो को विनष्ट करना था। यही तो उन्होंने (श्री इकबाल) अपनी कविता मे कहा है, "हमसे पहले था अजब तेरे जहाँ का मन्जर, कहीं व मसजुद के पठार कहीं न मैबूद सफर। कौम अपनी जो जर औ माल और जहाँन पर मरती, बुत फरोशी के अवाइज बुत शिकनी क्यों करती। नक्शा तौहीद का हर दिल पे बिठाया हमने, जरे खंजर भी ये पैगाम सुनाया हमने।"

स्पष्टत, मुस्लिम आक्रमणकारियो ने तो स्वय ही अपनी ऊची आवाज से प्रोत्साहनपूर्वक उक्त घोषणा की थी जैसाकि इस्लाम धर्म के प्राधिकारिक विचारक श्री इकबाल आदि ने कहा है। यह बात धर्म निरपेक्षता की जो बाकी थैसे महमूद के सम्बन्ध मे प्रेरणास्पद करते हैं, न्यायसगत नही बैठती।

भारतीय दूरदर्शन के प्रचारको का दुष्प्रयत्न, जिससे मानव का मस्तिष्क विकृत हो जाता है, अत्यन्त हास्यास्पद एव बेहूदा है। और यह बात उनके द्वारा बताये गए कारणो से स्पष्ट स्वयमेव हो जाती है। उक्त विषय मे यह सिद्ध किया गया है कि महमूद ने तो खलीफा एव मुस्लिम प्रशासको को भी प्रताड़ित किया था और एक हिन्दू से मुसलमान बनाये गये व्यक्ति को भी सेना में जनरल का पद दिया गया था। इसी प्रकार से औरगजेब बादशाह की भी प्रशसा की गई है कि उसने तो हिन्दू महाराजा जयसिंह को शिवाजी के विरुद्ध युद्ध मे कमान्डर बनाकर भेजा था आदि-आदि। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त धारावाहिक कहानी के तुच्छ प्रसारण-विचार केवल पाठशाला के छात्र ही मान सकते हैं। यह बडी विचित्र एव महत्वपूर्ण बात-प्रश्न है कि एक मूल एव असुविधाजनक प्रश्न न तो किसी ने पूछा और ना ही उत्तर दिया कि महमूद द्वारा अनेक बार अथवा हर आक्रमण के समय हिन्दू मन्दिरो को ही क्यो नष्ट भ्रष्ट किया गया—मूर्तियो को क्यो तोडा गया ?

जैसा कि कवि इकबाल ने स्वय स्वीकारा है कि महमूद से सोमनाथ के मन्दिरो को तोडते समय अनेक पुजारियो ने मूर्तियो को तोडने से बचाने हेतु अधिकतम धन देने की पेशकश की थी, किन्तु उस महमूद ने यह कहकर टाल दिया कि ऐसा करने से तो मैं बुतपरस्त (मूर्ति पूजक) बन जाऊगा।

इतना ही नही, उक्त धारावाहिक कहानी मे बाबा अथवा मुल्ला ने स्वय स्वीकारा है कि औरगजेब ने हिन्दूओ पर जजिया नामक कर लगाया था और बडे भाई दारा शिकोह (जो कि वास्तव मे बडा भाई होने के कारण गद्दी का अधिकारी था) को मौत के घाट उतार दिया था। किन्तु उक्त बातो को तोड मरोड कर औरगजेब के अनुकूल एव प्रशसा मे कहा गया कि उक्त नीति से सिद्ध होता है कि औरगजेब कितना न्यायप्रिय, हिन्दू धर्म एव उनकी धार्मिक पुस्तको के प्रति सहिष्णु था।

ऐसी अनेक अप्रिय, त्रुटिपूर्ण, बातो का गुणगान करना तथा ऐतिहासिक बातों-तथ्यो की अवहेलना करके वास्तव मे भारतीय समाज की धर्मनिरपेक्षता को अवरुद्ध करना जैसा है—वह भी भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात्। यह अति सुन्दर एव प्रशसनीय सुखद बात होगी कि अप्रिय किन्तु ऐतिहासिक तथ्यो को भली प्रकार उसी भावना से स्वीकारा जावे, सबक लिया जावे, बजाय इसके कि गलत तथ्यो का प्रस्तुतीकरण किया जावे, न्यायोचित बताया जाय, और वह भी अपरिपक्व स्कूली छात्रो के माध्यम से बिना सम्बन्धित प्रश्नोत्तरों के।

अभी तक

—प्रो राजेन्द्र जिज्ञासु—

अभी है अविद्या का धरती पै डेरा।
अभी विश्व मे है मनो का अन्धेरा।।
अभी मानवो मे मनुजता नही है।
अभी दनदनाती दनुजता यही है।।
अभी लाज ललना की वैसे ही लुटती।
अभी गैया-मैया भी वैसे ही कटती।।
अभी तक है पूजा प्रपूज्यो की होती।
अभी जन्म-भूमि बिलखती है रोती।।

नये भेद भद्दे अभी उग रहे है।
अडिग जिनको समझा था वो डिग रहे हैं।।
अभी जाति-पाति के झगडे यहा हैं।
अविद्या के फदे सगरे वे यहा हैं।।
अभी देश की एकता डोलती है।
सुनो ध्वस्त से धरा बोलती है।।
महानाश का भय धरा को सताता।
व्यथा की ध्वजा काल है फडफडाता।।
अभी पूजा जड वस्तुओ की जारी।
गुरुडम की भी पनपती है बीमारी।।
अभी ब्रह्म बनते यहा ब्रह्म ज्ञानी।
मजे पोप करते कुरानी किरानी।।

यहा पथ नूतन बनाना सुगम है।
यहा ढोग नूतन चलाना सुगम है।।
विकट है स्थिति आर्य वीरो विचारो।
उठो लक्ष्य की ओर अपने निहारो।।
तुम्हे आग मे हस के जलना पडेगा।
कठिन कार्य यह तुमको करना पडेगा।।
दयानन्द का ऋण चुकाना तुम्हे है।
अधेरा धरा का मिटाना तुम्हें है।।

उठो आज आहूत सर्वस्व कर दो।
उठो मानवो के सभी ताप हर लो।।
धरा धाम मे गुजाओ ऋचाये।
गुजाये सुनायें यह सारी दिशाये।।
किया वेद ज्योति से घर-घर उजाला।
दयानन्द स्वामी तेरा बोल बाला।।

दयानन्द शोधपीठ द्वारा प्रतिवर्ष एक विशिष्ट प्रकाशन होगा

दयानन्द कालेज, अजमेर मे राजस्थान सरकार द्वारा सस्थापित दयानन्द शोधपीठ को अधिक सक्रिय एव गतिशील बनाने के लिए आर्य समाज भवन मे रविवार दि 22 मई 88 ई को पीठ के निदेशक श्री दत्तात्रेय आर्य की अध्यक्षता मे विशेष बैठक सम्पन्न हुई जिसमे डा बाबूराम शास्त्री, श्री ठाकुर प्रेमसिंह, श्री डा दिनेशसिंह, श्री कृष्णराव वाल्ले, प्रो बुद्धिप्रकाश आर्य, डा कृष्णपालसिंह, डा देव शर्मा वेदालकार, आचार्य गोविन्दसिंह एव श्री रासासिंह ने भाग लिया।

सर्व सम्मति से निश्चय हुआ कि शोधपीठ की ओर से प्रतिवर्ष एक प्रामाणिक प्रकाशन किया जाय। इसी सदर्भ मे राष्ट्रीय एव भावात्मक एकता तथा सर्व धर्म समभाव को दृष्टिगत रखकर शाश्वत वैदिक धर्म विषय पर विद्वानो से शीघ्र ही पुस्तक तैयार करवा कर प्रकाशन कराया जायेगा। जिसमे वैदिक धर्म के शाश्वत मानवीय एव एकात्मक मूल्यो की सपुष्टि करने वाले ईसाई, इस्लाम, पारसी, सिख, बौद्ध, जैन, यहूदी आदि धर्मों के तत्सबधी तथ्य उल्लेखित होगे।

—मंत्री

(शेष पृष्ठ 1 का)

ईसाई मिशनरी......

ईसाई मिशनरियो द्वारा सेवा कार्य के नाम पर धर्मान्तरण कराने के तरीके का भी विस्तृत रूप से उल्लेख किया है और अपने पक्ष मे कई प्रमाण भी प्रस्तुत किए हैं।

1 अमेरीका के कैथूलिन मिशन मोफ्स (1923) के प्रकाशक इण्डिया एण्ड इन्डस मिशन मे प्रकाशित रिपोट मे कहा गया है, "किसी भी देश में भुखमरी, अकाल या हैजा जैसी स्थिति मे आध्यात्मिक (धर्मान्तरण का) लाभ बहुत होता है।'

2 पाण्डिचेरी के आर्च बिशप ने एक उच्चाधिकारी को लिखा था। "अकाल ने बड़े आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न किए हैं। भूखो मरते मनुष्य एव छोटे-छोटे बच्चे हजारों की संख्या मे ईसाई बनते चले जा रहे हैं आदि-आदि।"

3. ईसाईयो द्वारा संचालित स्कूल व अस्पताल आदि धर्मान्तरण के कार्य में बड़े सहभागी सिद्ध हुए हैं। मेडिकल मजगजीन इस तथ्य को स्वीकार करता है, "अस्पताल एक बोधगम्यो से बढ़कर उत्तम, सरल एव उपजाऊ माध्यम अन्य नहीं है। धर्म परिवर्तन हेतु यह माध्यम सर्वश्रेष्ठ साबित हुआ है। मिशनरीज को कहीं भी जाने एव कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है। यहां पर तो स्वय ऐसे लोग उपचार हेतु आते रहते हैं। वहां पर लोगो (मरीजों) को बड़े सतोषजनक ढग से धोखा दिया जाता है। उदाहरण के लिए—जब किसी का आपरेशन होना होता है तो उसके साथ उसके अन्य सभी रिश्तेदारों के सामने ईसा मसीह से उसके स्वास्थ्य हेतु प्रार्थना की जाती है। और जब मरीज ठीक हो जाता है तो ऐसे सभी लोग प्रभावित होकर धर्मान्तरण कर लेते हैं।

श्री रामस्वरूप ने अपने लेख में बिशप नेल्सन के कुछ विचारों को उद्धृत करते हुए, धर्मान्तरण हेतु ईसाई मिशनरियों द्वारा किए गए 'सेवा कार्य' को ईसाई धर्मानुसार अमान्य ठहराया है। बिशप नैल्सन कहते हैं 'कुछ लेखको ने मिशनरियो के सेवा कार्यों का जीसस से प्रेम करने का बखान किया है। यह सब मनघडन्त एव ख्याली-पुलाव वाली बातें हैं। सच्चाई इसके विपरीत है। सच तो यह है कि अधिकतर ऐसे तथाकथित सेवाधारी अपने स्वय के लाभ, लोभ, प्रतिष्ठा यश प्राप्त करने हेतु मिशन में आते हैं। इस कार्य हेतु उन्हें आकर्षक धन, प्रतिष्ठा मिलती है। मिशन के सदस्यों पर एक भारी रकम उनके हर कार्य पर खर्च की जाती है और वे बड़े ऐशो-आराम का जीवन यापन करते हैं। उनका वेतन सौ सौ पाउण्ड तक होता है। इसकी तुलना मे एक प्रोफेसर मिलमन को ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे 1855-56 के अन्दर मात्र 54 पाउण्ड प्रतिवर्ष पर नौकर रखा गया था।

श्री रामस्वरूप ने अपने लेख मे अन्य दो ईसाई पादरियो के उन विचारो को भी उद्धृत किया है, जिसमे धर्मान्तरण के कार्य को ईसाई धर्म विरोधी बताया गया है

1. श्री के. डी. मोहन कहते हैं 'ऐसा कहा जाता है कि ईसा मसीह ने कहा था, जाओ और अपने धर्म का प्रचार सभी जीवो (मनुष्यो) में करो अर्थात् धर्मान्तरण कराओ।" यह बात कतई गलत है अर्थात् क्षेपक स्वरूप है यानी बाईबिल मे बाद मे जोड़ दी गई है। यह बात मैं अपनी तरफ से नहीं अपितु बाईबिल के आधार पर ही कहता हू। यह धर्मान्तरण वाली बात मूल पुस्तक में नहीं है। बाद में बढ़ाई हुई, एक फुटनोट स्वरूप दी गई है। यह बात निर्भ्रान्त है।"

2 अन्ना सुब्रामण्यम् का कहना है "मैं चाहता हू कि इस तथ्य को सभी लोग भली प्रकार समझ लें कि धर्मान्तरण की बात कभी ईसा मसीह ने नहीं की।" मैं आशा करता हू कि सभी लोक-समझदार व सामाजिक व्यक्ति इस बात से सहमत होंगे। धर्म परिवर्तन एक महामारी है जो कि ससार को सदा भयाक्रान्त करती रहेगी। कुछ कट्टरपंथी बाईबिल के विचारों को अपनी दृष्टि से कुछ भी समझकर धर्म की आड़ मे विकृत कर रहे हैं। किन्तु धर्मान्तरण जैसे विचार क्षुद्र, कट्टर, तगदिल जैसे लोगों के हैं, जिन्होंने धर्म के नाम पर अकाज एवं अपने धर्म के ही विरुद्ध कार्य किया है। उदाहरण के लिए इस प्रसग में स्ट्रेटस, रेनान, बुचनर, ऐवे लोइसी आदि का नाम लिया जा सकता है।"

क्या ईसाई मिशनरी ईसाई धर्म के उक्त प्रबुद्ध विचारको की सलाह मानकर धर्मान्तरण जैसे धर्म विरोधी कार्य को तिलांजलि दे सकेंगे?

पाठक बोलते हैं....

उपसमिति का परिश्रम व्यर्थ गया

प्रिय महोदय,

आपके उपरोक्त सम्पादित पत्र के विषय में निवेदन है कि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वर्तमान अधिकारी दिल से यह नहीं चाहते थे कि आर्यसमाज के नियमों मे कोई रचनात्मक सशोधन किया जावे, फिर भी किसी कारण वश नियमो के संशोधनार्थ एक उप समिति का निर्माण तो किया गया परन्तु उस समिति की आज्ञा सभा की अन्तरंग दि 18-9-87 को अस्वीकार ही कर दी गई थी। दूसरे दिन 19-9-87 को कुछ विचार विमर्श के उपरान्त चार बिन्दु स्वीकार किये गये थे परन्तु दिनांक 17-4-88 के सार्वदेशिक साप्ताहिक पत्र में जिस रूप मे इसका प्रकाशन किया गया है। उससे स्वीकारी जाने दिल के भाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहे हैं, सभी को ऐसा लगता है कि उप समिति ने जो इतना परिश्रम किया है वह इस तरह महत्वहीन कर दिया गया है केवल (ख) बिन्दु में विनम्र होकर प्रतिज्ञा-पत्र के रूप की स्वीकारी की बात लिखी है।

तदनुसार मैंने श्री दत्तात्रेय जी से 19-9-87 को ही यह निवेदन किया था कि आप अपने पुर्नगठन पत्र मे आज के निर्णय को प्रकाशित कराने की अवश्य कृपा करें, आपके पत्र दि. 30-9-87 में यह सकेत भी दिया गया है अन्तरंग में विस्तृत जानकारी दी जायेगी, सम्भव है विलम्ब के तर्क के कारण आपको 30-9-87 की उस पत्रिका का स्मरण न रहा हो। श्री दत्तात्रेय जी का लेख जो आपने 15-4-88 को प्रकाशित किया है उससे वर्तमान पदाधिकारियों की मनोवृत्ति का आभास होता है। मेरा भी मन उसी लेख के पक्ष में होते हुये यह स्पष्ट कह रहा है कि समाज के उत्थान की ओर वर्तमान पदाधिकारियों की दृष्टि उदासीनता की ओर है। निजी स्वार्थ इस समय अधिक शक्ति में है। श्री स्वामी आनन्दबोध जी का त्यागपत्र और अन्तरंग द्वारा उसकी स्वीकृति यह सब क्या है इसे विचारें। विस्तार भय से अपनी लेखनी को विराम दे रहा हू।

धन्यवाद

भवदीय
चन्द्रकिरण शर्मा
प्रधान, आर्य समाज
नगला अम्बू, जाजिमाबाद (उ.प्र.)

पं. विश्वदेव शर्मा को पुत्रशोक

अजमेर, जयपुर व अलवर से एक साथ प्रकाशित दैनिक 'न्याय' के प्रधान सम्पादक व विद्वद्वरेण्य श्री शर्मा के कनिष्ठ पुत्र एव अलवर 'न्याय' के सम्पादक श्री विजयकांत शर्मा का 27 मई, 1988 को एक सड़क दुर्घटना में असामयिक निधन हो गया।

'आर्य पुनर्गठन' परिवार की स्वर्गीय आत्मा को हार्दिक श्रद्धांजलि।

—सम्पादक

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो. धर्मपाल आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 देश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार—मूल्य रु 1.00
3 आचार संहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 श्री आर्य समाज हिन्दू विचारक हिन्दुत्व (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं—मूल्य 50 00 रु

अन्य प्रकाशन

1 आय समाज (हिन्दी)—मूल्य सजिल्द 20 00 रु अजिल्द 16 00
ले लाला लाजपतराय
2 धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य—32 00
3 दयानन्द कथा सग्रह—मूल्य रु 3 00
4 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण संस्थाओं का परिचय)—मूल्य रु 12 00

श्री रतनलालगर्ग द्वारा श्री आर्यप्रिंटर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

॥ ओ३म् ॥

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 4 बुधवार 15 जून, 1988
अंक . 11 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

द्वि ज्येष्ठ शु 1 स 2045
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

ईसाई मिशनरी : हम नहीं सुधरेंगे

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

'आर्य पुनर्गठन' के पिछले अंक मे हमने लद्दाख क्षेत्र में बौद्धो का धर्मान्तरण कराने के ईसाई मिशनरियो के प्रयास के विषय मे एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। उसी सदर्भ मे 'पाञ्चजन्य' 12 जून, 88 के अक में कुछ और नवीन तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया गया है। पत्र मे प्रकाशित रिपोर्ट बताती है कि ईसाई मिशनरी धर्मान्तरण कराने के लिए किस प्रकार की शातिर चालें चल रहे हैं।

पाञ्चजन्य मे प्रकाशित रिपोर्ट में बताया गया है कि लद्दाख निवासी बौद्धों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने के लिए चर्च परिषद की एक बैठक में एक नई आक्रामक नीति का निर्धारण किया गया है। चर्च परिषद में जो विभिन्न प्रस्ताव इस नीति के सम्बन्ध मे पारित किए गए हैं—उनसे प्रत्येक राष्ट्रभक्त का चिन्तित होना स्वाभाविक है। परिषद के एक प्रस्ताव में जहाँ जम्मू कश्मीर के मुख्यमन्त्री को प्रधानमन्त्री कहकर सम्बोधित किया गया है, वहीं एक दूसरे प्रस्ताव में लद्दाख क्षेत्र को एक पृथक राज्य माना गया है।

पाठकों के अवलोकनार्थ परिषद द्वारा पारित प्रस्ताव हम यहां प्रकाशित कर रहे हैं ?

(1) पहले की तरह धर्म प्रचारकों को प्रवास पर भेजते समय अकेले नहीं भेजना चाहिए। वे दो के गुटों में ही जायें।

(2) जब कोई उपयुक्त उम्मीदवार धर्म प्रचारक बनने के लिए प्रशिक्षण लेने आए तो उसे कई वर्षों तक प्रशिक्षण दिया जाएगा।

(3) किसी ईसाई द्वारा काफिर (गैर ईसाई) से विवाह कर लेने की स्थिति मे बुजुर्गों की सभा शीघ्र ही अनिवार्य हिदायतें देने का प्रबन्ध करेगी। अर्थात् किसी ईसाई द्वारा गैर ईसाई से विवाह करने के बाद उसे अपने मजहब में रम लेने के लिए हिदायतें देने की व्यवस्था की जाएगी।

(4) क्षेत्र की परिषद की दृष्टि मे चगताम या स्पतु के खाना बदोशो में गम्भीरतापूर्वक कार्य करने के लिए मिशन के कार्यकर्ताओ को स्थायी रूप मे बसाने की सम्भावना है।

(5) क्षेत्र की परिषद इस बात पर विचार कर रही है कि शिक्षित सामान्य नागरिको और लामाओ को ईसाई विचारों और आदर्शों के अन्तरग सम्पर्क मे लाने के लिए एक आश्रम की शुरूआत की जाए। इस आश्रम से सामान्य शिक्षित वर्ग मे ईसाई विचारो का प्रसार किया जा सकेगा।

(6) ईसाई नवयुवको व युवतियो के विवाह उनके अभिभावको द्वारा तय किए जाने चाहिए। नवयुवको व नवयुवतियो को इस बारे मे अपने अभिभावको की इच्छा के सामने समर्पण कर देना चाहिए।

(7) यह कि ईसाई प्रचार का कार्य बोध खरबू जिले मे शुरू किया जाना चाहिए।

(8) मिशन द्वारा प्राथमिक चिकित्सा एव स्वास्थ्य सम्बन्धित एक पत्रक प्रकाशित किया जाना चाहिए।

(9) ईसाईयो की सख्या बढाने के लिए बेकार पड़ी परती भूमि की सिचाई हेतु एक नहर या जल नलिका की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(10) मिश्रित विवाह (ईसाई-गैर ईसाई) की स्थिति मे कोई विवाह समारोह तब तक आयोजित नहीं होगा जब तक उनमे स काफिर (गैर ईसाई) पक्ष 'बपतिस्मा' लेकर ईसाई बनने के बाद चर्च से आशीर्वाद नही प्राप्त कर लेता। ऐसे विवाह की स्थिति मे विवाह की दावत देना या न देना दम्पति की इच्छा पर निर्भर करेगा।

(11) सामुदायिकता की भावना और स्वैच्छिक सेवा कार्य की इच्छा को प्रोत्साहित करने के लिए हमारी मण्डली के सभी ईसाई घरो को बारी-2 से अपने चर्च के भवनो की सफाई करनी चाहिए।

(12) यह की तीन लद्दाखी ईसाईयो की एक समिति गठित की जानी चाहिए जो व्यक्तिगत तौर पर जम्मू कश्मीर के प्रधानमत्री से मलकर लेह मे चर्च की स्थापना के लिए मुफ्त उपहार में जमीन मागे और उन्हे स्पष्ट करें कि इस प्रकार के विशेषाधिकार का आवेदन पिछले 18 वर्षों से पड़ा हुआ है।

(13) मिशन का कोई भी कार्यकर्ता काफिरो के किसी भी त्योहार मे न तो खुद जा सकता है और न ही अपने परिवार के किसी सदस्य को जाने देगा। इस नियम का उल्लघन करने वाले कार्यकर्ता को मिशन की सेवाओ से निरस्त कर दिया जाएगा।

(14) यह ठीक है कि इस देश मे मिशन पिछले 84 सालो से कार्य कर रहा है पर मिशन अपने प्रयासो के अनुकूल प्रगति क्यो नहीं कर पाया और चच अपने पैरो पर खड़े नही हो पाए-इसके कारणो पर परिषद को विचार-विमर्श करना चाहिए। आगे के लिए ऐसे मामलो पर विचार करने हेतु मिशनरियो को साल मे दो बार सम्मेलन आयोजित करने चाहिए।

चर्च परिषद द्वारा पारित उपर्युक्त प्रस्तावों से ईसाई मिशनरियो के नापाक इरादो के बारे मे स्पष्ट पता चलता है। पौराणिक हिन्दू दृढता से मिशनरियो का मुकाबला करने मे समक्ष नहीं हैं। उनके राष्ट्र एव धर्म विरोधी कार्यों पर अकुश तो आर्य समाज जैसा क्रातिकारी एव तेजस्वी सगठन ही लगा सकता है। आय समाज के कर्णधारो का कर्त्तव्य है कि वे इस सीमावर्ती क्षेत्र मे वैदिक धर्म एव राष्ट्रवादी भावनाओ के प्रचार प्रसार म विशेष रुचि ले। सरकार से ईसाई मिशनरियो की राष्ट्र विरोधी गतिविधियो पर रोक लगाने की आशा करना तब तक एक भूल ही होगी, जब तक कि चन्द वोटो के लिए अल्पसख्यको के तुष्टीकरण की नीति पर चलने वाली सरकार को प्रबल जनान्दोलन कर इसके लिए मजबूर न किया जाए।

आर्य विद्वान् आचार्य रामानन्द शास्त्री दिवंगत

आर्य समाज के प्रख्यात विद्वान्, वक्ता तथा प्रचारक आचार्य प रामानन्द शास्त्री (74) का हृदयगति रुक जाने के कारण 2 जून को उनके निवास-स्थान पर देहान्त हो गया। वे बिहार राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा, पटना के तत्वावधान मे गत 55 वर्षों से निरन्तर प्रचार कार्य मे सलग्न थे। सार्वदेशिक धर्मार्य सभा के कई वर्षों तक मत्री रहकर इन्होने विवादास्पद विषयो मे महत्वपूर्ण निर्णय भी दिया था। उनके निधन से बिहार के आय समाज को भारी क्षति हुई है।

—रामाज्ञा वैरागी मत्री, बिहार राज्य आर्यप्रतिनिधि सभा

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान संपादक रासासिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   फोन कार्या : 21010

सम्पादकीय—

अंधविश्वास का दुष्परिणाम

एक ओर जहां हमारे माननीय प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी देश को समय से पूर्व ही इक्कीसवीं सदी मे ले जाने को बेताब हैं वहीं दूसरी ओर देश की सामाजिक स्थिति शताब्दियो पीछे के युग मे तेजी से जाती हुई प्रतीत हो रही है।

कहावत है कि चमत्कार को नमस्कार है। चमत्कार करने की इसी सिद्धि को प्राप्त करने की इच्छा मे तान्त्रिक तरीकों को अपनाकर मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के सात नवयुवको ने अपने जीवन की बलि चढा दी। प्राप्त विवरण के अनुसार ये नवयुवक अपने तान्त्रिक गुरु गोकुल साहू से तन्त्र विद्या की शिक्षा ग्रहण करते थे। बताया जाता है कि इस तथाकथित गुरु महाराज ने अपने इन शिष्यो को यह विश्वास दिला रखा था कि वह पुनर्जीवित करने की विद्या जानता है। जिससे वह किसी भी मृत जीव को पुन जीवित कर सकता है। आत्म हत्या करने वाले नवयुवक श्री गोकुल साहू से अन्य तन्त्र विद्या से सम्बन्धित जादुओ के अतिरिक्त मृतक को जीवित करने की विधि भी सीखने प्रतिदिन उसके पास आया करते थे। तन्त्र गुरु गोकुल साहू के सर्व प्रथम (23 मई को) आत्म हत्या करने वाले शिष्य चोवाराम साहू के बारे मे 30 मई को पुलिस के सामने आत्म समर्पण करने वाले एक शिष्य अजनी उपाध्याय ने जो रहस्योद्घाटन किया है वह तथाकथित तन्त्र विद्या के नाम पर फले अन्धविश्वास का घिनौना चेहरा दिखाता है।

अजनी उपाध्याय ने अपने पुलिस बयान मे बताया कि हम सभी शिष्यो ने निश्चय किया था कि यदि चोवाराम जलते हुए लकड़ा के लट्ठो पर कूद कर जल मरे तो गुरुजी बाद मे उसे अपनी तन्त्र विद्या से जीवित कर देंगे। अजनी ने आगे बताया कि चोवाराम को आश्वस्त करने के लिए गोकुल साहू ने अपनी विद्या का प्रभाव भी दिखलाया था। पहले उसने एक मछली को मार डाला और उसे बाद मे सबके सामने पुन जीवित कर दिया (शिष्यों को गोकुल ने वास्तव मे सम्मोहित कर ऐसा मानने पर बाध्य किया होगा)। लेकिन इसके बाद जब उसके इन शिष्यो ने मेढको के ऊपर यही प्रयोग किया तो वे असफल रहे। फिर भी गुरु के प्रति अत्यधिक विश्वास लिए चोवाराम जलते लट्ठो पर कूदा और जीवन से हाथ धो बैठा। इसके बाद गोकुल साहू के अन्य जिन शिष्यो ने आत्म हत्या की उसके पीछे भी यही कारण रहने की बात स्पष्ट प्रतीत होती है। क्योंकि सभी आत्म हत्या करने वाले शिष्यो के मृत्यु स्थल के पास पूजा अर्चना मे काम आने वाली सामग्री पाई गई थी। इससे पता चलता है कि गोकुल साहू पुनर्जीवित करने की अपनी तन्त्र विद्या के प्रयोग का प्रत्यक्ष बार परीक्षण कर रहा था (या फिर परीक्षण करने का ढोंग कर रहा था)। जो भी हो तथा कथित तन्त्र विद्या के पुनर्जीवित करने सम्बन्धी चमत्कार के अन्धविश्वास मे फंसकर सात नवयुवको ने अपने अमूल्य जीवन की बलि चढा दी। आखिर ऋषि दयानन्द के आर्य समाज के कार्य पर अन्धविश्वास और पाखण्ड के नाम पर हुए ऐसे काण्ड एक बड़ा प्रश्न चिह्न ही लगाते हैं।

—वीरेन्द्र आर्य

आर्य समाज का अतीत और वर्तमान

—प्रो उत्तमचन्द शरर—

मैं प्रथम बार आर्य समाज के स्वरूप के सबध में कुछ लिखते झिझकता हू, क्योंकि मैंने समाज का यौवन काल देखा है इस का तेजस्वी स्वरूप मेरी आंखों के सम्मुख है। सिद्धान्त के सम्बन्ध मे आर्य समाजी कितना सुदृढ़ होता था इसे सम्भवत आज का समझौतावादी आर्य समाजी सोच ही नहीं सकता। मेरे ग्राम के समाज के प्रधान की पुत्री का विवाह था। वर पक्ष पौराणिक था उनका आग्रह था कि विवाह पौराणिक पद्धति से होगा, प्रधान जी ने बरात को घर मे न आने दिया रात भर बरात बाहर पड़ी रही। प्रात 4 बजे वासुदेवजी प्रधान ने अपने समधी श्री मूलचन्द्र को बुला कर कहा कि यदि विवाह वैदिक रीति से करना हो तो बरात को भीतर लाइये नहीं तो मैं लड़की का रिश्ता दूसरे स्थान पर करता हू। मूल चन्द्रजी ने हार मानी और विवाह वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। यह हमारा अतीत था। अब हम कहां हैं ? नाम नहीं लिखता हू पर घटना सत्य है। समाज के प्रधान जी की पुत्री का विवाह था वर पक्ष पौराणिक रीति के विवाह आग्रह पर था। प्रधान जी ने समाज से त्याग पत्र दिया पुत्री का विवाह पौराणिक रीति से किया और मजे की बात यह कि विवाह के पश्चात समाज की अन्तरग ने उन्हे फिर प्रधान बना दिया। कितना बड़ा अन्तर है।

आग के इब्तदाए इश्क मे हम
हो गये खाक इन्तहा यह है !

पिछले दिनो दो समाजो के वार्षिकोत्सवो पर रविवार को T V द्वारा समाज मन्दिर मे रामायण का सीरियल दिखाया गया ताकि उपस्थिति हो सके। परन्तु रामायण का तमाशा समाप्त होते ही लोग चले गये। इतना अवश्य हुआ कि एक स्थान पर रामायण के शो के पश्चात् एक पौराणिक विद्वान मेरे पास आये और बोले आप प्रधान जी से सिफारिश करें कि वे रामलीला के लिये हमे समाज के सामने का मैदान दे दें। मैंने कहा यह बात हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है। तत्काल बोले यह T V पर राम का रूप करने वाले कौन थे ? शायद हमारा राम इनसे अच्छे चरित्र का होगा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था।

जात पात का रोग इतना अधिक है कि सार्वदेशिक सभा मे संयोगवश मैं उपस्थित था जब आचार्य दत्तात्रेय जी के जात पात सम्बन्धी शब्दों को हटाने का तथा नाम के साथ आर्य शब्द लिखने का प्रस्ताव आया। सच मानिये प्रस्ताव को बड सलीके से समाप्त किया गया।

बड सलीके से यह लोग कत्ल करते हैं।

आज आर्य पुनर्गठन की बात की जा रही है जब कि हम पदलोलुपता मे समाज को बेच के खा रहे हैं ! युवको मे आर्य समाज के प्रति उदासीनता है। वीर दल हो या युवक परिषद आपस मे लड़ने को जवान शेर हैं नहीं तो Paper tiger हैं।

सार्वदेशिक सभा ने समाज मे नवजीवन लाने के लिये उपसमिति का गठन किया था परिणाम क्या निकला यह समिति के अधिकारी ही अधिकार पूर्वक कह सकते हैं।

परन्तु निराशा के इस वातावरण म भी निराश होना उपयुक्त नहीं। हमारा समाज योग्य विद्वानो का बुद्धिजीवी समाज है। समाज में त्यागी तथा तपस्वी व्यक्ति भी विद्यमान हैं। आज भ ऋषि दयानन्द के मिशन पर सर्वस्व होम देने वाले वीर समाज मे हैं। आवश्यकता इस बात की है कि उन बुद्धिवादी सिद्धान्त प्रेमी आर्यों को कहीं समस्या के समाधान के लिये एकत्रित किया जावे। पहले प्रान्तो मे तत पश्चात देश भर के चुने हुवे परिवर्तन चाहने वाले व्यक्तियो को इकट्ठा किया जावे और परिवर्तन की आवाज कार्यक्रम सहित बुलन्द की जाए।

अजब क्या है यह किश्ती डूब कर फिर भी उभर आये
कि हमने इनकलाबात जमाना यूं भी देखे हैं।

वेद का सत्य दयानन्द का तप और वीरो का बलिदान निश्चय ही जागृति उत्पन्न करेगा और उजड़ उपवन मे बसन्त आ जायेगी आचार्य दत्तात्रेय की सोच कि आर्यों मे यह जन चेतना कैसे संगठित हो ?

प्रो वेदव्यास प्रादेशिक सभा के प्रधान

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का वार्षिक अधिवेशन 29 मई, 88 को सम्पन्न हुआ। अधिवेशन से पूर्व आर्यसमाज के सत्संग म प क्षितीश वेदालंकार का प्रभावी प्रवचन हुआ।

अधिवेशन म आगामी वर्ष के लिए प्रो. वेदव्यास को सर्व सम्मति से प्रधान चुना गया। —मंत्री

सत्य धर्म के प्रसारक: ऋषि दयानन्द

—ब्रह्मदत्त शास्त्री

ऋषि दयानन्द अपने जीवन-काल मे भ्रमण करते रहे और इसी बीच उन्हे कई विदेशी विद्वानो से भी मिलने का मौका मिला। ऐसे ही विदेशी लोगों मे मोनियर विलियम्स (Monier Williams) से उनकी प्रथम भेंट 1876 में बम्बई मे हुई। इसी विलियम महोदय ने एक बार स्वामी जी से प्रश्न किया Religion (धर्म) क्या है ? इसका उत्तर स्वामीजी ने विलियम महोदय को अपने शब्दो के अनुसार (Brahmanism and Hinduism by Monier Williams 1891)

इस प्रकार दिया —"Religion (धर्म) is a true and just view (न्याय) and the abandonment of all prijudice and partiality (पक्षपात रहित)—the is to say, it is an impartial enquiry into the truth by means of the senses and the two other instruments of knowledge (प्रमाण), reason and revelrtion"

स्वामी जी ने जो सुन्दर व्याख्या धर्म की की उसका उदाहरण मिलना आज भी कठिन है। स्वामी जी की इसी धर्म व्याख्या के अनुसार वही व्यक्ति धार्मिक कहला सकता है जो ऐसे धर्म का पालन करता हो जिसमे पक्षपात को कोई स्थान न हो और जो सत्य की खोज प्रमाण, विवेक, बुद्धि और ईश्वर प्रेरित ज्ञान के सहारे करने तत्पर हो। यदि ऐसा हो सके तो ससार मे आपस के झगडे और विवाद समाप्त हो सकते हैं। यदि किसी धर्म के अनुयायी यह कहे और दूसरो को भी यही मानने पर बाध्य करें कि जो वे कहते हैं केवल वही सत्य है तो वह धर्म न तो धर्म ही है और न सत्य ही। ऐसे हठ का सबसे बडा उदाहरण ईसाई धर्म मे मिलता है जो आज इस बीसवी शताब्दी मे भी इस बात का ढिंढोरा पीटते हुए नहीं लजाता कि केवल ईसाई धर्म ही इस ससार मे सच्चा धर्म है और शेष सब मिथ्या है। यह ईसाई धर्म इतने पर ही सतोष नहीं करता अपितु यह एक कदम और भी आगे जाता अपने झूठ को छिपाने के हेतु यह लोगो को पक्षपात रहित पर कठिन प्रतिबन्ध भी लगा देता है उनकी बुद्धि और विवेक को नष्ट करने के हेतु उन्हें पक्षपात रहित सत्य की जाच करने से भी रोक देता है। इसी कारण ईसाइयो के कैथोलिक सम्प्रदाय के सबसे बडे मठाधीश मि पोप ने उन सब व्यक्तियो की पुस्तकें पढने पर प्रतिबन्ध लगा रखा है जिन्होने "पक्षपातरहित होकर विवेक, प्रमाण और बुद्धि" का सहारा लेकर सत्य के समझने का प्रयत्न किया है। जार्ज बर्नार्डशॉ की सभी पुस्तकें इसी कारण सभी ईसाइयो (कैथोलिक) को पढना वर्जित हैं। इसी श्रेणी में बाकी सब धर्मों के धर्म ग्रन्थ भी हैं। ऐसी स्थिति मे कोई भी न किसी धर्म का पालन कर सकता है और न ही धर्म का पालन करने की इच्छा रखते हुये सच्चे धर्म की खोज मे सफल हो सकता है। यदि हम स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा दी हुई धर्म की इस व्याख्या के साथ उनका वह अमूल्य कथन भी जोड दें जो सत्यार्थप्रकाश के तीसरे समुल्लास म हमे पढने को मिलता है तो ससार को एक ऐसा पथ-प्रदर्शन मिलता है जिसकी बराबरी ससार का कोई धर्म ग्रन्थ नही कर सकता। उन्होने कहा है कि "हम सत्य को मानते हैं मिथ्या को नहीं।" स्वामी दयानन्द के इस कथन मे एक चुनौती है उन सबके लिए जो अपने हितार्थ धर्म के नाम पर झूठ, पक्षपात अज्ञान और अधम का प्रचार करने म सलग्न हैं। धर्म की यह सत्य व्याख्या स्वामीजी की वह पहली देन है जिसके लिए केवल भारतवासी ही उनके आभारी नही बल्कि ससार के वे सब लोग हे जो "सत्य" को प्यार करते है और असत्य को त्यागने के लिए तैयार है चाहे वह ईसाई असत्य हो या अहिन्दू असत्य।

जिस धर्म की व्याख्या स्वामी जी ने की है उसी धर्म का पालन करते हुये उन्होंने चार वेदो का अध्ययन किया और पक्षपात रहित होकर विवेक, बुद्धि और ज्ञान का सहारा लेकर सत्य को जानने का पूरा प्रयत्न किया और उसके फलस्वरूप सत्य को ग्रहण किया और सब असत्य त्यागा। स्वामी जी ने सत्य और सत्य-धर्म के प्रति अपने प्रेम के कारण ही अपने ग्रन्थ को सत्यार्थ प्रकाश का नाम दिया। 'सत्य' की खोज और सत्य-धर्म का पालन करते हुये ही ~~उन्होने सत्य वेद—भाष्य~~ लिखकर ~~वेदो के असत्य भाष्य की~~ जो कुछ विदेशी लोगो ने अपने हितार्थ किये थे सफाई की। विदेशी विद्वानो (?) ने कुछ अपनी नासमझी के कारण और विशेषत भारतीय धर्म और सस्कृति को हानि पहुचा कर अपनी झूठी निष्ठा बढाने के लालच मे वेदो के झूठे और असत्य भाष्य लिखे छापे और वितरण किये। स्वामी ने पक्षपात रहित होकर वेदो मे छिपे सत्य को एक बार फिर इस तरह सत्यता से ससार के सामने रखा कि भारतीय सस्कृति और आर्य धर्म के दुश्मन मुह ताकते ही रह गये। आज यदि भारत और इसके रहने वाले ससार के आगे अपना सिर ऊँचा रख सकते हैं तो इसका केवल यही एक कारण है कि उन्हे वेदो के उस सत्यार्थ का सहारा प्राप्त है जो स्वामी दयानन्द ने पक्षपात रहित होकर सत्यता से किया। यह स्वामी जी की वह बडी दूसरी देन है जिसका ऋण हम आजन्म नही चुका सकते।

आज चारो ओर हम देख रहे हैं कि धार्मिक और सामाजिक नेतागण बातें बहुत करते हैं जनता को सीख भी खूब देते हैं परन्तु वे स्वय अपने ही कथन का पालन कम करते हैं। यह अधर्म है। स्वामी दयानन्द जी ने जिस जिस सत्य का प्रचार किया उसका स्वय भी पालन किया। उन्हे कोई भी सत्य कही भी दिखाई दिया तो उसको भी बिना किसी सकोच उन्होने अपनाया। सत्य को धर्म मानते हुये पक्षपात रहित होकर उन्होने जिस भांति सत्य को अपनाया और मिथ्या को त्यागा इसका एक और बहुत ही बडा उदाहरण हमे उनके जीवन से मिलता है।

स्वामी दयानन्द गुजरात मे पैदा हुए और वही पर उन्होने अपना बाल्य-काल बिताया। उनकी शिक्षा स्वर्गीय विरजानन्द जी के हाथो सस्कृत भाषा मे हुई। सस्कृत भाषा के ही स्वामी जी विद्वान थे। परन्तु उन्होने सत्य और धर्म का पालन करते हुये अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश को हिन्दी भाषा मे ही लिपिबद्ध किया। ऐसा उन्होने क्यो किया ? उनकी पक्षपात रहित खोज और प्रमाण और विवेक ने यही सच्चा मार्ग उन्हे दिखाया और उसको उन्होने पक्षपात रहित होकर बिना किसी सकोच के अपनाते हुए सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ को हिन्दी भाषा मे लिखा। स्वामी दयानन्द के इस साधारण कार्य मे उसी धर्म और सच्चे धर्म का पालन छिपा हुआ है जिसकी व्याख्या करते हुए उन्होने मोनियर विलियम से कहा था कि Religion (धर्म) is a true and just view (न्याय) and theabandonment of all Prejudice and Partiality (पक्षपातरहित)।

आज से लगभग एक सौ वर्ष पहले स्वामी दयानन्द ने यह बिना किसी पक्षपात के जान लिया था कि यदि सत्य धर्म की रक्षा हो सकती है तो वह हिन्दी भाषा को अपनाने से ही हो सकती है। उन्होने यह भी अनुभव कर लिया था कि यह काम अब सस्कृत अथवा उनकी अपनी मातृभाषा गुजराती भी नही कर सकेगी। जनकल्याण के हित मे उन्होने अपनी मातृभाषा और गुरुभाषा दोनो को छोड हिन्दी मे सत्यार्थप्रकाश को लिखा। वह यह भी भलिभाति पहचानते थे कि इस देश की स्वतन्त्रता भी हिन्दी के हाथो मे ही सुरक्षित रह सकेगी और यदि विदेशी भाषा को भारत से निकाला जा सकेगा। तो वह भी हिन्दी के सहारे और बलबूते पर ही हो सकेगा। जिस देश की अपनी भाषा न हो उस देश की सस्कृति और उसका धर्म बचना असभव सा हो जाता है। राजनैतिक दासता तो जल्दी या देर मे सब की ही समाप्त हो जाती है परन्तु मानसिक दासता चिर स्थायी भी बन सकती है।

मानसिक दासता से बचने का केवल एक ही उपाय है कि जनसाधारण को उनकी जनभाषा दी जाये ताकि वह अपनी भाषा में बिना किसी मानसिक कठिनाई या दुर्बलता के अपने धर्म और सस्कृति को भली भाति समझ पाये। स्वामी दयानन्द भली भाति समझते थे कि ऐसी भाषा केवल हिन्दी ही हो सकती है, अस्तु, उन्होने हिन्दी को ग्रहण किया था। यह स्वर्गीय स्वामी दयानन्द की तीसरी अनुपम देन है जिसमे भारतीय धर्म सस्कृति और भारतीय राजनैतिक स्वतन्त्रता का गूढ भेद छिपा है। यदि इसे भारतीय जन-समूह पक्षपातरहित हो समझने का यत्न न करे तो यह उसका घोर दुर्भाग्य है।

आज देश भर में जो वावेला हिन्दी—अहिन्दी भाषाओं के बीच मचाया जा रहा है उसके पीछे कुछ ऐसे चतुर लोगो का हाथ है जिनकी चालो को समझना वावेला मचाने वालो की सामर्थ्य के बाहर है। साधारण लोगो को

(शेष पृष्ठ 4 पर)

(शेष पृष्ठ 3 का)

सत्य धर्म के......

यह कहा गया है कि यदि अंग्रेजी भाषा न रही तो उन्हे सरकारी नौकरिया मिलना कठिन हो जायेगा। नौकरियो का विचार ही मानसिक दासता का चिह्न स्वरूप है, परन्तु यह भी स्वय मे बिल्कुल असत्य है। यदि यह बावेला मचाने वाले लोग जरा सा भी सत्य धर्म का पालन करें और प्रमाण, विवेक और बुद्धि का सहारा लेकर पक्षपात रहित होकर सत्य को समझने भर की कोशिश करें तो उन्हे आसानी से इस बावेला और वाद-विवाद के पीछे छिपे (विदेशी) शैतान के हाथ काम करते दिखाई पड सकते हैं। हम कुछ स्पष्टीकरण किये देते हैं।

आज जो अंग्रेज बैंको, बीमा कम्पनियो, तेल कम्पनियो, एडवरटाइजिंग एजेन्सियो इत्यादि के मैनेजर और एकाऊन्टैन्ट बने बैठे हैं और बड़े-बड़े वेतन (10000) मासिक और दो-दो मोटरें, रहने के बगले इत्यादि-इत्यादि ले रहे हैं वे सब क्या करेंगे, यह कभी किसी ने सोचा है ? यह सब बेकार हो जायेंगे जो अंग्रेज भारत मे विशेषज्ञ कहलाने लगता है उसे वापिस इंग्लैंड जाकर रोटी के भी लाले पड़ जाते हैं। यदि यह सब लोग चले जायें तो इतनी ही नौकरिया और काम भारतीयो के लिये देश में ही तत्काल और निकल आयें। यही लोग हैं जो भारत मे अंग्रेजो की जड़ें मजबूत बनाते हुए भारत की मानसिक और आर्थिक दासता को लम्बा कर रहे है। इन सब से अधिक काला कारनामा उन विदेशी पत्रो और उनके सम्पादको का है जिन्होने अपनी रोटी (Bread and Butter) के लिये और अपनी सरकारो के हाथ मजबूत बनाने के लिये इस हिन्दी—अहिन्दी भाषा आन्दोलन के समाचार आठ-आठ कालम की सुरखिया देकर छापें और साधारण जनता को उकसाया। देश के पत्र और पत्रकार तभी देश की रक्षा के हेतु अपने काम का सचालन करते हैं यदि उन्हे देश से कुछ प्रेम हो। भला विदेशी भाषा के पत्रो के विदेशी सम्पादक देश के हित मे विदेशी भाषा का प्रयोग क्यो करने लगे ? वे तो विदेशी भाषा की सहायता से दूसरे देशो की जड़ो को खोखला ही करेंगे और इसी मे उनका और उनकी विदेशी जाति और देश का हित भी छिपा है।

अब जरा एक तरफ और ध्यान दीजिए। अंग्रेजी भाषा ने भारत मे अंग्रेजी भाषी जातियो और देशो (England, America, Australia) को बाकी सब देशों और अपने मुकाबले मे भी ऊंचा पद देकर और सब के मुकाबले मे उनका काम सहज बना रखा है। क्या कोई भी व्यक्ति यह दावा कर सकता है कि आने वाले महायुद्ध मे भारत अवश्य ही अंग्रेजी भाषी देशो के साथ होगा ? कदाचित भी नही। फिर भारत मे अंग्रेजी चालू रहने से सबसे बड़ा हित केवल अंग्रेजी भाषी जातियो और देशो का ही होगा। हिन्दी भाषा होने से इतना तो अवश्य ही होगा कि सब विदेशी लोग एक स्तर पर आ जायेंगे और विदेशी भाषा के कारण कोई विशेष डिफेंस रिस्क (सैनिक आपत्ति) भारत को उठाना नहीं पड़ेगा। यदि अंग्रेजी भाषा भारत से उठ जाये तो अंग्रेजी भाषी इंग्लैण्ड के हाथ तुरन्त कमजोर पड जायेंगे जो यह नहीं जानता कि इंग्लैण्ड अपना भारतीय राज खोकर अभी भी अपने पुराने घाव चाट रहा है।

यह पूरी कहानी नही है। अंग्रेजी भाषा की जहरीली पिटारी मे कुछ और सांप और बिच्छू भी छिपे हैं। वर्तमान हिन्दी-अहिन्दी भाषा वाद-विवाद के पीछे सबसे स्फूर्ति के साथ काम करते हुए उन ईसाई पादरियों के हाथ छिपे हैं जो भारत को ईसालैण्ड बनाने के स्वप्न देखते है जिसकी अक्ल का पूर्णतया दिवाला ही निकल गया हो केवल वही इस कथन से इन्कार करेगा कि यदि भारत से अंग्रेजी भाषा विदा हो जाये तो फौरन ईसाई पादरियो के किलो की आधी दीवारें गिर जायेंगी। विदेशी ईसाइयत भारत में अराष्ट्रीयता फैलाने की तर तोड कोशिश में लगी हुई है। इसी में इसका बचाव है और यह अराष्ट्रीयता फैलाने का सब से बडा और सकुशल माध्यम अंग्रेजी भाषा ही है। तब भला यह विदेशी पादरी हिन्दी के रास्ते मे पत्थर क्यो नहीं बिछायेंगे।

अपनी बाल्यावस्था मे ही स्वामी दयानन्द के दिल मे सत्य की खोज करने की लालसा पैदा हुई थी। सत्य को ढूंढने के लिए इसी कारण उन्होने घर को छोड़ा था। इसी सत्य को उन्होने पक्षपात रहित होकर सवदा ढूंढा और अपनाया। उसका दिया हुआ सदेश आज भी ससार को सच्चा मार्ग-दर्शन करवाता है। इसी मे ससार का कल्याण और इसी पर आर्य समाज का भविष्य भी टिका हुआ हैं—पक्षपात रहित रह कर धर्म का पालन और सत्य का ग्रहण।

पत्र बोलते हैं—

उपसमिति की रिपोर्ट का क्रियान्वयन कैसे होगा ?

मान्यवर,

आपने एक पत्र मे मुझसे आर्य पुनर्गठन के 30 अप्रैल, 1988 के अंक में प्रकाशित आर्यसमाज के सम्बन्ध में सार्वदेशिक सभा का दूरगामी निर्णय शीर्षक से आदरणीय स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती, प्रधान, सार्वदेशिक सभा, नई दिल्ली द्वारा प्रस्तुत अन्तरंग सभा के निर्णय पर मेरी प्रतिक्रिया पूछी थी।

बिन्दु (क) इस सम्बन्ध में सार्वदेशिक सभा ने स्वय स्वीकार किया है कि सार्वदेशिक सभा हमेशा ही यह प्रेरणा देती रही है कि आर्य समाज के सदस्य व अधिकारी जाति सूचक शब्द का प्रयोग अपने नाम के साथ न करें। पर फिर भी इस कार्य मे सफल न हो सके। सार्वदेशिक सभा के सम्मुख विचारणीय विषय यही रहना चाहिए कि वे [illegible] सफलता किस प्रकार प्राप्त करें ?

बिन्दु (ख) व (ग) यह आर्य समाज के [illegible] के लिए शपथ व प्रतिज्ञा से सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध में [illegible] है कि इस तरह की घोषणा सभी सदस्य कर देते हैं पर व्यवहार में उनका आचरण इसके विरुद्ध देखा जाता है। इसके दोषी आर्य प्रतिनिधि सभा व सार्वदेशिक सभा के कुछ अधिकारी भी हैं और इन सबके विरुद्ध सार्वदेशिक सभा कोई कदम नहीं उठा पाती।

बिन्दु (घ) यह राजनीति का आर्य समाज पर कुप्रभाव से बचने के सम्बन्ध में है। इस सम्बन्ध मे सार्वदेशिक के निर्णय बहुत ही लचर हैं। व्यवहार मे उसका कोई अर्थ नहीं है। सार्वदेशिक सभा को इस सम्बन्ध मे बहुत ही गम्भीरता से विचार करना चाहिए। राजनीतिक दल के अधिकारी अथवा उसके निर्वाचित सदस्य आर्य समाज के अधिकारी न बन सकें क्योंकि ऐसा व्यक्ति आर्य समाज का लाभ अपने दल के लिए ही उठाना चाहेगा। क्या सार्वदेशिक ने ऐसा कोई सर्वेक्षण किया है कि इस समय आर्य समाजों के पदाधिकारी किस किस दल से सम्बद्ध है ?

विचार तो इस विषय पर भी हुआ था कि आर्य समाज के मचो पर राजनीतिज्ञो को न बुलाया जाय जो इस सम्बन्ध मे उल्लिखित निर्णय मे कुछ नही कहा गया।

वस्तुत आर्य समाज के सम्बन्ध मे [illegible] बहुत गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। इसी अक में [illegible] सम्पतप्रसाद शर्मा, आर्यसमाज कापाखेड़ा, भीलवाड़ा का पत्र "आर्य [illegible] के नेता सावधान हो" प्रकाशित हुआ है। यह पत्र स्वामी विद्यानन्द सरस्वती द्वारा आर्य समाज की प्राथमिक सदस्यता के त्याग पत्र के [illegible]८ पर लिखा गया है। लेखक ने इस पत्र से आर्य समाज के वर्तमान रूप के सम्बन्ध मे बहुत कटु किन्तु यथार्थ टिप्पणी प्रस्तुत की है।

मैं पिछले कुछ समय से निरन्तर इस बात के प्रयत्न कर रहा हूं कि आर्यसमाज की भावी रूपरेखा का निर्धारण करने के लिए एक बुद्धिजीवी सम्मेलन बुलाया जाय जिसमे देश-विदेश के विद्वान् गम्भीरता पूर्वक इस विषय पर विचार करें। सार्वदेशिक सभा की जिस अन्तरंग सभा में आचार्य दत्तात्रेय आर्य के सयोजन मे गठित उपसमिति की रिपोर्ट पर विचार हुआ था उसमें मैं भी उपस्थित था। मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि अन्तरग सभा के सदस्य इस रिपोर्ट पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने के लिए तैयार नहीं थे और न ही उन्होने इस पर गम्भीरता से विचार किया। मेरा यह निश्चित मत है कि आर्यसमाज के भावी कार्यक्रमो पर विचार करने के लिए आवश्यक है कि उस पर प्रतिनिधि सभाओ व सार्वदेशिक सभा का दबाव न हो। मैंने जिस बुद्धिजीवी सम्मेलन का प्रस्ताव रखा है उसमें यही प्रयत्न किया जायेगा कि वह निष्पक्ष एव पूर्णरूप से आर्यसमाज के भविष्य को उज्ज्वल करने के निमित्त हो।

भवदीय,
प्रशान्त वेदालकार,
7/2 रूपनगर, दिल्ली-7

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिंटर्स, अजमेर मे मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगज अजमेर से प्रकाशित किया।

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥"

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।
सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द . 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एव भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष . 4 बृहस्पतिवार 30 जून, 1988
अक 12 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

आषाढ कृ 1 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

आखिर शंकराचार्य चाहते क्या हैं ?

ऐसा लगता है कि पुरी के शकराचार्य स्वामी निरजनदेव ने देश का सर्वनाश करने का बीडा पूरी तरह से उठा लिया है। अभी तक वे सती प्रथा जैसी अमानवीय वेद विरुद्ध कुप्रथा को वेद सम्मत बताकर समर्थन करने के कारण अखबारो की सुर्खियो मे थे ही कि इसके चलते ही उन्होने एक धर्म विरोधी और मानवता विरोधी वक्तव्य और दे डाला।

22 जून को जयपुर मे एक सभा [illegible] सम्मेलन मे स्वामी निरजनदेव ने कहा कि "हरिजनो को मन्दिर मे जाने का अधिकार नही है।" स्वामी निरजनदेव का यह कथन मानवता विरोधी व कानून विरोधी तो है ही, साथ ही वेद सम्मत भी नही है। लेकिन यह भी एक विडम्बना ही है कि शकराचार्य अपने प्रत्येक वेद विरुद्ध और मानवाधिकार विरोधी कथनो को वेद सम्मत बताने का दावा करते हैं। जब कि उनके बयानो को देखते हुए तो यही लगता है कि इन्होने वेदो को केवल देखा है, उनका स्वाध्याय कभी नही किया है। फिर वे वेदो के प्रकाण्ड पण्डित महर्षि दयानन्द की विद्वता का आकलन कैसे कर सकते हैं ?

हमे तो कभी-कभी यह भी लगने लगता है कि कही शकराचार्य महोदय मानसिक रूप विक्षिप्त तो नही हैं, क्योंकि देश की वर्तमान परिस्थितियो मे एक कट्टर पौराणिक भी, जिसका दिमागी सतुलन ठीक अवस्था में हो, कभी ऐसे वक्तव्य देने का दुस्साहस नही कर सकता। आज एक ओर जहा हरिजनो पर अत्याचारो का नारा लगाकर ईसाई मिशनरी और इस्लाम मतावलम्बी हरिजनो का धर्म परिवर्तन करा रहे हैं तो दूसरी ओर काशीराम सवर्ण और हरिजन मे विद्वेष की भावना पैदा कर अपना राजनैतिक वर्चस्व बना रहे हैं। वे खुले आम सवर्णों के नाम पर अपशब्द बोलते है। उनका एक मात्र नारा है 'ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया चोर, बाकी है सब डी एस फोर।' ऐसी विषम परिस्थितियो मे शकराचार्य का हरिजन विरोधी वक्तव्य निश्चित रूप से देश मे एक वर्ग भेद और जाति भेद की शास्त्र एव धर्म विरोधी दीवार को खडी करने करने का काम करेगा और इसके साथ ही इससे काशीराम जैसे राष्ट्र विरोधी व्यक्ति का आधार मजबूत होगा और हरिजनो को धर्म परिवर्तन की प्रेरणा मिलेगी।

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

शकराचार्य याद रखें कि देश, धर्म के हित को दृष्टिगत रखते हुए पडित महामना मदन मोहन मलवीय जैसे कट्टर सनातनी को भी अपनी पौराणिक मान्यताओ को तिलाजलि देनी पडी थी और हरिजनो द्वारा धर्मपरिवर्तन करने मे भविष्य में होने वाले भयावह दुष्परिणामो को देखते हुए उन्हे कहना पडा था कि हरिजन उनके समान हैं, वे किसी के बहकावे मे आकर धर्म परिवर्तन न करे। हम (मालवीय) उनकी चरण रज लेने के लिए तैयार हैं। क्या स्वामी निरजन देव मालवीय जी से कोई प्रेरणा ग्रहण कर सकेंगे ?

हमे अपनी वर्तमान सरकार की नीति पर भी हसी आती है। एक ओर तो वह अपने राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति हित हरिजनो के हितो को प्राथमिकता देने का दावा करती है और दूसरी ओर शकराचार्य जैसे लोग हरिजन विरोधी व कानून विरोधी वक्तव्य दिए जा रहे हैं और सरकार है कि कान बन्द किए हुए है। आखिर एक धर्म निरपेक्ष सरकार जो ठहरी ! इसे तो सभी मतो व समुदायो के लोगो की वोट लेनी है।

हरिजनों के साथ सौतेला व्यवहार सहन नहीं होगा

अजमेर। आर्य समाज अजमेर के सत्सग के पश्चात प्रधान श्री दत्तात्रेय आर्य की अध्यक्षता मे हुई एक सभा मे पुरी के शकराचार्य निरजनदेव के हरिजनो के मदिर प्रवेश निषेध सम्बन्धी विचारो की कडी भर्त्सना की गई। सभा मे शकराचार्य द्वारा आर्य समाज के सस्थापक व महान समाज सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय मे जयपुर मे दिये गये अपमानजनक वक्तव्य की एक मत से निन्दा की गई व कहा गया कि शकराचार्य इस प्रकार की भ्रान्तियाँ पैदाकर हिन्दू समाज व भारत राष्ट्र मे वर्गभेद की समस्या पैदा कर रहे हैं।

सभा को सम्बोधित करते हुए आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने कहा कि स्वामी निरजनदेव ने पूर्व मे सतीप्रथा का समर्थन कर तथा अब हरिजनो के मदिर प्रवेश निषेध सम्बन्धी वक्तव्य देकर देश विरोधी एव धर्म विरोधी कार्य किया है। आचार्य दत्तात्रेय जी ने सरकार से आग्रह किया कि वह दोगली नीति त्यागकर शकराचार्य के ऐसे कानून विरोधी वक्तव्यो पर रोक लगाए। उन्होने सरकार पर आरोप लगाया कि एक तरफ तो वोटो की प्राप्ति हेतु वह समाज के दलित वर्ग व हरिजनो की मसीहा बन जाती है तो दूसरी तरफ उसी के शासन मे इस प्रकार के वक्तव्य सरे आम दिये जा रहे हैं व हरिजनो के साथ सौतेला व्यवहार व अत्याचार किया जा रहा है। और सरकार कुछ नही कर रही है।

आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने कहा कि आर्य समाज हरिजनो पर किसी भी प्रकार का अत्याचार या सौतला व्यवहार सहन नही करेगा। यह निश्चय कर आर्य समाज के लोग मूर्तिपूजा के विरोधी होने के बाद भी स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व मे नाथद्वारा के श्री नाथमन्दिर मे हरिजन भाईयो के साथ 12 जुलाई को प्रवेश करेंगे। आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने कहा कि आर्य समाज अजमेर का भी एक सौ एक सदस्यो का जत्था इसमे सम्मिलित होगा। उन्होंने जानकारी दी कि आठ जुलाई को पिंक सिटी मे स्वामी अग्निवेश के "जाति तोडो यज्ञ के लिए जाते समय अजमेर रुकने पर स्टेशन पर हार्दिक स्वागत किया जायेगा व आर्य समाज अजमेर के जत्थे को भी विदाई दी जायेगी। अजमेर के जत्थे का नेतृत्व आचार्य गोविन्दसिंह करेंगे।

निदेशक . दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक : रामसिंह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या 21010

संपादकीय

अस्पृश्यता मानवता के लिये कलंक तथा हिन्दुत्व के लिये घोर अभिशाप

विगत दिनो पुरी के शकराचार्य स्वामी निरजनदेव तीर्थ ने शास्त्रो के नाम पर छूआछूत का समर्थन तथा मन्दिरो मे प्रवेश उनके लिये निषेध बता कर मानवता के प्रति घोर अपराध किया है। आज जब किमनुष्य के पाव चन्द्रमा, मगल और शुक्र ग्रह तक पहुच चुके हैं समस्त विश्व एकसमुदाय बन रहा है शकराचार्य जैसे प्रतिष्ठित पदपर अधिष्ठित स्वामी निरजनदेव तीर्थ का धम और शास्त्रो के नाम पर मानव-मानव के बीच भेद पैदा करने की बात कहना सचमुच एक आश्चर्य जनक एव हास्यास्पद एव घिनौना दुष्कृत्य है जिसकी जितनी निन्दा की जाय उतनी ही कम है। भारतीय सविधानने सबको समान अधिकार दिये हैं। भारत का सविधान समाजवाद प्रजातत्र धमनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता, अखण्डता तथा स्वतत्रता समानता और बन्धुत्व की बात कहता है।

समस्त सृष्टि का कर्त्ता, जगत नियन्ता धर्ता और हर्त्ता सर्वशक्तिमान परमेश्वर एक है वही सबका पिता है सब मानव उसकी सन्तान हैं। एक पिता के सब पुत्र है। एकराष्ट्र के सब निवासी एक हैं। एक आर्य (हिन्दू) धर्म को मानने-विश्वास रखने वाले सब एक हैं। फिर ईश्वर की पवित्रतम वाणी 'वेद' पुकार-पुकार कर कहता है 'मनुर्भव' अर्थात् मनुष्य बनो। अमृतस्य पुत्रा' कह कर सबको सम्बोधित किया है। सगच्छध्व सवदध्व तथा 'समानो मत्र समिति समानी' मित्रस्याह चक्षुषा समीक्षामहे एव अज्येष्ठाय अकनिष्ठा' अर्थात न कोई छोटा हैं और न कोई बडा है सब समान हैं ऐसी अनूठी बातें कहता है। मर्यादापुरुषोत्तम राम ने कवट और निषाद को गले लगाया था। शबरी के बेर खाये थे महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मानव-मानव एक समान' का उद्घोष कर छूआछूत और अपृश्यता का विरोध किया था। स्वामी श्रद्धानन्द जी ने दलितोद्धार सभा बनाकर हरिजनो के उद्धार का बीडा उठाया था। तथा अली बन्धुओ द्वारा प्रस्तावित दलित विभाजन का डट कर विरोध किया। आर्य समाज ने अपने प्रारभकाल से ही छूआछूत को मिटाने ब्राह्मण-हरिजन का भेद दूर करने तथा समाज मे ऐक्य एव समरसता उत्पन्न करने के लिये अपने विद्यालयो गुरुकुलो तथा आश्रमो तथा समाज मन्दिरो के द्वार खोल दिये थ।

(शेष पृष्ठ 3 पर)

वेदामृत

पारम्परिक प्रवाह

इन्दुर्वाजी पवते गोन्योघा
इन्द्रे सोमः सह इन्वन्मदाय ।
हन्ति रक्षो बाधते पर्यरातिं
वरिवस्कृण्वन् वृजनस्य राजा ॥८॥

(सामवेद पावन पर्व)

(इन्दु) हृदयो को सरसाने वाला (वाजी) बलशाली (साम) वीर-रस(गोन्योघा)मातृभूमि मातृ-भाषा मातृ-सस्कृति का परम्परा-गत प्रवाह बहा कर (इन्द्रे मदाय) आत्मा मे हर्ष पैदा करने के लिए (सह-इन्वन) शक्ति की प्रेरणा करता हुआ (पवते) पवित्रता का प्रवाह लाता है। (वृजनस्य राजा) शक्ति का राजा (वरिव-कृण्वन वर प्रदान करता हुआ (रक्ष हन्ति) राक्षस का हनन करता है और (अराति परिबाधते) कृपण, आलसी, असहयोगी को चारो ओर से दबा देता है।

वीर भाव के बिना हृदय सूखे रहते हैं। युवको का जीवन वीररस द्वारा ही पनपता है। बहादुरी के विचार मात्र से हृदय मे एक हरियाली सी अनुभव होती है। भुजाओ मे बल का सचार हो जाता है। आत्मा अनुभव करता हैं कि मैं ससार का शासक हूँ। शत्रुओ को दबा सकता हूँ। कोई विघ्न-बाधा हो मैं उसे हटा सकता हूँ। विरोधी सब मेरे अधीन हैं। यह विचार आते ही एक विशेष प्रकार की मस्ती सी अनुभव होती है।

इस मद का प्रयोग अच्छा भी हो सकता है, बुरा भी। यदि इस वीररस के मद को "गोन्योघा" सस्कृत-रूपी भाषा के पारम्परिक प्रवाह का रखवाला—बना दिया जाय तो यह मद पवित्रता लाता है। सयाना सेनापति अपने सैनिको के कधो पर मातृ-भूमि मातृ-भाषा, तथा मातृ-सस्कृति की रक्षा का भार रख देगा उनका शत्रु राक्षसो को—अत्याचारियो को बना देगा, जिस से ससार का भौतिक तथा आध्यात्मिक भला हो।

सेना मे बल उमड रहा है। सारा दल युद्ध के लिये उत्साह का पारावार-सा बन रहा है। इससे ससार मे उत्पात भी मचा सकते हो और देशो तथा जातियो की सस्कृति-रूपी सपत्ति का विकास भी कर सकते हो। आर्यत्व रक्षा मे है। क्षत्रिय का काम है "क्षत" का "त्राण" अर्थात् पीडितों की रक्षा नाशोन्मुख जातियों का पुनः निर्माण। इस आर्यत्व के शत्रु दो प्रकार के होते हैं एक "राक्षस" अर्थात् बलात्कारी, दूसरे "अराति" अर्थात् कृपण अदान-शील असहयोगी। बलात्कार का तो हमेशा हनन ही करना करना चाहिए और यदि बलात्कारी बलात्कार को छोडने पर तैयार न हो तो उसकी गति भी वही है जो उसके राक्षस-स्वभाव की। राक्षस दूसरे को मारता है। अराति सहायता देने से इन्कार करता है। इन दो मे क्या भेद है? यह उदाहरण से और स्पष्ट हो जायगा। तैरना न जानने वाला एक मनुष्य नदी के किनारे खडा है। राक्षस उस नदी म धकेल कर डुबो देगा। अराति डूबत को हाथ नहीं देगा उसे बचायेगा नहीं। राक्षस बडा अपराधी है इसलिए उसके लिए दण्ड भी अधिक है। परन्तु जातीय जीवन में सहयोग न देना भी दोष है। यदि एक राष्ट्र, मिल रहे राष्ट्रो से अलग हो जाय और उनके सहयोग में सहायक न हो तो उसे सघ मे सम्मिलित होने के लिए बाधित करना आवश्यक है। इस प्रकार के असहयोग से भी जातियो के विकास मे भी बाधा पैदा होती है। यदि देश के साम्राज्य से कोई प्रान्त पृथक रहना चाहे तो साम्राज्य की स्थापना ही नही हो सकती।

वीर के हृदय में जब "वर्जने की"—विरोधियो के विरोध की शक्ति हिलोरे ले रही हो तो उसका उत्तम उपयोग इसी राक्षस-भाव के सहार तथा अराति-भाव के परिबाधित करने मे ही होगा। राक्षस तथा अराति व्यक्ति भी हो सकते हैं जातिया भी और तो और, अपने आत्मा मे भी यह भाव उठ सकता है। वीर-रस का प्रवाह इन सब के साथ एकसा बर्ताव करेगा। और अराति भाव को देगा। वीर का काम है वर प्रदान करना। जातियों को व्यक्तियो को अपने आत्मा को सभी वरन योग्य वस्तुएं देना।

सच तो यह है कि आत्मा का कल्याण समूह के कल्याण के साथ ही हो सकता है। विश्व-हित ही वास्तविक आत्महित है। उस हित के रास्ते से बाधाएं हटा देना उस हित की सिद्धि का श्री-गणेश है। वीर रस की सर्वोत्कृष्ट शक्तियां इसी कार्य में लगनी चाहियें—राक्षसों को मिटा देना, अरातियों को दबा देना।

प० चमूपति
(सोम-सरोवर में)

प्रो. मैक्समूलर के वेद सम्बन्धी विचार

— डा. कृष्णवल्लभ पालीवाल —

अधिकांश भारतीय प्रो० फ्रैडरिक मैक्समूलर को भारत का हितैषी और शुभचिन्तक समझते हैं क्योंकि उन्होंने भारतीय धर्म शास्त्रो और विशेषकर वेदो पर बहुत लिखा। उनके वेदाध्ययन का मूल उद्देश्य क्या था? वेदो मे उन्होंने क्या पाया? उनका वेदो के प्रति क्या दृष्टिकोण था और विश्व के धर्म ग्रन्थो मे वेदो का इनकी दृष्टि से क्या स्थान है यही इस छोटे से लेख का अभिप्राय है।

आपकी शिक्षा जन्म से जर्मन होने के कारण पहले लीपिग और फिर बर्लिन विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग के अध्यक्ष सस्कृतज्ञ प्रो हरमैन ब्रोखोस के निरीक्षण मे हुई। यहा के भाषा विशेषज्ञ फ्राजबोप और दार्शनिक शीलिंग के विचारो का मैक्समूलर पर प्रभाव पडा। तत्पश्चात् आप ऋग्वेद विशेषज्ञ फासीसी प्रोफेसर ओगीन बरनोफ के सस्कृत विभाग में पैरिस वेदाध्ययन के लिए (1846-47) आये। शिक्षा समाप्त कर एच एच विल्सन और बारोन बुनसन के आग्रह पर आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय मे वेदानुसधान के कार्य मे लग गये और आजीवन (1847 से 1900 तक) इसी विद्यालय के विश्व को अपने वेद, भाषा तुलनात्मक धर्म और भाषाओ के विकास सबधी विचार देते रहे। इन पचास वर्षों मे आपने "पूर्व की पवित्र पुस्तके सीरीज" के अन्तर्गत 25 धर्म ग्रन्थो का 50 भागो मे अग्रेजी अनुवाद किया। ये पुस्तकें वेद, उपनिषद् गीता, वेदान्त सूत्र से लेकर जैन, बौद्ध इस्लाम, फारसी एव चीन के धर्मग्रथो आदि के विषय मे हैं। स्वय मैक्समूलर ने वैदिक ऋचायें, उपनिषद धम्मपद, गृह्य सूत्र और बौद्ध महायन का अग्रेजी अनुवाद किया। भारतीय षट् दर्शनो पर 899 मे "Six Systems of Indian Philosophy" एक ग्रन्थ लिखा। आप के वेद सम्बन्धी भाषण The Vedas, India, what it can teach us? पुस्तको के रूप मे मिलते हैं।

प्रो मैक्समूलर के वेदभाष्य का आधार सायण भाष्य है जिसे इन्होंने पहले 6 भागो में (1849-1873) छपवाया और दूसरा सस्करण 4 भागो मे (1890-92 केवल सहिताए क्रमश 1873 और 1877 मे छपवाई।

लेख के प्रारम्भ मे उठाये गये प्रश्नो का सबसे प्रामाणिक उत्तर उनके वे शब्द होगे जिन्हे उन्होने कभी-कभी पत्रो आदि के रूप मे व्यक्त किया है। इसी मे उनके अन्तर मे छिपी भावना व्यक्त हो जावेगी, तो पढ़िये उन्ही के शब्दो मे—

प्रो मैक्समूलर के एक मित्र ई बी पूसी ने उन्हे निम्नलिखित पत्र तुम्हारा कार्य भारत के धर्म परिवर्तन के प्रयत्न मे एक नवीन युग का निर्माण करेगा और ओक्सफोर्ड विश्वविद्यालय आपको यह स्थान देकर धन्यवाद का पात्र है। यह मुख्य और अत्यन्त महत्वपूर्ण (वेदभाष्यादि) कार्य भारत के धर्म परिवर्तन के कार्य को सरल करेगा और उस प्रारम्भिक असत्य धर्म को इस सत्य धर्म जिसका हम पालन करते हैं तुलना करने योग्य करेगा।'

1886 मे प्रो मैक्समूलर ने अपनी पत्नी को एक पत्र इस प्रकार लिखा "मुझे आशा है कि मैं यह कार्य सम्पूर्ण करूंगा और मुझे पूर्ण विश्वास है हालाकि मैं उसे देखने को जीवित न रहूंगा तदपि मेरा यह सस्करण और वेद का भाष्य आज्ञत बहुत हद तक भारत के भाग्य पर और उस देश की लाखो आत्माओ के विकास पर प्रभाव डालेगा। वेद इनके धर्म का मूल है और मुझे विश्वास है कि उनको यह दिखाना ही कि वह मूल क्या है इस धर्म को नष्ट करने का एक मात्र उपाय है जो गत तीन हजार वर्षों से उससे (वेद से) उत्पन्न हुआ है।

16 दिसम्बर, 1868 को उन्होने तत्कालीन भारत के मन्त्री आरगायल के ड्यूक को निम्न पत्र लिखा "भारत का प्राचीन धर्म पतन हो गया है। यदि अब भी ईसाई धर्म नहीं प्रचलित होता है तो इसमे किसका दोष है?"

29 जनवरी 1822 को श्री बाईरेन्जी मालाबारी को इस प्रकार एक पत्र प्रो मैक्समूलर ने लिखा "जैसा कि मैंने पहले भी बताया कि मेरे विचार "हिबर्ट भाषण लिखते समय भारतीयो के बारे मे थे। मैं कम से कम उन थोड़े से लोगो को बताना चाहता हूँ जिन तक मैं अपने विचार अग्रेजी द्वारा पहुंचा सकता हूं कि इस प्राचीन धर्म का ऐतिहासिक महत्व क्या है जैसा कि समझा जाता हैं न केवल यूरोपीय या ईसाईयत की दृष्टि से बल्कि एतिहासिक दृष्टिकोण से। मैं दो आपत्तियो से चेतावनी देना चाहता हूं। प्रथम तो भारत के राष्ट्रीय धर्म की अवहेलना व न्यून मूल्याकन करना जो प्राय तुम्हारे अधूरे - यूरोपीय नवयुवको द्वारा किया जाता है और दूसरे अधिक महत्व देना या ऐसा अनुवाद करना जैसा कभी नही किया गया। ऐसा दुखद स्रोत दयानन्द सरस्वती के वेदो पर परिश्रम मे प्रदर्शित होना है। वेदो का प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थ मानो जिसमे एक पुरानी और सरल प्रकृति की जाति के मनुष्यो के विचारो का चित्रण है और तब तुम इसकी प्रशसा कर सकोगे और इसमे से इस आधुनिक युग मे भी विशेषकर उपनिषदो की शिक्षाओ को ग्रहण कर सकोगे। लेकिन इसमे खोज करो वाष्प इजन बिजली, यूरोपीय दर्शन और नैतिकता की। वेद को इस सत्य रूप से अलग कर दी इसके वास्तविक महत्व को नष्ट

(शेष अन्तिम पृष्ठ पर)

अस्पृश्यता (शेष पृष्ठ ८ का)

आज आर्य समाज मे कई बडे-बडे विद्वान, भजनोपदेशक, पुरोहित समाज के तथाकथित निम्न वर्ग से आये थे परन्तु उन्हे ऊचा मान- सम्मान और आदर दिया तथा उच्चवर्णों के साथ वे घुल मिल कर एक हो गये। अन्तर्जातीय विवाहो को प्रोत्साहन मिला। जातपात के बन्धन तोड दिये गये।

आज सनातन धर्म एव पौराणिक मतो के ये बडे-बडे धर्माचार्य और धर्मगुरु मठाधीश इस बात को क्यो नही समझ पाते कि इसी छुआछूत और जाति भेद की दुर्भावना और सामाजिक कुरीति के कारण राम और कृष्ण तथा वेद और गीता के करोडो अनुयायी मुसलमान और इसाई बन गये। देश का विभाजन हो गया। इन बिछुडे भाइयो को गले लगाना तो दूर उन्हे बराबरी का दर्जा देना और मानवाधिकारो मे भागीदार बनाना तो दूर उल्टा और अपनी दकियानूसी रूढिवादी, प्रतिक्रियावादी एव कुण्ठाग्रस्त सकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय देकर छूआछूत को शास्त्र सम्मत बताने का दुस्साहस किया जा रहा है और मन्दिरो मे उनके अबाध प्रवेश को रोका जा रहा है। सचमुच शकराचार्य जैसे लोगो का ऐसा दुष्चिन्तन विकृत मष्तिष्क की उपज और मदान्ध मनोवृत्तिका परिचायक है। धिक्कार और लानत ऐसे धर्माचार्यों और धर्म के ठेकेदारो को! कोई धर्म इन्सान-इन्सान मे भेद नही कर सकता। ऐसा धर्म धर्म कहलाने का हकदार नही है।

खेद है कि वोटो की राजनीति तथा तुष्टीकरण एव फूटपरस्ती कूटनीति के कारण आज झूठ को डके की चोट झूठ नही कहा जा रहा है तथा सत्य का गला घोटने का दुष्प्रयत्न हो रहा है अन्यथा भारतीय सविधान और सर्वोच्च न्यायालय के फैसेलो तथा ससद द्वारा किये गये सर्वसम्मत निर्णयो की खुले आम इस प्रकार से धज्जियां उडाने का दुस्साहस नही होता। चाहे सती प्रथा निषेध की बात हो, चाहे छूआछूत के उन्मूलन की बात हो अथवा महिला उद्धार की, आवश्यकता इस बात की है कि सरकार अपने बनाये कानूनो की कडाई से पालना करने तथा सविधान मे उल्लिखित मानदण्डो एव मानवाधिकारो की रक्षा करने के लिए अप्रिय कठोर कदम उठावे। समाज सुधारक एवं जागरूक सस्थाएं भी सक्रिय होकर समाज के सामान्य जनो मे ऐसी चेतना एव वैचारिक क्रान्ति उत्पन्न करे कि धर्म के तथा कथित ठेकेदारो को ऐसा अनर्गल प्रलाप करने की हिम्मत नही हो।

'शकराचार्य होश में आओ, छूआछूत को दूर भगाओ'

—रामसिंह

रजिस्ट्रार महोदय,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ०प्र०)

डाक पं. स. RJ/AJ-169

सती प्रथा वेद विरुद्ध है

—न्यायमूर्ति पानाचन्द जैन—

वेदो मे सती प्रथा का कही भी उल्लेख नही है और उसे धार्मिक नही माना जा सकता।

राजपूतो मे जौहर के द्वारा जीवन त्यागने की घटनाओ के पीछे पति के पीछे जल मरने की भावना न होकर अपने चरित्र की रक्षा करना होता था। उसमे और सती में बड़ा फर्क है।

ऋग्वेद मे जिस ऋचा पर सती' को धार्मिक बताया जाता है उसके 'अग्रे शब्द को कट्टर पन्थियो ने 'अग्ने' बनाकर स्त्रियो को जलाना धार्मिक मान लिया जो सरासर अनुचित है। दिवराला जैसी घटनाएं दुबारा न हो इसके लिए सख्त कदम उठाए जाने चाहिये।

सती प्रथा का प्रारम्भ 16वी सदी से प्रारम्भ हुआ। राजस्थान मे इस का अधिक प्रसार हुआ। 17वी सदी मे सवाई मानसिंह ने जो जयपुर के महाराज थे उन्होने कानून किया कि कोई भी स्त्री अपने पति की चिता के साथ नही जलेगी मुगल-शासक ने भी इसका विरोध किया था। अकबर को जब यह मालूम हुआ कि जोधपुर की एक रानी सती होना चाहती है तो वे स्वय वहा गये और उसे रोका। अत इतिहास सती प्रथा के विरोध से भरा पडा है। राजा राममोहन राय के बडे भाई की मृत्यु के पश्चात उनकी भाभी को जिन्दा जला दिया गया। इसे देखकर उनके मन मे इस प्रथा के विरुद्ध विरक्ति हो गई। 1929 मे उन्होने अंग्रेज सरकार से अनुरोध कर इसका कानून बनवाया तब भी अनेक पण्डितो ने इसका विरोध किया। 120 पण्डितो ने इस पर हस्ताक्षर किये थे।

जुलाई 1932 में प्रीवी काउन्सिल ने सती प्रथा को अवैध करार दिया अत इसके विरोध का अधिकार किसी को भी नही। यहाँ तक कि सुप्रीम कोर्ट को भी नही। केवल सुप्रीम कोर्ट मे इस पर फिर विचार ही किया जा सकता है

1950 मे भारत ने नया अपना सविधान बनाया। उसकी धारा 25,26 मे यह कहा कि धर्म के सम्बन्ध मे प्रत्येक नागरिक स्वतन्त्र है किन्तु धर्म तरीका लोक व्यवहार सदाचार व स्वास्थ्य के विरुद्ध है तो मान्य नहीं होगा। एक्ट 26 मे प्रत्येक सस्था धर्म मे स्वतन्त्र है यदि वह लोकाचार व्यवहार व स्वास्थ्य के लिए हानि कारक नही हो।

सती प्रथा को प्रथा नही कहा जा सकता क्योंकि वह लगातार अपनाया नही जाती थी न ही प्रत्येक व्यक्ति इसे अपनाता है अत इसे प्रथा नही मान सकते। इस लिए सती प्रथा धार्मिक प्रथा नही है अधार्मिक है अनुचित है। धारा 51 मे नागरिक के कर्त्तव्य बनाये हैं—महिलाओ की इज्जत सुरक्षा उसकी देखभाल आदमी का कर्त्तव्य है। मैंने सती होना सुना है लेकिन यह कभी नही सुना कि कोई आदमी सता हुआ। क्या यह प्रथा मात्र नारी पर लागू होती है?

अत मानवीय मूल्यो को प्रतिस्थापित मानते हुए इस प्रथा को खत्म करना होगा। भारतीय सविधान मे लिंग भेद मानना अवैध है इस लिए सती प्रथा अवैध है। अत राजस्थान कोर्ट ने इसके विरुद्ध जो कानून पास किया वह उचित है।

ए-21 मे कहा गया गया है कि जीने का अधिकार सबको है। आत्म हत्या का नही। सती होना अवैध है किन्तु सती के कारण गौरवान्वित करना भी गलत है उसे भी सजा दी जानी चाहिये। (आर्य समाज सान्ताक्रूज मे दिए गए भाषण के भाषण आधार पर)

(शेष पृष्ठ तीन का)

कर दो और तुम प्राचीन और अर्वाचीन के ऐतिहासिक क्रम को जो इन्हें बाले हुए है छिन्न-भिन्न कर दो। अतीत एक सत्य ऐसा मानो। उसका अध्ययन करो तब तुम्हे भविष्य मे अपना ठीक मार्ग अपनाने मे कम कठिनता होगी पाठक यहा प्रो साहब की अन्तरात्मा के भावो को समझ गऐ होगे और वे किस प्रकार महर्षि दयानन्द भाष्य शैली के प्रशंसित प्रतीत होते हैं। समझते होंगे दयानन्द की शैली के के आगे मेरी दाल न गलेगी।

उन्होंने अपने पुत्र को इस प्रकार लिखा तुम पुछोगे कि विश्व में कौन सी पवित्र (धार्मिक) पुस्तक सर्वश्रेष्ठ है? शायद यह उत्तर पक्षपात पूर्ण प्रतीत हो। लेकिन मैं सब में बाईबिल के न्यू टेस्टामेंट को कहूगा उसके पश्चात् कुरान को स्थान दूगा जो अपनी नैतिक शिक्षाओ मे बमुश्किल न्यूटेस्टामेंट के सस्करण से श्रेष्ठ है। उसके पश्चात् क्रमश ओल्ड टेस्टामेंट, दक्षिणी बौद्धो की त्रिपिटिका लाओत्से के टाओद, पुनः कन्फ्यूसिस वेद और अवेस्ता।

१८९९ मे प्रो मैक्समूलर ने ब्रह्मसमाजी एन, के मजूमदार को निम्नलिखित पत्र लिखा —"तुम जानते हो कि मैंने तुम्हारे भारत के प्रिय धर्म को शुद्ध करने के प्रयत्न एव उसके द्वारा उसे अन्य-अन्य धर्मों विशेषकर ईसाईयत की पवित्रता और पूर्णता से समीप लाने के कार्य का अनेको वर्षों अध्ययन किया है। सबसे पहले तुम्हे निश्चय करना है कि तुम अपने प्राचीन धर्म का कितना भाग त्यागने को तैयार हो। यदि उसका सर्वस्व नहीं जो पुराना कहा जाता है, तुमने काफी मात्रा मे त्याग दिया है। बहुदेवतावाद मूर्तिपूजा और धूमधाम से की गई बलि पूजा।

तत्पश्चात न्यूटेस्टामेंट उठाओ और स्वय पढो और स्वय निर्णय करो कि उसमे लिखे ईसा के शब्द तुम्हे सतुष्ट करते हैं अथवा नही। ईसा के श्रद्धायुक्त वचनो मे अन्तर निहित उपदेश तुम तक वैसे ही आवेंगे जैसे ही हम तक आते हैं। हमें भी इन उपदेशो का अपना अर्थ देने का अधिकार नहीं है, विशेषकर यदि हम इनका स्वय भिन्न अर्थ करें यदि तुम उनकी शिक्षाओ को यथावत स्वीकार करो तो तुम भी ईसाई हो (या हो सकते हैं)। तुम मुझे अपनी मुख्य परेशानियां बताओ जो तुम्हें स्पष्ट रूप से ईसाई बनने मे बाधा डालती हैं और जब मैं लिपि मे स्पष्ट करने की पूर्ण कोशिश करूंगा कि किस प्रकार मैंने और मेरे साथियो ने उनका मुकाबला किया है और उन्हें हल किया है। मेरी दृष्टि मे भारत का मुख्य भाग ईसाई बन चुका है। तुम्हे ईसाई बनाने मे समझाने बुझाने की जरूरत नही है। तब तुम स्वय अपने (धर्म परिवर्तन) के बारे में विचार करो।

निःसन्देह न्यू और ओल्ड टेस्टामेंट की नैतिक एवं धार्मिक शिक्षायें किसी भी अन्य पवित्र पुस्तक से कहीं उत्तम है। इसमे बाइबिल की अद्वितीयता अन्तर्निहित है साधारणतया अन्य पवित्र पुस्तकें प्राचीन काल के लोगों को भी स्मरण रहा उनका सचय मात्र हैं।

तुमसे पूर्वाधिकारियो ने पुल निर्माण कर दिया है निर्भयतापूर्वक आगे बढो। यह तुम्हारे कारण टूटेगा नही और उस पार तुम्हारे स्वागत के लिये अनेको मित्र हैं जिनमे तुम्हारा पुराना मित्र और साथी फ्रेडरिक मैक्समूलर से ज्यादा कोई प्रसन्न न होगा।

प्रोफेसर मैक्समूलर के उपरोक्त उद्धरणो से आपको अब स्पष्ट हो गया होगा कि पचास वर्ष तक वेदाध्ययन करने पर इन्हे वेदो मे क्या मिला और जो मिला उसे किस प्रकार नष्ट-भ्रष्ट करके जनता के सामने रखने का निर्देश दे रहे हैं। ऋग्वेद के अन्तिम सूक्त तो मानवमात्र को एक परिवार के रूप मे देखने व रहने और व्यवहार करने का आदेश देते हैं बचपने के विचार लगते हैं। ऋग्वेद जो स्टुअर्ट पिगोट के शब्द मे Iliad और Odyssey दोनो के मिलकर बराबर है सामान्य ज्ञान से भरा श्लोके हुआ जबकि सत्य यह है इस ईश्वरीय ज्ञान भडार का सत्यार्थ अटकलबाजी या कुत्सित मान्यताओ से नही निकलता इसके समझने के लिए आर्ष प्रणाली की आवश्यकता जिसे महर्षि दयानन्द ने पुनरुद्धार किया और जिसे वे अधिक मूल्यांकन कहते हैं। जबकि सचाई यह है कि उदात्त विचारो से पूर्ण वेद ज्ञान को हेय सिद्ध करें ताकि ईसाईयत के प्रचार का मार्ग सरल हो जावे, यह भावनायें स्पष्ट होती हैं उनके आखिरी उद्धारण से। उनके सस्कृत और वेदाध्ययन का मूल उद्देश्य तो भारतीयों का धर्म परिवर्तन न करना था उन्होने समझ लिया कि वेद भारतीयो के प्राण है उनमे अश्रद्धा उत्पन्न करके ही हम उन्हे ईसाई बना सकते हैं और यही मार्ग उन्ने

निःसन्देह पाश्चात्य विद्वानो ने अनुसधान के नाम पर वेदो के साथ जबरदस्त अन्याय कर वेदों के लोक कल्याण के इतिहास को अपने हित मे परिवर्तित कर गलत कार्य किया।

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिंटर्स अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रामसिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।
सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द . 163
सृष्टि सम्वत् : 1972949088

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 4 शुक्रवार 15 जुलाई, 1988
अक : 13 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

आषाढ़ शु 2 सवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

नाथद्वारा पदयात्रा ने एक सार्थक बहस को जन्म दिया

पुरी के शकराचार्य स्वामी निरजन देव तीर्थ के हरिजनों के मदिर प्रवेश निषेध सम्बन्धी वक्तव्य ने स्वामी अग्निवेश को नाथद्वारा के मन्दिर मे हरिजन प्रवेश कराने को लेकर उदयपुर से नाथद्वारा की पदयात्रा करने का अवसर उपलब्ध कराया।

पदयात्रा के कार्यक्रमानुसार स्वामी अग्निवेश 8 जुलाई की रात्रि को आर्य समाज, उदयपुर पहुचे। उनके साथ आचार्य गोविन्दसिंह के नेतृत्व मे गए अजमेर आर्य समाज के साठ सदस्यीय जत्थे के अतिरिक्त जयपुर के श्री व श्रीमती सत्यव्रत सामवेदी, सुभाष वेदालकार व राज आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान छोटूसिंह तथा कई राष्ट्रीय दैनिकों के सवाददाता भी थे।

स्वामी अग्निवेश को नाथद्वारा पदयात्रा को लेकर सर्वप्रथम विरोध का सामना अपने ही सगठन के एक अग उदयपुर आर्य समाज के प्रधान जे एस मेहता द्वारा करना पड़ा। मेहता का तर्क था कि आर्य समाज मूर्ति पूजा को नही मानता, इसलिए श्रीनाथ मन्दिर मे हरिजनो को प्रवेश कराने की बात आर्यसमाज व वैदिक धर्म के सिद्धान्तो के विरुद्ध है। अपने उक्त तर्क को लेकर मेहता ने 9 जुलाई को दिन मे कई बार स्वामी अग्निवेश को नाथद्वारा पदयात्रा स्थगित करने हेतु कहा किन्तु उन्होने दृढ़तापूर्वक ऐसा करने से इन्कार कर दिया। इससे पूर्व मेहता

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

8 जुलाई की शाम को ही 'पदयात्रा' के विरोध मे अपना वक्तव्य जारी कर चुके थे और आर एस एस समर्थक दैनिक राजस्थान पत्रिका ने इसे सुर्खियो मे छापा। 9 जुलाई की सुबह श्री छोटूसिंह के कहने पर उदयपुर आर्यसमाज की कार्यकारिणी की 'पदयात्रा के सम्बन्ध मे बैठक आयोजित की गई।

जे एस मेहता के अनुसार बैठक मे प्रतिनिधि सभा के प्रधान छोटूसिंह के निर्देश व आग्रह के बावजूद कार्यकारिणी ने सर्वसम्मति से नाथद्वारा पदयात्रा को समर्थन न देने का प्रस्ताव पारित किया। जबकि पदयात्रा मे सम्मिलित उदयपुर आर्य समाज के मत्री श्री हरिनारायण शर्मा प्रचारमत्री हजारीलाल जाटोलिया व कोषाध्यक्ष कार्यकारिणी के सर्वसम्मत निर्णय पर प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। वैसे बाद मे मेहता के विरोध के कारण का भी पता चला कि जनाब उदयपुर की विश्व हिन्दू परिषद के उपप्रधान हैं। उदयपुर आर्यसमाज (या फिर जे एस मेहता एन्ड कम्पनी) के पदयात्रा के विरोध को प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री छोटूसिंह दबा नही पाए इससे उनकी भी छवि एक अशक्त और नाम मात्र के प्रधान के रूप मे ही उभरी। बाद मे कई आर्य महानुभावो ने उनकी इस कमजोरी के लिए उन्हे जी भर के कोसा भी। आर्यसमाज की मण्डी, कोटा के मत्री श्री रामदेव शर्मा के शब्दो मे, 'प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री छोटूसिंह ही नही अपितु सार्वदेशिक के प्रधान स्वामी आनन्दबोध भी एक कमजोर और प्रभाव हीन प्रधान हैं।'

स्वामी अग्निवेश की नाथद्वारा पदयात्रा ने मानवाधिकारो के विषय मे चली बहस को जहा एक नई दिशा दी, वही इसने आर्यसमाज के सुधारवादी स्वरूप को जन साधारण मे व्यापक प्रचार दिया। भगवे वस्त्रों मे आर्य सन्यासियो के नेतृत्व मे पदयात्रा उन सुदूर ग्रामीण अचलो म आर्यसमाज का नाद गुजाते हुए निकली जहा आर्यसमाज का कोई प्रचारक सामान्य रूप मे कभी जाने की कल्पना भी नही कर सकता। भारत के ही नही अपितु दुनिया भर के समाचार माध्यमो ने पदयात्रा की समालोचना करके आर्यसमाज को व्यापक प्रचार दिया। आचार्य दत्तात्रेय आर्य के शब्दो मे 'स्वामी अग्निवेश की पदयात्राओ से ही आज जन साधारण को यह महसूस होता है कि आर्य समाज अभी जीवित है। भले ही वे हरिजनो को श्रीनाथ के मन्दिर मे प्रवेश नही करा पाए,

(शेष पृष्ठ 2 पर)



स्वामी अग्निवेशजी अजमेर के आर्यसमाज-भवन में पदयात्रियो को सम्बोधित करते हुए।

आर्यसमाज का पुनर्गठन और आर्यसमाज में घुसपैठिए

ज्यों-ज्यों आर्यसमाज की कलेवर वृद्धि हो रही है, त्यों त्यों इसमें मति शैथिल्य बढ़ रहा है। इस मति शैथिल्य अथवा आन्तरिक टूटन का एक मुख्य कारण है कि आर्यसमाज के हरे भरे क्षेत्र में घुसपैठिए रूपी चालाक शृगाल घुस गए हैं जो निर्भीक रूप से इसकी हरियाली चर रहे हैं। ये घुसपैठिये दो प्रकार के हैं:- (1) राजनैतिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति (2) धन लोलुप वृन्द। विभिन्न राजनैतिक दलों से सम्बद्ध व्यक्ति आर्यसमाजों के अधिकारी पदों पर येन केन प्रकारेण आसीन होकर यहां की धन व जन शक्ति का दलगत स्वार्थ सिद्धि मे मनमाना उपभोग कर रहे हैं। एक प्रकार से आर्यसमाज का मंच उनकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का अखाड़ा बना हुआ है। इन्हें आर्यसमाज के रचनात्मक कार्य, वेद प्रचार, वैदिक शोध, आर्य संस्थाओं की प्रगति, तथा आर्यों की कठिनाइयों का ध्यान नहीं है, न ही आर्यसमाज के भविष्य की इन्हें चिंता है। ये निष्ठावान् आर्यों को चुन-चुन कर समाज से बाहर निकालते हैं, उन्हें कुछ करने नहीं देते हैं, यदि वे आग्रह पूर्वक कुछ करते भी हैं, तो उन्हें लांछित करते हैं, तथा ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर देते हैं कि उन्हें या तो अपने सत्प्रयासों को स्थगित कर देना पड़ता है या वे विवश हो कर समाज को ही छोड़ बैठते हैं। ऐसी दशा में प्रतिरोध न हो तो क्या हो?

वर्तमान में आर्यसमाज में पल्लवित गुटबन्दी की विष बेल भी इन्हीं राजनीतिक लुटेरों की देन है। क्या सुन्दर कर्म बना है कि आर्यसमाज को राजनीति के प्रलोभनों के कीचड़ से बचाने के लिए राजार्य सभा का गठन नहीं किया गया, जिस के द्वारा वैदिक राजनीति का पक्ष कुछ तो उजागर होता, पर विभिन्न राजनीतिक दलों की अनुगामिता की परिधि में ओजस्वी आर्यसमाज की अग्रगामी पद गति को कैद कर दिया गया है। अनेक उदाहरणों में आर्यसमाज के रचनात्मक कार्यक्रमों को विभिन्न दलों के स्वार्थों की टक्कर में चूर-चूर कर दिया जाता है। परिणामत आर्य समाज शक्ति संपन्न होते हुए भी वेद प्रचार के क्षेत्र में निष्प्राण बना है, अमित धन व परिश्रम व्यय करके भी प्रभावहीन है कुछ ऐसी स्थिति धन लोलुपों द्वारा भी उत्पन्न कर दी गई है। इन्होंने भी आर्यसमाज को अपनी लिप्सा की पूर्ति का अखाड़ा बना रखा है। कई बार ये अत्यन्त घृणित हथकण्डे अपनाने से भी नहीं हिचकते, जिससे आर्यसमाज की बदनामी होती है। इस प्रकार इन तथाकथित बनावटी आर्यों (घुसपैठियों) के पापकर्मों का कुफल आर्यसमाज को भोगना पड़ रहा है। आर्य समाज बदनाम भी होता है, और इसमें निष्क्रियता तथा प्रतिरोध भी होता है, जिसका परिणाम हो रहा है कि आर्यसमाज में आंतरिक विर्बलता, परस्पर उदासीनता व्याप्त हो रही है; और आर्यसमाज महर्षि के उद्देश्यों से दूर-दूर चला जा रहा है, और ये घुसपैठिये चैन की बंसी बजा रहे हैं आर्य-समाज की बर्बादी के दृश्य को देख कर सन्तोष की सांस ले रहे हैं।

आर्यसमाज की भावी प्रगति के लिए इन आदर्शों के हत्यारों से आर्यसमाज की शुद्धि करनी होगी, अवश्यमेव करनी होगी। पर यह हो कैसे? आर्यसमाज के कर्णधार दिशा निर्देशन करेंगे।

—डा. पुष्पावती आचार्या,
मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल, वाराणसी।

पृष्ठ 1 का शेष

[illegible] स्वरूप [illegible] सुधारवादी स्वरूप [illegible] राजस्थान में व्यापक प्रचार हो [illegible] है।

पदयात्रा में स्वामी जी का नाथद्वारा के क्षेत्र में [illegible] हिंसक रूप से जोरदार विरोध किया। [illegible] सनातनी हिन्दुओं [illegible] सभी राजनैतिक [illegible] धर्मनिष्ठ [illegible] का खुलकर [illegible] और तो और सोहटी [illegible] न्यायाधीश श्री गुमानमल लोढ़ा भी [illegible] पार्टी के [illegible] के निर्देश पर पदयात्रा में शरीक नहीं हुए (राजनीति सच्चे से सच्चे ईमानदार की [illegible] लोढ़ा साहब!)। 9 जुलाई को जब उदयपुर में स्वामी अग्निवेश की सभा में पथराव व नारेबाजी करने वाले युवकों में कांग्रेस (इ) का एक नव निर्वाचित सरपंच भी था। कांग्रेस की [illegible] स्थानीय कार्यकर्ता भी [illegible] पदयात्रा को विफल करने में लगी हुई थी ही। भाजपा के पूर्व विधायक विजय [illegible] पदयात्रा को रुकवाने के लिए स्वामी अग्निवेश से मिले। कांग्रेस के पूर्व विधायक मनोहर कोठारी तो 'नाथद्वारा समर्थ समिति' के शिष्टमंडल के नेता के रूप में मिले और पदयात्रा का विरोध कर क्षेत्रीय जनता की धार्मिक व जातीय भावनाओं को भड़का कर पुनः अपनी राजनीतिक छवि को उभारने की कोशिश करते हुए प्रतीत हुए। नाथद्वारा क्षेत्र के वर्तमान प्रगतिशील? कांग्रेसी विधायक सी. पी. जोशी धार्मिक परम्पराओं के नाम पर हरिजनों के मन्दिर प्रवेश का विरोध कर रहे थे तो दूसरी ओर राजस्थान के मुख्यमंत्री शिवचरण माथुर केन्द्रीय मंत्री डा. राजेन्द्र कुमारी वाजपेई के स्पष्ट निर्देश के बावजूद भी पदयात्रा को मंजिल तक न पहुंचने देने पर आमादा थे। उत्तर प्रदेश से अपनी दो युवा साथी सहयोगिनियों (कुमारी रेखा व कुमारी भावना) के साथ पदयात्रा में सम्मिलित 'उत्तराखंड समर्थ समिति' के [illegible] सी. तिवारी के शब्दों में, "हरिजन मन्दिर प्रवेश के मसले पर देश की [illegible] विरोधी है।

[illegible]

[illegible] (25) [illegible] पुष्टि [illegible] कि नाथद्वारा मंदिर में [illegible] नहीं [illegible] किया जाता है। दोनों महिलाओं ने [illegible] की [illegible] कर [illegible]। [illegible] पूरी [illegible], जिसमें एक भी हरिजन नहीं है, वे एक [illegible] युवक का कहना है कि वास्तव में नाथद्वारे में हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश नहीं करने नहीं दिया जाता। लेकिन यह हमारी धार्मिक परम्परा है। [illegible] समाजी कौन होते हैं? इसके साथ ही वह यह भी कहता है कि स्वामी अग्निवेश एक अच्छे और साहसी व्यक्ति हैं और वे यह पदयात्रा केवल बिना किसी राजनैतिक स्वार्थ के कर रहे हैं। इसलिए उसकी हार्दिक कामना है कि पदयात्रा के दौरान उन्हें कोई शारीरिक नुकसान न पहुंचे। बाद में इस युवक की उक्त हार्दिक कामना पूर्ण भी हुई और, नाथद्वारा से लगभग 13 कि. मी. पूर्व ही 12 जुलाई को क्षेत्रीय जनता में तनाव को दृष्टिगत रखते हुए पदयात्रा के काफिले को आगे बढ़ने से रोक दिया गया। बाद में पदयात्रा में सम्मिलित अग्निवेश के निकट सहयोगी सार्वदेशिक युवक परिषद के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री जगवीर सिंह ने पदयात्रा के इस तरह के पटाक्षेप पर असन्तोष प्रकट किया व दलित सेना संघ के पदाधिकारी धर्मवीर ने तो इसे स्वामी अग्निवेश व राज्य सरकार की मिलीभगत ही करार दिया।

श्री धर्मवीर का कहना है कि स्वामी जी को पदयात्रा करने से पूर्व [illegible] और [illegible] हरिजनों के अतिरिक्त नाथद्वारा क्षेत्र के हरिजनों [illegible] तथा [illegible] हरिजनों [illegible]

[illegible]

(शेष पृष्ठ 8 पर)

—सम्पादकीय

सिद्धान्तों की रक्षा के खातिर आर्यसमाज का नेतृत्व स्पष्ट निर्णय ले।

अब समय आ गया है कि आर्य समाज के नेतृत्व वर्ग ढिलमुल एवं अस्पष्ट नीतियों का त्यागकर दो टूक निर्णय ले। "हां" में भी और 'न' में भी साथ-साथ नहीं चलेगा। सही समय पर सही दृष्टिकोण व्यक्त नहीं करने, सही कदम नहीं उठाने, समन्वित आवाज नहीं उठने से स्वयं आर्यजनों में भी मति भ्रम उत्पन्न होता है और फिर स्थानीय इकाईयां अपनी-अपनी ढफली अपना अपना राग अलापती हैं।

अभी 'अग्निवेश' जी के द्वारा उद्घोषित अस्पृश्यता विरोधी नाथद्वारा मन्दिर प्रवेश पदयात्रा का ही ताजा उदाहरण लें। स्वामी जी की आर्य समाज और महर्षि दयानन्द के प्रति अनन्य निष्ठा है। वे क्रांतिकारी, प्रगतिशील, वैदिक विचारधारा के पोषक हैं। उन्होंने एक कार्यक्रम की अपने स्तर पर घोषणा कर दी। अपने समर्थकों, प्रशंसकों, शुभचिंतकों और अनुयाईयों को कार्यक्रम भेज दिया और निकल पड़े पदयात्रा पर। हो सकता है वे आर्य समाज के एक वर्ग विशेष का अथवा गुट विशेष अथवा विचार धारा विशेष का प्रतिनिधित्व करते हों। उनका सर्वमान्य नेतृत्व न हो परन्तु वे अदम्य साहस और उत्साह तथा प्रभाव के कारण "एकला चलो रे" की नीति पर चलते हुए महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के नाम पर कार्यक्रम देकर अपने मिशन हेतु कार्यक्षेत्र में कूद पड़ते हैं। कोई साथ आवे या न आवे, उससे अपेक्षित प्रचार प्रसार तो हो जाता है, हलचल भी खड़ी मचती है, आर्यसमाज का नाम भी सुर्खियो मे आ जाता है परन्तु सम्पूर्ण आर्यसमाज सगठन और नेतृत्व का सक्रिय सहयोग नही मिलने के कारण अपेक्षित सफलता नही मिलती है, कई बाधाओ एव कठिनाइयो का सामना करना पडता है, इसके बावजूद वांछित सफलता प्राप्त नही होने पर हताशा के भाव उभरते हैं। स्वयं सगठन में से विरोध के स्वर उभरते हैं जो कभी सिद्धान्तो का मुलम्मा चढाये रहते हैं तो कभी कोरी आलोचनामात्र होती है।

जिस प्रकार हैदराबाद 1938-39 के सत्याग्रह तथा 1957 के हिन्दी रक्षा आन्दोलन अथवा 1967-68 मे गौरक्षा आन्दोलन की भांति अगर आर्य समाज की सम्पूर्ण सगठनात्मक शक्ति तहेदिल से तन, मन, धन से दिवराला सतीप्रथा विरोधी पदयात्रा एव नाथद्वारा की छुआछूत उन्मूलना एव मन्दिर प्रवेश पदयात्रा मे लग जाती तो जहां सरकार को मजबूर होकर घुटने टेकने पड़ते तथा आर्य समाज की विरोधी शक्तियो को भी उसकी शक्ति एव तेजस्विता के आगे झुकना पडता, नत मस्तक होना पडता। जनतापर ज्यादाधाक जमती, सिद्धान्त प्रिय लोग भी हिम्मतकर के आगे आते। उदयपुर नगर की सभा से लेकर नाथद्वारा के पास नेगडिया तक जिस प्रकार का अशोभनीय विरोध एव हुल्लड बाजी तथा गुण्डागर्दी आरम्भ। विरोधियों द्वारा की गई तथा नाथद्वारा मावली, कांकरोली, राजसमन्द, उदयपुर बन्द के आह्वान हुए यह सब आर्य समाज की आंख खोलनेके लिए पर्याप्त है। अकेले अग्निवेश जी और उनके साथ जाने वाले 100-200 पदयात्री अपनी जान की बिना चिन्ता किये कड़े पुलिस के पहरे मे सबकुछ कष्ट और विरोध सहन करते रहे तथा लाखो ... । आर्य जन नेतागण सभा सम्मेलन और स्समगो में गला फाड-फाड कर भाषण देते तथा सहानुभूति के प्रस्ताव पारित करदे, इससे कुछ होना जाना नही है। इसस तो आर्यसमाज की फूट जग जाहिर होती है। आर्यसमाज जैसे तपस्वी एव बलशाली सगठन की अकर्मण्यता और निकम्मापन लोगो के सामने आता है तथा विरोधी लोगो का बौद्धिक दिवालियापन और खोखलापन ही दृष्टिगत होता है।

(शेष पृष्ठ 4 पर)



अजमेर आर्यसमाज के जत्थे के साथ स्वामी अग्निवेश, साथ मे दायें जत्थे के नेता आचार्य गोविन्द सिंह और स्वामी जी के बाये श्री रासासिंह।

(पृष्ठ 2 का शेष)

नाथद्वारा पदयात्रा

कितने हरिजनो ने भाग लिया? महत प्रभुदास व उनके एक दो सहयोगियों के अतिरिक्त और कौन था? 'श्री धर्मवीर की राय मे स्वामी जी को जेल भरो आन्दोलन चलाना चाहिए था।

स्वामी अग्निवेश के पुराने सहयोगी श्री जगवीरसिंह कहते हैं कि, "लगता है कि अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु स्वामी जी वैदिक सिद्धान्तो से हटते जा रहे हैं। बाबा साहब अम्बेडकर वैदिक धर्म तथा कथित हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधियो मे से एक थे। उन्होने वेद रामायण आदि शास्त्रों के अतिरिक्त राम व कृष्ण आदि महापुरुषो की कटु आलोचना की है। उन्होने हजारो हिन्दुओ को बौद्ध मत मे दीक्षित किया है। मैं मानता हूं कि उक्त सभी तथ्यो का दृष्टिगत रखते हुए अम्बेडकर की जय बोलना सरासर गलत है।"

श्री जगवीर सिंह हमारे इस कथन पर सहमति व्यक्त करते है कि स्वामी जी कुछ ऐसे लोगो को अपने आन्दोलन का अगुवा बना देते है कि जो सहयोग तो नाममात्र का ही देते हैं परन्तु उसकी कीमत पर अपने क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों की रोटी सेकना चाहते हैं। दिल्ली के धर्मेंद्र कहते हैं कि, 'शंकराचार्य का अपने बयान से मुकर जाना हमारी सबसे बड़ी जीत है।'

अलवर जिले से आए एक आर्य युवक का कहना था, "लगता है कि अग्निवेश अभी तक आर्यसमाजियों की नजरो मे विश्वसनीय नही बन पाए हैं। अन्यथा पदयात्रा के आयोजन मे धन व जन की इतनी कमी नही रहती। और जब देश के आर्यसमाजी भारी संख्या मे पदयात्रा में आतेतो सरकार की उन्हे रोकने की हिम्मत नही होती।' अन्त मे आचार्य गोविन्दसिंह के शब्दो मे, "स्वामी अग्निवेश की नाथद्वारा पदयात्रा ने छुआछूत की भावना को समाप्त करने के विषय मे एक सार्थक बहस को जन्म दिया है। कालान्तर मे यह बहस हरिजनो को उनका समानता का अधिकार दिलाकर ही रहनी।'

राजिस्ट्रार महोदय,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार [उ०प्र०]

15 जुलाई 1988 आर्यपुनर्गठन पाक्षिक R J/A.J 169



बायें से दायें पदयात्रियो को सम्बोधित करते हुए आचार्य दत्तात्रेय आर्य, श्री रासासिंह आचार्य, गोविन्दसिंह। और स्वामी अग्निवेश का स्वागत करते हुए आचार्य दत्तात्रेय आर्य।

सिद्धान्तों की रक्षा .

(शेष पृष्ठ तीन का)

चाहे पजाब मे आतकवाद की समस्या के उन्मूलन एव मुकाबला करने की बात हो, चाहे हरिजनों एव दलितो के साथ होने वाले अमानवीय व्यवहार करने की और छुआछूत को मिटाकर समानता का व्यवहार करने की बात हो, बालविवाह, सतीप्रथा, दहेजप्रथा शराबखोरी को नेस्तनाबूत करने की बात हो अथवा हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने, राष्ट्र की एकता और अखण्डता का सवाल हो या फिर भारतीय संस्कृति की रक्षा एव सुरक्षा तथा धार्मिकता का प्रश्न हो धर्मान्तरण रोककर विधर्मी बने लोगो को पुन स्वधर्म मे दीक्षित करने की समस्याओ वेद और एकेश्वरवाद तथा महर्षि दयानन्द के मानववाद क प्रचार प्रसार की बात हो, आर्य समाज के नेतृत्व की सामूहिक सगठनात्मक रूप से दो टूक निर्णय लेने होवे। या तो हिन्दू एकता एकता के नाम पर हम अपनी तेजस्विता, को समाप्त कर अकाट्य सिद्धान्तो को त्यागकर समझौतावादि रवैया अपना ले और 'कछुवा धम" अपनाकर सच्चाई से आखे मूदकर यथास्थितिवादी हो जाये अथवा फिर अपने सिद्धान्तो को श्रेष्ठ मानकर आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द क मिशन के सच्चे सिपाही बनकर सत्य न्याय और तक तथा विवेक का सहारा लेकर अपनी प्रचण्ड शक्ति का समीचीन परिचय दें, अन्धविश्वासो एव सामाजिक कुरीतियो को नेस्तनाबूद करने को कटिबद्ध हो। जातिवाद के बन्धनो को तोडकर बुराईयो पर करारा प्रहार कर, "सत्यमेव जयते" का अटल विश्वास लेकर अपनी प्रसुप्त शक्ति को जाग्रत कर सर पर कफन बाधकर आगे बढने का साहस करे तो लोग अपने आप हमारे अनुयायी होगे अन्यथा हम भी अजायबघर की वस्तु अथवा इतिहास की घटना होकर ही रह जायेगा। काश हमारी, हमारे नेताओ की आखे खुल सकें।

—रासासिंह

अग्निवेश तुम्हारी हिम्मत की बलिहारी

आर्य जाति की उदीयमान प्रतिभा तथा तेजस्वी एव क्रान्तिकारी सन्यासी स्वामी अग्निवेश जी की हिम्मत की बलिहारी है। एक आर्य मनोचित उनका साहस और पुरुषार्थ प्रशसनीय हैं। कोई साथ आये तो उन्हे साथ लेकर साथ कही प्रति दों उनके बिना भी और विरोध करें तो उसका मुकाबला करते हुए सामाजिक बुराईयो के उन्मूलन हेतु भले ही वह दिवराला का रूपकवर सतीकाण्ड हो अथवा नाथद्वारा के श्री नाथ मन्दिर मे हरिजनो के प्रवेश की समस्याओ अथवा शकराचार्य की की शास्त्रार्थ की चुनौती हो वे अकेले ही यह मानकर कि "यह मत कहो कि जग मे कर सकता क्या अकेला लाखो मे होता है सूरमा अकेला की नीति को अपनाकर आगे बढने को तत्पर हो जाते हैं। ज्यो ज्या कार के आगे बढता है रास्ते के उतममयी आयंजन भी स्मित हो जाते हैं। पत्थरो, कालेझण्डो, विरोध प्रदर्शनो की तनिक भी चिन्ता न कर अपने प्राणो को जोखिम मे डालकर शेरदिल स्वामी जी निरन्तर सदियो के मूलवन्दन हेतु प्रयासरत है उनकी यह हिम्मत काबिले तारीफ है। यदि वे पूर्व तैयारी के साथ समूचे आर्य समाज के सगठन को विश्वास मे लेकर आगे बढे तो उनका मिशन और भी प्रभावोत्पादक तथा प्रबल बनेगा। महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज के प्रति उनके दिल मे एकदर्द एक तडप, एक वेदना एक आग है जिसके। द्वारा वे लुप्त प्राय आर्यसमाज के एक जीवित जाग्रत औ क्रान्तिकारी सगठन के रूप मे देखना चाहते हैं।

ईश्वर उन्हें शक्ति प्रदान करें। सफलता प्रदान करें।

—रासासिंह

निर्वाचन

आर्यसमाज, टकारा
सरक्षक- डा रतन जी भाम जी
प्रधान- डा अमृत लाल मेधावी
मन्त्री- श्री हसमुखराय धरम जी भाई
कोषाध्यक्ष भगवान जी देव जी भीमाणी

आर्यसमाज, उदयपुर
प्रधान- श्री जे एस. मेहता
मन्त्री- श्री हरनारायण शर्मा

मातृ मन्दिर में प्रवेश प्रारम्भ

मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल नई बस्ती रामापुरा वाराणसी म ग्रीष्मावकाश के पश्चात् सब कक्षाओं में यथावत अध्यन आरम्भ हो गया है। नये भवन का निर्माण हो चुका है। आर्ष पाठविधि से वेद अष्टाध्यायी, हिन्दी, गणित, भूगोल, सगीत आदि का उच्च स्तरीय शिक्षण हो रहा है। इस वर्ष से मजदूर सेवियो, उपदेशको तथा पजाब क पीडित परिवारो की मेधाविनी पुत्रियो के लिए नि शुल्क भोजन आवास तथा शिक्षण की सुविधाए की गई हैं। वैदिक शोध (पी एच डी) की भी सुविधाए है। इच्छुक अभिभावक सम्पर्क करें।

आचार्य

उप समिति के सुझाव

महोदय,

वर्तमान आर्य समाज वैदिक धर्म का प्रचारक नहीं रहा। ऐसे आर्य-समाज से सच्चे आर्य अलग हो गए हैं अनार्य लोग प्रधान व मन्त्री तक बन गए हैं कहीं-कहीं आशा की किरण दिखती है, बाकी सब जगह अन्धेरा है। मैंने ऐसी समाजें देखी है, जहा के प्रधान व मन्त्री मूर्ति पूजक है, केवल सम्पत्ति के कारण आर्य समाज से जुडे हुए हैं। ऐसो को दूर करना किसके हाथ मे है ? आपने (आ दत्तात्रेय आर्य ने) जो योजना सार्वदेशिक सभा के पास रखी है, वह ठीक लेकिन उसका पालन कौन करायेगा ? 'आर्य पुनर्गठन' का इन्तजार रहता हैं, कुछ समय के लिए शान्ति मिलती है।

—हरमुख राय, मन्त्री, आर्य समाज (टकारा (गुजरात)

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्यप्रिंटर्स स मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगज अजमेर से प्रकाशित किया।

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है। सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163
सृष्टि सम्वत 1972949088

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एव भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 शनिवार 30 जुलाई 1988
अंक 14 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

श्रावण कृ 2 सवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

गुजरात में पुलिस हड़ताल

—वीरेन्द्र कुमार आर्य

गुजरात के पुलिसकर्मी अपनी मागो को लेकर पिछले कई दिनो से हड़ताल पर हैं। यद्यपि राज्य के मुख्यमन्त्री फरमाते हैं कि राज्य के केवल कुछ हिस्सो मे ही पुलिसवालों ने हड़ताल की है। बाकी जगह कामकाज ढग से चल रहा है। लेकिन उनके उक्त कथन के खोखलेपन का आप इसी से अनुमान लगा सकते हैं कि इन पक्तियो के लिखे जाने (बुधवार 27 जुलाई) तक लगभग 71 थाना के पुलिसकर्मी हड़ताल पर जा चुके हैं।

पुलिसकर्मियो की हड़ताल की व्यापकता को इस आधार पर भी मापा जा सकता है कि हड़ताल के कारण उत्पन्न कानून व्यवस्था की समस्या से निपटने के लिए राज्य मे भारी सख्या म केन्द्रीय रिजर्व पुलिस एव सीमा सुरक्षा बल को मिलाकर लगभग 50 कम्पनी तैनात की गई है। उपद्रवियो पर काबू पाने के लिए सेना द्वारा फ्लैग मार्च भी कराया जा रहा है।

पुलिस कर्मियो की इस हड़ताल से यह प्रश्न भी उठ खड़ा है कि क्या पुलिस जैसी प्रशासनिक इकाई जिस पर कानून व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी है स्वय भी ऐसा व्यवहार कर सकती है कि जिसके चलते सारी कानून व्यवस्था ही चौपट हो जाए। गुजरात के हड़ताली पुलिस कर्मी जो आचरण कर रहे है उसे कदापि उचित नही कहा जा सकता। कानून की पालना कराने वाले ही ट्रेड यूनियनो के सदस्यो की तरह जब तोड फोड जैसे असवैधानिक कृत्यो मे लिप्त हो जाए तो इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा।

गुजरात राज्य सरकार भी पुलिस कर्मियो के प्रति उपेक्षा बरतने के आरोप से बरी नही हो सकती। यह एक सुविदित तथ्य है कि राज्य पुलिस मे पिछले काफी दिनो से असतोष की भावना अन्दर ही अन्दर बलवती हो रही थी। यदि सरकार तनिक भी विवेक से काम ले लेती तो वह उस असतोष के लावे का फूटने से पूर्व ही शमन कर सकती थी। पुलिस कर्मियो की उचित मागो पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करके उन्हे स्वीकार किया जा सकता था। लेकिन सरकार की तो आज ये मानसिकता बन चुकी है कि वह बिनाकिसी आन्दोलन के कोई भी सुविधा देन के विषय मे सोच ही नही सकती। और इसलिए कई बार नाजायज मागो को लेकर भी विभिन्न विभागो के कर्मचारी सगठन सड़को पर आ जाते है।

गुजरात के पुलिस कर्मियो की हड़ताल से केन्द्र और सभी राज्य सरकारो को सबक लेना चाहिए।

धर्म के नाम पर बहा खून

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

अभी तक मुर्शिदाबाद के साम्प्रदायिक दगे मे मरे व्यक्तियो के परिवारो के आसू भी सूख नही पाए थे कि तीन-चार जुलाई को उत्तरप्रदेश के ऐतिहासिक नगर इलाहाबाद मे भी दगो की आग भड़क गई।

इलाहाबाद मे दगा एक मस्जिद के अवैध निर्माण को लेकर हुआ। प्राप्त जानकारी के अनुसार एक स्थानीय कब्रस्तिान मे अदालत के स्थगनादेश के बावजूद कुछ मजहबी जुनूनी लोग मस्जिद का अवैध निर्माण कर रहे थे, उस पर उन्हे प्रशासन ने रोकने की कोशिश की तो वे उत्तेजित हो उठे और इसी से दगा भड़क उठा।

क्षेत्रीय मुसलमानो की शिकायत है कि सरकार हिन्दुओ को तो सार्वजनिक स्थलों पर मदिर बनाने से नही रोकते है दूसरी ओर वह अल्पसख्यको का अपने किसी धार्मिक स्थान का निर्माण नहीकरनेदेतीजबकि हिन्दुओ का कथन है कि सरकार अल्पसख्यको के प्रति ही तुष्टीकरण का रवैया अपनाती है।

लेकिन बुद्धिजीवियो का कथन है कि क्या सरकार इन दोनोही वर्गों के लोगो से एक समान व्यवहार कर दोनो की शिकायत को दूर नही कर सकती।

दरअसल ये भी एक वास्तविकता कि है गत कई वर्षों से केन्द्रीय सरकार ने जिस तरह मुस्लिम कट्टरपथियो के सामने घुटने टेके हैं, उससे एक ओर जहा उनमुस्लिम नेताओ के हौंसले बुलद हुए हैं वही दूसरी ओर मुस्लिम कट्टरवाद की प्रतिक्रिया मे हिन्दू कट्टरवाद की उत्पत्ति भी हुई है। इसे राजीव सरकार की उपलब्धि ही कहा जाएगा कि वह आरिफ मोहम्मद जैसे प्रगतिशील व्यक्ति का तो तिरस्कृत करती है और असारा जैसे रूढीवादी और कट्टरपथी व्यक्ति को पुरस्कृत करती है। इसी सब का ये परिणाम है कि शहाबुद्दीन अयोध्या मार्च की घोषणा खुले आम कर रहे हैं तो विश्व हिन्दू परिषद इसके जवाबी मार्च का एलान कर रही है।

क्या अपने को धर्मनिरपेक्ष कहने वाली सरकार के पास इस धार्मिक उग्रवाद को समाप्त करने का कोई कारगर उपाय नही है ?

आज वि प्र सिंह को भावी प्रधानमत्री माना जा रहा है। इसलिए हम उनसे कहना चाहेगे कि जिन सिद्धाता का नाम लेकर वे प्रधानमत्री की कुर्सी तक पहुचना चाहते है, उन्हे व्यवहारिक जीवन मे भी पूर्ण रूप से अपनाए। उत्तर प्रदेश के अपने मुख्य मत्रित्वकाल में भी उन्होंने उर्दू को राज्य की भाषा बनाने की घोषणा करके मुस्लिम तुष्टीकरण बात की और अब फिर उन्होने इलाबाद के लोकसभा उपचुनाव मे अपने वरिष्ठ सहयोगी श्री आरिफ मोहम्मद को इसलिए दूर रखा कि कही उनके आने से कट्टरपथी मुसलमान मतदाता नाराज न हो जाए।

निश्चित रूप से श्री सिंह ने दगाग्रस्त क्षेत्र मे बिना किसी सुरक्षा प्रहरी के दौरा कर साहस का परि-

(शेष पृष्ठ 2 पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक : रामसिंह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या 21010

सपादकीय—

दयानन्द के वीर सैनिक बनेंगे

आज दुर्भाग्यवश आर्यसमाज मे यह स्थिति पैदा हो गई है कि लीडरो की धूम है—फोलोवर कोई नही अर्थात् हर आर्यसमाज का थोडा सा भी ज्ञान रखने वाला कार्यकर्त्ता अपने आपको नेता समझने लगता है। वह तर्क जाल मे फसकर सगठन के स्थान पर विघटन के बीज बोने लग जाता है। प्रेमभाव के स्थान पर वैरभाव के सस्कारो को पल्लवित करता है। केवल सुनी सुनाई बातो के आधार पर बिना तथ्यो की गहराई मे पहुचे अथवा दूसरे पक्ष की बात जाने ही वह शख की तरह बजने लग जाता है। नाम दयानन्द और आर्य समाज का लेगा, भगतसिंह और चन्द्रशेखर की बात भी कहेगा परन्तु उसका कार्य उसके सर्वथा विपरीत होगा।

समाज के सत्सगो मे उसकी नियमित रूप से उपस्थिति का भी अभाव रहता है। सत्सगो मे हो रहे कार्यक्रमो मे उसका जी नहीं लगता। वह अपने आपको सद्पुरुषो, विद्वानो के ससर्ग मे बैठकर अपने को सस्कारित करने का, आत्म सस्कार का शिष्ट, और सदाचारी बनने का प्रयत्न नही करता है। वह नया जोश और उत्साह दिखाकर, भावुकता का शिकार होकर एकदम अधिकारियो के विरुद्ध निष्क्रियता अथवा शिथिलता का आरोप लगाकर वहा व्याप्त गुटबन्दी या विरोहबन्दी की जकडन मे फंस जाता है, एकदम उसकी महत्वाकाक्षा जाग्रत हो जाती है और वह अधिकारी बनने की लालसा से छटपटाता रहता है। यदि अवसर नही दिया अथवा लिया नही गया तब वह आलोचना करना शुरू कर देता है। जहा पहने उसको सब ही गुण दिखते थे वहा अब उसे दोष ही दिखते हैं। वह यह भूल जाता है कि छिद्रान्वेषण एक भयकर दुर्गुण है तथा कोरी आलोचना, काट छाट भी आग की चिन्गारी है इससे बचना बहुत आवश्यक है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने देश का उपकार और निर्माण करने तथा अपने मिशन का अपने निधन के बाद भी प्रचार प्रसार करने हेतु आर्यसमाज नामक सगठन की स्थापना की थी, जिसके सिद्धात और नियम सार्वभौमिक, सार्वकालिक एव सनातन तथा अकाट्य है। महर्षि दयानन्दजी ने समाज के नियमो मे जहा 'सत्य को ग्रहण करने तथा असत्य को त्यागने'' का उल्लेख किया है वही ''सबसे धर्मानुसार प्रीतिपूर्वक यथायोग्य व्यवहार करने की बात भी कही गई है। सामाजिक प्रेम, सद्भावना को बढाने, एकता पैदा तथा निर्लोभता एव नि स्वार्थता बनाये रखने के लिये महर्षि ने ''प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सतुष्ट नही रहना चाहिये अपितु सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिये।' ''सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन करने मे सब परतन्त्र हैं तथा प्रत्येक हितकारी नियम पालन करने मे सब स्वतन्त्र हैं।'' ऐसा कहकर उन्होने सब प्रकार के टकराव, अवरोध, सघर्ष प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, द्वेष आदि सब को मिटाने का प्रयत्न किया है।

अत आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने नेताओं, साधु सन्यासियो, पदाधिकारियो, विद्वानों का मान सम्मान करें। उनके प्रति श्रद्धा रखे। अपनी महत्वाकांक्षाओ को सीमित रखें। पहले योग्य बनें, सेवा कार्य मे बढचढ़ कर भाग लें। निस्वार्थभाव से कार्य करें। पदलोलुपता को कभी पास नहीं फटकने दें। यदि हम सही और सच्चे आर्य हैं, सेवाभावी हैं, कर्त्तव्य निष्ठ हैं तो आगे आप लोग हमारी योग्यता से प्रभावित होगे, हमारा मार्ग प्रशस्त होगा और हम जो चाहेगे वही बन सकेंगे। 'जहा चाह वहां राह'। परन्तु भूलकर भी घर की लडाई, विवाद, दलबन्दी, गुटपरस्ती और फूट को बाहर उजागर न करें। मन की व्यथा मन मे रखें। घर मे बैठें जब बात करें।

खेद है कि आज आर्यसमाज के सगठनात्मक पत्रो मे अथवा पत्रको में एक दूसरे को छीछालेदार और कीचड उछालने की प्रवृत्ति दृष्टिगम होती है। जो सगठन के लिये अत्यन्त घातक एव हानिप्रद है।

हम सत्सग के अन्त मे सगठन सूक्त का पाठ करते हैं तथा अन्त में शान्ति पाठ भी बोलते हैं। यदि हम स्वय ही शान्ति का परिचय नही देगे, मानसिक एव आत्मिक शान्ति का परिचय नही देंगे तो फिर हम दूसरो को क्या आदर्श दिखलायेगे।

आओ हम दयानन्द की फौज के सेनापति और नेता बनने के स्थान पर सैनिक और अनुयायी बनें और प्रेम से बोलें **''दयानन्द के वीर सैनिक बनेंगे, दयानन्द का काम पूरा करेंगे''**

—रासासिंह

वेदामृत—

संकल्प समारोह

अपामिवेदूर्मयस्तर्तुराणाः प्र मनीषा ईरते सोममच्छ।
नमस्यन्तीरुप च यन्ति सं चा च विशन्त्युशती रुशन्तम्॥१२॥

(सामवेद, पावमान पर्व)

(मनीषा) सकल्प (सोमम् अच्छ) वीर-रस की ओ (अपाम्) पानी की (तर्तुराणा) उछल रही (उर्मय इव इत) तरगो की तरह (प्र-ईरते) बढ रहे हैं। (उशती) चाव-भरी (उशन्तम्) उस चाव के माते को (नमस्यन्ती) नमस्कार करती हुई (उप च यन्ति) उसके निकट जाती हैं। (सम् विशन्ति आ विशन्ति च) उसमे समाविष्ट हो-हो कर आवेश ला रही हैं।

क्रान्ति के दिनो मे वीर-रस ही प्रधान रस होता है शेष रस उसमे समा जाते हैं। जनता की मनोवृत्तियां सब वीरता के रग मे रग जाती हैं। हृदय-मण्डप मे इन वृत्तियो का उस मधुर रस से एक सुन्दर गठजोडा-सा रहता है। उस अलौकिक यज्ञ स्थली मे हो रहे वर सत्कार का दिव्य दृश्य देखने की वस्तु है। किस प्रकार से उस सघर्षकाल के, जन्मोत्सव, वेदारभ समावर्तन, विवाह उस एक रस के नशे मे सिर से पैर तक सराबोर होते हैं। यह देखने ही की वस्तु है। सारा देश वीरता के मद का मस्ताना है। सारी जाति के हृदयो मे वीर रस का आवेश सा उद्रेक-सा हो रहा है। वीर रस अगी है और शेष सब रस अग। रसो की एक बाढ सी आई हुई है। पति पत्नी का गुरु शिष्य का, पिता पुत्र का—ये सब सम्बन्ध धर्म-युद्ध को ही लक्ष्य मे रख कर हो रहे हैं। कैसा पुण्य-यज्ञ है! एक विश्व व्यापी रस-पुण्य वीरोत्सव है। बच्चा पैदा हुआ, उसे वीर रस की लोरिया दे रहे हैं। वह गुरुकुल मे प्रविष्ट हुआ, उसे देश सेवा के आशीर्वाद दिये जाते हैं। शिक्षा समाप्त कर वह गुरुकुल से लौटने लगा, उसका स्वागत देश तथा जाति की रक्षा के लिए किया जाता है। विवाह के मण्डप मे वीर कन्या एक देश के परवाने को अपना हृदय पेश कर कह रही है--इसकी लाज रखिए सब ओर सोम ही सोम बरस रहा है। वीर-रस की बाढ-सी आई हुई है।

खेल रही अलबेली फाग।
लाखो वर्षो का एक वीर-रस,
उठा हृदय मे जाग॥
साप दिया सर्वस्व वीर को,
फिर क्या गृह-अनुराग।
मा आया है? पति है? सुत है?
कहती है ''रण मे भाग।
जाग लौट वेदि से गुरु की?
चलो वीर! बन आग।''
नाच रहा नेत्रो की अणि पर
मा का मन बे-लाग।
भेंट-भेंट क्षण-क्षण बलि नूतन,
कहती ''अहो सुहाग!''
खेल रही अलबेली फाग॥

—चमूपति (सोम सरोवर मे)

(शेष पृष्ठ 1 का)

धर्म के नाम

चय किया है, और आज उनकी लोकप्रियता भी इतनी है कि वे बिना सुरक्षा के ऐसे संवेदनशील क्षेत्रो में भी जा सकते हैं, परन्तु मात्र लोकप्रियता को बचाए रखने के लिए उन्हें कट्टर पंथियों का विरोध करने से नहीं बचना चाहिये, भले ही वे लोग किसी भी धर्म से सम्बन्ध क्यो न रखते हों।

यज्ञ और वृष्टि के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण

—स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

1 (क) 'सत्यार्थप्रकाश' (28) मे यज्ञ सम्बन्धी अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए ऋषि लिखते हैं— अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुंचाना है, इसको उत्तम मानता हूं'— वृष्टि का होना नही, वृष्टि की पवित्रता-मात्र।

(ख) एक विराट यज्ञ भी है, जिसका उल्लेख यजुर्वेद के 31 वें अध्याय मे है—

यस्मात् यज्ञात सर्वहुतऽऋच सामानि जज्ञिरे (7) तस्मादश्वाअजायन्त (8)

यत्पुरुषेण हविषा देव यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्य ग्रीष्मऽइध्म शरद् हवि ॥ (4)

यज्ञाद्भवति पर्जन्य —इसी विराट् यज्ञ के सम्बन्ध मे कहा गया है—न कि हमारे हव्यद्रव्य यज्ञ के सम्बन्ध मे।

(ग) शतपथ ब्राह्मण का वचन है - यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म (1-7-15) महर्षि दयानन्द के अनुसार प्रत्येक श्रेष्ठतम कर्म (सर्वहितकारि निस्वार्थ भाव मे किया गया कर्म यज्ञ है किन्तु अन्धविश्वास प्रेरक 'यज्ञ' श्रेष्ठ कर्म या वास्तविक यज्ञ नही है।

(घ) यजुर्वेद, अध्याय 18 के मन्त्रो मे आए शब्द 'यज्ञेन कल्पन्ताम्' के विविधार्थ ऋषि के भाष्य मे देखिए।

2 हव्य यज्ञ करने मात्र से कोई कोई इष्टि सिद्ध नही होती (वायु की पवित्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता)। गर्भाधान सस्कार और विवाह सस्कार करने मात्र से सन्तानोत्पत्ति नही होती, जब तक मैथुन न किया जाय। पुत्रेष्टि यज्ञ करने मात्र से पुत्र नही उत्पन्न होता जब तक नियोग न किया जाय। सस्कार विधि में सवत्सरेष्टि और शस्येष्टि का उल्लेख है अच्छी फसल होने पर शस्येष्टि की जाती है (अच्छी फसल तैयार करने के लिए नही)।

हैदराबाद के श्री वेदभूषण मेरे स्नेह-भाजन हैं। मैं दिल्ली मे था। एक दिन प्रात काल हैदराबाद से उनका फोन मेरे पास आया। उन्होने कहा—'हैदराबाद मे मैं वृष्टि-यज्ञ करवा रहा हूं। सायकालीन कथा के लिए अवश्य आइए—'मैंने विनम्रता से क्षमायाचना की'— मेरी वृष्टि-यज्ञ में आस्था नहीं है, अत जब आप बुलायें कथा के लिए मैं आ सकता हूं, पर वृष्टि-यज्ञ के अवसर पर नही।'

4 हैदराबाद (आन्ध्र) के युवको ने 20,21 और 22 मई को पालमूर नगर मे महबूब नगर (जो हैदराबाद शहर से 100 कि मी की दूरी पर है मेरी अध्यक्षता मे टाउन हाल मे एक विचार गोष्ठी रक्खी थी, जिसका विषय ही यज्ञ और विज्ञान था। विज्ञान की दृष्टि मे यज्ञ' पर तीन दिन तक निष्पक्ष विचार विनिमय हुआ गोष्ठी के कुछ निष्कर्ष निम्न थे—

उचित हव्य-सामग्री के प्रयोग से वायु का प्रदूषण दूर हो सकता है। अग्निहोत्र दैनिक कृत्यो मे आवश्यक है पर अग्निहोत्र करन से पूर्व नालिया शौचालय आदि शुद्ध होने चाहिए। खुली हवा मे सूर्य की रश्मियो के आगमन पर हरे-भरे पौधो के सामीप्य मे अग्निहोत्र किए जावे।

उस वायु के सपर्क मे जो यात्री या वृष्टि आयेंगे केवल वही पवित्र हो सकेंगे। नदियो के प्रदूषणो को दूर करने के लिए रासायनिक विधियो से प्रदूषणो की परीक्षायें करनी होगी, और तदनुकुल उपायो का आश्रय लेना होगा। केवल दैनिक अग्निहोत्र से जल के प्रदूषण दूर नही हो सकते। शौचालय की हवा के प्रदूषण को दूर करने के लिये भी समस्त उपयोगी साधनो का व्यवहार करना पडेगा।

5 दैनिक देवयज्ञ के कई 'गौण' उपयोग भी है—

(क) वेद मन्त्रो की रक्षा।

(ख) प्राचीन समय मे मनुष्य ने जनता के हित के लिये जो अविष्कार किये थे उनकी स्मृति।

(ग) मूर्ति पूजा से बचा रहना (अग्निहोत्र के आधार पर 16 सस्कारो का प्रचलन)।

6 हव्य-यज्ञ से वृष्टि कराने का किसी प्राचीन साहित्य मे कही विशिष्ट विधान नही है। अगर ऐसा अभीष्ट होता तो शाकल्य विशेष और पद्धति विशेष का उल्लेख अवश्य होता।

7 यज्ञ का धूम 100-200 फुट से ऊपर नही जाता। हवारे बादल धरती से लगभग 1 मील दूर होते हैं।

8 40-50 वर्ष (पूर्व वैज्ञानिको ने सिल्वर आयोडाईड के बादलो मे हवाई जहाज द्वारा) वपन करके वर्षा कराने के कुछ प्रयोग किये थे। पर इन प्रयोग के असदिग्ध परिणाम नही निकले - कोई बादल कहा पर कब बरसेगा इसको निश्चित करने का कोई उपाय नही था। अभी मैंने समाचार-पत्रो मे गुजरात सरकार के वृष्टि प्रयास की चर्चा पढी। उन्होने भी बादलो के बीच मे सिलवर-लवण और साधारण नमक का चूर्ण वपन करने का प्रयास किया—वे अभीष्ट वर्षा कर न पाये।

9 मथुरा नगरी मे वैज्ञानिको की सहायता उपलब्ध करके वृष्टि विज्ञान केन्द्र के अध्यक्ष श्री हरप्रसाद जी ने कुछ प्रयोग किये (मई 24 1988) उन्होंने डिपार्टमेंट आव् साइन्स एण्ड टेकनोलोजी (डी एस टी) के व्यक्तियो को आमन्त्रित किया। वैज्ञानिको ने रिपोर्ट दी है, उससे स्पष्ट होता है कि अग्निहोत्र (या यज्ञ) के धूम से कोई बादल नही बन पाये।

मैं इन प्रयोगो की विस्तृत आलोचना नही करूंगा। मे केवल इतना कहूंगा, कि आर्यसमाज के कतिपय आचार्यों और पुरोहितो का यह अन्ध-विश्वास मात्र है, कि यज्ञ से वर्षा कराई जा सकती है। यह अन्धविश्वास 20-25 वर्षों मे अधिक फैला है। शायद निकट भविष्य मे हमारे कोई कर्मकाण्डी विद्वान् यज्ञ से अति वृष्टि और नदियो की बाढ आदि को आदि को रुकवाने की भी घोषणा करने लगे।

ऋषि दयानन्द के दृष्टिकोण को हमे समझना चाहिये। कर्म-प्रेरक यज्ञ और सत्यविद्याओ के पोषण मे वेद का महत्त्व बढता है। अन्धविश्वासो के पोषण के लिए यज्ञ और वेद की ऋचाओ का प्रयोग यज्ञ और वेद की प्रतिष्ठा को घटायेगा ही।

उत्सव

आर्य समाज अनारकली" मार्ग, नई दिल्ली का वार्षिकोत्सव दिनाक 18, 19, 20 नवम्बर 1988 (शुक्रवार, शनिवार रविवार) को समारोह पूर्वक मनाया जायेगा।

सोमवार 14 नवम्बर 1988 से प्रतिदिन 19 नवम्बर तक रात्रि को वेद प्रवचन होगा और प्रात गायत्री महायज्ञ होगा।

मन्त्री

"ज्ञान प्रवीण प्रतियोगिता 1988"

राष्ट्रीय स्तर पर सम्पन्न होने वाली ज्ञान प्रवीण प्रतियोगिता प्रति वर्ष की भाति इस वर्ष 25 सितम्बर 1988 को आयोजित होगी। आवेदन की अन्तिम दिनाक 10 सितम्बर 1988 है। विस्तृत नियमावली के लिये शीघ्र सम्पर्क करे -

—मन्त्री, आर्य युवक परिषद्
पो लाडनूं पिन-341306 (राज)

मन्त्री

पत्र बोलते हैं !

हिन्दूघाती षड्यन्त्र से सावधान !

महोदय,

हरिजनो के मन्दिर प्रवेश के सम्बन्ध मे शंकराचार्य निरन्जन देव तीर्थ के द्वारा दिये गये एक बयान पर चारो ओर खूब निन्दा हो रही है। आश्चर्य किसी नेता को यह नही सूझा कि शंकराचार्य के पास जाकर उससे मिल लें और पूछे कि आपने ऐसा बयान क्यों दिया है ? स्व-प्रेरणा से दिया या सत्ता के किसी सूत्रधार, नायक या किसी अन्य ने ऐसा करने के लिए ... शामिल किया ? जहां किसी नेता को यह नहीं सूझा, वहां समाचार-पत्रो ने इस मामले को इतना व इस रूप में उछाला है जैसे देश मे कोई विस्फोट हो गया हो।

लगभग एक वर्ष पूर्व राष्ट्रपति भवन के सामने खडे होकर जामा-मस्जिद के इमाम ने साम्प्रदायिक उत्तेजना व पृथकता की भावनाए फैलाने वाली तकरीर की थी, लेकिन तब किसी के कान पर जूं तक नहीं रेंगी। क्यों ?

यह भी तो सम्भव है सत्ता के किसी पहलू ने शंकराचार्य को उकसा कर हिन्दुओं को लडाने की कोशिश की हो। मुझे तो यही आभास हो रहा है। ऐसे षड्यन्त्रों से सतत सावधान रहने की जरूरत है। मेरी जानकारी के अनुसार सत्ता में बैठे लोगो ने हिन्दुओं को आपस में भिड़ाने के उद्देश्य से कई संस्थाओ व संगठनों को शुरू करा रखा है। इसी तरह की एक संस्था दिल्ली के कृष्णनगर में काम कर रही है जो कथित रूप मे हिन्दू संगठन के नाम पर हिन्दुओं को त्रिशूल धारण कराती है। शंकराचार्य का मामला तो विशेष रूप से इसी उद्देश्य से प्रेरित साफ दिख रहा है कि अनु-सूचित जातिया पूरी तरह से हिन्दू समाज से कट जाए। हिंदू समाज आपसी नफरत के बोझ से छिन्न-भिन्न हो जाए। अत जरूरी है कि हिन्दुओ मे बिखराव पैदा करने के कामो मे लगे हाथ को हम समय रहते ठीक से पहचान ले।

—विशन स्वरूप गोयल
करोल बाग, नई दिल्ली।

अमीर खुसरो के नाम पर कुप्रचार

दूरदर्शन की अमीर खुसरो शृंख-ला द्वारा खुसरो जी के विषय के मे सीधे न दर्शाकर, उनको माध्यम बनाकर यवन-ईसाई आक्रान्ताओ को भारत मे ऐश्वर्य एव सत्ता के लिये नही प्रत्युत ज्ञान की महत्ता के लिए आने वाला सिद्ध किया जा रहा है। ऐतिहासिक तथ्य को झुठलाने का प्रयत्न दिनांक 29-6-88 को प्रसा-रित शृंखला द्वारा किया गया है। शक-कुषाण हूण भले ही आक्रमण की दृष्टि से आये, किन्तु उन्हे यहां की संस्कृति आ गई और वे इसी मे विलीन हो गए। अब उन्हे नाम-धाम -काम किसी चिन्ह से पहचाना नही जा सकता। यवन ईसाइयों के प्रवेश का उद्देश्य यहाँ की सम्पत्ति ही नहीं संस्कृति के विनाश का भी था। उन्होंने यहाँ की मिट्टी मे एक रस होने के स्थान पर भारत के मूल निवासियो को ही प्रलोभन या बल-पूर्वक यवन-ईसाई बनाया। हर प्र-कार से सिद्ध तथ्य "आर्य भारत के मूल निवासी हैं" को काटकर बाहर से आया सिद्ध किया गया। मुस्लिम आक्रान्ता यदि भारत के बन गये होते पाकिस्तान का निर्माण नहीं होता। भूतकाल को छोड़ दिया जावे। भवि-ष्य मे भी उनकी ऐसी भूमिका बन जावे तो भी श्रेयस्कर है, किंतु रामजन्म भूमि का प्रकरण ही आगे आ जावे। सम्भवतः दूरदर्शन को भी परीक्षण के उपरान्त नाटिकाएँ स्वी-कार करनी चाहिये। उसे एक स्वस्थ रंगमंच बनना चाहिए, न किसी कस्बे की सब्जी मण्डी का चबूतरा, कि जब जो चाहे उस पर रखकर कुछ भी बेचने लगे।

—दर्शनदेवी, अलीगढ़

महोदय,

स्वामी निरजनदेव ने मन्दिरो में हरिजनो के प्रवेश को निषेध ठहराकर अपनी मूर्खता का परिचय दिया है। जब हिन्दुओ का धर्मगुरु ही मूर्खों जैसी बात करे तो इस हिन्दू धर्म को कौन बचाएगा ?

शिवनाथ आर्य,
देहरादून।

महोदय,

'आर्य पुनर्गठन' द्वारा आप आर्य-समाज मे नवजीवन फूकना चाहते हैं यह सर्वथा स्वागत योग्य प्रयत्न है। इस दिशा मे मेरी दृष्टि में प्रथम विचारणीय बिन्दु यह है कि हम निर्णय करें कि हम आर्य है या हिन्दू। यदि हम जन्म एव वैदिक धर्मी हैं तो हमे निरञ्जनदेव सरीखे वैताण्डिको के उन प्रश्नो का ही उत्तर देना चाहिए जो हमारे क्षेत्र का स्पर्श करते हैं। जो बातें हमारे क्षेत्र के बाहर हैं उन-मे उलझने का क्या औचित्य है ? मेरा प्रश्न है कि क्या पौराणिकों के मन्दिर और साम्प्रदाय हमारे क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। वे अपने मन्दिरों में उल्टे लटक कर पूजा करें या आकाश मे लटककर, इससे हमें क्या सरोकार है। किसी को आने देते हैं या नहीं। इस -से भी हमें क्या मतलब ? जिसे जाना हो, वह कानून का सहारा लेकर (प्रतिबन्ध की स्थिति मे) अन्दर जावे। कोई हिन्दू सन्यासी उसकी सहायता करे तो ठीक है। एक आर्य सन्यासी जो मूर्तिपूजा करता ही नहीं क्यो किसी की मूर्तिपूजा मे सहायता करे।

महर्षि के युग मे ... का पर काम तो है। हमें ... आर्यसमाज मे बुलाना चाहिये। उन्हें वेद पढाना चाहिये, अपनी संस्थाओं में शिक्षित करना चाहिये। हमारे पास समय है, हम पौराणिकों के लिये क्यों व्यर्थ करें ?

धर्मवीर शास्त्री
BI/51 पश्चिम विहार
नई दिल्ली 63

सम्पूर्ण आर्यसमाज का सहयोग नहीं मिला

स्वामी अग्निवेश नेता हैं कि नहीं, उनकी हरिजन ... की मुहिम आर्यसमाज की रीति नीति के अनुकूल है या नही। उनके अपने कोई निहित स्वार्थ हैं या नहीं — ये सारी शकाएँ उस समय ध्वस्त हो जाती हैं जब हम यह देखते हैं कि भारतीय संविधान मे स्वीकृत उन अधिकारो को हरिजनो को दिलाने के लिये वे अपना सिर हथेली पर लिये घूम रहे हैं, जिन्हें देश की सर-कार तथा जनता हरिजनो को आजतक नही दिला सकी है। निहितस्वार्थ वि-शेष तथा स्वार्थ वेदों द्वारा जो अप-रिमित भ्रम हमारे देश में फैला जा रहा है, और यह हिन्दू जाति पर जो संकट उत्पन्न कर रहा है, उसे स्वामी अग्निवेश ने भली प्रकार समझा है। उनकी यह मुहिम मात्र इस लिये है कि हिन्दू समाज में हरिजनों को स-मान मानवीय अधिकार दिये जायें अन्यथा वे एक दिन अन्य धर्म मे ... हिन्दुओं को हिन्दुओं के ... में अल्पसंख्यक बना देंगे। स्वामी जी के इस कदम की प्रशंसा ... और कुलीन हिन्दू ने की है। ... इस सच्चाई को स्वीकार किया है कि उनका कदम ... अत्यन्त लाभ-कारी है।

अग्निवेश जी को अपने इस अभियान मे आर्यसमाज के चार छः बडे नेताओ का समर्थन मिला परन्तु आर्यसमाज की संस्था अर्थात् संगठन का नहीं। आर्यसमाज की सार्वदेशिक ... प्रान्तीय सभा ने इस मुहिम के ... आर्यसमाज की देश भर मे ... इकाइयो को भी इस सम्बन्ध मे ... निर्देश प्रसारित नहीं किया था। ... अवश्य है कि इस मुहिम मे ... प्रान्तीय सभा के प्रधान उपस्थित थे। ... परिणाम यह हुआ कि आर्य समाजियों में यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि यह मुहिम व्यक्तिगत है या आर्यसमाज की है ? जयपुर आर्यसमाज मे जो कुछ हुआ वह इस भ्रम का ही परिणाम था और इससे आर्यसमाज के संगठन को अवश्य ... ठेस ही लगी है। प्रश्न यह है कि स्वामी जी द्वारा चलाई गई मुहिम को आर्यसमाज की ही मुहिम कैसे माना जावे ? जब तक कि उसका आयोजन इसी प्रकार न हो जैसे कभी हैदराबाद सत्याग्रह का आयोजन किया गया था। यदि हमारा नेतृत्व आर्यसमाज की रीति-नीति तथा कार्य प्रणाली को इस प्रकार तिलांजलि देकर कार्य करेगा तो आर्यसमाज की विश्व विख्यात मर्यादा इसी प्रकार ध्वस्त होती रहेगी। यदि किसी ने इस मुहिम के लिए आर्यसमाज के संगठन से अपेक्षा की थी तो वह भी अनुचित थी। क्या ... स्वामी जी एवा आर्यसमाज के कर्णधार ... इस मुहिम के कुछ सबक सीखेंगे।

—... प्रकाश शर्मा
आर्यसमाज ...

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिंटर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाजभवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया।

23/8/88

ओ३म

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥"

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है। सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163
सृष्टि सम्वत 1972949088

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 सोमवार 15 अगस्त 1988
अंक 15 प स -43338 84 ।।

अभय मित्रादभयन ममित्रादभय ज्ञात दभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

श्रावण शु 3 सवत 2045,
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

राजा रणंजय सिंह : पुण्य स्मरण

वीरेन्द्र कुमार आर्य

7 अगस्त की सुबह दैनिक समाचार पत्रो मे यह हृदय विदारक समाचार पढने को मिला कि राजा जी नही रहे। मेरे लिए यह अप्रत्-



स्व राजा रणजय सिंह

याशित समाचार था। अभी 2 अगस्त को ही मैंने आचार्य दत्तात्रेय जी आर्य के सयोजकत्व वाली उपसमिति द्वारा सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा को प्रस्तुत आर्यसमाज के पुनर्गठन सम्बन्धी रिपोर्ट पर उन्हे अपनी सम्मति भेजने हेतु पत्र लिखा था। मैं अपने पत्र की प्रतीक्षा कर ही रहा था कि

आर्य पुनर्गठन से राजा जी को विशेष स्नेह था उनका कहना था कि सभी आर्यपत्रो मे आर्य पुनर्गठन का स्थान ऊचा है। समय-समय पर उनके स्वलिखित प्रो माहन पत्र हम मिलते रहते थे। इतना वृद्ध आयु म सब साधन सम्पन्न होन हुए भी, उनका स्वय हाथ स लिखा हुआ पत्र हमे रोमाचित कर देता था।

श्री रणजयसिंह जी आर्य जगत के मूर्धन्य नेता थे इसस कौन इकार कर सकता है। जहा हम अन्य आर्य नेताओ को आर्य पुनर्गठन नि शुल्क भेजते थे उन्हे भी भेजते थे। परतु राजाजी को यह स्वीकार नही था कि आर्य समाज के मौलिक स्वरूप को अक्षुण्ण बनाए रखने की लडाई लड रहे आर्थिक विपन्नता के शिकार 'पत्र को वे नि शुल्क पढे। वे सदैव समय से पूर्व अपना वार्षिक सदस्यता शुल्क हमे भेज देते थे। अभी कुछ समय पूर्व ही एक उत्साहवर्धक पत्र सहित उनका वर्ष 88-89 का वार्षिक सदस्यता शुल्क हमे मिला था।

राजाजी आर्यसमाज के सिद्धान्तो के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे। राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा जग जाहिर है। स्वय भी वे हिन्दी के अच्छे कवि थे। उनके हिन्दी प्रेम के सम्बन्ध मे मै एक प्रसग को यहा उद्धृत करने का लोभ सवरण नही कर पा रहा हू।

श्रीपति मिश्र की सरकार द्वारा उन दिनो उर्दू को उत्तर प्रदेश की द्वितीय राज्य भाषा बनाने की चर्चा चल रही थी। स्व प्रो वासुदेवसिंह इसका कडा विरोध कर रहे थे। उस समय मेरे पिताश्री श्रीपाल आर्य ने राजाजी को प्रदेश सरकार मे मत्री उनके पुत्र श्री सजयसिंह की इस विषय मे चुप्पी के विरोध मे पत्र लिखा। राजाजी ने उन्हे उत्तर दिया सजय सिंह एक आर्य पुत्र है। वह स्वय हिन्दी मे एम ए, पी एच डी है। हिन्दी के प्रति उसकी निष्ठा असदिग्ध है। मेरा मानना है कि अभी उर्दू का प्रदेश की द्वितीय राज्य भाषा बनाने की केवल चर्चा ही चल रहा है इस सम्बन्ध मे कोई निर्णय सरकार लागू नही करने जा रही।

यदि ऐसा न होता तो सजयसिंह हिन्दी के पक्ष मे अपनी आवाज अवश्य उठाता।

श्री रणजय सिंह जी का कहना सत्य निकला और उत्तर प्रदेश मे अभी तक उर्दू को द्वितीय सरकारी भाषा का दर्जा नही मिल सका है।

आर्य पुनर्गठन परिवार अपने एक शुभ चिन्तक, मूर्धन्य आर्य नेता, स्वाधीनता सेनानी के निधन पर अपनी भावभीनी श्रद्धाजली अर्पित करता है और परमपिता परमात्मा से उनकी स्वर्गीय आत्मा को शाति देने प्रार्थना करता है।

स्व. श्री रणंजयसिंह का एक कवित्त
काशी शास्त्रार्थ

काशी मे हलचल मच गयी सन्यासी एक
दयानन्द आये हैं जिनकी ललकार है।
विद्वज्जन शास्त्रार्थ करके यह सिद्ध कर,
मूर्ति पूजन वैदिक सिद्धान्तानुसार है,
ईश्वर निराकर कभी होता साकार नही
लेना न रणजय अजन्मा अवतार है।
शास्त्रार्थ हुआ पण्डित काशी के परास्त हुए
मानना ही पडा विद्या स्वामी मे अपार है।

जाली डिग्रियों के धंधे के विरुद्ध याचिका विचारार्थ स्वीकार

जयपुर 9 अगस्त। राजस्थान में जाली प्रमाण पत्रो व डिग्रियो का व्यापार और उसके आधार पर नौकरी पाने के धन्धे के विरुद्ध राजस्थान शिक्षक सघ की याचिका राजस्थान उच्च न्यायालय ने विचारार्थ स्वीकार कर ली है। याचिका की सुनवाई न्यायाधीश सुरेश चन्द्र अग्रवाल व पानाचन्द जैन की खण्डपीठ म होगी।

राजस्थान शिक्षक सघ के महामत्री तेजपाल शर्मा ने बताया कि याचिका मे सरकार की ओर से फर्जी डिग्रियो को मान्यता देने पोल खुलने पर मान्यता को अनुचित तरीके से वापिस लेने, मान्यता रद्द करने के कारण एव कागजों को छुपाने उच्च न्यायालय एव शिक्षक सघ के नोटिसो को जानबूझकर दबाने तथा उनका जवाब न देने को बेपर्दा किया गया है। याचिका मे आरोप लगाया गया है कि यह सब सरकार व उसके शीर्ष अधिकारियो ने लाखो रुपए अवैधानिक रूप से कमाने की नीयत से किया।

(राजस्थान पत्रिका से साभार)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक : रासासिंह   सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या 21010

संपादकीय—

अमर रहे स्वाधीनता हमारी

मनुस्मृति मे ठीक ही कहा गया है कि "सर्व आत्मवश सुख सर्व परवश दु ख' अर्थात सब प्रकार से अपने अधीन रहना सुख है तथा सब प्रकार से दूसरे के अधीन रहना दु ख है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामचरित मानस मे स्पष्ट प्रतिपादन किया है पराधीन सपनेहुं सुख नाहिं' अर्थात् परायी अधीनता मे स्वप्न मे भी सुख का अनुभव नही होता है। मोती एव अनमोल पदार्थों का सेवन करने वाला पिजबरद्ध पक्षी भी पिंजडे से मुक्त होने को छटपटाता रहता है तथा मौका पाते ही वह निकलकर उड जाता है तथा उन्मुक्त-गगन मे पंख फैलाकर किलकते हुए, चहकते हुए तथा वृक्षो की डाल पर सूखे पत्ते खाकर भी चहकते हुए उसे जिस अनुपम आनन्द की प्राप्ति होती है वह अवर्णनीय है। वह स्वाधीनता का आनन्द है।

दीर्घकालीन पराधीनता के पश्चात 15 अगस्त, 1947 ई को हमारा प्राणप्यारा भारत देश स्वतन्त्र हुआ। इस स्वतन्त्रता के लिऐ हजारो स्वाधीनता सेनानियो ने नीव की ईटे बन कर अपनी कुर्बानिया दी अग्रेजो की यातनाए सही, लाठी गोली के प्रहारो को झेला। हजारो माताओ और बहनो का सिन्दूर हमेशा के लिये पोंछ दिया गया कई नौजवानो ने अपनी जवानिया शहादत की राह पर न्यौछावर कर दीं। अनेक बलिदानो के पश्चात् प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करना हम सबका परम पुनीत दायित्व है। 15 अगस्त 194 ई का दिन स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य है।

15 अगस्त 1947 ई के पश्चात् हम प्रतिवर्ष स्वाधीनता दिवस के रूप मे इस दिवस को समारोह पूर्वक मनाते हैं। आज आजादी प्राप्त हुए 40 वष हो गये है तथा 41वी वर्षगाठ मनाते हुए हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

खेद के साथ कहना पड रहा है इतने वर्षों के पश्चात् हमने अभी आजादी का महत्व नही समझा है राष्ट्रनिर्माण के लिये अपनी शक्ति को नही लगाया है।

स्वार्थ परायणता के शिकार होकर मूल्य विहीनता से ग्रसित हो गये, नैतिकता से शून्य बनकर राष्ट्रवाद के स्थान पर प्रान्तीयवाद, भाषा-वाद जातिवाद, सम्प्रदायवाद, क्षेत्रीयतावाद और इन सब से बढकर पृथक्तावाद, उग्रवाद और आतकवाद जैसे बेबुनियाद एव विध्वसकारी वादो को गले लगाने लग गये परिणाम स्वरूप आज हमारे महान् राष्ट्र की एकता और अखण्डता और स्वतन्त्रता और स्वत्वता खतरे मे पड गई है। राष्ट्रीय आदर्शों – लोकतन्त्र, धर्म निरपेक्षता, समाजवाद, सर्वधर्म समभाव आदि का सकटो का सामना करना पड रहा है।

वेद हमे आदेश देता है कि "वयराष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता" अर्थात् हम राष्ट्र के प्रबुद्ध जन सदैव जागरूक और कटिबद्ध रहे। वेद आह्वान करता है 'यतेमहि स्वराज्य अर्थात् स्व राज्य के लिये निरन्तर प्रयत्नशील हो। अत मे वेद इस आशावादी दृष्टिकोण को भी सार्थक करता हुआ प्रेरणा देता है कि "वय जयेम" अर्थात् हम विजयी है विजयी होगे। बाधाओ पर जीत हमारी होगी।

आओ हम सब मा भारती के सच्चे सपूत बन कर इसकी स्वतन्त्रता की रक्षा करने का सकल्प ग्रहण करते हुए इसके निर्माण मे अपने आपको समर्पित कर दे। वेद के शब्दो मे हमारा आदर्श होना चाहिये माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्या अर्थात् भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हू। "हमारी भारतमाता है' भला ऐसा कौन कृतघ्न पुत्र होगा जो अपनी माता की सेवा सुश्रूषा और रक्षा नही करना चाहेगा।

"भारत माता की जय हो"

—रासासिह

स्वामी अग्निवेश की पदयात्रा

अस्पृश्यता-निवारण और मूर्तिपूजा

-डा आनद प्रकाश-

10 अगस्त को राजस्थान सरकार की अगुवाई मे नाथद्वारा मे हरिजन प्रवेश का नाटक हुआ। मदिर मर्यादा के नाम पर उन्हे कठी-डोरा पहना कर प्रवेश कराया गया और इका विधायक डा राजकुमार जयपाल के अनुसार इस हरिजन प्रवेश के बाद मदिर को दूध से धो कर शुद्ध (?) किया गया।

- सम्पादक

आर्यसमाज के सघर्षशील सन्यासी अग्निवेश द्वारा नाथद्वारा मदिर मे हरिजनो के सामूहिक एव सार्वजनिक प्रवेश के प्रश्न पर आरम्भ की गई पदयात्रा को राजस्थान सरकार ने 'कानून और व्यवस्था को खतरा" बताकर जिस प्रकार भग करा दिया उससे पता चलता है कि भारतीय जनमानस अभी भी रूढिवादिता और अधविश्वास से चरम सीमा तक ग्रसित है। केन्द्रीय सरकार की कल्याण मत्री माननीय डा राजेन्द्र कुमारी बाजपेयी ने उसके 2 दिन पूव ही एक वक्तव्य प्रसारित कर राजस्थान सरकार को निर्देश दिया था कि वह स्वामी अग्निवेश की पदयात्रा मे कोई व्यवधान न पडने दे। उन्होने यह भी स्मरण कराया कि भारतीय सविधान एव अस्पृश्यता निवारण कानून के रहते कोई भी धर्माचार्य हरिजनो को मन्दिर-प्रवेश से नही रोक सकता। इतने स्पष्ट वक्तव्य के कारण, यह आशा बधी थी कि स्वतन्त्र भारत मे अब मानसिक अस्पृश्यता को ध्वस्त कर देने वाले नये युग का आरम्भ हो रहा है। सविधान के सकल्प, कानून की धारायें, प्रशासन और पुलिस की व्यवस्थायें तथा राजनैतिक दलो की आस्थाये सब विफल होकर मूक दर्शक बनी रह गयी और तथाकथित "धार्मिक मर्यादाओ की रक्षा के के नाम पर, निहित-स्वार्थ से प्रेरित यथास्थिति वादियो ने अपना उग्र आतकवादी स्वरूप दिखाकर परिवर्तन की लहर को रोक दिया। आश्चर्य की बात है कि बडे-बडे वादों की बात करने वाले विरोधी दलो के नेताओ ने भी स्वामी अग्निवेश की पदयात्रा के उद्देश्य के समर्थन मे कोई वक्तव्य नही दिया। इसे आत्मप्रवन्चना ही कहा जाएगा कि काग्रेस के एक ससद सदस्य, विश्व शान्ति की सदइच्छा से हिरोशिमा से नागासाकी की पदयात्रा कर रहे हैं, कुछ विपक्षी नेता जन जागरण के लिये पिछले वर्षों मे कन्याकुमारी से राजघाट स्थित महात्मा गाधी की समाधि तक की पदयात्रा कर चुके हैं, और पजाब मे साम्प्रदायिक सद्भावना की स्थापना के लिये तो अनेक महानुभावों ने पदयात्राओ के दौर चलाये, परन्तु "अस्पृश्यता" जैसे मानवगरिमा के कलक को मिटाने के लिये पदयात्रा करने की बात उन्होने नही सोची। सामाजिक कुरीतियो के मामले मे तो अधिकाँश ऐसे विचारक और समाजसेवी तटस्थ ही बने रहते हैं। दयानन्द के भक्तो ने धार्मिक क्रान्ति को समस्त सामाजिक एव आर्थिक सुधारो का मूल स्वीकार करते हुये, इसे ही वरीयता दी और अपने प्राणो की आहुति देकर भी सामाजिक शोषण के शिकार दलित वर्ग के धार्मिक अधिहे अधिकार की रक्षा का आन्दोलन चलाते रहे। स्वामी अग्निवेश ने इस परम्परा को आगे बढाते हुये, आर्यसमाज के क्रान्तिकारी इतिहास मे एक नया अध्याय जोडा है।

सरकारी कार्यवाही के समर्थन मे समाचार पत्रो और दूरदर्शन के माध्यम से जो दलीलें दी जा रही हैं, उनका आशय यह है कि नाथद्वारा मन्दिर मे सभी को प्रवेश की अनुमति है जो वास्तव म स-य से परे है) और इस प्रकार के आन्दोलन से जातीय तनाव उत्पन्न होता है। इन बिन्दुओ पर अनेक पक्ष प्रस्तुत किये जा चुके हैं। मेरी दृष्टि मे, सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय सविधान के अनुच्छेद 17 और अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम 1955 की धारा 410के अन्तर्गत "अस्पृश्यता का केवल मात्र शाब्दिक अर्थ लेना उचित नहीं होगा। कोई भी मानसिकता, धार्मिक रूढि अथवा सामाजिक व्यवहार, जो किसी व्यक्ति या समुदाय की "योग्यता" अथवा अधिकार को सीमित कर देता हो तथा विधि सम्मत सामाजिक-समता के विपरीत आच-

(शेष पृष्ठ 4 पर)

भावी ख़तरे को पहचानो !

— कृष्णदत्त —

भारत सरकार की ओर से प्रति 10 वर्ष की जनगणना के पश्चात् धर्म के आधार पर भारत की जनगणना से सम्बधित आकडे प्रकाशित होते रहते हैं। यदि हमभूल नहीकर रहे हैं, तो सन् 1881 ई से भारत मे जनगणना आरम्भ हुई। सन् 1881 ई से 1941 के आकडो का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इस काल, मे हर दसवे वर्ष मे प्रति दस हजार के पीछे 94 के हिसाब से हिन्दुओ की सख्या घटी। आजादी के बाद 1951 से 1971 के काल मे हर दसवे वर्ष मे प्रति दस हजार के पीछे हिन्दुओ के घटाव की यह सख्या 143 रही। इन आकडो से यह ज्ञात होता है कि भारत मे धम परिवर्तन बहुत तीव्र हो गया। हिन्दू जाति पर चारो ओर से तीव्र प्रहार हो रहा है। ऐसा लगता है मानो हिन्दू जाति एक चारागाह हैं, खडी हुई फसल है और इसको चारो ओर से निशक होकर लोग काटे जा रहे हैं। हिन्दू जाति रूपी इस चारागाह मे फसल की अबाध लूट से किसी को दुख नही हो रहा है, और दुख हो भी रहा है तो विवशताए सामने खडी हैं।

मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि धर्म के आधार पर जनसख्या मे वृद्धि तीन कारणो से होती है — (1) जन्म (2) स्थलान्तर (3) धर्म परिवर्तन, ईसाइयो को छोडकर शेष सभी धर्मावलम्बियो मे वृद्धि तीनो कारणो से हुई है। ईसाई, बौद्ध और मुसलमानो ने भी धम परिवतन के द्वारा भी अपनी सख्या बढाई है और निश्चित ही इन तीना धर्मावलम्बियो ने हिन्दुओ का ही धम परिवर्तन करके अपनी सख्या बढाई है। हिन्दुओ की जो भी सख्या वृद्धि हुई है उसका आधार जन्म और स्थलान्तर मात्र है। परिवार नियोजन को प्राय हिन्दुओ ने ही अपनाया है अत हिन्दुओ की जनसख्या की वृद्धि का सब से बडा कारण पाकिस्तान से आने वाले हिन्दू ही हैं। इस तथ्य के प्रकाश मे हिन्दुओ के अन्य धर्मों मे सम्मिलित होने की गति की कल्पना की जा सकती है। ईसाई करीब 74 लाख से एक करोड सवा लाख हो गये हैं। बौद्ध भी दो लाख से 32 लाख को पहुंच गये हैं। इन दोनों धर्मावलम्बियों की सख्या वृद्धि का मुख्य साधन धर्म परिवर्तन है। पाकिस्तान से आने वाले मुसलमानो की सख्या भी इतनी अधिक हो गई है कि वे भी एक करोड से अधिक बढ गये हैं।

धम के आधार पर सख्यावृद्धि के अत्यन्त दूरगामी राजनैनिक परिणाम प्रकट होते हैं। पजाब और बगाल मे मुस्लिम बहुमत्या के आधार पर दोना प्रदेशो का विभाजन धर्म परिवतन का ही परिणाम है। नागालैड की अशाति और नागाओ का पृथक स्वतत्र प्रदेश की माग करना वहा ईसाई धम के प्रचार का ही परिणाम है। इस धर्म-परिवर्तनके कैस राजनैनिक परिणाम प्रकट होते हैं, इसका एक रूप दक्षिणी वियतनाम मे हमने देख लिया। अत इन उदाहरणो से हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि भविष्य मे ऐसे ही सकट भारत मे आ सकते हैं। निसकोच भाव से यह कहा जा सकता है कि विगत काल मे धर्म परिवर्तन तीव्र न होता तो पाकिस्तान न बनता और देश का विभाजन न होता। पाकिस्तान बनने पर उत्तरप्रदेश विधानसभा के एक मुस्लिम लीग सदस्य ने खुले आम कहा था कि भविष्य मे हम इसी बचे हुए भारत से एक नवीन पाकिस्तान का निर्माण करेंगे। वस्तुस्थिति का अध्ययन करने पर उक्त मुस्लिम लीगी विधायक की यह बात काफी वजनदार लगती है। 1881 ई से 1971 के 90 वर्षों के बीच हिन्दुओ की सख्या मे जो घटाव हुआ है, उस हिसाब से भारत मे हिन्दू सन् 2200 ई मे अल्पसख्यक बन जायेंगे। पूर्वी पाकिस्तान से आसाम मे लाखो की सख्या मे बगलादेश से या तत्कालीन पूर्वी पाकिस्तानी मुसलमानो की घुसपैठ और चुपचाप हिन्दुओ का इस्लामीकरण क्या भविष्य मे हमारे लिये ऐसे भयानक परिणाम पैदा करने वाले नही होगे ? और क्या ईसाइयो की सख्यावृद्धि भारतीय भाषा, सस्कृति, सभ्यता और धर्म को सुरक्षित रखेगी ? जिस भारतीय सस्कृति सभ्यता और धर्म का गौरवगान स्वामी विवेकानन्द जी ने विदेशो मे किया था और जिस पर हमारे भूतपूर्व राष्ट्रपति डा राधाकृष्णनजी भी विदेशो मे जाकर गौरवपूर्ण उद्गार निकालते रहे है। क्या ईसाइयो का यह धर्म परिवर्तन हमारे लिये नवीन नागालैड की समस्याओ का द्योतक नहीं बनेगा ?

हम म किसी धर्मावलम्बिया को दोष देना व्यर्थ है। हम तो उनकी प्रशसा करते है कि उन्होने अपने धर्म को प्रचार-धर्म बनाया और तदनुसार इसका वे प्रचार और प्रसार भी करते हैं। दोषी तो हिन्दू नेता है। हमारी हालत यह है कि हम दूसरे धर्मावलम्बिया को अपने मे दीक्षित करने का न तो साहस करते हैं और न हम मे इसकी क्षमता भी है। दूसरो को धम प्रचार देखा भी नही जाता। हम इसाई और मसलमानो के धम परिवतन को भाषणो, लेखो और प्रस्तावो द्वारा रोकना चाहते है, जो असम्भव है। न तो हमने मुसलमानो का सा ममता का भाव अपने अदर पैदा किया और न ईसाईयो का सेवा भाव। पुरी के शकराचार्य का जयपुर वाला वक्तव्य इसका उदाहरण है

महर्षि दयानद ने इसको एक सदी पूर्व ही अनुभव किया था और इसके निवारणार्थ उन्होंने शुद्धि की प्रेरणा दी थी, जिसको शहीद प लेखराम जी और हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्दजी ने बडे जोर से चलाया था। किन्तु उनके बाद यह आदोलन शिथिल और समाप्त प्राय हो गया। इसका विरोध स्वय हिन्दुओ ने भी किया। जात—पात की सुदृढ प्राचीरो मे घिरी हुई हिन्दू जाति का सख्या बल मे ऐसा शोचनीय ह्रास एक स्वाभाविक परिणाम है। उस पर हमारी राजनैतिक चितन शैली भी हिन्दुओ के सख्या बल के ह्रास का कारण बनी है। आज हमारे राजनैतिक नेता, जो हिन्दू कहला कर मत्रीपद, अधिकार पद और अन्य नागरिक अधिकार प्राप्त करते हैं, उनमे ही यह भावना है कि हिन्दू जाति के लिये कुछ करना साम्प्रदायिकता है अराष्ट्रीयता है, अत यह महापाप है। शुद्धि आदोलन को हिन्दुओ की जात-पात ने नष्ट किया। आज हिन्दू विरोधी भावना भी राष्ट्रीयता की कसौटी मानी जा रही है।

आर्य समाज, जिसके सामने महर्षि ने जन्ममूलक जात-पात को समाप्त करने का कार्यक्रम रखा था, उसी ने अपने आपको इस विभीषिका मे ऐसा जकड लिया है कि उसका शुद्धि आदोलन समाप्त हो गया। शुद्ध होने वाले व्यक्ति और परिवार का समाज मे आज क्या स्थान है, जबकि आर्य समाज मे प्रवेश करने वाले राजपूत राजपूत रहे, कोमटी—लिंगायत, कायस्थ—खत्री, मराठा—कान्यकुब्ज, अग्रवाल—महेश्वरी ज्यो के त्यो बने रहे। जन्म मूलक जाति को छोड नही सके। जन्ममूलक जाति को छोडना बहुत साहस की बात है। अपने नामो के साथ जाति सूचक नामो को तक तिलाजली नही दे सके। दिल्ली मे आयोजित आर्य समाज स्थापना समारोह मे बाबू जगजीवन राम ने इसी बात पर आर्य समाजियो के कार्य की आलोचना की थी जिस पर आर्य समाज के एक मूर्धन्य नेता ने घोषणा की थी कि वे भविष्य मे अपने नाम के साथ लगे जाति सूचक नाम का प्रयोग नही करेंगे, पर अभी तक वे उस से मुक्ति नही पा सके। परिणाम यह हुआ है कि आर्य समाज ने भी शुद्ध होने वालो को हजम नही किया। महर्षि दयानद ने जिस आर्य समाज को जन्मूलक जाति-पाति, सम्प्रदायो को तथा मत-मतातरो का भेदभाव मिटाने का कार्य सौपा था वही आर्य समाज उसमे बुरी तरह फस गया है। आर्य समाजी स्वामीजी महाराज के निम्न शब्दो को गम्भीरता से पढने की कृपा करे —

'सब सज्जनो को श्रम उठाकर इन सम्प्रदाओ को जड-मूल से उखाड डालना चाहिये। जो कभी उखाड डालने मे न आये, तो अपने देश का कल्याण कभी होने का नही।' (शिक्षा पत्री ध्वान्तनिवारणम्)।

महर्षि के इस आदेश का पालन जन्ममूल जात-पात की दीवारो को गिराकर रोटी-व्यवहार और बेटी व्यवहार को प्रोत्साहित किये बिना नही हो सकता।

धर्म के आधार पर 1971 की जनगणना के आकडो को लक्ष्य मे रखकर महर्षि दयानद के इन शब्दो को आर्य समाज ही नही, अपितु वैदिक धर्म मे विश्वास रखने वाले सभी भारतीयो को ध्यान से पढना चाहिये।

(शेष पृष्ठ चार पर)

पत्र बोलते हैं!

आर्यसमाज के कर्णधारों से

महोदय

आज कल समाचार पत्रों एवं समाज के कार्य कर्त्ताओं द्वारा एक दूसरे के ऊपर दोषारोपण कुठाराघात एवं धन सम्पत्ति हड़पने के पत्र अक्सर समाज में मिलते रहते हैं मगर हमारे आर्य समाज के सार्वदेशिक प्रतिनिधियों का यह हाल है कि उनके पास पत्रों का जवाब तक देने का समय नहीं है, तो फिर ये लोग इतने ऊंचे पद पर आसीन होकर देश व समाज का क्या भला कर सकते हैं गत 15/20 सालों में किसी भी उच्च अधिकारी ने किसी भी आर्य समाज को जाकर सुध बुध नहीं ली न इनको यह जानकारी है कि प्रदेश में किस आर्य समाज के पास चल एवं अचल सम्पत्ति है। उनके रख रखाव का कार्य कैसे व कौन चला रहा है न समय पर प्रचारक ही आकर प्रचार करते हैं। प्रचारक कभी कभार आते हैं तो सिर्फ ढोलक पेटी बजाकर दो तीन गायन गा के प्रचार मात्र करके रवाना हो जाते हैं। इस प्रकार आर्य समाज के पद पर आसीन रह कर समाज एवं देश का भला नहीं हो सकता न आने वाली पीढ़ियों में किसी प्रकार की चेतना ही जाग्रत हो सकती है। अतः मैं सार्वदेशिक एवं प्रादेशिक अध्यक्ष महोदय से प्रार्थना करता हूं कि आर्य समाज के प्रचार प्रतिष्ठा एवं संगठन लिये हुए आर्य समाज को विश्वास में एवं हमारे समाज पर होने वाले कुठारों पर अपनी नजर रखें ताकि इस आने वाले समय में धर्मान्धता रूढ़िवादी एवं नये नये धर्म पैदा करने वालों पर अंकुश लग सके इसके लिये कठिन परिश्रम एवं सच्चाई ईमानदारी की आवश्यकता है। एक दूसरे पर आक्षेप लगाने से समाज में कमजोरियां व्याप्त होगी समाज अग्रसर होने के बजाय पीछे धकेल दिया जावेगा एवं महर्षि दयानन्द का झण्डा एक दिन समाप्त हो जावेगा व हिन्दू समाज अंधेरे में चला जायगा जिसका प्रकाशित करना बहुत ही मुश्किल होगा।

—नेमीचन्द दाधीच,
मंत्री आर्यसमाज, मेड़ता

आचार्य दत्तात्रेय के नाम

मैं चाहता हूं कि आर्यसमाज की सैद्धान्तिक मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखने का आपका अभियान चलता रहे। भले ही थोड़े व्यक्ति सही परन्तु विचार-विमर्श का यह फोरम बना रहे।

—डा. आनन्द प्रकाश,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी।

सत्यार्थप्रकाश महाभाष्य

अन्य आर्य ग्रन्थों की तरह महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों के भी भाष्य होने चाहिए थे। परन्तु इस दिशा में जैसा प्रयत्न अपेक्षित था वैसा हमने नहीं किया। ऋषि निर्वाण शताब्दी के अवसर पर किए अपने संकल्प के अनुसार मैंने निरन्तर तीन वर्षों तक परिश्रम करके ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का भाष्य लिखा बड़े आकार 20X30 के 600 पृष्ठ। 8 में उसका प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है और [illegible] उतना ही बड़ा दूसरा भाग [illegible] है। [illegible] द्वारा प्रकाशित [illegible] के नाम से प्रकाशित [illegible] ग्रन्थ के प्रकाशन पर एक [illegible] से अधिक व्यय हुआ है।

आर्य जगत के मूर्धन्य विद्वानों द्वारा प्रशंसित इस महान कार्य में मिली सफलता से प्रोत्साहित होकर अब मैं ऋषि दयानन्द के दूसरे महत्वपूर्ण ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश की विस्तृत व्याख्या करने जा रहा हूं। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में सत्यार्थप्रकाश पर भाष्य लिखना सबसे कठिन काम है। वैदिक विद्वानों की सहायता तथा आर्य पुरुषों के सहयोग के बिना यह अत्यन्त दुष्कर है।

इन पंक्तियों के द्वारा मैं सम्पूर्ण आर्य जगत से अनुरोध करता हूं कि सभी अपने अपने सामर्थ्य के अनुसार इस पुण्य कार्य में सहयोग देने की कृपा करें। मैं चाहता हूं कि—

1 सत्यार्थप्रकाश से सम्बन्धित जो भी शंकायें किसी को हों तत्काल लिखभेजें।

2 जिन्हें व्याख्यानों, शास्त्रार्थों, लेखों आदि के माध्यम से समय समय पर उठी शंकाओं और उनके समाधान की जानकारी हो, मुझ तक पहुंचाने की कृपा करें।

3 इस कार्य में सहायक पुस्तकों ट्रैक्टों पत्र-पत्रिकाओं आदि की जानकारी दें तथा जिनके पास इस प्रकार की सामग्री हो उसे देकर अनुग्रहीत करें। कार्य सम्पन्न होने पर सुरक्षित लौटा दी जायेगी।

4-यथासमय मैं पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा जो शंकायें प्रस्तुत करूंगा यथामति उनका समाधान करने की चेष्टा करें।

—स्वामी विद्यानन्द स्वामी दयानन्द मठ दीनानगर (पंजाब)

रथयात्रा मेले में प्रचार

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा रांची डोरण्डा धुर्वा और आदर्शनगर आर्य समाजों के सहयोग से रांची से 10 किलोमीटर दूर रथ यात्रा मेले में एक प्रचार कैम्प स्थापित किया गया। इस अवसर पर पं. गोविन्द प्रसाद आर्य विद्यावाचस्पति (चतरा) पंडित शिवधर आर्य व श्री सत्यप्रकाश आर्य (पन्ना) श्री सदानन्द (पाल्यर डीन) श्री इन्द्रदेव आर्य (राजधनवार) और श्री हरिप्रसाद लाल (जहानाबाद) ने भाग लिया। इस अवसर पर वैदिक साहित्य की बिक्री के अतिरिक्त सभा द्वारा क्या ईसा मुक्तिदाता है? नामक पैम्फलेट का वितरण किया गया। इस मेले में इस वर्ष तीन लाख लोगों ने भाग लिया।

—दयाराम पोद्दार
(मंत्री)

निर्वाचन

आर्य समाज पानीपत प्रधान-श्री बाबूराम मित्तल मन्त्री राम मोहन राय एडवोकेट कोषाध्यक्ष-राजकुमार लोहेवाले पुस्तकालयाध्यक्ष-दीपचन्द निर्मोही।

शोक व्यक्त

आर्यसमाज अजमेर ने परोपकारिणी सभा के उपप्रधान श्री पूनमचन्द के निधन पर शोक व्यक्त किया है।

—मंत्री

[illegible] खतरे

(शेष पृष्ठ 3 का)

'देखो, तुम्हारे सामने पाखण्ड मत बढ़ते आते हैं। तनिक भी तुमसे अपने घर की रक्षा, और दूसरों का मिलाना नहीं बन सकता बनें तो तब जब तुम करना चाहो। जबलों (जब तक तुम) वर्तमान और भविष्यत् में उन्नतिशील नहीं होते तबलों आर्य्यावर्त और अन्य मनुष्यों की वृद्धि नहीं होती।

धर्म परिवर्तन कुचक्र के राजनैतिक परिणामों का लक्ष्य में रखकर हिन्दुओं को और विशेषतः आर्यसमाज को गम्भीरता से सोचना चाहिए और कोई प्रभावशाली तथा परिणामकारक कार्यक्रम बनाने का यत्न करना चाहिये।

पता— भू. पू. प्रिंसीपल,
हिन्दी महाविद्यालय,
हैदराबाद

स्वामी अग्निवेश

(शेष पृष्ठ 2 का)

करने पर बाध्य करता हो इस दृष्टि से ही लिखी जायगी और उस दृष्टि में हमारा समाज अभी बहुत पीछे है।

इस सन्दर्भ में एक विचारणीय प्रश्न (विशेषकर आर्यसमाज की दृष्टि से) यह भी है कि क्या मूर्ति-पूजा से अस्पृश्यता का कोई सीधा सम्बन्ध है? अस्पृश्यता की प्रथा के आरम्भ के विषय में अनेक मान्यतायें हैं—कई विद्वान इसे विदेशी आक्रमण की देन भी मानते हैं। मेरी दृष्टि में हिन्दू समाज में अस्पृश्यता के प्रचलन का मूर्तिपूजा से गहरा सम्बन्ध है। जो व्यक्ति या जाति मूर्ति के जितना अधिक निकट है वह उतना ही पवित्र श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है। [illegible] उत्पत्ति वहीं से होती है। जिसमें योग्यता सत्कर्म और आचरण को कोई स्थान नहीं दिया गया है तथाकथित मन्त्रों, प्राणप्रतिष्ठा इस आडम्बर से जड़ वस्तु कुछ क्षणों चेतन से कहीं श्रेष्ठ बन जाता है और समाज का बहुत बड़ा हिस्सा इस मूर्ति-पूजा के चक्र में जीवन-पर्यन्त पिसता रहता है। वह सभी प्रकार के अत्याचार सहन कर लेता है क्योंकि वह मूर्ति (जड़) से भयभीत है। अस्पृश्यता का पूर्ण निराकरण तो मूर्ति-पूजा की समाप्ति में ही निहित है। अतः आर्यसमाज के दर्शन द्वारा इन दोनों को ही समाप्त करना होगा।

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्यप्रिंटर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाजभवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।
सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163
सृष्टि सम्वत 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म, हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य
समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 मगलवार 30 अगस्त 1988 अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात। भाद्रपद क्र 4 सवत 2045
अक 16 प स 43338/84 II अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥ वार्षिक मू 5, एक प्रति 60 पैसे

आर्य समाज का भविष्य क्या होगा?

जब काबे में कुफ्र होगा

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

आर्यसमाज आर्यसमाज रह कर ही देश धर्म की सेवा कर सकता है। हिन्दू धर्म की पौराणिक मान्यताओं का यदि आर्यसमाज में भी समावेश हो जाए तो फिर आर्यसमाज का मूल स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। लेकिन लगता है कि आर्यसमाज के वर्तमान कर्णधार इस सत्य से पूर्ण रूप से आंख मूंदे हुए है और आर्यसमाज के अस्तित्व को हिन्दू धर्म की नमक की खान में विलीन करने का आत्मघाती कार्य कर रहे हैं।

पौराणिक मान्यताओं के प्रति श्रद्धालु ये लोग प्रच्छन्न पौराणिक ही हैं। जब आर्यसमाज के संगठन के सर्वोच्च पदों पर ही पौराणिक मान्यताओं के समर्थक आसीन हो जाए तब आर्यसमाज का भविष्य क्या होगा इसकी कल्पना आप कर सकते है?

अभी कुछ माह पूर्व ही आर्यसमाज के पुनर्गठन के लिए गठित उपसमिति की सिफारिश पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने स्वीकार किया कि आर्यसमाज मे प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक व्यक्ति का निम्न लिखित प्रण लेना होगा— **मैं ईश्वर के प्रतीक स्वरूप किसी मूर्ति या जड़ वस्तु अथवा व्यक्ति की पूजा नहीं करूंगा ना ही मृतक श्राद्ध या स्थान विशेष को तीर्थ मानूंगा तथा किसी अवैदिक या पौराणिक विधि विधान को नहीं मानूंगा** अर्थात वेद विरुद्ध आचरण नही करूंगा। मैं जन्मगत जाति-पाति या छुआछूत को नहीं मानूंगा। मैं किसी भी सम्प्रदाय विशेष या जाति संगठन का सदस्य या अधिकारी नही बनूंगा तथा आर्यसमाज के उपनियमों मे वर्णित उपनियमों का पालन करूंगा। यदि मैं इनके विपरीत आचरण करूंगा तो मेरी आर्य सभासदी समाप्त कर दी जाए। उपसमिति की उक्त प्रण संबंधी सिफारिश अपने आप में अत्यंत महत्वपूर्ण है इस प्रण से हिन्दू धर्म और आर्य समाज की पृथकता का अंतर होना है और आर्यसमाज के मूलभूत सिद्धांतों की जानकारी भी मिलनी है। वस्तुत इस प्रण को पूरी तरह लागू करके ही वैदिक धर्म और आर्य समाज के मौलिक स्वरूप को अक्षुण्ण रखा जा सकता है परन्तु ऐसा लगता है कि आर्य समाज के वर्तमान नेता ही आर्य समाज के सिद्धांतों के प्रति निष्ठावान नही है फिर साधारण आर्य समाज से क्या अपेक्षा की जा सकती है?

गत कई माह पूर्व अनूप संदेश व दयानन्द संदेश में एक समाचार प्रकाशित हुआ कि आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के प्रधान श्री इन्द्रराज जी ने अपनी स्वर्गीय माता की तेरहवीं की। समाचार में कहा गया था कि इस अवसर पर सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध जी सरस्वती भी उपस्थित थे। हमारे लिए यह एक अप्रत्याशित समाचार था।

हमने समाचार की सत्यता जानने हेतु श्री इन्द्रराज जी व स्वामी जी को पत्र लिखे। हमारे पत्र के उत्तर मे स्वामी जी ने तो मात्र इतना लिखा कि उन्होंने हमारे पत्र को जानकारी देने के लिए श्री इन्द्रराज जी के पास भेज दिया है। जबकि श्री इन्द्रराज का 8 अगस्त का पत्र हमे मिला जिसमे कहा गया था कि मैंने कोई वेद विरोधी कार्य नही किया। यदि किसी को एतराज हो तो सार्वदेशिक सभा की धर्मार्य सभा के सम्मुख उपस्थित करे।

श्री इन्द्रराज के उक्त उत्तर से हम संतुष्ट नही हुए और उनसे इस संबंध में पूर्ण जानकारी की मांग करते हुए हमने उन्हें दूसरा पत्र लिखा जिसमे हमने इस तथ्य का

(शेष पृष्ठ चार पर)

स्वामी आनदबोध सरस्वती के नाम हमारा पत्र

स्वामी आनन्दबोध जी सरस्वती
प्रधान सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
रामलीला मैदान नई दिल्ली–2

माननीय स्वामी जी

सादर नमस्ते।

आशा है कि आप प्रभु कृपा से स्वस्थ एवं सानन्द होंगे। सूचनार्थ निवेदन है कि 'दयानन्द संदेश' व 'अनूप संदेश' आदि पत्रों मे आर्य प्रतिनिधि सभा (उ प्र) के प्रधान श्री इन्द्रराज जी द्वारा आपकी उपस्थिति में अपनी माताजी की तेरहवीं करने का समाचार प्रकाशित हुआ है।

निश्चित रूप से प्रत्येक आर्य समाजी के लिये यह खेद का विषय है।

हमारे अनेक पाठकों से इस संबंध में लिखने के आग्रह पत्र हमें प्राप्त हुए है लेकिन हम चाहते है कि लिखने से पूर्व आपसे भी जानकारी कर लें।

कृपया यथा शीघ्र संबंधित जानकारी देकर सहयोग करें।

सादर।

भवदीय
(वीरेन्द्र कुमार आर्य)
सम्पादक

स्वामी आनदबोध जी का उत्तर

श्री वीरेन्द्र कुमार जी आर्य,

नमस्ते।

आपका 22 7 88 का पत्र प्राप्त हुआ। मैंने आपका पत्र श्री इन्द्रराज जी के पास आपको समुचित जानकारी देने के लिए भिजवा दिया है। सूचनार्थ।

भवदीय
(स्वामी आनन्दबोध सरस्वती)
प्रधान

श्री वीरेन्द्र कुमार आर्य
आर्यसमाज कैसरगंज अजमेर।

गीत

ओ आँधियो ! तुम न सनसनाओ
निशक हमने दिया जलाया।
प्रभजनो की चुनौतियो पर।
पवन झकोरो के पालने मे, झुलाई नव ज्योति की कलायें।
प्रकाश पल-पल प्रखर हुआ है, घिरी है जब-जब प्रलय घटायें।
ओ बिजलियो ! तुम न तमतमाओ,
खुली डाल पर, नीड बनाया—
अनल घनो की चुनौतियो पर !
अपार विष हम, पचा चुके है, धरा को उससे बचा चुके हैं,
हमारे कुरुक्षेत्र को पता है, प्रलय स्वयम्वर रचा चुके हैं।
कुवृत्तियो ! तुम न कुनमुनाओ,
अनय का हमने नशा उतारा,
अधम जनो की चुनौतियो पर।
दुशासनो के पते नहीं हैं, मिटा असुरता का दर्प सारा।
मिला धूल क्रूरता कस की मनुष्यता को सदा उबारा,
ओ विषधरो ! तुम फनफनाओ,
कन्हैया को नाचना सिखाया,
उठे फणो की चुनौतियो पर,
हमारा पथ तो प्रकाश का है, ध्येय तिमिर के विनाश का है,
सभी का मगल लिए हृदय मे, हमारा हर पग विकास का है,
हमे न रण दुदुभी सुनाओ,
नये सृजन का बिगुल बजाया,
प्रलय क्षणो की चुनौतियो पर,

—लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र'

सम्पादकीय—

"यादें आती हैं आज जियालाल जी की"

अजमेर के लौह पुरुष, दयानन्द कालेज, अजमेर के सस्थापक तथा हैदराबाद के आर्य सत्याग्रह एव पजाब के हिन्दी रक्षा आन्दोलन मे स्पेशल रेल गाडियो द्वारा हजारो सत्याग्रहियो को भेजने वाले कर्मवीर पण्डित जियालाल जी का जन्म दिवस प्रतिवर्ष श्रावणी उपाकर्म पर्व पर आर्यसमाज अजमेर के तत्वावधान मे समाज भवन में तथा समाज के अन्तर्गत सचालित शिक्षण सस्थाओ मे समारोह पूर्वक मनाया जाता है। कर्मवीर पण्डित जियालाल जी का जीवन सार्वजनिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है। वे जब तक जीवित रहे समाज और देश के लिए निरन्तर सघर्षरत रहते हुए जिये। यही कारण था कि उनका जीवन सेवा और सघर्ष का प्रतीक बन गया था।

कर्मवीर पण्डित जियालाल जी का जन्म सन् 1889 ई मे श्रावणी (रक्षा बन्धन) के ही दिन बुलन्दशहर, उत्तरप्रदेश मे हुआ था। सचमुच पवित्र रक्षा बन्धन का दिवस पण्डित जी के जीवन मे हिन्दू आर्य जाति की रक्षा करने मे सार्थक होकर चरितार्थ हो गया। जिस बालक ने रक्षा बन्धन के दिन जन्म लिया उसने जाति और धर्म की रक्षा मे अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया।

19 दिसम्बर, 1961 ई को कर्मवीर पण्डित जियालाल जी के निधन से अजमेर के सार्वजनिक जीवन और सेवाभाव का एक युग समाप्त हो गया।

"हजारो वर्षों तक नर्गिस अपनी बेनूरी पर रोती है
बड़ी मुश्किल से होता है चमन मे कोई दीदावर पैदा"

1912 मे जियालाल जी ने कुछ मारवाडी युवको के साथ [illegible] प्रवेश किया था और तब से अपनी मृत्यु तक के पचास वर्ष के लम्बे समय तक अजमेर के बेताज बादशाह बने रहे, उनका ध्येय था कि

"जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है
मुर्दा दिल खाक जिया करते हैं।"

यह पचास वर्ष का इतिहास उनके अदम्य उत्साह, तजस्वी व्यक्तित्व असाधारण लगन और अनुकरणीय आत्म समर्पण का एक ऐसा इतिहास है जिसका उदाहरण अजमेर के सार्वजनिक जीवन मे मिलना कठिन है कई लाग इतनी बडी "सेवा" के बाद म उसके बदल मे बहुत बडा "मेवा" (प्रतिफल) भी प्राप्त करत है। परन्तु बाबूजी के उपनाम से सुपरिचित कर्मवीर पण्डित जियालाल जी ने अपने घर-बार-परिवार सब कुछ खोकर अपना सम्पूर्ण जीवन केवल मात्र अपने आपको 'दयानन्दी' और 'सच्चा आर्य' बताकर आर्य समाज और महर्षि दयानन्द के प्रति अर्पित कर दिया। वे स्वय रलवे मे एक साधारण लिपिक के रूप म नौकरी करके सेवानिवृत्त हुए परन्तु नौकरी के साथ-साथ उन्होने निर्भय और निस्वार्थ रहकर दीन-दुखियो की जन-सेवा का विलक्षण कार्य किया। लाखों रुपये उन्होने सस्थाओ के लिये एकत्रित किये। पर व्यक्तिगत हित के लिए कभी सार्वजनिक पैसा खर्च नही किया।

कट्टर अहिंसा और साम्प्रदायिक तुष्टिकरण की महात्मा गाधी की नीति से उनका मतभेद था। परन्तु फिर भी एक निर्भीक आर्य समाजी के नात देश की स्वाधीनता के राष्ट्रीय आदोलन के साथ सहानुभूति रखते हुए निष्कपट और दृढ स्वभाव के कारण राष्ट्रीय कार्यकर्ताओ को सक्रिय सहयोग प्रदान करते थे। छुआछूत उन्मूलन सबधी आर्य समाज के कार्यक्रम मे कर्मवीर पण्डित जियालाल जी ने आनासागर के किनारे बडे-बडे विशाल सार्वजनिक प्रीतिभोजो का आयोजन किया जिनमे ब्राह्मण और भगी को एक साथ बैठाकर दस-दस हजार तक की सख्या वाले सभी वर्णों के व्यक्तियो को एक पक्ति मे भोजन करवाया। 1939-40 म निजाम हैदराबाद के विरुद्ध छेडे गये सत्याग्रह मे स्पेशल ट्रेनें भरकर सत्याग्रहियो को प्रचार-प्रसार की धूम मचाते हुए हैदराबाद भेजा। 1940 मे ही द्वितीय महायुद्ध मे उत्पन्न अनेक कठिनाईयों के बावजूद तथा अजमेर के आर्य समाजी क्षेत्रो मे दलबन्दी अपनी चरम सीमा पर होते हुए तथा कई विरोधो के बावजूद अपनी अटूट लगन और निष्ठा से जियालाल जी ने दयानन्द कालेज स्थापित किया। देश विभाजन के समय अनेक साम्प्रदायिक दगो के दौरान हिन्दुओ के जान-माल की हिफाजत करने वाले दीन-दुखियो की मदद करने वाले, अनाथ और विधवाओ को शरण देकर पालन-पोषण करने वाले अपना सब कुछ देकर भी परोपकार का व्रत निर्वाह करने वाले कर्मवीर पण्डित जियालाल जी ही थे। उनका जीवन युवको तथा नई पीढी के लोगो के लिए अत्यन्त प्रेरणा दायक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

हकीकत तो यह है कि कर्मवीर पण्डित जियालाल जी जैसा प्रखर, [illegible] ओजस्वी, कर्त्तव्य परायण व्यक्ति तथा निडरता एवं साहस में बेजोड नेता राजस्थान मे अब तक न हुआ और न निकट भविष्य मे ऐसा कोई दिखाई देता है।

उनके जन्म दिवस पर श्रद्धानत होकर भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं।

—रासासिंह

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता

दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर मे राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत दयानद शोध पीठ की ओर से एक ऐसे अधिकृत ग्रन्थ का प्रकाशन करने का निश्चय किया गया है जिसमें वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध की जा सके। इस दृष्टि से ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म और आर्य समाज के सिद्धाता का समर्थन करने वाले उन सब उद्धरणो विचारो और मान्यताओ का समावेश किया जायेगा जो अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तको और उनके अनुयायी विद्वानों द्वारा लिखी गई है। उदाहरण के लिए एकेश्वरवाद के समर्थन और मूर्तिपूजा के विरुद्ध, इस्लाम विरुद्ध

(शेष पृष्ठ चार पर)

आर्य समाज और हरिजनों का मंदिर प्रवेश

विगत जुलाई माह में स्वामी अग्निवेश द्वारा नाथद्वारा के प्रसिद्ध पुष्टिमार्गीय (श्रीनाथ जी के) मंदिर में हरिजनों को साथ लेकर मूर्तियों के दर्शनार्थ जाने के असफल प्रयास की ओर सभी देशवासियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। अन्ततः राजस्थान सरकार ने स्वामीजी को नाथद्वारा पहुंचने के पहले ही गिरफ्तार कर लिया और राज्य से बाहर कर दिया। उधर नाथद्वारा, उदयपुर, कांकरोली तथा अन्य निकटवर्ती स्थानों के जन समुदाय ने स्वामी अग्निवेश के इस अभियान का पुरजोर विरोध किया। उनके जबरन मन्दिर प्रवेश के विरोध में बन्द आयोजित हुए, जुलूस निकाले गए, हड़ताल की गई और प्रतिरोध का जबरदस्त वातावरण बनाया गया। दूरदर्शन पर सरकार समर्थक जो बयान आये तथा नाथद्वारा मन्दिर से सम्बद्ध लोगों के जो वक्तव्य प्रसारित किए गए वे भी नितान्त एक पक्षीय तथा दोषपूर्ण ही थे। अब जबकि पिछले दिनों एक बार और मंदिर के महन्त के हाथों तुलसी माला और डोरा पहना कर नाथद्वारे के हरिजनों को श्रीनाथजी के दर्शन कराने की जो मिलीभगत राजस्थान सरकार के संरक्षण में की गई है उसके कारण भी इस सारी समस्या पर विस्तारपूर्वक किन्तु आर्यसमाज की दृष्टि से विचार किया जाना आवश्यक है।

प्रथम बात तो यह है कि मूर्ति पूजा जैसे भ्रष्ट आचरण को प्रोत्साहन देने वाले मन्दिरों का आर्यसमाज की दृष्टि से न तो कोई महत्त्व है और न औचित्य। हम बात को कदापि स्वीकार नहीं करते कि हरिजनों के मंदिरों में जाने से उनमें धार्मिक या आध्यात्मिक भावों की अभिवृद्धि होगी। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के ११वें समुल्लास में मूर्ति पूजा से उत्पन्न १६ हानियां तो ऐसी गिनाई हैं जो हमारे देश की आर्थिक और राष्ट्रीय बरबादी का कारण बन गई हैं। ऐसी स्थिति में हरिजनों को इन्हीं महन्तों, पुजारियों और धर्म के नाम पर व्यवसाय करने वाले पण्डों की शरण में जाने के लिए प्रेरित करना अथवा इसके लिए सत्याग्रह अभियान चलाना आर्य समाज के मौलिक मन्तव्यों के नितान्त प्रतिकूल है।

हमारे मित्र शायद यह कहें कि चाहे आर्यसमाजी होने के कारण इन मन्दिरों में जाने में हमारी कोई दिलचस्पी न हो किन्तु एक स्वतन्त्र देश के नागरिक के नाते और संविधान में प्रदत्त अधिकारों को प्राप्त करने की दृष्टि से यदि हरिजन मन्दिर प्रवेश करना चाहें तो क्या हमारा फर्ज नहीं बनता कि हम उनकी मदद करें तथा उनके मन्दिर प्रवेश अभियान का नेतृत्व करें। यहां पुनः हमें आर्य समाजी दृष्टि से ही सोचना पड़ेगा। यदि मन्दिरों में प्रवेश भारत के एक नागरिक का मौलिक अधिकार है और हमारे दलित भाई भी संविधान प्रदत्त अपने इस अधिकार का उपभोग करना चाहते हैं और वे मंदिरों के मालिकों और अर्चकों को इसमें बाधक पाते हैं तो उनके लिये न्यायालय का दरवाजा खुला है। संविधान में प्रदत्त नागरिकों के मौलिक अधिकारों को प्राप्त कराना सरकार और न्यायालय का काम है। मन्दिर प्रवेश के इच्छुक हरिजनों को चाहिए कि उनके प्रति होने वाले भेदभाव पूर्ण व्यवहार की वे पुलिस में शिकायत करें और वैधानिक लड़ाई लड़ें।

एक अन्य विचारणीय प्रश्न यह भी है कि प्रत्येक मत सम्प्रदाय के धर्म स्थानों में भिन्न भिन्न मर्यादाएं, अनुशासन और नियम लागू हैं। यथा गुरुद्वारे में प्रवेश करते समय आपका सिर अनिवार्यतः ढका होना ही चाहिए। काशी विश्वनाथ मंदिर के बाहर शिला पट्ट पर लिखा है अन्य धर्मावलम्बियों का प्रवेश निषेध। आर्य (हिन्दू) धर्म से व्यतिरिक्त अन्य मतावलम्बी वहां प्रवेश नहीं कर सकते। अर्थात् ईसाई एवं मुसलमानों का प्रवेश विश्वनाथ मन्दिर में कदापि नहीं हो सकता। पारसियों की अग्यारी (अग्निवेश्म और पूजा स्थली) तो गैर पारसियों के लिये सर्वथा अगम्य ही है। कोई भी पारसी भिन्न व्यक्ति अग्यारी में प्रविष्ट नहीं हो सकता। ऐसी ही मर्यादाओं का बहाना नाथद्वारा के महन्त ने भी ले रक्खा है। तभी तो उसने कहा कि कोई भी हरिजन जो विधिवत पुष्टि मार्ग की दीक्षा लेकर तुलसी माला या डोरा धारण कर लेगा उस मंदिर में प्रविष्ट होने का पूरा अधिकार है। किन्तु हरिजनों को तुलसी डोरा लेने की अनिवार्य शर्त लगाने वाला वल्लभमत का यह आचार्य भूल जाता है कि श्रीनाथजी के मंदिर में नित्य प्रति जो हजारों दर्शनार्थी सवर्ण हिन्दू जन, आर्यसमाजी अथवा शंकनीय नास्तिक आते हैं क्या वे सभी तुलसी माला लेकर पहले पुष्टि मार्ग की दीक्षा लेते हैं और तब मंदिर में प्रविष्ट होते हैं? यदि अन्य दर्शनार्थियों के लिये तुलसी डोरे का कोई बंधन नहीं है तो केवल हरिजनों के लिये ही ऐसा बंधन क्यों? सच तो यह है कि हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय के मन्दिर में अपने आपको हिन्दू कहने वाले व्यक्ति को प्रवेश पाने का अधिकार है। अतः दूरदर्शन पर जो दो वक्तव्य वल्लभ सम्प्रदाय के नेताओं द्वारा दिखाये गये वे भारत सरकार की घोषित नीति के नितान्त प्रतिकूल थे जिनमें कहा गया था—

(१) नाथद्वारा के हरिजन स्वयं मंदिर की मर्यादा की कद्र करते हैं इसलिये वे मन्दिर प्रवेश के लिये कभी आग्रह ही नहीं करते।

(२) पुष्टिमार्गीय परम्परा के अनुसार यदि हरिजन भी तुलसी माला लेकर तथा आचार्य से विधिवत दीक्षा ग्रहण कर मंदिर में आना चाहें तो आ सकते हैं।

स्पष्ट है कि उपरोक्त दोनों ही बातें मूल समस्या का समाधान नहीं करती। यदि मंदिर प्रवेश के पहले आचार्य से दीक्षा लेना अनिवार्य हो तब तो वह प्रत्येक के लिये लाजमी होगा, केवल हरिजन ही इस बंधन में क्यों बंधेंगे। अस्तु अब इस समस्या पर एक अन्य दृष्टि से विचार करें। क्या स्वामी अग्निवेश को इस आंदोलन के लिए आर्य समाज के संगठन गत नीतियों का भी सहयोग या संरक्षण प्राप्त था या नहीं। अतीत काल में आर्यसमाज ने जो भी देश व्यापी आन्दोलन चलाये और सत्याग्रह किये उन्हें इस संस्था की शिरोमणि सभा की सहमति और आशीर्वाद प्राप्त रहा, चाहे हैदराबाद का सत्याग्रह हो या पंजाब का हिन्दी रक्षा आन्दोलन। ये सभी अभियान आर्यसमाज ने सामूहिक रूप से चलाये इसलिये इनमें हजारों लाखों की संख्या में आर्य समाजियों ने भाग लिया। किन्तु स्वामी अग्निवेश का आन्दोलन तो स्वयं उन्हीं के द्वारा संचालित था। इसके औचित्य या अनौचित्य की जांच के लिये उन्होंने आर्य समाज के शीर्षस्थ नेताओं, विद्वानों और नीति निर्माताओं से परामर्श करने तक की आवश्यकता नहीं समझी। इसी का परिणाम था कि उदयपुर की आर्य समाज ने उनके इस कार्य का विरोध किया और राजस्थान के मुख्य मन्त्री को यह कहने का अवसर दिया कि स्वामी अग्निवेश के साथ तो उनकी अपनी संस्था आर्य समाज भी नहीं है। वस्तुतः व्यक्ति केन्द्रित आन्दोलन की नियति यही होती है।

यदि स्वामी अग्निवेश सार्वदेशिक सभा का मार्ग दर्शन और सहयोग की आकांक्षा करते तो प्रथम तो उन्हें सही ढंग की सलाह मिलती और यदि आर्य समाज संस्थागत रूप में हरिजनों के मंदिर प्रवेश को उचित ठहराते हुए इस अभियान को चलाने की स्वीकृति देता तो यह आन्दोलन एक देशव्यापी विराट आन्दोलन का रूप ले लेता और तब उससे इतने सस्ते ढंग से निपटना राजस्थान सरकार के लिए भी कठिन होता जैसा उसने स्वामी अग्निवेश और उनके जत्थे के साथ किया। जब एक के बाद एक आर्य समाज के जत्थे नाथद्वारा की ओर बढ़ते तो न तो महन्त या उसके पिछलग्गुओं की ही हिम्मत होती कि वे उनका रास्ता रोकते और न सरकारी मशीनरी का ही इन जत्थों को राज्य से निष्कासित करने का साहस होता।

किन्तु मैं तो इस समस्या को सैद्धान्तीय पहलू में ही देखना चाहता हूं। आर्यसमाज के लिये तो यही उचित है कि वह अपने दलित भाइयों को ईश्वर के निर्गुण निराकार रूप की उपासना करने के लिये ही प्रेरित करे, उन्हें संध्या गायत्री जप तथा चार आडम्बर और दुराचार के अड्डे तुल्य मन्दिरों में उन्हें ले जाना हमें कदापि इष्ट नहीं है और वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिर तो सदा से ही बदनाम रहे हैं। तन मन धन गोसाईं जी के अर्पण कराने वाले इस सम्प्रदाय के महन्तों का इतिहास यदि जानना चाहें तो बम्बई के महाराज लाइबल केस के विवरण को पढ़ें या स्वामी श्लोकानन्द लिखित वल्लभ कुल छलकपट दर्पण पढ़ें। इन्हीं व्यभिचार के केन्द्र स्थलों को लक्ष्य में रखकर राष्ट्र कवि मैथिली शरण गुप्त को भी भारत भारती में लिखना पड़ा था—

भक्तस्त्रियां हैं गोपियां गोस्वामि ही गोपाल हैं।

—डा० भवानी लाल भारतीय

(शेष पृष्ठ 1 का)

जब काके मैं

जानकारी मांगी कि आपने तेरहवी की है या नहीं जब तक यह मालूम नहीं होता हम धर्मार्य सभा के पास कैसे जा सकते हैं।

हमारे उक्त पत्र के उत्तर में श्री इन्द्रराज ने जो लिखा उससे यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि उन्होंने अपनी स्वर्गीया माताजी की तेरहवी की। (देखें बाक्स श्री इन्द्रराज जी का पत्र)

आखिर माताजी के स्वर्गवास के इतने (ग्यारह या बारह) दिन के अंतराल के बाद शान्तियज्ञ के आयोजन व 200 आदमियों को न्यौता देने का अर्थ क्या है?

अब तेरहवी-मृतक श्राद्ध आदि के विषय में ऋषि दयानन्द जी महाराज के क्या विचार हैं इन्हें देखिये। 'संस्कार विधि' के अन्त्येष्टि प्रकरण में ऋषिवर कहते हैं

प्रश्न—जो गरुड़ पुराण आदि में दशगात्र, द्वादशाह, सपिण्डीकर्म मासिक वार्षिक गयाश्राद्ध आदि क्रिया लिखी है, क्या ये सब असत्य है?

उत्तर—हां अवश्य मिथ्या है क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है इसलिए अकर्त्तव्य हैं। और मृतक जीव का सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता न जीते हुए सम्बन्धियों का, वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है।

—अन्त्येष्टि प्रकरण में ही ऋषि लिखते हैं

'तत्पश्चात् जब तीसरा दिन हो तब मृतक का कोई सम्बन्धी श्मशान में जाकर, चिता से अस्थि उठा के, उस श्मशान भूमि में ... आगे मृतक के लिए कुछ भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि पूर्व 'भस्मान्तं शरीरम्' यजुर्वेद के मन्त्र के प्रमाण से स्पष्ट हो चुका है कि दाहकर्म और अस्थि सञ्चयन से पृथक् मृतक के लिये दूसरा कोई भी कर्म कर्त्तव्य नहीं है। हां यदि वह सम्पन्न हो तो अपने जीते जी वा मरे पीछे उसके सम्बन्धी वेद विद्या वेदोक्त धर्म का प्रचार अनाथ पालन वेदोक्त धर्मोपदेश की प्रवृत्ति के लिए चाहे जितना धन प्रदान करें बहुत अच्छी बात है।"

जबकि उपनिषद् यह उद्घोष करते हैं कि जीवात्मा 'तृणजलायुका न्याय से अपने लिए उत्तर शरीर का चयन करने के उपरान्त ही पूर्व शरीर का परित्याग करता है—अर्थात् जीव के पूर्व शरीर छोड़ने और उत्तर शरीर ग्रहण करने में कोई अन्तराल नहीं होता तो—मरणोपरान्त बन्धु-बांधवों के द्वारा तदर्थ किए हुए कर्म का फल उसे नहीं मिलता—और जब जीव शरीर का परित्याग कर ही देता है तो उसके भस्मावशेष-हड्डियां आदि का उससे क्या सम्बन्ध हो सकता है?

उपर्युक्त शास्त्रोक्त निर्देशों के आलोक में श्री इन्द्रराज जी द्वारा किया गया तेरहवी नामक कर्मकांड वेद विरोधी और आर्यसमाज सिद्धांतों के विपरीत सिद्ध होता है। तेरहवी-मृतक श्राद्ध करने व ऐसे आर्यसमाजियों पर लिखी स्व. पं. नाथूराम जी शंकर की एक व्यंग्य कविता की दो पंक्तियों को उद्धरित कर हम अपनी लेखनी को विराम देंगे—

दो मतों को मार खान्
हमने
धो धना फू के चिता में 'ले' दैव
करते रहें।

(शेष पृष्ठ 2 का)

वैदिक धर्म.

कबीर तथा नानक और तेरापंथी जैन सम्प्रदाय की मान्यताएं। इसी प्रकार जात-पात, छुआछूत के विरुद्ध तथा सामाजिक एकता और सेवा के सम्बन्ध में उपरोक्त तथा ईसाई धर्म के विचारों का समावेश करने की योजना है। ग्रन्थ में प्रकाशित किये जाने वाले विद्वतापूर्ण निबंधों और लेखों के लिए उचित पारिश्रमिक ... निश्चित किया गया है। जो विद्वान इस कार्य में सहयोग दे सकें वे कृपया श्री दत्तात्रेय आर्य, निदेशक, दयानन्द शोधपीठ दयानन्द कालेज अजमेर से सम्पर्क करने का कष्ट करें।

—मन्त्री

आर्यसमाज शाहपुरा का निर्वाचन

संरक्षक—राजा सुदर्शनदेव आर्य
प्रधान—श्री रामस्वरूप देसी
मन्त्री—श्री अम्बालाल आर्य सिद्धान्त भास्कर
कोषाध्यक्ष—श्री सत्यनारायण छीपा
पुस्तकाध्यक्ष—श्री रामजीवन छीपा

श्री इन्द्रराज जी को हमारा पत्र

प्रिय महोदय
सप्रेम नमस्ते।

सूचनार्थ निवेदन है कि 'दयानन्द संदेश' 'व अमृत संदेश' आदि पत्रों में आप द्वारा अपनी माताजी की "तेरहवी" करने का समाचार प्रकाशित हुआ है निःसन्देह आप जैसे आर्य समाजी व्यक्ति द्वारा यह सिद्धान्त विरुद्ध कृत्य किया जाना अत्यंत ही खेद का विषय है।

हमारे पाठकों के इस विषय में लिखने के निरन्तर पत्र आ रहे हैं परन्तु हम चाहते हैं कि हम लिखने से पूर्व आपसे वास्तविकता की जानकारी कर लें।

कृपया यथा शीघ्र पत्रोत्तर देकर सहयोग करने का कष्ट करें।

भवदीय
(वीरेन्द्र कुमार आर्य) सम्पादक

श्री इन्द्रराज, प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा, लखनऊ

श्री इन्द्रराज जी का उत्तर

श्रीयुत वीरेन्द्र कुमार जी आर्य, 8.8 88
सम्पादक
आर्य पुनर्गठन अजमेर।

श्रीमन् नमस्ते। आप का पत्र मिला। कतिपय विरोधी लोगों का षड़यन्त्र मुझे बदनाम करने के लिए है। मैंने कोई वेद विरोधी कार्य नहीं किया। पूज्या माताजी के निधन पर इनमें से किसी ने सहानुभूति के रूप में दो शब्द भी नहीं लिखे। परन्तु अब उन की अस्थियों से खिलवाड़ करना चाहते हैं। सार्वदेशिक सभा में धर्मार्य सभा गठित है। उस में शिकायत लिख कर भेज। जो निर्णय होगा सबके सामने आ जाएगा। मुझे भी वह सर्वथा मान्य होगा। परन्तु यदि मुझे बदनाम करना ही अभिमत है तो उनकी इच्छा। वे कर मुझे कोई प्रतिरोध नहीं करना है।

सूचनार्थ। भवदीय
(इन्द्रराज) प्रधान

श्री इन्द्रराज जी को हमारा द्वितीय पत्र

प्रिय महोदय 12 8 88

आपका 8 अगस्त का पत्र मिला। खेद है कि आपके पत्र से हमें संतुष्टि नहीं हुई।

सूचनार्थ निवेदन है कि धर्मार्य सभा में भी तभी जाया जा सकता है, जबकि इस सम्बन्ध में हम इस तथ्य की जानकारी हो कि आपने अपनी माताजी की मृत्यु पर तेरहवी नामक रस्म कर्मकाण्ड का आयोजन किया या नहीं।

कृपया इस सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी देकर सहयोग करें।

भवदीय
(वीरेन्द्र कुमार आर्य) सम्पादक

श्री इन्द्रराज जी का उत्तर

श्री वीरेन्द्र कुमार जी आर्य 20 8 88
सम्पादक आर्य पुनर्गठन।

श्रीमन नमस्ते। आप का पत्र मुझे आज मिला। जो किया गया स्व. माताजी के निधनोपरान्त उसका प्रारूप साथ संलग्न है। इस अवसर पर जिन्होंने श्रद्धांजलियां दीं उनके नाम निम्नलिखित हैं —

(1) श्री मुक्त वेद प्रकाश जी सेवा निवृत्त प्राचार्य (मेरे मौसाजी तथा मेरे गुरुजी)
(2) श्री मास्टर सुन्दर लालजी (नगर के सम्भ्रान्त नागरिक)
(3) श्री स्वामी विवेकानन्दजी (आचार्य गुरुकुल प्रभात आश्रम)
(4) श्री स्वामी आनन्दबोधजी (प्रधान सार्वदेशिक सभा दिल्ली)

जो बाहर से लगभग 200 सम्बन्धी आए उन्हें भोजन करवाया गया। शान्तियज्ञ में नगर के हमारे नागरिक उपस्थित थे।

भवदीय
(इन्द्रराज)

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिंटर्स अजमेर के लिए सक्सेना प्रिंटर्स अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया।

ओ३म्

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।
सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म, हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य
समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 बृहस्तिवार 15 सितम्बर 1988 अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्। भाद्रपद शु 4 सवत 2045
अक 17 प स -43338/84 II अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥ वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

हिन्दू धर्म की अराजकता उसकी निर्बलता का कारण

बहुदेवतावाद और मूर्ति पूजा हिन्दू एकता में बाधक

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

हिन्दू समाज के समर्थक और अनुयायी अक्सर उसकी उदारता पर अभिमान और गौरव अनुभव करते है। उनका कहना है कि हिन्दू धर्म मे अनेक मत-पन्थ देवी-देवता और मन्दिर इस बात के प्रमाण हैं कि वह एक प्रकार से धर्म निरपेक्षता का पक्ष पोषक है और अपने भीतर धार्मिक भिन्नताओ को उदारता पूर्वक स्वीकार करता है।

अनेक देवी-देवताओं के सम्बन्ध मे साधारण हिंदु उनके पृथक अस्तित्व को स्वीकार करता है किन्तु उसके कुछ दार्शनिक और आधुनिक समर्थक ये कहकर एकेश्वरवाद को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करते हैं कि ये सब देवी-देवता एक ही ईश्वर के स्वरूप या भिन्न रूप हैं और उनकी उपासना एक ही लक्ष्य के अलग-अलग साधन है। जिसे हमारे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ व विश्व हिन्दू परिषद के भाई केवल भिन्न पूजा पद्धति कहकर हिन्दू धर्म की एकता प्रदर्शित करना चाहते हैं।

किन्तु हिन्दू धर्म ग्रन्थो और विशेषकर पुराणो के अध्ययन से स्पष्ट है कि ये सब दलीले अवास्तविक है और केवल आधुनिक विचारधारा की पृष्ठ भूमि मे हिन्दू धर्म की अराजकता और विभिन्नता को गलत सिद्ध करने के असफल प्रयत्न हैं। वस्तुत आधुनिक युग मे ऋषि दयानन्द ही ऐसे पहले महापुरुष थे जिन्होने वेदो के आधार पर एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया और वरुण इन्द्र आदि लगभग 100 नामो से हिन्दू जिन देवी-देवताओ की उपासना करते हैं, उन्हे एक ही ईश्वर के भिन्न-2 गुणवाचक नाम हैं ऐसा सिद्ध किया। स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द के इसी तर्क के बाद पौराणिक हिंदुओ ने और विशेषकर आधुनिक समर्थको ने भी ये सब बात कहना प्रारम्भ कर दिया। किंतु व्यवहार मे हम स्पष्ट देखते है कि हिन्दू धर्म के भिन्न-2 अनुयायी अपने अपने देवता और मन्दिरो को एक ही ईश्वर के प्रतीक नही समझते हैं अपितु उनका पृथक अस्तित्व मानते है। यही कारण है कि जात-पात छुआछूत आदि अपनी सामाजिक भिन्नताओ के अतिरिक्त उनकी ये धार्मिक मान्यताए भी एक सगठन मे बांधने मे सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुई। आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द की इसीलिए दृढ मान्यता थी कि शास्त्रीय और तार्किक आधार के अतिरिक्त व्यवहारिक दृष्टि से भी हिन्दू तब तक सगठित और एक नही हो सकते जब तक उनकी देवी-देवताओ, मूर्तियो सबधी ये अनेक भिन्नताए दूर नही होती। जो उन्हे एक राष्ट्र तो क्या एक सगठित धर्म और समाज बनाने मे सर्वथा बाधक हैं।

मेरी स्वय की भी सदैव यह दृढ मान्यता रही है कि हिंदुओ की मूर्ति-पूजा और उससे सबधित अन्य धार्मिक अधविश्वासो और जात-पात छुआछूत आदि सामाजिक कुरीतियो का निराकरण किए बिना हिन्दू राष्ट्र तो क्या हिंदुओ की एकता और किसी सगठन तक का निर्माण असम्भव है। यह कार्य एक स्वय गतिशील और प्रभावशाली आर्य समाज जैसे क्रान्तिकारी सगठन द्वारा ही किया जा सकता है। इसीलिए इस सम्बध मे मेरा यह कहना है कि स्वामी दयानद द्वारा निर्देशित सार्वभौम वैदिक धर्म के सिद्धांतो को पूर्ण रूप मे अपनाकर ही हम हिन्दू एकता के लक्ष्य को प्राप्त कर सकते है।

पुराणो के प्रमाण

'दयानद सदेश' के सितम्बर, 1988 के अक मे वाराणसी के डा रामकृष्ण आर्य ने पुराणो से कुछ प्रमाण देकर ये सिद्ध कर करने का प्रयत्न प्रन्थ किया है कि भारत मे हिन्दुओ के विघटन का मुख्य कारण ये ही पुराण हैं। और उसमे प्रतिपादित अनेक देवी देवताओ की मूर्तियो की पूजा हमारे देश और धर्म का पतन का मुख्य कारण है। इतना ही नही इन पौराणिक ग्रन्थो से यह स्पष्ट होगा कि शिव, विष्णु आदि एक ईश्वर के ही नाम न होकर न केवल पृथक या अलग देवता है अपितु उनके अनुयायी एक-दूसरे के घोर विरोधी और निदक भी हैं। स्पष्ट है कि जब हिन्दुओ के उपास्य देवताओ का एक दूसरे स इतना वैमनस्य-विरोध है तो उनके अनुयायी किस प्रकार सगठित और एक हो सकते हैं?

पुराणो के प्रमाण निम्न है—

अय मे दक्षिणे पार्श्वे ब्रह्मलोक पितामह॥ वामे पार्श्वे च मे विष्णुर्विश्वात्मा हृदयोद्भव॥

(लिग पु॰ 19/2, 3)

अर्थ—(महादेवजी कहत है कि) मेरे दाहिन पार्श्व (पसली) स लोक पितामह ब्रह्मा तथा बाये पार्श्व पसली से विश्व के आत्मा विष्णु उत्पन्न हुए।

मन्नाभि-पकजात् जात पुरा ब्रह्म चतुर्मुख। तत्ललाट समुत्पन्नो भगवान् वृषभध्वज॥

(लिग पु॰ पूर्वार्द्ध 96/31)

अर्थात नरसिंहजी (जो विष्णु के साक्षात अवतार थे) कहते है कि मेरी नाभि मे कमल, कमल स ब्रह्मा तथा ब्रह्मा के मस्तक स शकर पैदा हुए।

प्रात काले शिव दृष्ट्वा निशि पाप विनश्यति। आजन्म कृत मध्याह्ने साय सप्त जन्मनाम॥

अर्थात् शिवजी (लिंग) का प्रात दर्शन करन पर रात भर के, दो पहर मे दर्शन करन पर जिन्दगी भर के तथा शाम को देखने पर जन्म के पाप दूर हो जाते हैं।

सर्वेषामपि अघवता, इदमेव सुनिष्कृतम्। नाम व्याहरण विष्णोर्यतस्तद्विषयामति। (भागवत् पु 6।2।10)

अर्थात सभी प्रकार के पाप करने वाले पापियो के पापो का विनाश विष्णु के नाम लेने मात्र से हो जाता है।

यदि वा परत क्रूर स्वाश्रमाचारवर्जितः। वैष्णवाना सहस्रेभ्य शिवभक्तो विशिष्यते॥ सौर पु 11।9

श्वपचोऽपि मुनिश्रेष्ठ शिवभक्तो द्विजाधिक। शिवभक्ति विहीनस्तु द्वि-

(शेष पृष्ठ 3 पर)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सम्पादक रासासिह सम्पादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय—

हिन्दी कब तक उपेक्षित रहेगी ?

14 सितम्बर 1949 का दिन भारतीय इतिहास में स्वर्ण अक्षरो मे लिखा जायेगा। जिस दिन सविधान का धारा प्रवाह वाचन होते हुए सविधान सभा द्वारा इस देश की राष्ट्र भाषा देवनागरी लिपि मे लिखित हिन्दी होगी तथा राज भाषा का दर्जा भी इसे ही प्राप्त होगा' का निश्चय सर्वसम्मति से किया गया था। 26 जनवरी 1950 को भारत को सवसत्ता सपन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित किया गया और भारतीय सविधान लागू हुआ था। एक स्वतन्त्र एव स्वाभिमानी राष्ट्र के लिये यह अत्यन्त आवश्यक था कि देश के राजकाज का समस्त काय इसकी अपनी राष्ट भाषा हिन्दी के माध्यम से ही हो परन्तु दक्षिण के राज्यो विशेषकर तमिलनाडु तथा पूव के नागालैण्ड जैसे राज्यो की सन्तुष्टिकरण के नाम पर तथा देश के बडे-बडे पदो पर सेवारत आम्ल भाषा पारगत अधिकारियो के निहित स्वार्थों के कारण अग्रेजी को भी 15 वष के लिये सखी भाषा मान लिया गया और जब तक हिन्दी उसका स्थान न ले ले तब तक उसके प्रयाग करने की आज्ञा दी गई।

परन्तु इस देश का दुर्भाग्य ही रहा कि आजादी के चालीस वर्षो के बाद भी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओ को उनका समुचित स्थान नहीं मिल पाया और आज अग्रेजी भारत के जनमानस पर पहले से अधिक छायी हुई है। और राजकाज का समस्त काय अग्रेजी मे ही चल रहा है। यहा तक आय समाज जैसी सुप्रसिद्ध एव क्रान्तिकारी, राष्ट्रवादी एव भारतीय सस्कृति की पुरोधा सस्था के अनुयायियो का भी एक वग डी ए वी पब्लिक स्कूलो के नाम पर अग्रेजी और अग्रजीयत का जाल ही फैला रहा है तथा भारतीय घरो मे आन्टी मम्मी पापा डैडी के रूप मे बोल-चाल, खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार सर्वत्र अग्रेजी और अग्रेजीयत का बोलबाला बढ रहा है।

आर्य समाज के प्रवतक महर्षि दयानद सरस्वती की मातृ भाषा गुजराती थी और वे स्वय सस्कृत के महान पडित थ। परन्तु उन्होने देश म सवत्र घूम-घूम कर वेदा का प्रचार-प्रसार करते हुए यह अनुभव किया था कि हिन्दी ही इस देश की राष्ट्र भाषा हा सकती है। अत उन्होने हिन्दी को **आर्य भाषा** नाम दिया और इस ही अपने सिद्धान्तों के प्रचार प्रसार का माध्यम बनाया। अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्याथ प्रकाश भी हिन्दी भाषा मे लिखा और वेदा का भाष्य भी हिन्दी मे किया तथा अपने समस्त ग्रन्थ हिन्दी (आर्य) भाषा म लिखे। आय समाज के प्रत्येक सभासद के लिये सस्कृत और हिन्दी जानना आवश्यक घोषित किया। स्वामी श्रद्धानन्द लाला लाजपतराय, महात्मा हसराज आदि ने हिन्दी के लिये भरपूर प्रयत्न किये। आर्य समाज द्वारा सस्थापित स्कूलो, कालेजो, मे शिक्षा का माध्यम हिन्दी का बनाया तथा अपने समस्त प्रचार-प्रसार का माध्यम हिन्दी को बनाकर भारत के कोने-कोने मे तथा विश्व के मौरीशस, गियाना, फिजी, ट्रिनीडाड, इगलैंड अमेरिका आदि विभिन्न देशो मे हिन्दी के सदेश को पहुचाया। आज आजादी के 40 वर्षो के बाद आर्य समाज के कधो पर यह गुरुतर दायित्व है कि हिन्दी को उसका सम्मानपूर्ण स्थान दिलाये तथा राष्ट्र को अग्रेजी के सम्मोहन से मुक्त कराकर भारत को सच्चे अर्थो मे भारत बनाये।

हिन्दी भारत माता के भाल की बिंदी है। हिन्दी देश की हृदय भाषा है। हिन्दी देश के बहुमत की भाष। है हिन्दी कोटि-कोटि जनो की आशा है। हिन्दी देश प्रम और राष्ट्रीयता की सवाहिका रही है। देश की आजादी की लडाई हिन्दी के माध्यम से लडी गई है। गाधी तिलक गोखले, सुभाष, चन्द्रशेखर आजाद भगत सिंह आदि सबने हिन्दी भाषा के माध्यम से ही देश मे स्वाधीनता की अलख जगाई थी। अत स्वतत्र स्वाभिमानी राष्ट के लिये एक राष्ट्र भाषा हिन्दी का होना अत्यन्त आवश्यक है। जब चीन मे चीनी रूस मे रूसी जापान मे जापानी है तो हिन्दुस्तान म हिन्दी क्यो नही ? हमारा 'स्व जाग्रत होना चाहिये। तभी हिन्दी के प्रति उपेक्षा दूर हो सकेगी।

अत आज के दिन अपनी भाषा से प्यार करने का सकल्प लें।
जिसको न निज भाषा और निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं पशु निरा और मृतक समान है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा

'निज भाषा उन्नति है सब उन्नति का मूल
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल'

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त जी का कथन था कि

बिन एक व्यापक वाणी के राष्ट्र की सत्ता क्या ?
किसी देश मे पाती है निजता का पद परवत्ता क्या ?

इसलिए हम सभी आर्य जन आज सकल्प करें कि —

हिन्दी-हिन्दी राष्ट्र की भाषा कोटि—कोटि जनों की आशा।
धुले हृदय के दाग
"जय हिन्दी जय नागरी

—रासासिंह

इमर्जेन्सी की ओर बढ़ते कदम

मानहानि विधयक लाकर राजीव गाधी ने निश्चित रूप से आत्मघाती कार्य किया है। हमे प्रधानमन्त्री के सलाहकारो की बुद्धि पर तरस आता है कि उन्होने ऐसा करने की सलाह कैस दे दी! वैसे ये भी विश्वास नहीं होता कि सुमन दुबे और मणिशकर अय्यर जैसे लोगो ने उन्हे ऐसी सलाह दी होगी।

विधयक मे मानहानि के अपराधी के लिए जहा पूव से अधिक सजा और जुर्माने का प्रावधान किया गया है वही अब तक किसी भी असवैधानिक कार्य करने वाले के विरुद्ध आपके पास पुख्ता प्रमाण नही है, तब तक आप उस व्यक्ति के विरुद्ध कोई आरोप नही लगा सकते। अधूरे सबूतो के साथ यदि समाचार पत्र मे लिखा जाता है तो पत्र के सम्पादक को इस पर लेने के देने पड जायेगे। अधिकाश मामलो मे पुख्ता सबूत होने पर भी न्यायालय मे उन्हे साबित कर पाना असभव होता है।

मानहानि विधयक की एक अत्यन्त खतरनाक धारा है कि यदि कोई समाचार पत्र किसी के विरुद्ध कोई समाचार प्रकाशित करता है तो पत्र को सम्बन्धित व्यक्ति का विरोध पत्र (भल ही वो उलजलूल जैसा भी हो) भी प्रकाशित करना पडेगा। यदि सम्पादक विरोध पत्र को प्रकाशित नही करता है तो उसे मानहानि के मुकदमे की पेशी के समय स्वय के स्थान पर अपने वकील को भेजने की छूट नही मिल सकेगी। अर्थात् या सपादक को अवैधानिक कृत्य मे लिप्त व्यक्ति के अनगल प्रलाप को अपने पत्र मे स्थान देना पडेगा अन्यथा न्यायालय मे पेशी पर जा जाकर अपना बहुमूल्य समय नष्ट करना पड गा।

जो पत्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं वे तो किसी भडाफोड समाचार को प्रकाशित करने का थोडा साहस कर सकगे परन्तु छोटे तहसील और जिले स्तर पर प्रकाशित होने वाले पत्र तो अब किसी भ्रष्टाचारी का पर्दाफाश करने का साहस कदापि नही जुटा पायेंगे।

सरकार द्वारा जिस जल्दबाजी मे उक्त मानहानि विधयक लाया गया वह उसकी नीयत मे सदेह उत्पन्न करता है। कम से कम इसके मसौदे को वरिष्ठ विधिवेत्ताओ, राजनीतिज्ञो और पत्रकारो के पास विचाराथ तो भेजना ही चाहिये था।

देश का प्रेस एक जुट हो कर इस काले कानून का विरोध कर रहा है यह प्रसन्नता का विषय है। कार्य म सरकार की चमचागिरी करने वाले पत्रो और पत्रकारो को भी अपने तात्कालिक स्वार्थों को तिलाजलि देकर इस विधेयक के विरुद्ध अपनी आवाज उठानी चाहिए। ऐसे सरकार भक्त पत्रकारो को यह नही भूलना चाहिये कि सरकारे तो बदलती रहती है।

—वीरेन्द्र आर्य

स्वामी अग्निवेश की विदेश यात्रा

विदेशों में आर्य समाज के बढ़ते कदम

"विदेशों आर्य समाज का प्रचार बढ़ रहा है ।"

ये उद्गार है युवा आर्य सन्यासी स्वामी अग्निवेश के जो पूरे एक महीने की विदेश यात्रा से 26 अगस्त को प्रात काल स्वदेश लौटे हैं ।

स्वामी अग्निवेश की यात्रा का मुख्य उद्देश्य सयुक्त राष्ट्र सघ [यू एन ओ] की मानवधिकार आयोग के समक्ष भारत के पचास लाख से अधिक गरीब बधुआ मजदूरो की दर्द भरी दास्तान रखना था । स्विटजरलैण्ड की नगरी जिनेवा स्थित 'पैलेस आफ नेशन्स' मे अगस्त के प्रथम सप्ताह मे हर वर्ष की तरह इस बार भी "वकिंग ग्रुप आन कन्टेम्पोरेरी फार्म्स आफ स्लेवरी' (गुलाम प्रथा के आधुनिक तरीको पर काय समिति) स्वामी अग्निवेश ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया और अपनी बात की सपुष्टि मे ससदीय उप समिति की खेतिहर मजदूरो की हालात पर ताजा रिपोर्ट को विस्तृत तरीके से पेश किया । साथ ही भारत के 15 करोड हरिजनो के साथ हो रहे अमानवीय छुआछात के व्यवहार की कहानी के सदर्भ मे स्वामी अग्निवेश ने मानव अधिकार आयोग को बताया कि किस तरह राजस्थान सरकार ने अपने देश के सविधान को कुचलते हुए उदयपुर से आर्य समाज के नेतृत्व मे निकली पदयात्रा को नाथद्वारा मदिर प्रवेश से पहले गिरफ्तार कर लिया ।

जिनेवा जाने पहले आर्य समाज लदन मे स्वामी अग्निवेश का स्वागत हुआ और श्री सुशील आनन्द श्री जगदीश शर्मा, श्रीमती सावित्री छाबड़ा (वेद पाठी ग्रुप) श्री श्रीवेन्द्र वीर वर्मा,श्री देवशरण समरु,श्रीमती वेदवती शर्मा आदि ने भारत मे चल रहे नारी उत्पीडन विरोधी अभियान तथा जातिवाद के विरुद्ध सघष को अपन पूरे समर्थन का आश्वासन दिया ।

दि हेग के बाद स्वामी अग्निवेश का स्वागत स्टारडम की प्रभाकर आर्य समाज मे भी हुआ जहा यज्ञ एव भजन के पश्चात अपने जोशीले भाषण मे स्वामी अग्निवेश ने आर्य समाज को भवनो से बाहर निकल कर परमाणु युद्ध के खिलाफ प्रदूषण के खिलाफ और जातिभेद एव रगभेद की जहरीली नीतियो के खिलाफ आदोलन का आह्वान किया और भारत मे आर्य की नई भूमिका से अवगत कराया ।

आगे चलकर अमेरिका की राजधानी वाशिगटन मे पहुँचकर स्वामी अग्निवेश ने रेवरेण्ड जैसी जैक्सन की सस्था 'रैन बो कोय लीशन मे वरिष्ठ अधिकारियो से अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर चर्चा की तथा अमरिका मे रगभद नीति के खिलाफ गाधीवादी नेता मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व मे लडी गई लडाई की समीक्षा की । भारत मे आर्य समाज द्वारा लडी जा रही अहिंसक लडाई का इन नेताओ ने स्वागत किया और अपना नैतिक समथन दिया ।

न्यूयाक म स्थित कोलम्बिया विश्वविद्यालय के डाक्टरेट के छात्रा ने "धर्म एव समाज परिवतन विषय पर स्वामी अग्निवेश म तीन घण्टे विशद चर्चा की और वैदिक मान्यताओ को आर्य समाज द्वारा की गई व्याख्या की सराहना की इस दल ने भारत के धर्माचार्यो को पत्र डालकर और अमेरिका जाने पर सवाल पूछ कर अपन सामाजिक दायित्वो के प्रति सचेत करन का सकल्प किया ।

स्वामी अग्निवेश ने लदन के लिए प्रस्थान करते समय फिजी के फौजी राष्ट्रपति श्री रम्बूका के उस वक्तव्य की निन्दा की थी जिसमे रम्बूका ने धमकी दी थी कि फिजी के लगभग पचास प्रतिशत से अधिक भारत मूल के गैर ईसाइयो को ईसाई धम स्वीकार करना पडेगा अन्यथा फिजी छोडना पडेगा । जिनेवा मे स्वामी अग्निवेश ने 'वल्ड कौन्सिल आफ चर्चेस के मुख्यालय म जाकर उनक अन्तर्राष्ट्रीय मामला क प्रधान श्री नैनान कोशी से दो घण्टे मुलाकात की और फिजी क राष्ट्रपति क उस वक्तव्य की आलोचना करत हुए माग की कि वल्ड कौसिल आफ चर्चेस भी इसकी निन्दा करे और रम्बूका की चाल को ध्वस्त कर । (वि)

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो० दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 देश, धम और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार—मूल्य रु 1 00
3 आचार सहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आर्य समाज हिन्दू विदाउट हिन्दूइज्म (अग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 7 500
5 आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही मूल्य—50 रु

अन्य प्रकाशन—

आर्य समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20 00 रु, अजिल्द 16 00

—ल लाला लाजपतराय

2 धम शिक्षा (भाग 1 स 11 तक) —पूरे सैट का मूल्य रु 32 00
3. दयानद कथा सग्रह—मूल्य रु 3 00
4 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आय शिक्षण सस्थाओ का परिचय)—मूल्य रु 12 00

शिक्षक सम्मानित

आर्य कुमार सभा के तत्वावधान मे दयानन्द बाल सदन के छात्र-छात्राओ ने अपने शिक्षक गणो सवश्री आचार्य गोविन्द सिह, रामसिह व नवीन कुमार शर्मा को शिक्षक दिवस पर सम्मानित किया ।

जीवनसिंह (मत्री)

शोक व्यक्त

आर्य समाज, अजमेर और दयानन्द बाल सदन ने डा (श्रीमती) प्रेम बढ़ूवा के असामयिक निधन पर शोक व्यक्त किया है ।

—प्र मत्री

(शेष पृष्ठ 1 का)

बहुदेवतावाद और..

जोऽपि श्वपचाधम । सौर पु 47।43

अर्थात् चाह पापरत क्रूरकर्मा आश्रम धम रहित हो तो भी ऐसा शैव हजारा वैष्णवा स अच्छा है । हे श्रष्ठ मुनियो ! शिव भक्त श्वपच (कुत्त का मास खाने वाला डोम) भी ब्राह्मणा स श्रेष्ठ है । और शिवभक्ति रहित ब्राह्मण भी नीच और डोम है । कि अत्र बहुना उक्तन ब्राह्मणा येऽपि वैष्णवा । न स्पृष्टव्या न वक्तव्या न द्रष्टव्या कदाचन ॥

पदम पु उत्तरार्द्ध 235।12

अनहम मम नैवेद्य पत्र पुष्प फल जल । मह्यम् नैवेद्य सकल कूप सर्व विनिक्षिपत् ॥

पदम पु पाताल खड 114।204

अर्थात जो ब्राह्मण वैष्णव नही है, जो शिव के उपासक है उनको न तो छूना चाहिए (अछूत है) न उनसे बात करनी चाहिए और न ही उनकी शक्ल देखनी चाहिए । (स्वय शिवजी कहते हैं मेरे नैवेद्य पत्र पुष्प फल और जल को भी ग्रहण करने योग्य नही हैं। मेरे ऊपर (लिंग पर) चढाया हुआ नैवेद्य (प्रसाद) कुएं मे फेंक दो । तेन तुल्यो यदि विष्णु ब्रह्मा वा यदि कथ्यते । षष्ठी वर्ष सहस्राणि विष्ठाया जायत कृमि

सौर पु 40।17

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति विष्णु (व ब्रह्मा आदि देवताओ) को शिव के समान कहता है तो वह 60 हजार वर्ष तक टट्टी का कीडा बनता है । निर्माल्य शकरादीनां म चाण्डालो भवेद् ध्रुवम् । कल्प कोटि सहस्राणि पच्यते नरकाग्निना ॥

पदम पुन 30252।98

अर्थात जो ब्राह्मण एक बार (भूलकर) भी शकर आदि (काली, गणेश भैरव) का प्रसाद खा लेता है वह निश्चित ही चाण्डाल बन जाता है और हजारो करोडो कल्पा तक नरक की अग्नि मे दु ख भोगता है ।

शिव निन्दाकर दृष्ट्वा घातयित्वा प्रयत्नत । हत्वाऽत्मान पुनयस्तु सयाति परमा गतिम ॥ सौर पु 66।33

शिवनिन्दारत हन्तुमशक्तो य स्वय मृत । सद्य एव प्रमुच्येत् त्रिसप्तकुलसयुत ॥ शिव पु

अथ—यदि शैव किसी को शिव की निन्दा करता देखे तो किसी भी तरह से उसे मारकर स्वय मर जाय तो वह मोक्ष को प्राप्त होता है । यदि शिव निदक को मारने मे अशक्त होने से उसके साथ लडकर स्वय मर जावे तो अपनी 21 पीढिया सहित वह तत्काल मुक्त हो जाता है ।

आचार्य दत्तात्रेय आर्य के नाम श्री जे. एस. मेहता का पत्र

श्रीमान माननीय महाशय जी

सादर नमस्ते ।

आपका 30 अक्टू 87 को, आपके पत्र मे छपा 'मूर्तिपूजा का अभिशाप' लेख पढा उसमे लिखित पंक्तिया "मन्दिरो और मूर्ति के दर्शन के लिए लम्बी यात्राये करके जहा अनेक दु ख और कष्ट होते हैं तथा धन और समय नष्ट होता है आदि आदि पढ कर बहुत उत्साहित हुआ। फिर इसी पत्र के 15 जुलाई के अंक मे मन्दिर प्रवेश कराये जाने वाले पदयात्रीदल का सम्मानित एवं माल्यार्पण कराते आपका चित्र देखकर आश्चर्य हुआ । प्रश्न उठा कि जब मन्दिर एक असामाजिक अज्ञान का गढ है, फिर वहा निरीह भोले भाले दलित भाइयो को लेकर जाना क्या उचित है ? इनके उद्धार के अन्य भी प्रतीक, जैसे कुआ से पानी भराना, नाइयो से बाल कटाना आदि लिये जा सकते हैं । फिर जिस काय एव स्थान को आर्य अंध विश्वास, जडता, पाखड का खड्डा मानते है । उसमे इन निरीह लोगो को लेकर आर्य क्यो जावे ? स्व स्वामी श्रद्धानद जी ने अछूतोद्धार का जो कार्य किया वह सर्वविदित है । इस बारे मे आप अपना दृष्टिकोण पुन पत्र मे प्रकाशित करें ताकि लोगों का मार्गदर्शन हो ।

स्नेहाधीन
(जयसिंह मेहता)
प्रधान आर्य समाज, उदयपुर

आचार्य जी का उत्तर

प्रिय श्री मेहता जी,

सप्रेम नमस्ते ।

आपका पत्र मिला । मेरी अपनी अभी यह निश्चित मान्यता है कि मूर्ति पूजा हिदू समाज का ही नही, देश का एक बडा अभिशाप है ।

स्वामी अग्निवेश के स्वागत से मेरी इस मान्यता मे कोई अन्तर नही हुआ है । स्वामी जी ने आर्य समाज के तत्वावधान मे हरिजनो के साथ किये जा रहे भेदभाव और अन्याय के विरुद्ध जो पदयात्रा आयोजित की थी उसमे सहयोग देना मैं आर्य समाज की दृष्टि से सर्वथा उचित और उपयुक्त समझता हू ।

स्वामी जी स्वय नाथद्वारा मन्दिर मे पूजा के लिए प्रवेश नही करना चाहते थे । इसलिए उनके द्वारा मूर्ति पूजा के समर्थन की बात तक संगत नही है ।

आपको स्मरण होगा कि अजमेर मे मदार गेट पर बालाजी के मन्दिर पर जब मुसलमानो ने घटा घडियाल बजाने के प्रश्न को लेकर आक्रमण किया तो स्वर्गीय पण्डित जियालाल जी ने स्वय वहा जाकर उनका मुकाबला किया और गम्भीर रूप से घायल हुए ।

स्पष्ट है कि आततायियो द्वारा हिन्दुओ के मन्दिर की रक्षा का प्रयत्न मूर्ति पूजा का समर्थन नही समझा जा सकता । हरिजनो के प्रवेश से यदि मूर्ति पूजा भंग होती है तो ऐसा करना भी मूर्ति पूजा के खंडन का एक तरीका है । वैसे भी स्वामी अग्निवेश जी ने मन्दिर प्रवेश की घोषणा से पूर्व मुझसे विचार-विमर्श नही किया था । सम्भव है मैं उन्हे हरिजनो के अधिकारो के लिए इसके स्थान मे कोई और अभियान या आन्दोलन करने की सलाह देता क्योंकि एक आर्य सन्यासी के नेतृत्व मे मन्दिर प्रवेश के आन्दोलन का यह गलत अर्थ लगाना सम्भव था । किन्तु एक बार आर्य समाज के नाम पर इस आन्दोलन की घोषणा हो जाने के बाद राजस्थान निवासी हम सब आर्य समाज के व्यक्तियो का यह कर्त्तव्य हो गया है कि हम उसका समर्थन करें ।

उदयपुर आर्य समाज के नाम से इस अवसर पर असहयोग की घोषणा से कट्टर पंथी सनातनियो के विरोध को ही समर्थन मिला जो संभवत स्वय आपके उद्देश्य के अनुकूल नहीं था । अस्तु ।

आशा है मेरे इस स्पष्टीकरण से मेरी स्थिति स्पष्ट हो जायगी ।

आशा है आप स्वस्थ एवं प्रसन्न होगें ।

आपका
(दत्तात्रेय आर्य)

श्री जयसिंह मेहता
प्रधान, आर्य समाज,
उदयपुर (राज)

प्रतिलिपि सूचनार्थ
स्वामी अग्निवेश जी,
7 जन्तर मन्तर रोड,
नई दिल्ली-1

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता पर शोध ग्रन्थ की योजना

दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर मे राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत दयानद शोध पीठ की ओर से एक ऐसे अधिकृत ग्रन्थ का प्रकाशन करने का निश्चय किया गया है जिसमे वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध की जा सके। इस दृष्टि से ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म और आर्य समाज के सिद्धातो का समर्थन करने वाले उन सब उद्धरणो, विचारो और मान्यताओ का समावेश किया जायेगा जो अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तको और उनके अनुयायी विद्वानो द्वारा लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए एकेश्वरवाद के समर्थन और मूर्ति पूजा के विरुद्ध इस्लाम, कबीर तथा नानक और तेरापंथी जैन सम्प्रदाय की मान्यताए । इसी प्रकार जात-पात छुआछूत के विरुद्ध तथा सामाजिक एकता और सेवा के सम्बन्ध मे उपरोक्त तथा ईसाई धर्म के विचारो का समावेश करने की योजना है। ग्रन्थ मे प्रकाशित किये जाने वाले विद्वतापूर्ण निबंधो और लेखो के लिए उचित पारितोषिक और पारिश्रमिक देने का भी निश्चय किया गया है। जो विद्वान इस कार्य मे सहयोग दे सकें वे कृपया श्री दत्तात्रेय आर्य, निदेशक, दयानद शोधपीठ दयानद कालेज अजमेर से संपर्क करने का कष्ट करे ।

वृष्टि यज्ञ असफल

विज्ञान और तकनीकी विभाग के द्वारा अभी हाल ही मे मथुरा मे वृष्टि यज्ञ का आयोजन किया गया जो पूर्ण रूप से असफल रहा ।

वृष्टि विज्ञान मंडल को विभाग के द्वारा 10 000 रु. की राशि दी गयी । यह परीक्षण करने के लिए कि लकडी जलने से जो राख और गैस उठी क्या उससे वातावरण मे कुछ परिवर्तन हो सका या उसके प्रभाव से कृत्रिम वर्षा की जा सकती है ।

वृष्टि विज्ञान मंडल के अनुसार 24 से बहत्तर घंटो के बीच अर्थात 28 मई से 31 मई के बीच वर्षा होने की संभावना घोषित की गयी थी किन्तु वर्षा नही हुई ।

विज्ञान और तकनीकी विभाग ने इस यज्ञ के प्रभाव से वातावरण मे क्या परिवर्तन होते हैं देखने के लिए ताजमहल पर वेधशाला का भी प्रबन्ध किया ।

प्राकृतिक विभाग के द्वारा यह घोषणा की गयी कि 31 मई से 1 जून तक वातावरण मे विभिन्न परिवर्तन हुए और परिणाम स्वरूप 1 6 cm वर्षा भी हुई ।

किन्तु चूंकि वर्षा 28 से 31 मई तक न होकर 1 जून को हुई इसलिए उसको इस वृष्टि यज्ञ से नही जोडा जा सकता । अतएव वह तो एक प्राकृतिक प्रक्रिया थी ।

अत यह यज्ञ पूर्ण रूप से असफल रहा । (यू एन आई)

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स, अजमेर के लिए सक्सेना प्रिन्टर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया ।

वेदो खिलोधर्ममूलम्

वेद ही ममस्त धर्म का मूल है। सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163

सृष्टि सम्वत् 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म, हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्

सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देय : समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 शुक्रवार, 30 सितम्बर 1988 | अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञानादभय परोक्षात्। | आश्विन कृ 5 सवत 2045

अक 18 प स -43338/84 II | अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम् मित्र भवन्तु॥ | वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

पहले अपना घर

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

पिछले दिनो ईसाई मिशनरियो द्वारा प्रचारित और प्रकाशित 'प्रभु की अनमोल सहायता नामक एक लघु पुस्तिका पढने को मिली। इस पुस्तक मे ईसाईयो के पवित्र शास्त्र से चुने हुए विषय उद्धरित किए गए हैं।

पुस्तिका के पृष्ठ 46 पर प्रकाशित विषय का शीर्षक है— परमेश्वर हमे तलाक के बारे मे बताता है। परमेश्वर इस विषय म क्या बताता है? इसका उल्लेख इस प्रकार से किया गया है

'परन्तु मैं तुमसे यह कहता हू कि जो कोई अपनी पत्नी का व्यभिचार के सिवा किसी और कारण से से छोड दे, तो यह उससे व्यभिचार करवाता है, और जो कोई उस त्यागी हुई से ब्याह करे वह व्यभिचार करता है।

—मत्ती 5 32

जो कोई अपनी पत्नी को त्यागकर दूसरी से ब्याह करता है, वह व्यभिचार करता है, और जो कोई ऐसी त्यागी हुई स्त्री से ब्याह करता है वह भी व्यभिचार करता है।

—लूका 16 18

क्योकि विवाहिता स्त्री व्यवस्था के अनुसार अपने पति के जीते जी उससे बधी है, परन्तु यदि पति मर जाए तो वह पति की व्यवस्था से छूट गई। सो यदि पति के जीते जी वह किसी दूसरे पुरुष की हो जाए, तो वह उस व्यवस्था से छूट गई, यहा तक कि यदि किसी दूसरे पुरुष की हो जाए तो भी व्यभिचारिणी न ठहरेगी।

—रोमियो 7 2,3

जिनका ब्याह हो गया है उनको मैं नही वरन प्रभु आज्ञा देता है, कि पत्नी अपने पति से अलग न हो। और यदि अलग हो भी जाए, तो बिन दूसरा ब्याह किए रहे या अपने पति से फिर मेल कर ले और न पति अपनी पत्नी को छोडे।

1 कुरिन्थियो 7 10 11

ईसाइयो के पवित्र धर्मशास्त्र की उक्त शिक्षाओ के बारे मैं कोई टिप्पणी नही करना चाहता। लेकिन 'प्रभु की अनमोल सहायता के प्रकाशक वाटसन गुडमन और उन जैसे उन असख्य विदेशी ईसाई मिशनरियो से मेरा यह निवेदन अवश्य है कि भारत मे अपने धर्मशास्त्र की इन शिक्षाओ का प्रचार प्रसार करने के स्थान पर उन्हे अपने स्वय के देशो मे इनका प्रचार करना चाहिए।

ईसाई धर्मावलम्बी देशो मे जितना व्यभिचार है, उसकी तुलना मे भारत मे तो कुछ भी नही है। इगलैण्ड और अमेरिका मे प्रतिवर्ष लाखो तलाक होते हैं। हजारो कुवारिया माए बनती है। इन देशो मे 'गर्ल फ्रैण्ड' और 'ब्याय फ्रैण्ड' के नाम पर किस तरह व्यभिचार का खेल होता है, इससे कौन अपरिचित है। सो इन देशो को ईसाई प्रचारकों का अपने व्यभिचार पीडित देश को छोडकर भारत जैसे देश मे सदाचार का प्रचार करना ऐसा है—'जैसे कि एक शराबी परिवार के मुखिया द्वारा सदाचारी पडौसी को मद्यपान न करने की सलाह देना।'

जातीय श्रेष्ठता के नाम पर

—वीरेन्द्र कुमार आर्य

गत दिनो राजस्थान के पाली जिले की रायपुर तहसील के आसन जिलेलाव गाव मे अनुसूचित जाति के 45 गरीब परिवारो पर सवर्ण जाति के लोगो ने बर्बर अत्याचार कर अपनी जातीय श्रेष्ठता को झूठी अहम् तुष्टि की कोशिश की।

भारत वर्ष मे राजस्थान के सवर्ण लोगो मे सबस अधिक जातीयता की भावना देखने को मिलती है। राजपूत समाज गुजर समाज, जाट सभा एव ब्राह्मण परिषद आदि नामो मे इन तथाकथित सवर्ण जातियो के विभिन्न सगठन बने हुए हैं।

इन सगठनो का काम क्या है? मात्र दूसरी जाति के लोगो के विरुद्ध सगठित लडाई लडना। अपनी जाति के लोगो के लिए उचित-अनुचित तरीकों से अधिक से अधिक सुख-सुविधा के साधन जुटाना। आसन जिलेलाव गाव मे सुख-सुविधा के साधन स्वजातीय लोगो को उपलब्ध कराने मे जब सवर्ण जाति के एक कथित सगठन को बाधा आई तो वह निरीह दलित लोगो के विरुद्ध हिंसा पर उतर आया।

जातीय सगठनो को स्वजातीय राजनीतिबाजो का सरक्षण भी खूब मिलता है। आसन जिलेलाव गाँव का ही उदाहरण लीजिए। जब जब प्रदेश के पूर्व मुख्यमत्री हरिदेव जोशी ने पीडित लोगो के पक्ष मे आवाज उठाई तो सवर्ण जाति के आतककारी लोग 'रावत राजपूत सघर्ष समिति' के बैनर तले स्थानीय भाजपा विधायक हीरासिह चौहान की अगुवाई मे सडको पर उतर आए। बहुत खूब! एक तो चोरी, ऊपर से सीना जोरी। अब विधायक चौहान अपनी कुर्सी की खातिर अपनी जाति लोगो के प्रत्येक उचित-अनुचित कार्यों मे सहयोग देने के लिए बाध्य तो हैं ही। अन्यथा श्रीमान का हलुआ-माडा खतरे मे जो पड जाएगा।

भाजपा का हिन्दू राष्ट्र उसके ऐसे विधायको के रहते क्या कभी बनना सभव है, जो हिन्दुओ के दो वर्गों को ही परस्पर लडाने की राजनीति करते हैं।

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता पर शोध ग्रन्थ की योजना

दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर मे राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत दयानद शोधपीठ की ओर स एक ऐसे अधिकृत ग्रन्थ का प्रकाशन करने का निश्चय किया गया है जिसमे वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध की जा सके। जो विद्वान इस कार्य मे सहयोग दे सकें वे कृपया श्री दत्तात्रेय आर्य, निदेशक, दयानद शोधपीठ दयानद कालेज अजमेर से सपर्क करन का कष्ट करें।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सम्पादक रासासिंह सम्पादक वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय—

शताब्दी के संदर्भ में एक ऐतिहासिक दस्तावेज

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान और आर्य समाज–अजमेर

आर्य मार्तण्ड मे प्रकाशित विज्ञप्ति के अनुसार आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान ने दिसम्बर, 1988 ई के अन्त मे आर्य प्रतिनिधि सभा का शताब्दी समारोह मनाने का निश्चय किया है। विगत दिनो प्रतिनिधि सभा के पूर्व मन्त्री श्री भगवती प्रसाद जी सिद्धान्तभास्कर ने अपनी एक विज्ञप्ति मे आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान की स्थापना काल के बारे मे अपना दृष्टिकोण व्यक्त किया था। जिससे कुछ भ्रम पैदा हुआ, कि प्रतिनिधि सभा का स्थापना वर्ष कौनसा है।

समस्त आर्य जगत, और विशेषत राजस्थान की आर्य जनता को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान का स्थापना वर्ष 1888 ई है और इसकी स्थापना तिथि 28 व 29 दिसम्बर, 1888 ई है तथा उक्त तिथि को आर्य समाज (केसरगज) अजमेर के मदिर मे ही इस की स्थापना हुई थी। स्थापना काल से लेकर 1 जुलाई, 1906 तक आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान का रिकोर्ड आर्य समाज अजमेर के पास आज भी मूल रूप में सुरक्षित है।

प्रतिनिधि सभा राजस्थान की स्थापना से पूर्व पृष्ठभूमि तैयार करने का सारा कार्य तथा राजपूताना के समाजो मे परस्पर सम्पर्क बढान का कार्य आर्य समाज अजमेर द्वारा ही सम्पन्न हुआ था। 1883–84 ई के बाद से ही मेरठ मे निर्मित पूर्व प्रतिनिधि सभा श्री पडित गौरीशकर शर्मा को उपदेशक तथा निरीक्षक के रूप मे नियुक्त कर राजपूतान के विभिन्न समाजो मे उपदेशार्थ तथा सम्पर्क बनाने हेतु नियुक्त किया था। परोपकारिणी सभी की ओर से भी वे उपदेशक एव प्रचारक थे। मेरठ की सभा प्रतिनिधि आर्य समाज पश्चिमोत्तर और अवध देश कहलाती थी। इससे पूर्व भी पजाब मे आर्य प्रतिनिधि सभा गठित हो चुकी थी। श्री गौरीशकर जी की प्रचार व्यवस्था आर्य समाज अजमेर के ही अधीन थी। आर्य समाज अजमेर की अन्तरग सभा ने दिनाक 1-1-1888 ई को बैठक मे निम्न निश्चय किया—' The Executive Committee of Arya Samaj resolved that If P Gauri Shankar Sharma accepts the Post on Rs 40/–per month his services may be utilized for the present.

His last services in N W Pritinidhi Sabha as well those in our province recommend him for the appointment in the Dayanand Ashram ''

उपरोक्त पडित जी को आर्य समाज द्वारा सर्वप्रथम राममढ, चूरू शेखावटी, रेवाडी, उदयपुर, मसूदा, शाहपुरा, चित्तोड, ब्यावर, पाली जोधपुर क्षेत्रो मे प्रचारार्थ भेजा गया।

उपदेशको के लिये आय फण्ड—

5 फरवरी 1888 ई को सम्पन्न आर्य समाज अजमेर की अतरग सभा ने पाठशाला स्थापना के लिय जिस आटा फण्ड का शुभारम्भ किया था, उसी प्रसग मे यह भी निर्णय लिया।

'इस आटा फण्ड का शेष उपदेश फण्ड मे जमा हो। एक उपदेशक राजपूतान मे रखा जावे। इसमे सहायता के लिये राजपूताने की समाजो को प पड्या मोहन लाल जी और मसूदाधीश जी को लिखा जावे।'

''प्रतिनिधि'' विषयक नियम—

5 फरवरी, 1888 रविवार को दिन के 2 बजे सम्पन्न आर्य समाज अजमेर की अतरग सभा बैठक स 51 मे अपन प्रस्ताव स 3 के अनुसार प्रतिनिधि विषयक नियम बनाने के लिये तीन व्यक्तियो की एक उपसमिति गठित की–(1) बाबू रामविलास जी (2) प श्यामसुन्दरजी (3) शिवप्रसाद जी।

इसी क्रम मे 17 मार्च 1888 को सम्पन्न समाज की बैठक के प्रस्ताव स 3 मे उल्लेख दृष्टव्य है 'राजपूताने की प्रतिनिधि सभा विषयक एक पत्र इस निमित्त जो महाशय नियत हुए थे उनकी सम्मति का पढा गया। आज्ञा हुई कि तदनुसार कार्य किया जावे और इसकी प्रति जयपुर भेजी जावे।'

प्रतिनिधि सभा बनाने का निश्चय—

दि 17-11-1888 ई शनिवार को बाबू मथुरा प्रसाद जी के मकान पर आर्य समाज अजमेर की अतरग सभा का नैमित्तिक अधिवेशन प्रतिनिधि सभा बनाने के सबध मे हुआ। जिसमे सर्व श्री प श्यामसुन्दर जी मथुराप्रसाद जी, शिवप्रसाद जी, रामविलास जी, हरविलास जी, बा. नन्दकिशोर जी सम्मिलित हुए। विचार हुआ कि राजपूताने की प्रतिनिधि सभा बनाना बहुत ही आवश्यक और लाभदायक है। प श्यामसुन्दर और बाबू मथुराप्रसाद जी को जयपुर समाज मे ठाकुर नन्दकिशोर सिह जी तथा अन्यो मे विचार विमर्श एव सहमति प्राप्त करने हेतु भेजा।

राजस्थान की समाजो के प्रतिनिधि आमत्रित—

28 एव 29 दिसम्बर, 1888 ई को अजमेर मे परोपकारिणी सभा का वार्षिक अधिवेशन होने वाला था। अत उसी अवसर पर आर्य समाज अजमेर द्वारा राजपूताने की आर्य समाजो को परोपकारिणी के अधिवेशन पर उचित पत्रो सहित अपने-अपने प्रतिनिधि भेजने का सदेश भेजा गया ताकि प्रतिनिधि सभा का गठन हो सके। आर्य समाज अजमेर ने समाजो के प्रतिनिधियो के अधिवेशन हेतु तैयारी प्रारम्भ की। सब समाजो को पत्र भेज गय। आर्य समाज की अजमेर की ओर से प्रतिनिधि सभा हेतु प्रथम प्रतिनिधि श्री प श्यामसुन्दर जी नियुक्त हुए।

।। ओ३म ।।

कार्यवाही आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान का तारीख 28 व 29 दिसम्बर सन् 1888 ई० को आर्य समाज अजमेर के मदिर मे हुई स्थापना

उपस्थित सभासद प्रतिनिधि

1 प श्याम सुन्दर जी पाडे, उप प्रधान आर्य स अजमेर प्रतिनिधि आर्य समाज अजमेर।
2 प शम्भूलाल जी शुक्ल, उप मन्त्री आर्य समाज इन्दौर प्रतिनिधि आर्य समाज इन्दौर।
3 प रामचन्द्र जी मन्त्री आ स अजमेर, प्रतिनिधि आर्य समाज अजमेर।
4 प सूर्यप्रसाद जी शुक्ल, मन्त्री ग्वालियर, प्रतिनिधि आ स ग्वालियर
5 प हमीरमल जी पुस्तकाध्यक्ष आ स शाहपुरा, प्रतिनिधि आ. स शाहपुरा।
6 प गुलाबचद जी उपमन्त्री आ स. ब्यावर, प्रतिनिधि आ स ब्यावर
7 प रामनाथ जी उपदेशक आ स जयपुर, आ स प्रतिनिधि जयपुर
8 बा मथुरा प्रसाद जी मन्त्री आर्य समाज अजमेर, प्रतिनिधि आर्य समाज बावीकुई।
9 प पन्नालाल जी सभासद् आ स जोधपुर, प्रतिनिधि आ स जोधपुर।

प्रथम दिवस

1 सर्व सम्मत्यानुसार निश्चय हुआ कि इस समय कार्य करने के लिये प श्यामसुन्दरजी प्रधान और प शम्भूलाल जी मन्त्री नियत हो।
2 निश्चय हुआ है कि राजस्थान के आर्यसमाजो की प्रतिनिधि सभा आज से ही स्थापित हो।
3 निश्चय हुआ है कि वे नियम स्वीकार किये जावे जो श्रीयुत राय मूलराज जी एम ए. उपसभापति श्रीमती परोपकारिणी सभा व सब जज् झग ने बनाये और अजमेर मे कई आर्य समाजो के प्रति-

(शेष पृष्ठ 3 पर)

भारत सरकार द्वारा प्रदर्शित दयानन्द की जीवनी पर रोक क्यों

—ठाकुर प्रेम सिंह (सेवा निवृत रा प्र सेवा)

भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ समय पूर्व राष्ट्र के नवजागरण मे योगदान देने वाले महापुरुषो की सक्षिप्त जीवनी लेखन का कार्य भारत सरकार के सूचना व प्रसारण मन्त्रालय द्वारा प्रारम्भ किया गया है। इस प्रसग मे "स्वामी दयानन्द सरस्वती" नामक पुस्तक फरवरी 1988 मे प्रकाशित हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के पुस्तकालयो मे यह पुस्तक अधिक नही पहुच सकी है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी इस पुस्तक का विक्रय बद करा दिया है। अत मेरी इच्छा हुई कि मैं भी इस पुस्तक को पढ कर देखू कि स्वामीजी या आर्य समाज के प्रति क्या आपत्ति जनक लेख है। जिसके कारण इस पुस्तक को बद करा दिया गया।

आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान डा भवानी लाल जी भारतीय, जिन्होने स्वामीजी का जीवन चरित्र परिश्रम और खोज पूर्वक लिखा है और जो प्रमाणिक है ने भी उपर्युक्त पुस्तक पर आलोचनात्मक लेख साव देशिक साप्ताहिक मे लिखा है। जिसमें आवश्यक त्रुटियो को प्रदर्शित किया है और छापे की अनेक त्रुटियो का होना लिखा है। यह त्रुटिया अवश्य ध्यान देने योग्य हैं। परन्तु डाक्टर साहब ने लेखक के प्रति जो लिखा है उसकी भाषा कुछ कठोर प्रतीत होती है। इतना कुछ होने पर भी पुस्तक म कुछ विशेषतायें भी हैं। पुस्तक के अन्त मे तीन परिशिष्ट एक Glossory, विदेशी एव राजददेशीय विद्वानो के स्वमीजी के प्रति विचार bibliogyaphy और India बहुत उपयोगी है। स्वामीजी मे राष्ट्र निर्माण मे जो महत्वपूर्ण विचार दिये हैं तथा राष्ट्रीय भावना एव प्राचीन वैदिक साहित्य के लिए जो अपने विचार दृढता पूर्वक प्रस्तुत किये हैं उन विषयो पर इस पुस्तक मे अच्छा प्रकाश डाला है। यह पुस्तक भारत सरकार द्वारा प्रकाशित कराने एव अग्रेजी मे लिखी होने के कारण अहिन्दी भाषी शिक्षितो के लिये अवश्य उपयोगी प्रतीत होती है। यदि इस पुस्तक मे दर्शाई हुई त्रुटियो को सुधार कर इस का द्वितीय सस्करण प्रकाशित करा दिया जावे तो उत्तम होगा। परन्तु इस पुस्तक का विक्रय बद कर देने से आर्य समाज का क्या हित हुआ है, यह मेरी समझ से परे है। इतना अवश्य हुआ है कि महापुरुषो की जीवनी से सबधित पुस्तकमाला की सूची का यह पुष्प समाप्त हो गया। इस पुस्तक का शुद्ध सस्करण यदि प्रकाशित हो जाता है तो अति उत्तम है। अन्यथा इस पुस्तक को बेचने में भी क्या आपत्ति है क्योकि सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम सस्करण की भी बिक्री जिसमे लेखको द्वारा धोखा दे कर कुछ बातें स्वामीजी के मत के विरुद्ध छपा दी गई थी, बद नही की गई थी। इस पुस्तक के विषय में आर्य आर्य समाज के उच्च कोटि के विद्वानो को विचार करना चाहिये।

(शेष पृष्ठ दो का)

आर्य प्रतिनिधि सभा — — — — —

निधियो ने सन् 1885 मे उन पर विचार किया और जिनको पजाब देस की आर्य प्रतिनिधि सभा ने स्वीकार किये।

4 निश्चय हुआ कि अभी तो मुख्य स्थान इस सभा का अजमेर ही रहे।

5 निश्चय हुआ कि निम्नलिखित सभासद इस सभा की अतरग मे हो।

१ प श्यामसुदर जी पाडे अजमेर।
२ मुशी शिवप्रसाद जी अजमेर।
३ बा राम जीवन जी अजमेर।
४ पडित रामचन्द्र जी अजमेर।
५ पडित रामनाथ जी जयपुर।
६ पडित गुलाबचद जी ब्यावर।
७ पडित पन्नालाल जी जोधपुर।

जो आर्य समाज चाहे वह विशेष व्यवस्था मे अपना प्रतिनिधि बदल सकता है।

6 निश्चय हुआ कि यह महाशय अधिकारी हो।

पडित श्यामसुदर जी पाडे	प्रधान
मुशीशिव प्रसाद जी	मत्री
बा. रामजीवन जी	कोषाध्यक्ष
पडित रामचन्द्र जी	पुस्तकाध्यक्ष

7 निश्चय हुआ कि उपदेशक फड नियत किया जावे।

8 स्थिर हुआ कि मुन्शी दामोदर दास जी जोधपुर वालों ने उपदेश फड मे 11) मासिक देने का पत्र लिख के पेश किया सो स्वीकार धन्यवाद सहित हो।

द्वितीय दिवस की कार्यवाही

1 निश्चय हुआ कि वैतनिक उपदेशक रखे जा सकते है परन्तु जो अवैतनिक उपदेशक हो वे निम्नलिखित शर्तों को स्वीकार करने पर रखे जा सकते हैं।

१ आर्य समाज के नियमोपनियम मानने वाले हो।
२ किसी आर्य समाज के सभासद हो।
३ प्रवास मे भोजनादि का आवश्यक खर्च तथा रेल का भाडा दिया जावेगा जो सर्वेव तीसरे दर्जे का होगा।
४ उपदेशक को भेंट की रीति से जो धन समाज का पुरुष विशेष से प्राप्त हो वह इस सभा को भेज दें। परन्तु देने वाले उन्ही की सेवा के लिये दे और यदि वह चाहे तो 5/- रुपये तक अपने हाथ खर्च के वास्ते रख सकते हैं, अधिक नही।

2 निश्चय हुआ कि किसी विशेष दशा मे अत्यन्त आवश्यकता पड़ने पर अतरग सभा को अधिकार होगा कि उपर लिखे नियमो मे से किसी को शिथिल कर कार्य निर्वाह करले और सभासदो को उसकी सूचना करदे। परन्तु यह अधिकार एक वर्ष ही के लिए होगा।

3 निश्चय हुआ कि जो उपदेशक नियत किये जाय उनकी परीक्षा आदि सभा के चारो अधिकारी करके प्रधान और मत्री के हस्ताक्षरो की एक प्रति उनको दे दे और इसकी सूचना समाजो को भी करदे।

4 निश्चय हुआ कि वर्तमान वर्ष के अतरग सभा और प्रतिनिधि सभाओ से पत्र व्यवहार कर वैतनिक उपदेशको के नियम स्थिर करें।

5 निश्चय हुआ कि जब इस सभा का और उपदेशक फड उत्तम दशा को प्राप्त होगे तब वैतनिक उपदेशक भी रख लिये जावेगे।

ह०/-	ह०/-
शिवप्रसाद	श्यामसुदर पाडे
मत्री	प्रधान
आर्य प्रतिनिधिसभा राजस्थान	आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान

उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि आर्य समाज अजमेर के पदाधिकारी और सभासद ही प्रतिनिधि सभा के प्रधान मत्री आदि थे। यही पर 1906 तक कार्यालय रहा।

दि 7-1-89 ई को प्रतिनिधि सभा के नियमानुसार तीन सभासद् आर्य समाज अजमेर के होने चाहिए थे। अत श्री शिवप्रसाद जी तथा रामजीवन जी को भी प्रतिनिधि चुनकर भेजा गया। बीसियो वर्षों तक प्रतिनिधि सभा का कार्यालय भी आर्य समाज अजमेर में ही रहा।

उपरोक्त विवरण विस्तार से इसी कारण से दिया गया है कि आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान की स्थापना में भी आर्य समाज अजमेर ने किस प्रकार सक्रिय योगदान दिया था। अच्छा होता कि यह शताब्दी समारोह अजमेर नगर मे होता अथवा राजधानी जयपुर मे होता।

—रासासिंह

आचार्य दत्तात्रेय आर्य के नाम अम्बाप्रसाद शर्मा का पत्र

आदरणीय श्री वाब्ले मा,

सादर नमस्ते। मित 15 के आर्य पुनर्गठन मे श्री जयसिंह मेहता द्वारा आपको लिखा गया पत्र तथा आपक द्वारा उन्हे दिया गया उत्तर पढने को मिला। यह स्वाभाविक है कि प्रकाशन के बाद उन पर पाठको की प्रतिक्रियाएँ होगी ही। आप जिस आसन पर विराजमान हैं उस पर कभी कमवार जियालाल जी भी थ। उनके जीवन काल से अब तक इस आसन के प्रताप से राजस्थान म आर्य समाज का सर्वाधिक कार्य अजमेर मे हुआ है। कर्म क्षेत्र तथा ज्ञान क्षेत्र दोनो मे आपकी महानता को सार्व जनन स्वीकार करता है। अत हम अल्प बुद्धि वाल सामान्य आर्य समाजी मार्ग दर्शन के लिय आपको छोड कर किसका सहारा लें?

स्वामी श्री अग्निवेश जी हरिजनो को मन्दिर प्रवेश के लिय ले गये थे। भारत जैसे धर्म प्रधान देश में हिन्दुओ के मन्दिर म जाने का प्रयोजन एक मात्र दर्शन करना माना जाता है। यदि कोई उसका कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध करना भी चाहे तो भारतीय जन मानस उसे स्वीकार नहीं करेगा। और मूर्ति का दर्शन आर्य समाज के व्यक्ति के लिए सिद्धान्त विरुद्ध है। यही बात सैकडो लोगो द्वारा नाथद्वारा कांड क समय सभी प्रमुख पत्र पत्रिकाओ मे व्यक्त की गई थी। अत स्वामी जी की यह गलती थी और आर्य समाज के नियम 4 के अनुसार उन्हे अपनी भूल स्वीकार कर लेनी चाहिय।

आप जब यह लिखत है कि आप स्वामी जी को मन्दिर प्रवेश क बजाय कोई अन्य ऐसा उपाय सुझात जिससे भी हरिजनो को उनका समता का अधिकार उन्हे मिल सकता था, ता इससे ध्वनि तो यही निकलती है कि मन्दिर प्रवेश का सही तो आप भी नही मानते है।

अब बात यह आती है कि स्वामी ज[illegible] इस मुहिम को कौन समर्थन दे। आपने तो समर्थन दे दिया। उदयपुर आर्य समाज ने नहीं दिया। सार्वदेशिक आ प्र सभा ने नही दिया। ये दो पक्ष बन जाते हैं। इनकी समीक्षा आवश्यक है —

समर्थन देना अनुचित है —

अधिकाश आर्य समाजी ऐसा मानते हैं कि स्वामी अग्निवेश को उनकी अनुचित गतिविधियो के कारण [illegible] के सगठन से पृथक कर दिया गया था और सभवत वे अब तक भी पृथक ही हैं। वे कोई मुहिम छेड़ने से पूर्व सगठन को न विश्वास म लेते हैं और नही परामर्श करते हैं। ऐसी स्थिति मे वे जो भी स्याह या सफेद करें सगठन उसे क्यो स्वीकारे और क्यो उसके फलाफल का भागीदार बने?

समर्थन देना उचित है.—

आर्य समाज के सगठन मे जग लग गई है। पदाधिकारी अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति मे लगे हैं। उनमें से अधिकतर को समाज की प्रगति से कोई लेना देना नही है। इसी कारण छोटे कार्यकर्ता निराश हो कर घरो में बैठे हैं। प्रतिनिधि सभाओ का समाजो से मात्र एक बंधी हुई राशि वसूल करने का सम्बन्ध है। समाजो की समस्याओ से उन्हें लेना देना नहीं है। प्रचार कार्य दिन-दिन कम होता जा रहा है और आपस की गुट बन्दी ने हमारी ऐक्य-भावना की अन्त्येष्टि कर दी है। अब हमें कहीं भी "सिर हथेली पर रख कर" अपने लक्ष्य के लिये मैदान में बढ़ने वाले दीवाने अब देखने को नही मिलत। यदि कोई अग्निवेश जैसा हिम्मत करता भी है तो हम उसे सस्ती लोकप्रियता जाने वाला अपना उल्लू सीधा करने वाला, समाज के सिद्धान्तो के खिलाफ चलने वाला मान लेते हैं।

आपसे अपेक्षा है कि आप कृपया प्रकाश डाले कि आप उपरोक्त दोनो पक्षो मे से किस पक्ष को ठीक समझते हैं।

आचार्य श्री दत्तात्रेय वाब्ले, प्रधान
आर्य समाज केसरगज, अजमेर

प्रेम से
अम्बा प्रसाद शर्मा

श्री बी. के. हूजा का पत्र

पूज्य वाब्ले जी,

मैंने श्री ज एस मेहता के नाम नाथद्वारा म हरिजन प्रवेश के सबध मे आप का उत्तर पढा। सच कहूँ, मेरी तसल्ली नही हुई। स्वामी जी मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी थे। उन के कार्यक्रम का शुभारम्भ मूर्ति पूजा खण्डन से शुरू हुआ। उदयपुर नरेश ने उन्हे मूर्ति पूजा का विरोध न करने को कहा और प्रलोभन दिया कि मैं आप को एकलिंग जी का महन्त बना दूगा। स्वामी जी का उत्तर स्पष्ट था, 'मैं आप का राज्य तो एक छलांग म छोड सकता हूँ—पर भगवान् के राज्य से बाहर नही जा सकता।' हम यदि सचमुच हरिजन उद्धार चाहते हैं तो हमे उन को आर्य समाज की शरण मे आने का निमन्त्रण देना चाहिए। नाथद्वारा मन्दिर म प्रवेश करने मे सहायता देते है तो हम उन्हे अज्ञान और पाखण्ड के गर्त मे धक्का दे रहे हैं। मै आप से सहमत नही हू कि एक बार आर्य समाज ने मन्दिर प्रवेश के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया तो हमे उस का समर्थन करना चाहिए। यह एक बडी भारी गलती है जो आवेश मे आ कर हो गई है। आर्य समाज के सिद्धान्त स्पष्ट हैं और हमे उनका प्रचार करना चाहिए—जहा विज्ञानहीनता आ जाती है, हम निस्संकोच उसका विरोध करना चाहिए। अगर हमने मूर्ति पूजा को बढावा दिया तो वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता नष्ट हो जायगी।

भवदीय
बलभद्र कुमार हूजा
जयपुर

आचार्य दत्तात्रेय जी का उत्तर

श्री अम्बाप्रसाद जी जो ने मुद्दे उठाए है, उनके सम्बन्ध मे मेरी धारणा यह है कि आर्य समाज का सगठन और उसकी क्रियाशीलता दोनो आवश्यक है। और एक प्रकार से य एक दूसरे पर निर्भर है।

दुर्भाग्य से आर्य समाज के [illegible] मान सगठन मे अनुशासन और सैद्धान्तिक निष्ठा दोनो दृष्टियो से गिरावट हो रही है। इसलिए आर्य समाज के पुनर्गठन की अत्यन्त आवश्यकता है। इस गभीर समस्या की ओर मैं इस पत्र तथा अन्य मचो से यहा तक कि सार्वदेशिक सभा के माध्यम से भी आर्य जगत का ध्यान आकर्षित करता रहा हूँ। स्वामी अग्निवेश जी तथा अन्य व्यक्तियो के विरुद्ध समय-समय पर की गई अनुशासन की कार्यवाही के औचित्य के सबध मे यहा कुछ न कहकर इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस मामले मे भी न कोई स्पष्ट नीति और न ही कोई दृढ़ निश्चय का परिचय दिया जाता रहा है। स्वामी अग्निवेश जी द्वारा आर्य समाज के तत्वावधान मे घोषित कुछ आन्दोलनों मे सार्वदेशिक सभा के प्रधान जी के स्पष्ट समर्थन के उदाहरणो के बाद ये कहना अब युक्तिसंगत नहीं है कि स्वामी अग्निवेश जी के विरुद्ध तथाकथित अनुशासनात्मक कार्यवाही अब भी जारी है। चाहे जो हो, आर्य समाज के प्रति स्वामी अग्निवेश जी की लगन और निष्ठा से आर्य जगत को लाभ उठाना चाहिए। और विशेषकर उन कार्यों में सहयोग देकर जो आर्य समाज के सिद्धान्तों और कार्यक्रमो को [illegible] करते है।

जहा तक मूर्ति पूजा का प्रश्न है मैं उसे सदा से ही न केवल हिन्दू समाज अपितु सारे देश के लिए एक अभिशाप मानता रहा हूं। स्वामी अग्निवेश जी द्वारा नाथद्वारा मंदिर प्रवेश के सम्बन्ध म मेरा और आर्य समाज का समर्थन मूर्ति पूजा का नही हरिजनो के समानाधिकार का समर्थन था। किन्तु स्वामी जी के हरिजन मंदिर प्रवेश के आन्दोलन के बारे मे जो प्रतिक्रियायें आर्य जगत् मे हुई हैं, उनमे श्री बी के हूजा, रिटायर्ड ई ए एस तथा पूर्व उपकुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय जैसे प्रबुद्ध व्यक्तियो की असहमति प्राप्त हुई है। इसलिए मैं समझता हूं कि इस पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। मैं ये भी स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि स्वामी अग्निवेश जी द्वारा चलाए जा रहे इस इस आन्दोलन का विरोध करने वालो मे ऐसे भी कुछ व्यक्ति हैं जो आर्य समाज के सिद्धान्तो की आड म किसी अन्य राजनीतिक निहित स्वार्थों के कारण इसका विरोध करते हैं। फिर भी जैसा मैं पहले भी स्पष्ट कर चुका हूं कि स्वामी अग्निवेश यदि अछूतोद्धार का आन्दोलन किसी अन्य रूप मे करें तो इस प्रकार की शंका के लिए गुंजाइश नही रहेगी। और इस स्थिति मे उसे और अधिक समर्थन प्राप्त होगा।

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स, अजमेर के लिए सक्सेना प्रिन्टर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्य समाज भवन केसरगज अजमेर से प्रकाशित किया।

ओ३म्

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है। सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए:—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द . 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म, हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य:
समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 शनिवार, 15 अक्टूबर 1988 | अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्। | आश्विन शु 4 संवत 2045
अंक 19 प स -43338/84 II | अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥ | वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

मंदिर प्रवेश और हरिजन

आर्य समाज के दरवाजे हरिजनों के लिए सदा खुले हैं

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

स्वामी अग्निवेश जी गत काफी समय से नाथद्वारा के श्रीनाथ मंदिर में हरिजनों के मंदिर प्रवेश को लेकर आन्दोलन चला रहे हैं। आन्दोलन के शुरूआती दौर में उन्होंने उक्त मंदिर में हरिजनों को प्रवेश दिलाने हेतु 10 जुलाई को उदयपुर से नाथद्वारा के लिये पैदल मार्च किया था। किन्तु इससे पूर्व कि उनका यह मार्च नाथद्वारा पहुंचता उसे बीच मार्ग में ही सरकार द्वारा कानून एवं व्यवस्था के नाम पर निषेधाज्ञा लगाकर रोक दिया गया।

इस प्रकार श्रीनाथ मंदिर में हरिजनों को प्रवेश दिलाने का स्वामी अग्निवेश का यह प्रथम प्रयास सफल नहीं हो सका। यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि जहां स्वामी अग्निवेश जी का साथ इस आन्दोलन में अन्य किसी प्रमुख आर्य जन या समाज ने नहीं दिया था, वहीं दूसरी ओर मैं स्वयं एवं आर्य समाज अजमेर ने इसमें बढ़-चढ़कर भाग लिया था। यही नहीं उदयपुर से नाथद्वारा की पदयात्रा में अजमेर आर्य समाज का एक 60 सदस्यीय जत्था भी सम्मिलित हुआ था।

स्वामी अग्निवेश जी के हरिजन मंदिर प्रवेश के प्रथम प्रयास के असफल हो जाने के बाद राजस्थान सरकार द्वारा 10 अगस्त को श्रीनाथ मंदिर में तुलसी डोरा, कंठी देकर के हरिजनों को प्रवेश दिलाकर झूठा श्रेय लेने का असफल प्रयास किया गया। इसके बाद हाल ही में 3 अक्टूबर को स्वामी अग्निवेश जी द्वारा हरिजनों को उक्त मंदिर में प्रवेश कराने के द्वितीय प्रयास के समय किस तरह की दुखद घटना घटी, इससे आप परिचित ही हैं। राजस्थान उच्च न्यायालय के स्पष्ट आदेश के बावजूद हरिजन मंदिर में प्रवेश नहीं कर सके और यहां नहीं उनकी कट्टरपंथी आतंककारी तत्वों द्वारा पुलिस की उपस्थिति में ही जमकर पिटाई की गई।

मैं यह पहले ही लिख चुका हूं कि इस मंदिर प्रवेश के आन्दोलन में जहां एक ओर स्वामी अग्निवेश जी को कट्टरपंथी हिन्दुओं का कोप-भाजन बनना पड़ा वहीं दूसरी ओर उन्हें अनेक आर्य समाजियों के विरोध का भी सामना करना पड़ा। उक्त आर्य समाजी महानुभावों का तर्क था, क्योंकि आर्य समाज मूर्तिपूजा का सिद्धान्ततः विरोधी है अतएव स्वामी अग्निवेश का हरिजनों को मंदिर प्रवेश कराने का कदम आर्य समाज व ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों के विरुद्ध है। यहां यह तथ्य भी विशेष उल्लेखनीय है कि कट्टरपंथी हिन्दुओं ने मंदिर प्रवेश के इस आन्दोलन का जो विरोध किया उसका भी यही आधार था कि स्वामी अग्निवेश जी एक आर्य समाजी हैं और मूर्ति पूजा के विरोधी हैं। इसीलिए उन्हें मंदिर प्रवेश के आन्दोलन का नेतृत्व करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।

समानाधिकार के लिए संघर्ष

अजमेर आर्य समाज व मैंने व्यक्तिगत रूप से स्वामी अग्निवेश जी के "मंदिर प्रवेश" के उक्त आन्दोलन सहयोग में दिया था इसीलिये अनेक प्रबुद्ध आर्यजनों द्वारा मुझे इस सबंध में पत्र प्राप्त हुए और अभी तक प्राप्त हो रहे हैं। यद्यपि कुछ चुने हुए पत्रों का उत्तर मैं 'आर्य पुनर्गठन' के गत अंकों में व व्यक्तिगत रूप से भी दे चुका हूं फिर भी प्राप्त प्रतिक्रियाओं को देखते हुए मंदिर प्रवेश के इस आन्दोलन से जुड़े सम्पूर्ण सवालों की समीक्षा करना आवश्यक समझता हूं।

एक बात जो मैं अपने पूर्व लेखों में भी लिख चुका हूं, उसे फिर स्पष्ट किये देता हूं कि स्वामी अग्निवेश जी हरिजनों को मन्दिर में मूर्ति-पूजा कराने के लिये प्रवेश नहीं दिला रहे थे अपितु वे हरिजनों को समानाधिकार दिलाने के प्रश्न पर संघर्ष कर रहे थे और यहीं वह कारण था कि जिसमें अजमेर आर्य समाज व स्वयं मैंने इस संघर्ष में उनका साथ दिया। इसके साथ यह भी सुविदित तथ्य है कि स्वामी अग्निवेश जी स्वयं मूर्तिपूजा करने के लिये मंदिर में प्रवेश नहीं कर रहे थे।

आर्यजनों का विरोध

मन्दिर प्रवेश के विरोधी आर्यजनों का कहना है कि यदि हम हरिजनों को मूर्ति पूजा के गढ़ पौराणिक हिन्दुओं के मन्दिरों में प्रवेश करा भी दें तो इससे उनका का कोई भला होने वाला नहीं है। इसीलिए हमें हरिजनों को उक्त मूर्ति पूजकों के मन्दिरों में प्रवेश दिलाने के लिये परिश्रम व प्रयास करने के स्थान पर उन्हें आर्य समाज में लाने का प्रयास करना चाहिये जहां किसी प्रकार का जातीय भेदभाव प्रवेश देने में नहीं किया जाता है। मैं स्वयं भी आर्यजनों के उक्त सुझाव से सहमत हूं, लेकिन फिर भी यह मानता हूं कि स्वामी अग्निवेश जी के मन्दिर प्रवेश के आन्दोलन से आर्य समाज को प्रकारान्तर से लाभ ही पहुंचा है। नाथद्वारा के श्रीनाथ मन्दिर में प्रवेश के लिये गए हरिजनों के साथ 3 अक्टूबर को कट्टरपंथियों ने जो व्यवहार किया है उससे हरिजनों के मन में कट्टरपंथी पौराणिक समाज के प्रति घृणा अवश्य पैदा होगी। इसीलिये आर्य समाज के सामने यह एक स्वर्ण अवसर है कि वह परिस्थिति का लाभ उठाये और हरिजनों को अधिक से अधिक आर्य समाज के निकट लाने का जोरदार अभियान चलाए। स्वामी अग्निवेश जी के आन्दोलन के कारण आज हरिजनों के मन में आर्य समाज के प्रति मैत्री-भाव है।

मूर्ति पूजा का अभिशाप

आर्य जनों को चाहिए कि वे हरिजनों को मूर्ति पूजा की हानियों से अवगत कराएं और उन्हें बताएं कि पौराणिक युग में प्रारम्भ हुई मूर्ति पूजा और उसकी अनेक हानियों का ही हिन्दुओं और परिणाम स्वरूप भारत को पतन के मार्ग पर ला खड़ा करने का श्रेय प्राप्त है। देवी दव-

(शेष पृष्ठ 3 पर)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य | प्रधान सम्पादक रासासिंह | सम्पादक वीरेन्द्र कुमार आर्य | ☎ कार्या 21010

सम्पादकीय–
"लगी चमन में है आग भारी, उसे बुझाओ तो हम भी जानें।"

आर्य जगत के सुप्रसिद्ध भजनोपदेशक स्व० कविवर प० प्रकाशचन्द्रजी कविरत्नजी के द्वारा रचित एक देश भक्ति पूर्ण रचना की ये पंक्तियां मुझे आज भी सत्य व सटीक प्रतीत होती है।

आज देश और धर्म भयावह स्थिति से गुजर रहे हैं। स्वार्थपरायणता इतनी प्रबल हो चुकी है कि किसी को भी देश, धर्म और समाज की चिन्ता नहीं उनकी दृष्टि में तो—

देश पडे चूल्हे में, राष्ट्र जाय भाड में।
खेलन शिकार सभी कुर्सियों की आड में।

आज हर व्यक्ति येन-केन प्रकारेण तिकड़म लगाकर मसाधन्नों का दुमहिलाऊ कुत्ता बनना चाहता है अथवा अर्थ लाभ प्रवृत्ति का शिकार होकर पैसे बनाने को ही सबस्व मान बैठा है।

पहले त्यागी तपस्वी सेवाभावी आदर्शों के प्रति निष्ठावान स्वर कार उठाकर ही समाज और राष्ट्र की सेवा करने वाले व्यक्तियों की मान प्रतिष्ठा होती थी परन्तु आज गलियों में आवारागर्दी करने वाले छोकर राजनीति में घुस बैठकर सत्ताधीशों की जय जयकार करते हुए जन प्रतिनिधि बन बैठे है जिनको उनके पास पड़ोस वाले भी नहीं मानते और इधर समाज सेवा के मंच में तो भेड़ की खाल ओढ़ भेड़िये वृत्ति वाले प्रवेश कर गये हैं जिन्होंने व्यवसायात्मक बुद्धि बनाकर अपनी दुकान सजा ली है। खून देने वाले मजनूं सब पीछे रह गये और उनके स्थान पर दूध पीने वाले मजनूं आगे आ गये है। जिनके लिए एक रचनाकार ने कहा है—

उनके तुरबत पर एक दिया नहीं
जिनके खूं से जले थे चिराग वतन।
आज दमकते है उनके मकबरे
जो बेचते थे शहीदों का कफन।।'

इसीलिये हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि
'अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां तु व्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र प्रवर्तन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्।।

अर्थात् जो आदर-मान सम्मान के पात्र नहीं है उनको तो आदर दिया जाता है और वास्तविक पूजा के पात्र है उनका तिरस्कार किया जाता है। वहां तीन वस्तुएं सदैव व्याप्त रहती है—घोर अकाल, बाढ़, मृत्यु एवं भय का वातावरण। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज हम किस स्थिति से गुजर रहे है।

इसलिये इस चमन में जलता हुई ईर्ष्या विद्वेष, भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी, बेईमानी अकमण्यता स्वार्थपरस्ता मूल्यहीनता विश्वासघात एवं हरामखोरी जैसी अग्नि को बुझाने के लिये आर्य समाज और महर्षि दयानन्द के सिपाहियों को तथा अन्य देशभक्त सगठनों को दृढ़ता के साथ आगे आकर करना होगा—

'सजा दो मौत की
जो वतन के साथ चाल करे।
यह सर जमीन नहीं
ऐसे बदचलन के लिये।।

देश का पौराणिक जगत शक्ति की इन दिनों आराधना के नाम पर नवरात्रि के व्रत की पालना कर रहा है रामलीलाओं के मेलों से शृंगार हो रहा है और फिर विजयादशमी (दशहरा) का पावन पर्व मनायेगा परन्तु वास्तविक शक्ति की प्रधारणा तो देश के प्रत्येक नागरिक के शारीरिक मानसिक एवं बौद्धिक विकास द्वारा सम्भव होगी। हम व्यायाम एवं योगाभ्यास कर कर्मपथ पर अग्रसर होकर शक्ति सम्पन्न बनना होगा तभी राष्ट्र धर्म और समाज वीर भोग्या वसुन्धरा के सपने को साकार करते हुए समाज की दुर्बलताओं रूपी आसुरी शक्तियों रावणों और कुम्भकरणों पर विजय पा सकेंगे। अन्यथा कोरे पुतले फूंक दिये और तमाशा देख लिया तो फिर हो गया राष्ट्र का कल्याण। बहुत हो चुका अब इन सब की इतिश्री करनी होगी।

आओ हम सब मिलकर प्रतिज्ञा करें—

"प्रण करते हैं संस्कृति का
नाम नहीं होने देंगे
वीर शहीदों की निशानी
बदनाम नहीं होने देंगे
जब तक रग में एक बूंद भी
गर्म लहू का बाकी है
भारत की आजादी का हम
नीलाम नहीं होने देंगे।

—रासासिंह

बीमार मानसिकता

राजस्थान के बयाना क्षेत्र के कांग्रेसी विधायक ब्रजेंद्र सिंह के परिवार में नवजात कन्याओं की हत्याएं किये जाने की परम्परा का मामला इन दिनों सुर्खियों में है। कन्या हत्या के इस प्रकरण को लेकर प्रतिदिन समाचार-पत्रों में रपट प्रकाशित हो रही हैं। गत दिनों राज्य विधान सभा में भी इस मामले को लेकर जोरदार बहस हुई। प्रतिवादी ब्रजेंद्रसिंह इस बात से पूरी तरह से इंकार करते है कि उनके परिवार में कन्याओं की हत्या की जाती हैं। उनका कहना है कि उनके परिवार में अभी तक जब किसी कन्या ने जन्म ही नहीं लिया तो फिर उनकी हत्या का प्रश्न ही कहां उठता है।

परन्तु भले ही विधायक ब्रजेन्द्रसिंह कुछ भी कहे समाचार पत्रों की रपटों में दिए प्रमाणों के आधार पर उनके परिवार पर लगे आरोप में काफी सच्चाई नजर आती हैं। वैसे वे इस मामले में दोषी है या नहीं इसका निर्णय करना तो न्याय तंत्र के अधीन है।

ब्रजेन्द्रसिंह परिवार पर लगे कन्या हत्या के आरोप ने यह सिद्ध कर दिया है कि अभी तक भारतीय समाज अपने को रूढ़िवादी और दकियानूसी विचार धारा की कैद से मुक्त नहीं कर पाया है। कन्या जन्म को अपनी प्रतिष्ठा हानि से जोड़ने वालों को आज के युग में मानसिक रूप से दिवालिया होने का प्रमाण-पत्र दिया जा सकता है।

छ०

पर उपदेश कुशल..

पिछले दिनों हिन्दी के प्रख्यात कवि श्री हरिवंशराय बच्चन की आत्म कथा 'क्या भूलूं क्या याद करूं' .... पढ़ने को मिला। इसमें श्री बच्चन ने जातिवाद और अस्पृश्यता के विरोध में भी अपने कुछ विचार व्यक्त किए है।

श्री बच्चन लिखते है कि यदि हम जातीय उपनामों का प्रयोग न करें तो अस्पृश्यता और जातिवाद को समाप्ति में बड़ी मदद मिलेगी। आगे वे लिखते है कि मैं जब प्राध्यापक था तो अपने विद्यार्थियों को जातीय उपनामों का प्रयोग न करने के लिए प्रेरणा दिया करता था।

निश्चित रूप से जातीय उपनामों का प्रयोग न करने की अपने विद्यार्थियों को प्रेरणा देने का बच्चन का काम सराहनीय कहा जाएगा। परन्तु हमारी समझ में यह नहीं आ रहा है कि अपने दोनों नौनिहालों (अमिताभ और अजिताभ) को उन्होंने ऐसी प्रेरणा दी थी या नहीं। क्योंकि डा० बच्चन के अनुसार ही उनके दोनों पुत्र बड़े ही आज्ञाकारी है। तो यदि उन्हें प्रेरणा दी जाती तो अपने नाम के साथ बच्चन कभी न लगाते।

—वीरेन्द्र आर्य

आर्य समाज के---

(शेष पृष्ठ एक का)

तायों के मन्दिरों ने न केवल मूर्तिभंजक इस्लाम के आक्रमणों को निमन्त्रित किया बल्कि उनसे सम्बन्धित अन्धविश्वासों और काल्पनिक चमत्कारों ने इन आक्रमणकारियों की विजय को भी सुनिश्चित कर दिया। मथुरा, काशी और अन्त में सोमनाथ की इन तथाकथित चमत्कारी मूर्तियों के टुकड़े करने वाले यवनों को मन्दिरों में संचित अपार धनराशि तो मिली ही साथ में उनके मुट्ठी भर सहधर्मियों को 33 करोड़ देवी देवताओं के इस विशाल देश पर सदियों तक राज्य करने का वरदान भी मिला। सम्भवत वेदों के एक मात्र निराकार ईश्वर के सैकड़ों साकार प्रतिस्पर्धी बनाकर उनकी अनेक कृत विकृत मूर्तियों द्वारा ईश्वर का उपहास करने का ही हमारे देशवासियों को यह घोर दण्ड मिला और साथ ही अपने इन नादान भक्तों की नास्तिकता सिद्ध करने वाले आक्रमणकारियों को राज्य सम्पत्ति का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ।

पौराणिक हिन्दुओं के मन्दिर में प्रवेश पाकर मूर्तिपूजा करने के इच्छुक हरिजनों को यह समझ लेना चाहिए कि मूर्ति पूजा में मात्र हानियां ही हानियां हैं, लाभ कुछ भी नहीं है। मूर्ति पूजा के गढ़ हिन्दुओं के मन्दिर अतीत में भी देश धर्म के पतन में सहायक रहे हैं और आज भी हैं। आज भी ये मन्दिर तथाकथित सवर्ण वर्ग की स्वार्थ पूर्ति एवं जन साधारण में अन्धविश्वास फैलाने तथा आपसी वैमनस्यता के भाव उत्पन्न करने के केन्द्र बने हुए हैं। अनेक मन्दिरों में देवदासियां पुजारिनों की कुसंगति के कारण व्यभिचार फैल रहा है।

कट्टीवादी हिन्दुओं के मूर्ति में विद्यमान भगवान (?) कितने शक्तिशाली हैं, इसका पता तब लगा था, जब गजनवी सोमनाथ के मन्दिर को लूट कर ले गया था। आज भी प्रतिदिन किसी न किसी तथाकथित भगवान (मूर्ति) की चोरों द्वारा दुर्दशा की जाती ही रहती है। इसी सन्दर्भ में मैं पिछले दिनों दूरदर्शन पर दिखाए गए धारावाहिक 'हिमालय दर्शन' का उद्धरण देने के लोभ का संवरण नहीं कर पा रहा हूं। इस धारावाहिक के एक भाग में दिखाया गया कि सोने के भगवान को कुछ चोर बड़ी बेदर्दी से उखाड़कर ले गए और भगवान अपने बचाव में कुछ भी न कर सके। पुजारी महाशय बाद में पता चलने पर भगवान की बरामदगी कराने हेतु पुलिस के पास रोते हुए यह चिल्लाते हुए कि भगवान चोरी हो गए, प्रार्थना पत्र लेकर पहुंचे। मूर्ति पूजकों के भगवान का इससे अधिक निरादर और क्या हो सकता है? मगर अफसोस, किसी भी मूर्ति पूजा के समर्थक ने दूरदर्शन के निदेशक से विरोध प्रकट नहीं किया कि आप हमारे भगवान की ऐसी दुर्दशा न दिखाएं! आखिर वे लोग वास्तविकता को अनदेखी कर भी कैसे सकते हैं!

'आर्य' उपनाम लगाएं

निश्चित रूप से हरिजनों को आर्य समाज में आने से हिन्दू समाज में फैली छुआछूत की बीमारी से छुटकारा मिलेगा। आर्य समाज जन्मना जाति न मानकर कर्म से जाति का निर्धारण करता है। ऐसे अनेक व्यक्तियों के नाम गिनाये जा सकते हैं जो कि जन्म से हरिजन होते हुए भी आर्य समाज द्वारा उनके कर्मों के अनुसार ब्राह्मण की उपाधि से विभूषित किये गये। आर्य जनों में जन्मना जातीयता का कोई भी चिह्न शेष न रहे और सबमें समानता का भाव जाग्रत हो, इसके लिये आवश्यक है कि सभी आर्य जन अपने नामों के साथ कोई जातीय उपनाम न लगाकर उसके स्थान पर आर्य लगायें।

हरिजनों को भी नाम के साथ 'आर्य' उपनाम का ही प्रयोग करना चाहिये। इस संबंध में वे निश्चिन्त रहें, "आर्य" उपनाम का प्रयोग करने से उन्हें आरक्षण आदि की सुविधा से वंचित नहीं किया जा सकता। यह भी खेद का विषय है कि कुछ प्रबुद्ध आर्य जन भी, जो कि सवर्ण जाति से संबंध रखते हैं, अपने जातीय उपनामों का प्रयोग करते हैं। जब कि सार्वदेशिक सभा भी एक प्रस्ताव पारित कर सभी आर्यजनों को जातीय उपनामों के स्थान पर आर्य उपनाम का प्रयोग करने का स्पष्ट निर्देश दे चुकी है।

हरिजनों में भी छुआछूत

यह उल्लेखनीय है कि जन साधारण में एक भ्रान्ति भी प्रचलित है कि मात्र हरिजन एवं जाट आदि जाति के लोग ही अपने नाम के साथ 'आर्य' उपनाम का प्रयोग करते हैं। जब कि सत्यता तो यह है कि इनके अतिरिक्त भी जन्मना ब्राह्मण जैसी उच्च सवर्ण जाति से संबंध रखने वाले मेरे जैसे व्यक्ति भी आर्य उपनाम का प्रयोग करते हैं। हमारे तथाकथित जन्मना सवर्ण जाति के आर्य जनों को सगर्व, समाज हित में अपने जातीय उपनामों को तिलांजलि देकर आर्य उपनाम का प्रयोग आरम्भ कर देना चाहिये। तभी हरिजन उन से प्रेरणा ले सकेंगे।

यह भी एक कटु सत्य है कि स्वयं हरिजनों में भी छुआछूत कम नहीं है। ऐसी एक दुखद घटना तो स्वयं मेरे सामने ही कुछ वर्षों पूर्व घटी, जब दयानन्द कालेज के निर्माण कार्य में लगे कुछ हरिजन श्रमिकों ने दूसरे हरिजन श्रमिकों के पानी पीने के बर्तन से पानी पीने से इन्कार कर दिया था, कि वे उनसे उच्च जाति से संबंध रखते हैं। अतएव हरिजनों का सर्वप्रथम यह कर्त्तव्य बनता है कि वे अपने घर में भी समानता का वातावरण बनाएं।

स्वामी दयानन्द और 1857

—डा० भवानीलाल भारतीय—

14 अगस्त के सार्वदेशिक में पिलानी के श्री यादराम आर्य का एक लेख '1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में महर्षि दयानन्द ने भाग लिया था।' शीर्षक छपा है। इसमें उन्होंने महापंडित राहुल सांकृत्यायन के लेख के आधार जो बातें प्रस्तुत की हैं मैं उन्हें बिन्दुसार लिख रहा हूं। पाठक इसे पढ़कर स्वयं निष्कर्ष निकाल लें क्यों कि राहुल जी के इन कथनों से लेख के शीर्षक की पुष्टि होती है या नहीं। राहुल जी का कथन निम्न प्रकार है-

1 स्वामी दयानन्द का जन्म 1824 में हुआ।
2 गदर के समय वे पूर्ण युवा थे।
3 नाना साहब से उनकी भेंट बिठूर में हुई थी।
4 नाना साहब के महल के समीप एक गुरुकुल था।
5 उस गुरुकुल में नाना साहब, तात्या टोपे तथा रानी लक्ष्मीबाई आदि विद्यार्थी रूप में रह रहे थे।
6 पेशवा बाजीराव अंग्रेजों से अपना खोया राज्य वापस लेना चाहते थे।
7 ऋषि दयानन्द को पेशवा का यह प्रयास अच्छा लगा था।
8 स्वामी दयानन्द ने भी भारत को विदेशी सत्ता से मुक्त करने की प्रतिज्ञा की थी।
9 स्वामीजी ने 1857 के विद्रोह को विफल होते हुए देखा।
10 उन्होंने यह भी देखा कि 1857 में किये गये हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रयासों को दिल्ली के मुल्लाओं ने किस प्रकार विफल कर दिया है।
11. ऋषि दयानन्द सच्चाई से मुंह मोड़ने वाले नहीं थे।
12 उनकी धारणा बनी कि नाना सम्प्रदायों में विभक्त, विभिन्न पूजा-पद्धतियों को स्वीकार करने वाला हिन्दू समाज सदा पददलित ही रहेगा।
13 उन्होंने समस्त भारतवासियों को एक सूत्र में करने के लिए एक ईश्वर, एक शास्त्र वेद तथा आर्य जाति का नारा दिया।
14 इसी हेतु उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की।
15 स्वामी दयानन्द के तर्कों के समक्ष मुल्ला-मौलवी, पण्डित और पादरी सभी मौन हो गये।

राहुलजी के लेख का यही सारांश है जो उपर्युक्त 15 बिन्दुओं में श्रेणी बद्ध किया गया है। अब पाठक स्वयं सोचें कि इसमें क्या स्वामीजी की 1857 के काण्ड में लिप्त होने की कोई ध्वनि निकलती है। श्री यादराम ने तो इससे यही निष्कर्ष निकाला है कि स्वामीजी ने 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम में अवश्य भाग लिया था। किन्तु उक्त 15 बिन्दुओं में तो इस कथन की पुष्टि नहीं होती। तथापि श्री यादराम के हम आभारी हैं क्योंकि उन्होंने आर्य विद्वत मण्डल से आलोच्य विषय पर आगे

(शेष पृष्ठ चार पर)

दयानन्द बाल सदन का ९३वां वार्षिक अधिवेशन एवं निर्वाचन सम्पन्न

बाल कल्याण के क्षेत्र में विगत 93 वर्षों से सेवारत तथा अनाथ ...तथा निराश्रित बालक बालिकाओं का पालन पोषण एवं शिक्षित दीक्षित करने का प्रसिद्ध स्थान तथा संस्था दयानन्द बाल सदन का साधारण सभा का वार्षिक अधिवेशन एवं निर्वाचन विगत रविवार दिनांक 9 10 88 को प्रधान श्री दत्तात्रय जी आर्य की अध्यक्षता में सब सम्मति से सम्पन्न हुआ। इसमें लगभग 3 लाख का वार्षिक आय-व्यय का विवरण तथा 150 बालक बालिकाओं के भोजन शिक्षा प्रशिक्षण आदि सम्बन्धी वार्षिक कार्य विवरण प्रस्तुत होकर सब सम्मति से स्वीकृत हुआ।

आगामी सत्र के लिये प्रबन्ध समिति के पदाधिकारी निम्न प्रकार से निर्वाचित हुए

सर्व श्री दत्तात्रय आर्य — प्रधान श्री कृष्णराव वाले — वरिष्ठ उप प्रधान श्री रासासिंह — उप प्रधान श्री देवदत्त तनेजा — मंत्री श्री वेदरत्न आर्य — व्यवस्थापक प्रो. जी.एल. जोशी — कोषाध्यक्ष

इसके अतिरिक्त 16 अन्तरंग सदस्य चुने गये श्री आचार्य गोविन्द सिंह एवं श्री शिवचरण सिंह विशेष आमन्त्रित सदस्य चुने गए। —मंत्री

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला-५१ भाग

[प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ट्रैक्ट]

1 ईश्वर एक नाम अनेक	9 स्वर्ग और नरक कहाँ है ?
2 आदर्श माता पिता	10 चौके चूल्हे में धर्म नहीं है
3 शिक्षा और चरित्र निर्माण	11 हिन्दू धर्म की निर्बलता
4 गृहस्थाश्रम का महत्व	12 बौद्ध और जैन मत
5 संन्यासी कौन और कैसे हों	13 बाइबल और ईसाई मत
6 राज्य व्यवस्था	14 इस्लाम और वैदिक धर्म
7 ईश्वर और वेद 8 जगत की उत्पत्ति	15 सत्य का अर्थ तथा प्रकाश

विशेष—सभी ट्रैक्ट आर्य जगत के जाने माने विद्वानों के द्वारा लिखित हैं एवं ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान श्री दत्तात्रय आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के पूरे सेट का मूल्य 8/ रुपये है

(शेष पृष्ठ तीन का)

स्वामी दयानन्द और —

सावन के लिये कहा है। यहाँ में श्री आर्य से यह निवेदन कर दूँ कि स्वामी दयानन्द का कलकत्ता में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड नार्थब्रुक से तथाकथित भेंट अभी इतिहास से पुष्ट नहीं हो पाई है। अम्बाला के स्व. दीवान अलखधारी द्वारा फैलाया यह प्रवाद यद्यपि लाखों की जबान और वाणी पर तो चढ़ गया है किन्तु उसकी सत्यता का अनुसन्धान करने का साहस किसी माई के लाल ने अभी तक नहीं दिखाया है। हम उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब कि आर्य समाज के इतिहासकार उक्त घटना की पुष्टि भारतीय गवर्नर जनरल के पुराने अभिलेखों या दिल्ली एवं लंदन स्थित पुरातत्व सामग्री के आधार पर करेंगे। मेरा अपना इन समस्याओं पर कोई पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण नहीं है। प्रमाणाधारित और प्रमाणपुष्ट तथ्यों को स्वीकार करने में कोई संकोच होना भी नहीं चाहिए।

श्रीमती प्रेमवती दिवंगत

अजमेर। आर्य समाज के प्रधान आचार्य दत्तात्रय आर्य की धर्म पत्नी की माताजी श्रीमती प्रेमवती का 6 अक्टूबर 1988 को 90 वर्ष की अवस्था में निधन हो गया। स्वर्गीया श्रीमती प्रेमवती जी आर्य विचारों की एक विदुषी महिला थी यह कारण रहा कि जब उनकी दूसरी पुत्री और आचार्य दत्तात्रय जी आर्य के पत्नि की बहन जो कि एक सैनिक अधिकारी की पत्नी हैं ने अपने सेनाधिकारी पुत्र को अपनी नानी की अस्थियां हरिद्वार ले जाने के लिए अजमेर भेजा तो आचार्य दत्तात्रय आर्य व उनकी धर्म पत्नी ने उनके धर्म समाजी विचारों का हवाला देते हुए ऐसा नहीं होने दिया और स्वर्गीया की इच्छानुसार उनके भस्मावशेष किसी खेत में विसर्जित कर दिये।

अजमेर आर्य समाज ने श्रीमती प्रेमवती के निधन पर शोक व्यक्त किया है

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता पर शोध ग्रन्थ की योजना

दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर में राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत दयानन्द शोध पीठ की ओर से एक ऐसे अधिकृत ग्रन्थ का प्रकाशन करने का निश्चय किया गया है जिसमें वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध की जा सके। इस दृष्टि से ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म और आर्य समाज के सिद्धान्तों का समर्थन करने वाले उन सब उद्धरणों विचारों और मान्यताओं का समावेश किया जायगा जो अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तकों और उनके अनुयायी विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए एकेश्वरवाद के समर्थन और मूर्ति पूजा के विरुद्ध इस्लाम, कबीर तथा नानक और तेरापंथी जैन सम्प्रदाय की मान्यताएं। इसी प्रकार जात पांत छुआछूत के विरुद्ध तथा सामाजिक एकता और सेवा के सम्बन्ध में उपरोक्त तथा ईसाई धर्म के विचारों का समावेश करने की योजना है। ग्रन्थ में प्रकाशित किये जाने वाले विद्वतापूर्ण निबन्धों और लेखों के लिए उचित पारितोषिक और पारिश्रमिक देने का भी निश्चय किया गया है। जो विद्वान इस कार्य में सहयोग दे सकें वे कृपया श्री दत्तात्रय आर्य निदेशक दयानन्द शोधपीठ दयानन्द कालेज अजमेर से सम्पर्क करने का कष्ट करें।

पत्र और विचार

आप नेतृत्व करें

आदरणीय श्री आर्य जी

सादर नमस्ते 30 सितम्बर के आर्य पुनर्गठन में स्वामी अग्निवेश जी की पदयात्रा के सम्बन्ध में श्री अम्बाप्रसाद शर्मा एवं श्री हुकम के पत्र और आपके उत्तर पढ़े। अब यह हरिजन प्रवेश का मामला और भी आगे बढ़ गया है। जैसा कि स्वामी अग्निवेश का आपने इस पदयात्रा में पूरा सहयोग दिया एवं हरिजनों का समानाधिकार दिलाने का एक प्रयास किया परन्तु 2 अक्टूबर को फिर स्वामी अग्निवेश ने नाथद्वारा मन्दिर में प्रवेश का प्रयत्न किया लेकिन इस बार कहीं भी आर्य समाज का नाम नहीं था। उन्होंने आर्य समाज के नाम पर पहले पदयात्रा कर आर्य समाज का सहयोग प्राप्त कर लिया और अब उसमें से दलित मुक्ति मोर्चा नाम का नया संगठन जोड़कर मानवाधिकार के नाम पर विदेशी पैसा दिलाने में सहायक हो सके ऐसा कर दिया। स्वामी अग्निवेश जी बहुत बड़ी साजिश कर रहे हैं।

उनकी विदेशी षड्यन्त्रकारी ताकतों से समझौता लगता है। क्योंकि सती प्रथा विरोधी दिल्ली से दिवराला पदयात्रा भी उन्होंने आर्य समाज के नाम से की और उसमें से महिला मुक्ति मोर्चा पैदा कर लिया। ईसाई मिशन के बड़े बड़े चर्चों में जाते हैं। उनसे सहायता लेते हैं। अनेकों विदेशी संस्थायें भी इन्हें आर्थिक सहायता करती है। इन लक्षणों से इन पर सन्देह स्वाभाविक है अन्यथा अब पुनः नाथद्वारा में यह नाटक करने की क्या आवश्यकता थी ? समाचार पत्रों में जो फोटो आते हैं उनमें कोई भी हरिजन नहीं था। एक कैलाश सत्यार्थी ब्राह्मण और तीन उनके बन्धुआ मजदूर जिसको वे अपने ही संगठन बन्धुआ मुक्ति मोर्चा में बन्धक बनाये हुए हैं नजर आते हैं।

इसलिए अग्निवेश जैसे व्यक्ति से आर्य समाज को सावधान रहना चाहिये और आप जैसे विवेकशील को निर्णय तो अवश्य विचार पूर्ण हो आप पुनः विचार करें।

आर्य समाज के नेता अवश्य अब किसी भी ऐसे अत्याचार अन्याय पर खुलकर सामने नहीं आते। आप स्वयं अब नेतृत्व सम्भालें।

आर्य पुनर्गठन से आर्य समाज को इकट्ठा होने की प्रेरणा मिलती है। इसका प्रयास सराहनीय है। शुभकामनाओं सहित—

वेदप्रकाश विद्रोही
सौवर मार्केट रेवाड़ी

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स अजमेर के लिए सक्सेना प्रिंटर्स अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्य समाज भवन केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है। सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163

सृष्टि सम्वत् ' 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्य समाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 रविवार, 30 अक्टूबर 1988 | अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्। | कार्तिक कृ 6 सवत 2045
अंक 20 र स -43338/84 II | अभय नक्तमभय दिवान सर्वा आशा मम् मित्र भवन्तु॥ | वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

शहाबुद्दीन द्वारा हाल के भयंकर मारक भाषण अभियान को रोकने की तुरन्त आवश्यकता है

—सीताराम गोयल—

शहाबुद्दीन के हाल के भाषणो से प्रतीत होता है कि वे किस छल पूर्ण युक्तियो से, जो देश को गर्त मे ले जाने वाली हैं देश को विघटन की ओर ले जाने को उद्यत हो रहे हैं। इन सब बातों को यथाशीघ्र ही रोकने की महती आवश्यकता है। उन्हें चाहिये कि वे स्वय को अपनी धर्म मान्यताओं मे ही रखें न कि इस तरह की अनगल कटुविग्रह, उत्पात पूर्ण बातो—समस्याओ मे उलझे रहे।

वे भारत के सविधान की धारा 153, 153 A 295, 295A तथा 298 का बखान तो करते हैं किन्तु वे भूल जाते हैं कि ये सब धाराऐं (कानून) अंग्रेजो की देन मात्र हैं। उनकी यह बात तो अति विचित्र एव विश्वास से बहुत दूर है कि अंग्रेजों से पूर्व भारतीय समाज असभ्य एव जगली जैसा था। वे भूल जाते हैं कि इस्लाम धर्म के पहले कौन क्या था ? और इस्लाम धर्म तो अभी एक नवीन पथ जैसा ही है। हमारा-भारतीयो का धर्म—इतिहास तो हजारों-लाखो वर्ष पुराना है जिसमें अपार साहित्य दर्शन, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एव सास्कृतिक मूल्यो का समावेश है। हमारे देश-समाज मे महान गुरुओ-आचार्यों के अदभुत विचार ज्ञान का सगम है। उन्होने अपने विचारो-मान्यताओ से देश-विदेश के विद्वानो को प्रभावित किया है।

गौतम बुद्ध के विरोध मे उनके समय मे अनर्गल अनेक बातो का प्रचार किया गया किन्तु वे शान्ति-मूर्ति थे और उन्होने कभी ऐसे लोगो का अहित करना तो क्या सोचा तक नही—यह है भारतीय सस्कृति परम्परायें। शहाबुद्दीन को अवश्य ज्ञान होगा कि भारतीय सस्कृति कितनी उदार और महान है। वह कभी दूसरो पर इस तरह अनर्गल बातो पर अपना समय नष्ट नही करती जैसा कि वे कर रहे हैं। वे जिन धाराओ (भारतीय सविधान की) की दुहाई देते हैं भूल जाते हैं कि वे सभी गोटी अंग्रेजो द्वारा गढी हुई हैं, जो दुर्भाग्य से आज तक बिना सुधारे चली आ रही हैं। मैं उनको विश्वास दिलाना चाहूंगा कि मुस्लिम भाई अपने धर्म को मानें, चले और अपनी धार्मिकतानुसार कार्य करे, वे इस हेतु पूर्ण स्वतन्त्र है, किन्तु वे इन्ही बातो के लिए अन्य अमुस्लिम भाईयो के प्रति दुराग्रही क्यो बनते हैं। उन्हे भी अपनी पद्धति अनुसार स्वतन्त्रता है—और होनी चाहिये।

जब कि मुस्लिम अपना अधिकार मांगते है—चाहते हैं कि वे अपने धर्मानुसार चले, व्यवहार करें अमुस्लिमो को मुस्लिम बनाये, तो फिर जब अमुस्लिम धर्म के अनुयायी अपने धर्म में मुस्लिम को ले लें—क्या आपत्ति है—फिर विरोध क्यो व कैसा ? बडी विचित्र दलील व बात है कि वे जो चाहें सो करें किन्तु अन्य नहीं कर सकते हैं— विचारणीय है। मुस्लिम पुजारी, राजनीतिज्ञ अक्सर शिकायत करते हैं कि उनके धर्म के विषय मे उनकी पुस्तको का उद्धरण त्रुटि पूर्ण किया जाता है किन्तु वे भूल जाते हैं कि वे स्वय ऐसा ही नहीं अपितु बढ-चढ कर यही कार्य करते है—यह तथ्य उनकी दृष्टि मे नही आता।

भविष्य में ऐसा न हो, इसके लिए मेरा सुझाव है कि धर्म के सभी सम्बन्धित विषय पर खुले मन-हृदय से वार्तालाप स्पष्टत कर ली जावे ताकि सभी जाने-अनजाने लोगो को स्पष्ट बातो का ज्ञान हो जावे। यही तरीका हिन्दु-मुस्लिम धर्म अनुयायियो के हित मे होगा। इस सम्बन्ध में ईसाइयो ने सभी का हाल मे आह्वान भी किया है। ईसाई लोग कम से कम उनके धर्म-विरुद्ध यदि कुछ है तो बात करने-सुनने को तत्पर तो रहते हैं।

(टाइम्स ऑफ इंडिया से साभार)

कुरान वास्तव में क्या कहती है ?

इण्डियन एक्सप्रैस दैनिक पत्र दिनांक 19-10-88 में प्रकाशित एक लेख के विरुद्ध सैयद युसुफ लिखते हैं कि जो कुछ लिखा गया है, वह तोड़-मरोड़ कर तथा पूर्ण सम्बन्धित उद्धरणों के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए नहीं लिखा गया है। ऐसे लेखो से राष्ट्रीय एकता नही अपितु उल्टा कलह ही बढेगी। किन्तु लेखक यह मानता है कि कुरान के अनुसार अमुस्लिमों को या तो मुस्लिम बना दिया जाय अथवा उन्हें कत्ल (मार डाला) कर दिया जावे अर्थात् अमुस्लिमों को सहन न किया जावे। वैसे कुरान आम अमुस्लिमो को मारने की हिदायत नही करती। कुरान तो उनको मारने की कहती है जो कि युद्ध की घोषणा अथवा युद्ध करते हो मुस्लिमों को नष्ट करना चाहते हो-साथ ही ऐसे लोगों को वह अल्लाह के नाम पर मारने को कहती है।

हथियारों का प्रयोग

कुरान में किन्ही विशेष-स्थितियो मे ही हथियारो के प्रयोग हेतु कहा गया है। मक्का से मदीना जब लोग (मुस्लिम) आये तब तक उन्हे हथियारो का प्रयोग वर्जित था। किन्तु जब उन नव बने मुस्लिमो पर अत्याचार अन्य लोग करने लगे तभी उनके प्रयोग की बात सामने आई।

(शेष पृष्ठ 3 पर)

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सम्पादक . रामसिंह सम्पादक वीरेन्द्र कुमार आर्य कार्या 21010

विश्वास

अंधेरे जितने ही गहरायेंगे,
सूरज को करीबतर ले आयेंगे।
रौशनी रोकने की कोशिशों में,
खुद अंधेरे ही फना हो जायेंगे।

सम्पादकीय—

आर्यसमाज क्रान्तिकारी एवं तेजस्वी संगठन बने

आर्य जगत् मे समय-समय पर विभिन्न पर्व, वार्षिकोत्सव, शताब्दी समारोह आदि आयोजित होते रहते हैं परन्तु उन समारोहो से दो चार दिन की चहल-पहल तो दृष्टिगत हो जाती है परन्तु उसके बाद फिर वही पुरानी चाल शुरू हो जाती है। एक जिन्दा दिल क्रान्तिकारी एव तेजस्वी सगठन मे जो सतत जागरूकता, गतिशीलता तथा विकासोन्मुखी, प्रवृत्ति होनी चाहिये उसका सर्वथा अभाव दृष्टिगत होता है। क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के धनी श्री स्वामी अग्निवेश जी ने अपने ढग से दिवराला काण्ड तथा नाथद्वारा मन्दिर हरिजन प्रवेश आदि समस्याओ को उजागर करने एव समाज की जडता एव निष्क्रियता को झकझोरने के लिये जनचेतना उत्पन्न करने का साहस किया है परन्तु उनके इन कार्यक्रमो मे आर्य समाजी कितने जुड पाये यह आप और हमसे छिपा नही है। यद्यपि उनके इन कार्यक्रमो से देश-विदेश मे तथा यहातक कि सुदूर गावो मे भी महर्षिदयानन्द, आर्य समाज, वेद आदि की अनुगूज सुनाई पडी, सम्पूर्ण समाज एक चिन्तन को उन्मुख हुआ।

परन्तु आज चाहे बिहार के हरिजनो की नृशस हत्याए हो अथवा पजाब मे आतकवाद द्वारा खेली जा रही खूनी होली हो या काश्मीर घाटी में स्वाधीनता पर्व पर राष्ट्रीय ध्वज जलाया जाता हो तथा पाकिस्तान जिन्दाबाद के नारे लगते हो अथवा राजस्थान के बृजेन्द्रसिह विधायक के परिवार मे निरन्तर नवजात कन्याओ की हत्या का मामला हो या मेडता काण्ड की मूलकी नामक बनबावरिया जाति की महिला के साथ पुलिस द्वारा किया गया पाशविक एव राक्षसी व्यवहार हो अथवा दहेज के नित्य प्रति रोमाचक एव दिल दहलाने वाले घटना काण्ड हो, कान्वेण्टी सस्कृति का परिवारो मे घुलता हुआ जहर हो अथवा अग्रेजियत का बढता हुआ माया जाल हो, वनवासी एव गिरिजनो आदिवासियो का ईसाई-मुसलमानो द्वारा धर्मान्तरण हो, राम जन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद हो अथवा चरित्र हीनता, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, बेईमानी की घटनाए हो, गिरते हुए सामाजिक एव मानवीय मूल्यो की समस्या हो, इन सबके समाधान के लिये दयानन्द के हर सच्चे सिपाही को स्वामी अग्निवेश बनना होगा। क्रान्तिपथ अपनाना होगा। सघर्ष की राह चुननी होगी। आर्य समाज कछुआ वृत्ति अथवा शुतुर्मुर्गी प्रवृत्ति अपना कर जिन्दा नहीं रह सकता।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब तक आर्य समाज मे सघर्ष और क्रान्ति की लौ जलती रही तब तक आर्य समाज एक जीवित, जाग्रत जीवन्त एव क्रान्तिकारी सगठन था। ज्यो ही कोरे अखबारी और कागजी नेताओ का जोड तोड के आधार पर आर्य समाज में वर्चस्व बढ़ा त्योही आर्य समाज एक शिथिल सगठन हो गया। जो कौमे या सभ्यताए अथवा सगठन अपनी कमजोरी को कहने और जानने की हिम्मत नही करते वे धीरे-धीरे धराशायी हो जाते हैं। उनका नाम लेवा और पानी देवा भी नहीं बचता। याद करो ऋषि दयानन्द के तपस्या पूर्ण जीवन और महाबलिदान को, स्वामी श्रद्धानन्द के द्वारा खायी गई पिस्तौल की गोलियो को, निजामशाही के अत्याचारो के विरुद्ध जूझने वाले सत्याग्रही वीरो को। लेखराम द्वारा खाये गये छुरे के वार को अथवा राजपाल के बलिदान को, लाला-लाजपतराय द्वारा खायी हुई लाठियो की मार को।

अत आज प्रत्येक आर्यवीर को अपनी निष्क्रियता, जडता, शिथिलता दूर कर तेजस्विता, सक्रियता, ओजस्विता एव जागरूकता को धारण करना होगा। अन्यथा आर्य समाज को आगे आने वाला इतिहास माफ नहीं करेगा।

उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान्निबोधत। उठो, जागो और कर्म क्षेत्र मे प्रवृत्त होकर श्रेष्ठवरो को प्राप्त करो।

यदि आर्यसमाज वर्तमान विषम परिस्थितियो मे भी सोता ही रहा तो फिर सोने वालो का भगवान ही मालिक है। अत आर्यवीरो को कवी के शब्दो मे मेरा कहना है कि—

'उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब-रैन कहा जो सोवत है।
जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है।'

—रामसिंह

दंगों की राजनीति

चन्द स्वार्थी धार्मिक धन्धेबाजो की बातो मे आकर कुछ नादान लोग अपनी जान पर खेल गए। पिछले दिनो से उत्तर प्रदेश के मुजफ्फर नगर और खतौली साम्प्रदायिक दगो की आग मे झुलस रहे हैं।

दगा क्यो भडका? वही कथित राम-बाबर भूमि का मुद्दा। एक जमीन के टुकड़े पर दोनो पक्षों के कट्टरपथी मरने मारने पर तुले हुए हैं। जबकि कितनी मस्जिदें-मंदिर बिना सही रख-रखाव के खडहर बन रहे है। उनकी किसी को चिन्ता नही है। कुछ धर्म के नाम पर अपनी राजनीतिक रोटिया सेकने वाले इस कार्य म आ जुटे हैं।

ये धन्धेबाज चदा बटोरू अभियान भी खूब चला रहे हैं। भारत मे अन्य किसी जनकल्याणकारी कार्य के लिए चदा नही मिलेगा लेकिन धर्म के नाम पर यहा दुकानदारी आराम से की जा सकती है।

एक जरा से जगह के टुकडे के लिए आपस मे ही लड मरने के लिए कमर कसने वाले ये हिन्दू-मुस्लिम सूरमा, हजारो वर्ग किलोमीटर भूमि पर कब्जा करने वाले चीन से बात करें तो उचित रहेगा।

—वीरेन्द्र शर्मा

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला-15 भाग

[प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ट्रैक्ट]

1 ईश्वर एक नाम अनेक
2 आदर्श माता पिता
3 शिक्षा और चरित्र निर्माण
4 गृहस्थाश्रम का महत्व
5 सन्यासी कौन और कैसे हों?
6 राज्य व्यवस्था
7 ईश्वर और वेद
8 जगत् की उत्पत्ति
9 स्वर्ग और नरक कहा है?
10 चौके चूल्हे मे धर्म नहीं है
11 हिन्दू धर्म की निर्बलता
1 बौद्ध और जैन मत
13 वेद और ईसाई मत
14 इस्लाम और वैदिक धर्म
15 सत्य का अर्थ तथा प्रकाश

विशेष—सभी ट्रैक्ट आर्य जगत् के चोटी के विद्वानों के द्वारा लिखित है एव ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान श्री दत्तात्रेयजी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के पूरे सैट का मूल्य 8/- रुपये है।

वेद का सार्वभौम स्वरूप

—डा आनन्द प्रकाश—

सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुये मनुष्यो को, जीवन क्रम को आगे बढाने के लिये, आयु-स्वास्थ्य-बुद्धि-स्मृति- इन चार वस्तुओ की आवश्यकता थी, जिसे उन्होंने ईश्वर प्रदत्त वेद ज्ञान द्वारा प्राप्त नैमित्तिक विवेक से प्राप्त किया। परम पिता परमात्मा आदि गुरु है तथा उनका ज्ञान अनादि अनन्त, नित्य, शाश्वत और दिव्य है। मनुष्य में नैमित्तिक ज्ञान अनायास उत्पन्न नही हो सकता, यह परम्परा से मिलता रहता है- यही वैज्ञानिक सिद्धान्त है। युगान्त मे लुप्त हुये वेदो को, दैव्य ऋषि अपने पूर्व सचित तप से प्राप्त करते हैं जो श्रुति के रूप मे ऋषि-गुरु परपरा से सदा प्रवाहित होता है। वर्तमान सृष्टि मे मानव इतिहास करोडो वर्ष पुराना है और वेद ज्ञान की अवधि भी उतनी ही प्राचीन है। वेद ज्ञान को कुछ हजार वर्ष प्राचीन मानने वाले विद्वानो ने इसकी सार्वभौमिकता, ग्राह्यता और उपादेयता को सकुचित और सीमित बना दिया है।

वेद प्रतिपादित धर्म ही मानव मात्र का धर्म कहा जा सकता है, जो सभी मनुष्यो की भूमि माता की सन्तान और एक ईश्वर का पुत्र स्वीकार करते हुये, उन्हे जीवन मे उत्तरोत्तर श्रेष्ठता एव उत्कृष्टता लाने का पावन सन्देश देता है। यह सन्देश सृष्टि के प्रारम्भ म जिस समय मनुष्य को प्राप्त हुआ था, उस समय कोई मत सम्प्रदाय अस्तित्व मे नही था। धर्म व सम्प्रदाय मे विभेद न कर पाने के कारण ही ससार मे धार्मिक विद्वेष और उन्माद व्याप्त है। मानव मात्र का धर्म अर्थात् जीवनादर्श के वे मौलिक तत्व जो धारण करने योग्य है—सबके लिये समान हैं। वेदो मे जिन उदात्त सिद्धान्तो, कर्त्तव्यो और गुणो का वर्णन मिलता है, उनका विरोध कोई भी आस्तिक सम्प्रदाय आज भी नहीं कर सकता। वेदो की इन व्यापक शिक्षाओ के कारण ही धर्म शब्द स्वय इतना व्यापक अर्थ अपने गर्भ मे समा बैठा है। वैदिक धर्म के व्यापक अर्थ मे नैतिकता के वह सभी सिद्धान्त समाहित हैं, जिनसे केवल मानव-समाज का ही नही, अपितु परमेश्वर की समस्त प्रजा (सम्पूर्ण चेतन जगत) का कल्याण तथा उपकार होता है। इस प्रकार वैदिक धर्म का सार्वभौम रूप प्रकट होता है। किन्ही विशेष पूजा पद्धतियो और आडम्बर जनित विश्वासो की सीमा में बन्ध सम्प्रदाय, सर्वहितकारी मानव-धर्म का स्थान नहीं ले सकते। यह सभी सम्प्रदाय कुछ हजार वर्षों से ही अस्तित्व मे आये हैं।

मोटे तौर पर, मानव चिन्तन की तीन विशिष्ट अवधारणायें हुआ करती हैं—(1) वह अमरत्व को प्राप्त करना चाहता है, (2) वह विवेकी और तार्किक होना चाहता है और (3) वह सामाजिक परिवेश मे ढलना चाहता है। वेद के सार्वभौम चिन्तन द्वारा आत्मा को अमरत्व का सन्देश दिया गया है, प्रकृति के रहस्य मे रचनाकार का साक्षात्कार करने के लिये सूक्ष्म दृष्टि प्रदान की गयी है, और विश्व-समाज-रचना को सर्वहितकारी एव कल्याणकारी बनाने की योजना प्रस्तुत की गयी है।

वेदो के सार्वभौमिक (सम्प्रदाय विहीन) स्वरूप को स्पष्ट रखने के लिये यह कह देना भी परम आवश्यक है कि (1) वेदो मे इतिहास नही है—इनके शब्द यौगिक है, जिनके भीतर इतिहास होने की सम्भावना नही हो सकती, (2) वेदो मे बहुदेवता अथवा जडपूजा का विधान नहीं है, (3) इसमे सग्रामो मे शत्रुओ पर विजय का वर्णन नही है, तथा (4) यह केवल मात्र हिन्दुओ की धर्म पुस्तक या मात्र भारतवासियो के लिये नही है।

पता—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी—5

राजस्थान प्रतिनिधि सभा का शताब्दी समारोह

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान का शताब्दी समारोह 30-31 दिसम्बर 1988 और 1 जनवरी 1985 को अलवर में आयोजित किया जाएगा।

—मन्त्री

संतराम बी. ए. पर डाक टिकट की मांग

आर्यसमाज अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने भारत सरकार से स्व श्री सतराम जी बी ए पर डाक टिकट जारी करने की अपील की है।

आचार्य जी ने केन्द्रीय सचार मन्त्री को लिखे अपने पत्र मे श्री सतरामजी के सामाजिक व साहित्यक कार्यों का स्मरण कराते हुए, उन पर डाक टिकट जारी कर उन्हे सम्मान देने का अनुरोध किया है।

आचार्य जी ने मन्त्री महोदय को स्मरण दिलाया है कि आपने श्रीयुत् सतराम जी के जीवन काल मे उन पर डाक टिकट जारी करने मे इस आधार पर असमर्थता व्यक्त की थी कि जीवित व्यक्तियों पर टिकट जारी करने की परम्परा नही है। श्री सतराम जी का अब देहान्त हो चुका है इसीलिए अब उन पर डाक टिकट जारी कर देना चाहिए।

आर्यसमाज दरभंगा की अपील

गत दिनो बिहार मे आये भूकम्प से आर्यसमाज मन्दिर दरभगा पूर्णतया ध्वस्त हो गया है।

समाज का कार्य फिर से सुचारु रूप मे शुरू करने के लिए आर्य दानवीरो, मानवतावादी सस्था और अपनी ओर से आर्यसमाज शिक्षा सस्था, डी ए वी और अन्य सबधित सस्थाओ की ओर से अधिकाधिक दान राशि भेज कर पुण्य के भागी बने।

—प्रधान

ऋषि-निर्वाण-दिवस समारोह

प्रति वर्ष की भाति इस वर्ष भी दीपावली के पावन पर्व पर बुधवार दिनाक 9 नवम्बर 1988 को प्रात 8 बजे से केसरगज स्थित आर्यसमाज भवन मे भारतीय स्वतन्त्रता के अग्रदूत वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती का 105वा निर्वाण दिवस श्री प वेदरत्न जी आर्य की अध्यक्षता मे समारोह-पूर्वक मनाया जाएगा।

—मन्त्री

कुरान वास्तव— — — —

(शेष पृष्ठ एक का)

कुरान ने कहा हैं, 'जो लोग तुम्हे सताऐं उन्ह तुम अल्लाह के नाम पर मार डालो।'' इस तरह से कुरान मे जो लिखा गया है, वह न्याय सगत एव उचित है।

अवमान के लिए

कुरान म आता है कि जो लोग अल्लाह, उसके अनुयायी-भक्तो की खिलाफत करते हैं, उन्हे खत्म कर दो, हाथ-पैर काट डालो, फांसी पर लटका दो। आगे आता है कि जो मुस्लिम भी धर्म के विरुद्ध बातें करते है उनकी चालो मे मत आओ और उनके साथ भी अल्लाह के नाम पर अमुस्लिमो जैसा व्यवहार करो।

बदलती दुनिया

मुझे मेरी बीवी से बचाओ !

परिस्थितियां कब किस ओर करवट लेंगी, इसकी कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अब देखिए, कभी वे भी दिन थे कि जब स्त्री को पुरुष पैरों की जूती समझता था। उसे उत्पीड़ित करता था। घर की चार दीवारी में कैद रखता था और उसके समस्त मौलिक अधिकारों का हनन कर उस पर एक तानाशाह की तरह हुक्म चलाता था। तब पुरुष की तूती बोलती थी। परन्तु अब वो दिन लद चुके हैं।

वर्तमान समय स्त्री जाति का समय है। आज पुरुष को स्त्री उत्पीड़न का शिकार होना पड़ रहा है। यह सब सम्भव हुआ है, नारी अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए पिछले तीस वर्षों में बनाए गए विभिन्न कानूनों के कारण। स्त्री जाति के प्रति एक बार जो सहानुभूति लहर चली तो वह सीमा का अतिक्रमण कर गई और नारी को पुरुष के समान दर्जा दिलाते-दिलाते पुरुषों के मौलिक अधिकारों का ही सफाया कर दिया गया।

अब साहब, जब स्त्रियों के अत्याचार अधिक बढ़े तो पुरुषों को उसके विरुद्ध आवाज उठाने पर विवश होना ही पड़ा। यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध ही एक ऐसा है कि जिसके माध्यम से पूर्व काल में पुरुष स्त्री जाति पर अत्याचार करता रहा है और वर्तमान में स्त्रियां पुरुषों को उत्पीड़ित कर रही हैं। [illegible] अब पत्नियां ही पतियों पर अत्याचार करती हैं, इसलिए पीड़ित पुरुषों ने अपने संगठन का नाम रखा-'अखिल भारतीय पत्नी अत्याचार विरोधी मोर्चा।'

अखिल भारतीय पत्नी अत्याचार विरोधी मोर्चा का प्रथम अधिवेशन गत दिनों दिल्ली में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में काफी संख्या में पत्नी पीड़ित पुरुष सम्मिलित हुए। इन सभी ने यह सर्व सम्मत प्रस्ताव पारित किया कि हमें अपनी पत्नियों के अत्याचारों से बचाया जाए।

मोर्चा सदस्यों का कहना था कि अधिकांशतः दहेज के मामलों में स्त्रियां दोषी होती हैं परन्तु दंडित उन्हें होना पड़ता है। उनके अनुसार स्त्रियां उन्हें परेशान करती हैं, घर में क्लेश रखती हैं और बात-बेबात बच्चों को पीटकर अपना गुस्सा उतारती रहती हैं। वे हमें (पतियों को) धमकी देती हैं कि यदि उन्होंने उनका कहना नहीं माना तो वे आत्महत्या कर लेंगी, जिस पर हमें जेल में जीवन भर चक्की पीसनी पड़ेगी।

यही नहीं वे दहेज न लाने का झूठा आरोप लगाकर हमें पुलिस द्वारा परेशान भी कराती हैं और ऐसे मामलों में उन्हें (स्त्रियों को) हर शहर में बने तथाकथित स्वयं सेवी संगठनों का भी प्रश्रय हो जाता है। जिससे हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा भी गिरती है और जिसके फलस्वरूप हमें अपनी बहन-बेटियों के विवाह आदि संबंधों में रुकावटों का सामना करना पड़ता है। मोर्चा सदस्यों ने कहा कि इन सभी कारणों को दृष्टिगत रखते हुए अधिकांश पति अपनी पत्नियों के अत्याचारों को चुपचाप सहन करते रहते हैं। जिसका कि वे और भी अनुचित लाभ उठाती हैं, वे पतियों को धमकाती ही नहीं पीटती तक हैं।

मोर्चा ने उक्त स्थिति को देखते हुए सरकार व सभी से गम्भीरता-पूर्वक इस नाजुक मामले पर विचार करने को कहा है, ताकि पत्नी अत्याचारों से पुरुषों को बचाया जा सके।

और चलते-चलते कुंवारे लोगों को एक सलाह, जो हमें हमारे पत्नी पीड़ित मित्र ने गत दिनों दी थी—

"समस्त अविवाहित पुरुषों को चाहिए कि वे शादी से पूर्व ही 'अखिल भारतीय पत्नी अत्याचार विरोधी मोर्चा' के सदस्य बन जाएं। बाद में क्या मालूम कि पत्नी मोर्चा की सदस्यता लेने दें या नहीं।"

—वीरेन्द्र कुमार शर्मा

पत्र और विचार

वैदिक समाज का पुनर्गठन करें

आर्य पुनर्गठन 30 सितम्बर अंक मिला।

जिस प्रकार के आर्य पत्र की आवश्यकता मैं विगत [illegible] वर्षों से करता आया हूं आज प्रथम बार मैंने विशेष प्रसन्नता से मीठे चार आपके पत्र में पावन-चौरेला आर्य जी का लेख उत्तम है, अन्य सम्पादकीय लेख भी उच्च स्तरीय है।

परमात्मा करे कि विगत [illegible] वर्षों से विचलित हुई आर्य जाति को सत्कार, स्वाध्याय, नियमपालनहीनता के कम को समाप्त कर आप नये वैदिक समाज की पुनर्रचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकें। पत्रिका नियमित भेजते रहें—

योग्य सेवा लिखें। सबों को नमस्ते।

भवदीय

डा. [illegible] सिंह, [illegible]

क्रांति का बिगुल

"आर्य पुनर्गठन" पाक्षिक पत्रिका पढ़ने का [illegible] मिला।

लगा कि वास्तव में आपने क्रांति का बिगुल बजा दिया है। [illegible] हुये हृदय को आशा की झलक दिखाई दी। सार्वदेशिक पर ऐसे [illegible] प्रधान, आर्य प्र० नि० सभा उ० प्र० पर ऐसे तथाकथित प्रधान यदि बने रहेंगे तो समाज ही पूरा पौराणिक कुछ दिनों के पश्चात हो जाने का भय है। स्वयं यदि व्यवहार में नहीं लायेंगे तो दूसरे नीचे के अथवा नवीन समाज के सभासद क्या अनुसरण करेंगे।

मान्यवर,

सार्वदेशिक के तथा प्रान्त के सभा प्रधान बने व्यक्ति ने मिर्जापुर में भी फर्जी पौराणिकों की भक्त रन को मान्यता दे दी है, जिसके प्रधान, शिवालय में प्रतिदिन पूजा अर्चना करते हैं। क्या अब समाज इन्हीं के बल पर आगे बढ़ेगा ?

—सावित्री गुप्ता, मंत्री
आर्य समाज, मिर्जापुर।

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता पर शोध ग्रन्थ की योजना

दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर में राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत दयानन्द शोध पीठ की ओर से एक ऐसे [illegible] ग्रन्थ का प्रकाशन करने का निर्णय लिया गया है जिससे वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध की जा सके। इस दृष्टि से महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म और आर्य समाज के सिद्धान्तों का समर्थन करने वाले उन सब उद्धरणों, विचारों और मान्यताओं का समावेश किया जायेगा जो अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तकों और उनके अनुयायी विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए एकेश्वरवाद के समर्थन और मूर्ति पूजा के विरुद्ध इस्लाम, कबीर तथा नानक और देदापन्थी, जैन सम्प्रदाय की मान्यताएं। इसी प्रकार जात-पांत, छुआछूत के विरुद्ध तथा सामाजिक एकता और सेवा के समर्थन में उपरोक्त तथा ईसाई धर्म के विचारों का समावेश करने की योजना है। ग्रन्थ में प्रकाशित किये जाने वाले विद्वत्तापूर्ण लेखों के लिए उचित पारिश्रमिक और पारितोषिक देने का भी निश्चय किया गया है। जो विद्वान इस कार्य में सहयोग दे सकें वे कृपया श्री [illegible] शर्मा, [illegible], दयानन्द शोधपीठ दयानन्द महाविद्यालय अजमेर से सम्पर्क करने का कष्ट करें।

श्री रतनलाल शर्मा द्वारा श्री आर्य प्रिण्टर्स, अजमेर के लिए [illegible] प्रिण्टर्स, अजमेर से मुद्रित करवाकर प्रकाशक [illegible] ने आर्य समाज भवन केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द . 163
सृष्टि सम्वत् 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है सत्य हमारा कर्म ॥'

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनायें।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 मगलवार 15 नवम्बर 1988
अक · 21 प स -4·338/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

कार्तिक शु 6 सवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

महर्षि दयानन्द और श्री भगवानदेव

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

गत कई वर्षों से श्री भगवान देव (पूर्व सासद) द्वारा महर्षि दयानन्द पर फिल्म बनाये जाने के समाचार प्रकाशित हो रहे हैं। समाचारो के अनुसार इसमे महर्षि की भूमिका भी स्वय श्री भगवान देव करेंगे।

निस्सदेह फिल्म प्रचार का एक सशक्त माध्यम है। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने भी महर्षि दयानन्द पर फिल्म बनाने के एक प्रस्ताव को कई वर्ष पूर्व स्वीकृति दी थी। किन कारणो से सभा यह कार्य नही कर सकी, इसकी जानकारी मुझे नहीं है और न ही उस पर यहा चर्चा करना मेरा अभीष्ट है। मैं इस प्रश्न को लेकर भी बहस करना उचित समझता कि महर्षि दयानन्द जैसे विशाल व्यक्तित्व के धनी का अभिनय श्री भगवानदेव कर सकेगे या नही।

पिछले दिनो हमे देखने को मिला कि श्री भगवानदेव अपने व्यक्तिगत पत्रो पर न अपने चित्र के नीचे 'भगवान दयानन्ददेव के रूप मे' प्रकाशित कराते है। हमारी सम्मति में उनका यह कार्य आर्य-समाज के सिद्धान्तो के पूर्णतया विपरीत है। इससे अवतारवाद जैसी पौराणिक मान्यता को बढावा मिलेगा।

फिल्म मे दयानन्द की भूमिका करना और बात है, लेकिन अपने व्यक्तिगत पत्रो पर 'दयानन्द के रूप मे प्रकाशित करना वैदिक सिद्धान्तो के सर्वथा विरुद्ध कृत्य है। और दयानन्द के नाम का दुरुपयोग है। इस सदर्भ मे यह भी उल्लेखनीय है कि रामानन्द सागर की 'रामायण' मे राम की भूमिका करने वाले अभिनेता अरुण गोविल को अपने व्यक्तिगत पत्रो पर 'राम के रूप मे 'अरुणगोविल' प्रकाशित कर स्वय को राम का नया अवतार प्रचारित करने की इजाजत नही दी जा सकती। फिर श्री भगवानदेव तो अपने को आर्य कहते है। उन्हे हमारा यही परामर्श है कि वे अपने पत्रो पर यह चित्रादि का प्रकाशन अविलम्ब बन्द करे।



गजल

अय दुनिया बता इससे बढकर अब और हकीकत क्या होगी।
जा देदी तलाशे हक के लिये अब और इबादत क्या होगी।।
औरो के लिये मरने वाले मर कर भी हमेशा जीते हैं।
जिस मौत पे दुनिया रश्क करे उस मौत की कीमत क्या होगी।।
यू तो हर रोज की तारीकी लाती है पयाम उजाले का।
जिसने यह जहा पुर नूर किया, उस रात की कीमत क्या होगी।।
खजर भी चलाये अपनो ने, जहरे भी पिलाई अपनो ने।
अपनो के ही एसाँ क्या कम है, गैरो से शिकायत क्या होगी।।
सदियो की खिजा के बाद खिला एक फूल उसे भी तोड दिया।
कलियो के मसलने वालो से फूलो की हिफाजत क्या होगी
उस जुर्रत हिम्मत के सदके उस जजबए सादिक पै कुर्बां।
इससे बढकर हक की खातिर कामिल से बगावत क्या होगी।।

— स्व. प चमूपति एम ए.

पुण्य स्मरण

महान दयानन्द



आग को ऐसा सहेजा, क्राति फूकी थी निराली।
वेद की जलती ऋचा से, जिन्दगी तुमने जलाली।
साधना आलोक की अभिव्यक्तियो मे लय हुई यो—
तुम जले तो भोर आया, तुम बुझे तो थी दीवाली।

—सौमित्र

पिछले सौ डेढ सौ वर्षों मे जिन महापुरुषो ने भारत भूमि को पवित्र किया है उनमे स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्थान बहुत ऊचा है। सैकडो वर्षो से सोये हुये हिन्दू समाज की आत्मा को उद्बुद्ध करने का बहुत बडा श्रेय उनको है। उनके दार्शनिक विचारो से असहमत होना सम्भव है, वेदो की उन्होने जो व्याख्या की है उसको बहुत से स्थलो मे स्वीकार न करना सभव है परन्तु उनका उज्ज्वल चरित्र, ज्वलन्त देश प्रेम, गम्भीर विद्वत्ता और हिन्दुओ के अभ्युदय के प्रति अनन्य निष्ठा के सम्बन्ध मे दो राय नही हो सकती। यदि आज हिन्दू समाज अपनी बहुत सी रूढियो और सामाजिक कुरीतियो को छोड सका है तो इसमे सन्देह नही कि यह बहुत दूर तक स्वामी जी के उपदेशों का प्रभाव है। जो उनके विचारो से पूर्णतया सहमत नहीं हैं, उनके हृदय मे भी स्वामी दयानन्द के प्रति आदर की भावना है। मैं भी इस अवसर पर आपके साथ उनके प्रति श्रद्धांजली अर्पित करता हूँ।

—स्व. डा सम्पूर्णानन्द, पूर्व राज्यपाल राजस्थान द्वारा 81 वें निर्वाण दिवस पर दी गई श्रद्धांजली

सम्पादकीय

ऋषि निर्वाण दिवस पर संकल्प ग्रहण करें

महर्षि का अमर ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश पढ़ेंगे-पढ़ायेंगे

आधुनिक युग के महान ऋषि, स्वराज्य के प्रथम उन्नायक, सामाजिक एवं धार्मिक क्रांति के पुरोधा महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित ग्रन्थों मे सत्यार्थ प्रकाश का महत्वपूर्ण स्थान है। यह आर्यो का अमर ग्रन्थ है। लाला लाजपतराय, पंडित गुरुदत्त, स्वामी श्रद्धानंद जैसे महापुरुषो की जीवनधारा को बदल देने वाला तथा भगतसिंह, रामप्रसाद बिस्मिल जैसे क्रान्तिकारियो का जनक यही सत्यार्थ प्रकाश नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना करके महर्षि ने मानव जाति का बहुत उपकार किया है। सत्य को ग्रहण और झूठ को छुड़वाना ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है और यही सब सामाजिक एवं धार्मिक सुधारो का मूल सूत्र है। स्वयं महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा है कि 'सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नही है। सच्चाई के साक्षात्कार से ही मानव जीवन का कल्याण हो सकता है।

सत्यार्थ प्रकाश आर्ष ग्रन्थो की कोटि मे आता है क्योकि इसमे मानव मात्र की भलाई करने वाली प्रामाणिक बात है तथा मानव जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी महत्वपूर्ण विषयो को बहुत सरलता से इस ग्रन्थ मे ऋषि द्वारा समझाया गया है। सत्यार्थ प्रकाश का अर्थ यह है कि सत्य के अर्थ का प्रकाश अत इसमे कोई भी जिज्ञासु अपना जीवन सफल बना सकता है। ऋषि के सब ग्रन्थो का सार भी इसी मे आ गया है। किसी नवीन मत की कल्पना इस ग्रन्थ मे लेशमात्र भी नही है। यह ग्रन्थ ब्रह्मा से लेकर जैमिनी तक ऋषि मुनियो के द्वारा प्रतिपादित सारभूत विचारो का संग्रह है। वेद आदि ग्रन्थो को समझने के लिए यह ग्रन्थ कुंजी का कार्य करता है। इस ग्रन्थ के पठन से सभी भ्रान्तियो का निराकरण हो जाता है तथा अंधविश्वास मिट जाते हैं। इसी ग्रन्थ से ऋषि के मन्तव्यो और उनके कार्यक्रमो को भली प्रकार से जाना जा सकता है।

यही नहीं यह कह सकते हैं कि जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव जीवन की इस लोक की और परलोक की समस्त समस्याओ को सुलझाने के लिए यह ग्रन्थ एकमात्र ज्ञान का भण्डार है।

सत्यार्थ प्रकाश में चौदह समुल्लास हैं जिनमें से दस समुल्लास मण्डन के अन्तिम चार खण्डन के हैं। जिस प्रकार से किसी फोड़े को ठीक करने के लिए उसकी चीर फाड़ करनी पड़ती है जिससे बहुत पीड़ा भी होती है परन्तु अन्त मे रोग समूल नष्ट हो जाता है, ठीक इसी प्रकार से अन्तिम चार समुल्लासो मे से ऋषि ने अपने घर की (अपने धर्म की) तथा बाहर के-मतमतान्तरो की कमजोरियो पर विस्तार से प्रकाश डाला है और मानव मात्र से पक्षपातरहित होकर सत्य को ग्रहण करने का आह्वान किया है।

सत्यार्थ प्रकाश वैचारिक क्रांति का मूल स्रोत है। इसे जितनी बार हम मनोयोगपूर्वक पढ़ेगे उतनी ही बार नई-नई बातें हमे सीखने को मिलेगी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मानव मात्र के कल्याण हेतु तथा सत्य धर्म का स्पष्ट दिग्दर्शन कराने हेतु इस अमर ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ ऋषि ने आर्यभाषा हिन्दी मे इसलिए लिखा था कि इसका जन साधारण मे अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो।

इसी ग्रन्थ को पढ़कर हम सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा वैचारिक क्रांति अपने जीवन मे ला सकते हैं। सच्चे आर्य का निर्माण तथा संगठन की कसौटी भी यही ग्रन्थ है। अन्धकार मे एक प्रकाश यही सत्यार्थ प्रकाश है। अन्धविश्वासो एवं जड़ीभूत रूढ़ियो को मूलोच्छेदन करने वाला ग्रन्थ।

आओ आप और हम सब ऋषि के निर्वाण दिवस के अवसर पर यह पुनीत संकल्प ग्रहण करे कि सत्यार्थ प्रकाश को स्वयं पढ़ेंगे, दूसरो को पढ़ायेंगे, इसकी शिक्षा स्वयं ग्रहण करेंगे, दूसरो को धारण करायेंगे। इसका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार करेंगे। यदि हमे बन्धनो से छुटकारा पाना है, जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद की जकड़न से मुक्ति पानी है, दहेज, बालविवाह, अनमेल विवाह, सतीप्रथा जैसी कुप्रथाओ के जाल से पीछा छुड़ाना है, मूर्तिपूजा, अवतारवाद, पोपलीला और पौंगापन्थी से अपना पीछा छुड़वाना है तो सत्यार्थ प्रकाश को पढ़ना होगा और उसकी शिक्षाओं का अनुसरण करना होगा। अन्यथा नमक की खान मे हम भी पूरी तरह नमक की खान हो जायेंगे।

—रासासिंह

दहेज का दानव दनदना रहा है

वीरेन्द्र कुमार आर्य

गत कुछ माह पूर्व कानपुर मे तीन अविवाहित सगी बहनो ने इसलिए आत्म-हत्या कर ली थी कि दहेज देने मे असमर्थ होने के कारण उनके माता-पिता उनकी शादी नही कर पा रहे थे। ये लड़किया नही चाहती थी कि उनके अभिभावक उनके कारण परेशान हो।

4 नवम्बर को केरल के पालघाट के अलापुल्ली मे कानपुर की घटना की पुनरावृत्ति हुई। वहा चार अविवाहित सगी बहनो (मथा सुमिति, अनाका व शशिकला) ने आत्महत्या कर ली, क्योकि बड़ी बहन को शादी दहेज के कारण लम्बे समय से नहीं हो पा रही थी।

भारत मे दहेज देने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। पुराणो आदि ग्रन्थो मे भी दहेज दिये जाने का उल्लेख मिलता है। लेकिन दहेज ने समस्या का रूप इधर कुछ दशको से ही लिया है। वस्तुत लड़के से अधिक दहेज के मामले मे लड़की वालो का दोष है। हर माता-पिता अपनी लड़की का संबंध अधिक से अधिक संपन्न व्यक्ति के साथ करना पसन्द करता है। इसके लिए वह लड़के वालों को पटाने के लिए दहेज का सहारा लेता है। आखिर इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि दहेज व लड़की को मांगने लड़के वाले लड़की वालो के घर नहीं जाते हैं। ये तो लड़की वाले ही हैं कि लड़की के साथ दहेज देने की पेशकश को लेकर लड़के वालो के घर पहुंचते हैं। क्या ऐसा सम्भव नही है कि परिस्थितयाँ ऐसी उत्पन्न की जाए कि लड़की वाले को इस तरह लड़के वाले के घर न जाना पड़े? सच तो यह है कि ऐसे बाप, जो अपनी लड़कियो की शादी अच्छे और संपन्न घर मे करने के लिए भारी दहेज का सहारा लेते हैं, सामाजिक अपराधी हैं।

इन्हीं लोगों के कारण योग्य एवं खूबसूरत गरीब लड़की को भी किसी अयोग्य ऐरे गैरे लड़के के पल्ले बंधना पड़ता है, क्योकि योग्य लड़को को खरीदने की सामर्थ्य उनके अभिभावको मे नही होती।

दहेज की समस्या का समाधान कठोर कानूनो से संभव नहीं है। लड़की को पिता की सम्पत्ति मे से हक दिलाना भी इस रोग का निदान नही हो सकता। सम्पत्ति भी तो दहेज ही है। लड़के लड़कियो की आर्थिक निर्भरता, अन्तरजातीय विवाह (परस्पर सहमति से विवाह) ही दहेज के दानव से समाज को मुक्ति दिलाने में सफल हो सकते हैं।

यह भी एक विडम्बना ही है

(शेष पृष्ठ चार पर)

धार्मिक भावनाओं का शिखण्डी

सलमान रुश्दी के हाल प्रकाशित उपन्यास द सैटेनिक वर्सिज (शैतानी स्तोत्र) पर प्रतिबंध लगाकर भारत सरकार ने सांप्रदायिक तत्वों को खुश करके वोट बटोरने की अपनी देशघाती नीति का एक और प्रमाण दिया है मुस्लिम शायद भारत में सर्वाधिक अल्प शिक्षित धार्मिक वर्ग है जिसमें निरक्षरों की बहुत बड़ी संख्या है लेकिन कुछ मुल्ला मौलवी और सामन्तों ने कहीं सुन लिया कि सात समुन्दर पार छपी एक किताब में उनके धर्म और पैगम्बर का अपमान होता है तो हमारी निर्मल छवि सरकार ने तुरत मान लिया और पुस्तक पर प्रतिबंध लगा दिया गरीब और पिछड़े हुए मुसलमानों की आर्थिक सामाजिक प्रगति में किसी का क्या लेना देना सिर्फ उनके धर्म की रक्षा होनी चाहिए।

महंगे विदेशी उपन्यास भारत में कोई विरला ही पढ़ता है अतः प्रकट है कि न इन धर्म के व्यापारियों ने यह उपन्यास पढ़ा है न प्रतिबंध लगाने वालों ने। लेकिन वोटों की राजनीति चलाने के लिए जरूरी होते है— विवाद शैतानी स्तोत्र को विवाद का मुद्दा बना लिया गया लेकिन सभी बुद्धिजीवियों लेखकों और जागरूक पाठकों के लिए जिन्हें वोटों में रुचि नहीं है यह इस लिए एक महत्वपूर्ण मामला है क्योंकि यह अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर एक आघात है। प्रबुद्ध नागरिकों का इस प्रतिबंध का डटकर विरोध करना चाहिए।

धार्मिक भावनाओं को ठेस न लगाने के नाम पर सरकार सभी रूढ़िवादी प्रतिगामी व कट्टरपंथी शक्तियों का पृष्ठपोषण कर रही है। नाथद्वारा के मंदिर मे हरिजनों के प्रवेश करने पर उन्हें पीटा जाता है और सरकार मौन रहती है सती-प्रथा के विरोध के लिए स्वामी अग्निवेश [illegible] तो उन्हें गिरफ्तार कर [illegible] है और [illegible] के [illegible] उनको [illegible] है। क्योंकि सरकार को कट्टर हिंदू के वोट से भी उतना ही प्यार है जितना कट्टर मुस्लिम के वोट से। सच्ची धर्म निरपेक्षता!

सलमान रुश्दी खुद एक मुसलमान हैं एक विचारशील प्रबुद्ध मुसलमान। उनका यह उपन्यास एक महत्वपूर्ण गम्भीर साहित्यिक कृति माना गया है। इसके पीछे उनका पांच वर्ष का गहन शोध निहित है। उन्होंने स्वयं कहा है कि इस उपन्यास में इस्लाम विरोधी कुछ नहीं है। यह भी ध्यातव्य है कि इस लेख के लिखने तक भारत छोड़ कर विश्व के किसी भी देश में पाकिस्तान में भी— उपन्यास पर प्रतिबंध नहीं लगाया गया है अपने इस कदम से भारत सरकार ने एक ओर संकीर्ण साम्प्रदायिक शक्तियों के हाथ मजबूत किये हैं और दूसरी ओर विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन किया है।

सरकार के ऐसे ही पृष्ठ पोषण से धार्मिक भावनाओं को ठेस लगने की बीमारी— विशेषतः अल्पसंख्यकों में गम्भीरतर होती जा रही है अतः नेता और राजनीतिज्ञ धार्मिक भावनाओं की टट्टी की आड़ में अपने स्वार्थ मजबूत करने में लगे रहते हैं।

वैचारिक स्वातन्त्र्य का तकाजा है कि धार्मिक भावनाओं के शिखण्डी का खेल हमेशा हमेशा के लिये समाप्त कर दिया जाये सड़ी गली पोथियों और कट्टर व धर्मान्ध पंडित मुल्ला पादरियों के कोष में सभी जहालत झूठ अंधविश्वास व प्रपंच भरे पड़े है जिन्हें वे अपने धार्मिक विश्वास की संज्ञा देते है। यदि झूठ फरेब और मक्कारी के इस तिलिस्म को गिराना है तो यह इन धार्मिक विश्वासों पर चोट किये बिना कैसे सम्भव है?

सतीप्रथा और हरिजनों का दमन हिंदुओं के धार्मिक विश्वास में शामिल है। क्या आप हिंदू की इन भावनाओं को ठेस नहीं लगाना चाहते? ईसाइयत आर्य समाज सिक्खी व इस्लाम के अनुसार मूर्ति पूजा पाप और पाखंड है। क्या इसे हिंदू भावनाओं के लिए अनुचित मानकर आप इन धर्मों की पुस्तकों पर प्रतिबंध की मांग करेंगे? देवी देवताओं की मूर्तियों [illegible] का साधारण प्रयोग ही सुनकर कितने ही मुसलमानों को ठेस लगती होगी तो क्या आप मूर्तिकला, मूर्तिपूजा और संगीत पर प्रतिबंध लगायेंगे? आज अनेक इस्लामी राष्ट्रों ने बहुपत्नी प्रथा समाप्त कर दी है। क्या यह भावनाओं को छेड़े बिना संभव होता धार्मिक भावनाओं की सीमा कहां है? समुद्र यात्रा का निषेध अस्पृश्यता बुर्का पर्दा व घूंघट दहेज सती कन्यावध देवदासी वेश्यावृत्ति पशु बलि नर बलि पत्थरों से मार कर प्राण दण्ड विधर्मियों का संहार बाल विवाह दास प्रथा— ऐसी कौन सी बुराई है जिसके लिए दामक नगी किताबों और धार्मिक नेता न्मागा से समर्थन नहीं जुटाया जा सकता

विज्ञान की लगभग हर स्थापना धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध है। कुरआन कहता है कि जमीन चपटी है और बाइबिल कहता है कि जमीन स्थिर है।

हम समझते हैं कि गलत या सही सभी विश्वासों पर सब को खुलकर विचार करने की और उन विचारों को अभिव्यक्ति देने की छूट होनी चाहिये। यह कोई बड़ी मांग नहीं है बल्कि एक नितांत सहज अनिवार्यता है। धार्मिक विश्वास दीपक की ज्योति होने चाहिये दुखते हुए फोड़े नहीं जिन्हें आप पट्टियां लपेटे फिरें।

इन तथाकथित धार्मिक भावनाओं को पोसते रहने से ही राम जन्मभूमि बाबरी मस्जिद जैसे विवाद चलते हैं खालिस्तान जैसी मांगें उभरती हैं। मूर्खताओं और अंधविश्वासों की मालिश करते रहकर आप देश से साम्प्रदायिकता को समाप्त नहीं कर सकते। साम्प्रदायिकता, स्वाह वह किसी धर्म की हो समाप्त करने के लिए धार्मिक भावनाओं के विरुद्ध एक संग्राम छेड़े बिना कोई उपाय नहीं है।

—उर्मि कृष्ण

भूतल पर स्वर्ग की साकार कल्पना

वेद व साहित्य में यज्ञ महिमा पढ़कर यज्ञ के विषय में गहराई से विचारने को मन विवश हुआ है स्वर्ग कामो यजेत् इस मीमांसा वाक्य ने यज्ञ के प्रति और अधिक आकृष्ट किया। वैज्ञानिक गवेषणाओं ने इस जिज्ञासा को तीव्रतर किया अपना प्रथम शोध प्रबंध ग्रन्थ The Methods of the Interpretation of the vedas लिखते समय भी यज्ञ पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता अनुभव हुई पन्द्रह बीस वर्षों के छिटपुट विचार प्रवाह के परिणाम स्वरूप प्रायोगिकी यज्ञशाला का निश्चय हुआ अभी भी यज्ञ सबंधी अनेक तथ्य विचार ही नहीं अपितु गवेषणा कोटि में ही हैं क्योंकि उन पर विद्वानों का अभी ध्यान नहीं गया है।

यह कार्य भारी व्यय साध्य है। आरंभ में 5 लाख आनुमानिक व्यय है जो उक्त यज्ञशाला के बाह्य भवन (यज्ञ वेदियों आदि के) निर्माण वैज्ञानिकों व विद्वानों से परामर्श संगोष्ठन प्रारंभिक परीक्षण यन्त्रक्रय आदि पर व्यय होगा विद्वानों के उत्साहजनक परामर्श प्राप्त हो रहे हैं। यह अपने आप में नूतन प्रयास व मौलिक विचारणा है जिसके क्रियान्वयन पर समस्त विश्व जातिगत व सम्प्रदायगत भेद भाव भूल कर वेद की शरण में आ जायेगा। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् का स्वप्न पूरा करने का यह अप्रतिम साधन है व ऋषि दयानन्द को यह सच्ची श्रद्धान्जली है।

समस्त प्रबुद्ध धार्मिक परोपकारी सज्जनों से अनुरोध है कि वे धन की कमी न रहने दें। यज्ञ में दिया धन सहस्त्र गुणा होकर मिलता है। आप जी खोलकर दान दें।

अनुरोध कर्त्री :
डा पुष्पावती
अध्यक्षा मातृ मंदिर (कन्या गुरुकुल)
नई बस्ती रामापुरा वाराणसी

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता पर शोध ग्रन्थ की योजना

दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर में राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत दयानन्द शोध पीठ की ओर से एक ऐसे अधिकृत ग्रन्थ का प्रकाशन करने का निश्चय किया गया है जिसमे वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध की जा सके। इस दृष्टि से ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म और आर्य समाज के सिद्धान्तों का समर्थन करने वाले उन सब उद्धरणो, विचारो और मान्यताओ का समावेश किया जायेगा जो अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तकों और उनके अनुयायी विद्वानो द्वारा लिखी गई है। उदाहरण के लिए एकेश्वरवाद के समर्थन और मूर्ति पूजा के विरुद्ध इस्लाम कबीर तथा नानक और तेरापंथी जैन सम्प्रदाय की मान्यताए। इसी प्रकार जात-पात छुआ-छूत के विरुद्ध तथा सामाजिक एकता और सेवा के सम्बन्ध मे उपरोक्त तथा ईसाई धर्म के विचारो का समावेश करने की योजना है। ग्रन्थ मे प्रकाशित किये जाने वाले विद्वतापूर्ण निबन्धों और लेखो के लिए उचित पारितोषिक और पारिश्रमिक देने का भी निश्चय किया गया है। जो विद्वान इस कार्य मे सहयोग दे सके वे कृपया श्री दत्तात्रय आर्य निदेशक दयानन्द शोधपीठ दयानन्द कालेज अजमेर से सम्पर्क करने का कष्ट करें।

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 देश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार-मूल्य रु 1 00
3 आचार संहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आर्यसमाज हिन्दू विदाउट हिन्दुइज्म (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आर्यसमाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही मूल्य—50 रु
1 आर्य समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20 00 रु अजिल्द 16 00
ले लाला लाजपतराय
2 धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य रु 32 00
3 दयानन्द कथा संग्रह मूल्य रु 3 00
4 परिचय निदर्शिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण संस्थाओ का परिचय)—मूल्य रु 12 00

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला 15 भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ट्रैक्ट)

1 ईश्वर एक नाम अनेक	9-स्वर्ग और नरक कहा है ?
2 आदर्श माता-पिता	10-चौके चूल्हे मे धर्म नही है
3-शिक्षा और चरित्र निर्माण	11-हिन्दू धर्म की निर्बलता
4-गृहस्थाश्रम का महत्व	12-बौद्ध और जैनमत
5 सन्यासी कौन और कैसा हो ?	13 वेद और ईसाई मत
6 राज्य व्यवस्था	14-इस्लाम और वैदिक धर्म
7-ईश्वर और वेद	15-सत्य का ग्रहण तथा प्रकाश
8-जगत की उत्पत्ति	

विशेष सभी ट्रैक्ट आर्य जगत के चोटी के विद्वानो के द्वारा लिखित है एव ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान प्रो दत्तात्रेयजी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के सैट का मूल्य 8/ रुपये है।

[illegible]

(शेष पृष्ठ [illegible] का)

कि अन्तरजातीय विवाह को अभी तक हमारे समाज में मान्यता नहीं मिल सकी है। आर्य समाज जैसे प्रगतिशील संगठन के लोग भी अन्तरजातीय विवाह से दूर भागते हैं। मेरे परिचित एक सम्पन्न आर्य सज्जन की 35 वर्षीय लड़की, जो राजकीय सेवा मे कार्यरत है, की शादी इसलिए नहीं हो पा रही कि योग्य सजातीय लड़के भारी दहेज की इच्छा रखते हैं और विजातीय लड़के से ये महाशय तैयार नही हैं। फलस्वरूप लड़की जवानी से प्रौढावस्था की ओर बढ़ रही है। यदि ऐसे मे लड़की के कदम बहकते भी हैं तो अभिभावको के अतिरिक्त और कौन इसका दोषी होगा ।

अन्तरजातीय विवाहो के सबध मे एक कटु अनुभव अभी पिछले दिनो ही हुआ। एक तथाकथित आर्य-समाजी नेता (श्रीमान सार्वदेशिक के सभासद् रह चुके है) मुझसे मिलते ही इस बात पर लाल पीले हो उठे कि आप अपने लेखों में अन्तरजातीय विवाह की वकालत करते हो। मैंने इन सज्जन को काफी समझाने की कोशिश की लेकिन आखिर में वे अपने इस तर्क पर कायम रहे कि विभिन्न जातियों का खान पान एक दूसरे से नही मिलता है इसीलिए अन्तरजातीय विवाह की असफलता निश्चित है। मैंने उनके इस कुतर्क के जवाब में कहा कि आजकल तो सभी का खान-पान समान हो गया है, फिर भी वे इसे मानने के लिए तैयार नहीं हुए और हमें धर्महीन, नास्तिक आदि की उपाधियों से विभूषित कर चलते बने। ऐसे में दहेज की समस्या का अंत कैसे हो सकेगा ।

पत्र और विचार

राजस्थान सभा का समारोह

महोदय,

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान का शताब्दी समारोह [illegible] सार्वदेशिक आर्य सम्मेलन [illegible] मे क्यो ?

अगस्त 1988 के [illegible] मार्तण्ड मे सूचना प्रकाशित [illegible] कि सभा का शताब्दी समारोह [illegible] सार्वदेशिक आर्य सम्मेलन अलवर मे आयोजित किया जा रहा है। जबकि इसके लिए उपयुक्त स्थान अजमेर है। यह ऋषि की निर्वाण-स्थली है। अलवर मे यह समारोह करने का केवल मात्र यही औचित्य है कि सभा प्रधानश्री छोटू सिंह वहा विराजते हैं और वहा उनका एक विद्यालय है।

-[illegible]
पूर्व प्रधान आर्य समाज,
शाहपुरा, भीलवाड़ा

आर्य समाज शिक्षा सभा, अजमेर

आवश्यकता

(1) द्वितीय ग्रेड अंग्रेजी अध्यापक— न्यूनतम योग्यता-बी ए (अंग्रेजी विषय सहित) बी एड -वेतन शृंखला 1140-2250
(2) तृतीय ग्रेड अध्यापक— न्यूनतम योग्यता हायर सैकण्ड्री, एस टी सी , बी ए -बी एड , बी एस सी -बी.एड को वरीयता, वेतन शृंखला-880-1680
(3) स्टेनोग्राफर – हायर सैकण्ड्री-स्टेनोग्राफी मान्यता प्राप्त डिप्लोमाधारी।

आवेदन मन्त्री के नाम 10/- रु के निर्धारित प्रपत्र पर शीघ्र करें।

संगठन सचिव
आर्य समाज शिक्षा सभा
केन्द्रीय कार्यालय, अजमेर

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिये प्रकाशक एवं सम्पादक रोशनसिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स कानू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित ।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163
सृष्टि सम्वत 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र
आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है सत्य हमारा कर्म।

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
समस्त जगत को आर्य बनायें।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 बुधवार 30 नवम्बर 1988
अंक 2 पूर्णांक 4 33 /81

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

मार्गशीर्ष कृ 7 संवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

दयानन्द की कल्पना का स्वराज्य यह नहीं है

—आचार्य [illegible] तात्रेय आर्य—

[illegible] स्वराज्य [illegible] स्वप्रथम [illegible] कल्पना [illegible] पूर्ण [illegible] अमर [illegible] काई [illegible] श्रेष्ठ बताया

यह भी एक [illegible] है कि [illegible] स्थापना का उद्देश्य स्वराज्य नहीं था। [illegible] की [illegible] भारतीयों को अधिकार [illegible] उस समय [illegible] राज्य [illegible] था। यही नहीं प्रारम्भ [illegible] वर्षों तक कांग्रेस अधि[illegible] फहराया [illegible] ब्रिटिश राज्य के [illegible] होने [illegible]।

[illegible] प्रति [illegible] माग ही [illegible] को [illegible]

[illegible] सम[illegible] कांग्रेस की [illegible] न्यूजीलैण्ड जैसे उपनिवेशों के समान डोमिनियन स्टेटस प्राप्त करना था।

[illegible] और पूर्ण स्वराज्य की कल्पना तो सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने [illegible] थी। लेकिन प्रश्न [illegible] कि क्या हमारा वर्तमान [illegible] वही है जिसकी कल्पना उन्होंने की थी?

राज्य नहीं। हम मात्र भारतीय शासक [illegible] स्वभाषा, स्वसंस्कृति पर आधारित स्व[illegible]। सांस्कृतिक मूल्य [illegible] हमारा [illegible] दूसरे [illegible] भिन्नता सिद्ध होना था हम नहीं [illegible]।

ऋषि दयानन्द जानते थे कि मात्र राजनैतिक सत्ता की प्राप्ति ही पर्याप्त नहीं है। वे मानते थे कि राष्ट्रीयता का आधार सामाजिक एवं धार्मिक नवचेतना है। इसीलिये उन्होंने केवल मात्र राजनैतिक सत्ता की माग नहीं की अपितु सामाजिक एवं धार्मिक सुधार [illegible] दिया जिससे कि सांस्कृतिक मूल्यों [illegible] पुनर्स्थापना हो सके।

इस सत्य से भला कौन इंकार कर सकता है कि राष्ट्रीयता का [illegible] एक [illegible]। इसी [illegible] देश के नागरिक [illegible] यह [illegible] समस्या है। [illegible] महिमामण्डित [illegible] भावात्मक एकता का नहीं।

देश के [illegible] में जब तक धार्मिक अन्धविश्वास एवं सामाजिक [illegible] और [illegible] रहेगा तब तक सच्ची राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। गांधीजी ने भी इस सत्य को समझा था और इसीलिए धार्मिक एवं सामाजिक अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों के निराकरण को अपने राष्ट्रीय आंदोलन [illegible] था। [illegible] है कि स्वतन्त्रता

के पश्चात राजनीतिज्ञों ने सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध अभियान के स्थान में [illegible] पुनः प्रोत्साहित करना प्रारम्भ कर दिया।

स्वाधीन भारत के [illegible] देश की एक भाषा का होना व इन कुरीतियों के उन्मूलन का महत्त्व नहीं समझा। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें इस सत्य का तनिक भी आभास नहीं [illegible] एक भाषा के न होने और जनता में व्याप्त सामाजिक तथा धार्मिक कुरीतियों के उन्मूलन किए बिना राष्ट्रीय एकता उत्पन्न नहीं हो सकती और [illegible] के किसी भी राष्ट्र [illegible] दीर्घ [illegible] हो सकती।

हमारे देश के जनेताओं ने स्वाधीनता [illegible] सामाजिक एवं धार्मिक [illegible] को अपने [illegible]

[illegible] परिणाम [illegible] रहा है कि यह देश जो [illegible] बनने [illegible] में एकता [illegible] विखण्डन [illegible] पुनर्निर्माण [illegible] अनेक राज[illegible] सामाजिक एवं धार्मिक कुरीति [illegible] प्रचार प्रसार में सरकारी प्रचार माध्यम [illegible] सिन्डी वाले साईं बाबा जैसे फिल्म भारतीय दूरदर्शन द्वारा प्रसारित करके अन्धविश्वास को बढ़ावा दिया जा रहा है। सरकार द्वारा कट्टरपंथियों के [illegible] जा रहा है।

[illegible] की [illegible] स्थिति को देखो [illegible] प्रतीत होता है कि [illegible] प्राप्त [illegible] स्वराज्य [illegible]।

शेष पृष्ठ [illegible] पर

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता पर शोध [illegible] की योजना

दयानन्द [illegible] अजमेर [illegible] तथा [illegible] विद्वानों द्वारा [illegible] पाठ का आरम्भ एक [illegible] किया गया है जिसमें वैदिक [illegible] और [illegible] सके। इस [illegible] ऋषि दयानन्द [illegible] प्रतिपादित वैदिक धर्म और आर्य समाज के सिद्धान्तों [illegible] विचार और [illegible] किया जाएगा जो अन्य धर्मों के [illegible] द्वारा लिखे गए हैं [illegible] और मूर्तिपूजा विरुद्ध इस्लाम [illegible] तथा [illegible] और तेरापंथी जैन सम्प्रदाय की [illegible]। इसी प्रकार जात पात छुआछूत के विरुद्ध तथा [illegible] और [illegible] सम्बन्ध ने उपलब्ध तथा [illegible] है। [illegible] प्रकाशित किये जाने [illegible] निबन्धों और लेखों के लिए उचित पारितोषिक और पारिश्रमिक देने का भी निश्चय किया गया है। [illegible] कृपया [illegible] दयानन्द कालेज अजमेर से सम्पर्क [illegible]

निदेशक दत्त [illegible] आर्य   प्रधान सम्पादक रासासिंह   सम्पादक [illegible]   फोन [illegible] 21010

सम्प्रदाय और मानवीय मूल्य

सिख धर्म (जो कभी नानक के मानवीय और दार्शनिक विचारो का प्रतिरूप था) आज कहां है ? इस 'सिखइज्म' से 'मिलिटेन्सी' तक कैसे पहुच गए ? हमने कोई बीच का मार्ग तक तय नहीं किया।

सम्प्रदाय कभी भी मानवीय मूल्यों के लिए नहीं लडते, वे लडते है अपनी अलग सत्ता, अलग सूरत और लिबास से पूरी की -कौड़ी की धार्मिकता के लिए और जब इस काम से निपट बैठे है तो आपस में लड़ते है—उपासना ईश्वर के बटवारे को लेकर। अयोध्या के मस्जिद-मंदिर-विवाद के अंतर्गत कुछ पंडों ने देखा कि फैसला हिन्दुओं के हक में हो रहा है तो वे आपस में लड़ने लगे—चढ़ावे और ईश्वर पर अधिक से अधिक कब्जे के लिये। आश्चर्य है !

—[illegible]

सम्पादकीय

आतंकवाद का विस्तार

हरियाणा के कैथल मे आतकवादियो ने नानक जयती की पूर्व सध्या पर अधाधुध गोलिया बरसाकर निरीह-निहत्थे 22 लोगो की जानें ले ली और लगभग 35 लोगो को घायल कर दिया। शायद इन तथाकथित नानकभक्तो ने गुरु जयन्ती पर जनता को यही नायाब भेट देनी उपयुक्त समझी हो।

भरे बाजार मे दिन-दहाडे हत्याए कर हत्यारो का सुरक्षित बच निकल जाना बताता है कि अब हरियाणा भी आतकवादी गतिविधियो के लिये निरापद नही रह गया है। भले ही राज्य के मुख्यमत्री देवीलाल केन्द्र सरकार पर आतकवादियो सम्बन्धी सूचनाओ के आदान-प्रदान मे ढिलाई का आरोप लगाकर राज्य सरकार की अकमण्यता को छिपाना चाहे, लेकिन वास्तविकता यह है कि कि हिंसाग्रस्त पडोसी राज्य पजाब से उन्होने कोई सबक नही सीखा है और यही कारण है कि अभी तक हरियाणा मे भी लगभग 100 लोग आतकवादियो द्वारा मौत के घाट उतारे जा चुके हैं। देवीलाल को अपने प्रशासन को दुरुस्त करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

जो लोग पजाब के सिख आतकवाद से लिए केन्द्र सरकार व पजाब के राज्यपाल शासन को कोसते हैं, वे गलती पर हैं। वे लोग आतकवाद की आत्मा को समझने मे भूल कर रहे हैं।

भारतवर्ष में धर्म के नाम पर सब कुछ किया जा सकता है—काफिरों को मौत के घाट उतारा जा सकता है, तथाकथित विधर्मियो को मौत की नींद सुलाया जा सकता है और इसके लिए आदम सेना और सशस्त्र सेना का गठन भी किया जा सकता है। जहा धर्म के नाम पर निरीह-निहत्थे लोगों की हत्याए करने वालो को धर्मरक्षक व इस मानवताद्रोही कार्य मे जान देने पर शहीद की उपाधि से भी विभूषित किया जाता हो, वहा कोई सरकार आखिर आतकवाद पर काबू पा भी कैसे सकती है।

जो धर के लोगो को लूटना, स्त्रियो से बलात्कार करना और लोगों की हत्याए कर मनोरंजन करने की सुविधा, आवश्यकता पडने पर गुरुद्वारो व आम धर्मान्ध लोगों द्वारा सरक्षण और मरने पर सम्मान जो धर्म उपलब्ध कराता हो, ऐसे धार्मिक राज्य (?) से कोई सरकार आतकवाद को समाप्त नही कर सकती।

जब तक मानवता के पुजारी गुरु नानक के नादान भक्त, क्रूर हत्यारों को धार्मिक प्रश्रय देते रहेगे तब तक आतकवाद का दानव यों ही लपलपाता रहेगा।

समाचार पत्र पंजीयन कानून

केन्द्र सरकार समाचार पत्र पजीयन कानून मे सशोधन करने जा रही है। सशोधन का कारण सरकार द्वारा यह बताया जा रहा है कि लगभग डेढ लाख ऐसे पत्रो के नामों का पजीयन है जो कि कभी के बन्द हो चुके हैं। ऐसे पत्रो के कारण नये समाचार पत्रो के पजीयन मे नामो के अभाव के कारण समस्या उत्पन्न हो गई है।

वस्तुत नामो का अभाव एक समस्या है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी कई ऐसी गम्भीर समस्याए हैं जिनके सम्बन्ध में भी पजीयन कानून मे सशोधन करते समय विचार किया जाना चाहिए।

आज अखबार निकालना भी एक व्यवसाय हो गया है। बडे-बडे धनपतियो ने अखबारो के प्रकाशन से जुडकर अपने व्यापारिक हितो को सुरक्षित कर लिया है। यही नही छोटे-मोटे व्यवसायी भी समाचार पत्र पजीयन कानून एव पत्रकार मान्यता सम्बन्धी कानून की खामियो को अपने पक्ष मे बखूबी भुना रहे हैं।

ऐसे अनेक लोग हैं जो पाक्षिक या साप्ताहिक समाचार पत्र के स्वय मालिक, प्रकाशक, सम्पादक के रूप मे अधिस्वीकृत पत्रकार बनकर विशेष सुविधाओ का उपभोग कर रहे हैं। ऐसे लोगों को पत्रकारिता का क ख ग भी नहीं आता। ये लोग चार पृष्ठों मे दैनिक पत्रो की कतरनें व सरकारी प्रेस नोटस् प्रकाशित करते हैं। प्रूफ पढने का न तो इनके पास अवकाश है और न ही इन्हें प्रूफ पढना आता है।

सरकार को चाहिए कि ऐसे तथाकथित पत्रकारों की पुन पजीयन ले और पुन. इनका अधिस्वीकरण करने से पूर्व परीक्षा लेना आरम्भ करे। अन्यथा सही हकदार के स्थान पर गलत व्यक्ति लाभ उठाते रहेंगे।

—वीरेन्द्र शर्मा

संदर्भ 17 नवम्बर-बलिदान दिवस

लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय एक ही समय में सब कुछ थे—शिक्षा-शास्त्री भी, राजनीतिज्ञ भी, नेता भी, नागरिक भी विचारक भी और प्रचारक भी। उनके विचार से एक अच्छा नेता वही है जो अपने से जनता को सन्तुष्ट कर सकता है और प्रभावशाली है। जो निर्भीक और साहसी है जिसको जनता हर समय अपने साथ देखती है और सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका हर काय सन्देह से ऊचा हो। लालाजी कहते थे कि एक बार नेता बन जाने वाला हमेशा नेता नहीं रहता। जब तक उसमे नेतागिरी के गुण मौजूद है तभी तक वह नेता है। वह उन्नतिशील हो और जातियो का नेतृत्व समय-समय पर बदलता रहता है। नेताओ का तप त्याग और बलिदान ही किसी देश के भाग्य के निर्माता है।

लालाजी सदा सहयोगात्मक नीति से काम लेते थे। वे दूसरो से सहारा कम लेते थे जबकि इस विषय मे देने का पलड़ा ही भारी रखता था। उनका दावा था कि आज की दुनिया मे कोई भी राष्ट्र स्वतन्त्र रूप से अकेला रहकर जीवित नहीं रह सकता। क्योंकि भिन्न-भिन्न राष्ट्रो के कार्यों का दूसरे राष्ट्रो पर प्रभाव पड़ता है, वे एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। सहअस्तित्व की नीति के वे समर्थक थे।

लाला लाजपतराय सदैव त्याग और बलिदान मे विश्वास रखते थे। उनका प्रत्येक क्षण इसी कार्य मे बीतता था। वे हर समय अपने समक्ष मानवता का लक्ष्य रखते थे। किसी भी अवस्था मे मानवता से

लिए मानवता के सिद्धात का हनन नहीं कर सकता। यदि देश के एक प्रदेश मे अकाल है तो दूसरे प्रदेश भी खपत कम करके भी अकाल पीड़ित प्रदेश मे भोजन की व्यवस्था करना देश की खाद्य नीति का द्योतक है।

लालाजी इतने व्यस्त रहने पर भी नैतिकता को नहीं छोडते थे। आस्तिक होने के साथ-साथ वे

घिर जाना उन्हें सहन नहीं था। वे सुख-दुःख को बराबर बांटने मे विश्वास रखते थे। उनकी मान्यता थी कि यदि एक राष्ट्र सबसे अधिक अन्न उत्पन्न करने पर भी यदि अपने देश के भागो में समान वितरण नहीं कर पाता तो यह मानवता की क्षति है। कोई भी राष्ट्र अपनी उपज को नियमित करने के

हमेशा दूसरो से भी कहा करते थे कि कभी भी अपने को अधिक बड़ा मत समझो। अपनी शक्तियो का अति मूल्यांकन न करो, अपनी कठिनाइयो को कम मत समझो। अपनी शक्ति और पथ की रुकावटो का ठीक-ठीक अनुमान करके अपने लक्ष्य की ओर प्रस्थान करो।

सहिष्णुता को लालाजी अच्छे



स्वाधीनता के पुरोधा लाला लाजपतराय

सम्बन्धों के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते थे, क्योंकि एक-दूसरे को भली-भांति समझने से बढ़कर दूसरी वस्तु कोई नहीं है। दूसरो के प्रति दयालु और क्षमतावान होना ही सरल और उत्तम जीवन का साधन है।

निःस्वार्थ भाव से ही हम किसी काम को अधिक शीघ्र एव प्रभावशाली ढग से समाप्त कर सकते हैं। अपने पुनीत उद्देश्यो की पूर्ति के लिये आत्म-विस्मृत होकर अपने स्वार्थों को तिलाजलि देकर आगे बढ़ना होगा। जबकि किसी देश के नागरिको में यह भाव जागृत नहीं होते, तब तक उस देश की उन्नति सम्भव नहीं।

माण्डले जेल मे रहने के समय वे केवल एक ही बात का ध्यान रखते थे कि परमात्मा ने जन्म देकर हमे इस बात का अवसर प्रदान किया है कि हम अपने आपको सुधारे और सदचरित्र बनाये। जेल आवास के समय वे प्रसिद्ध विचारको और सन्तो की पुस्तको का अध्ययन करते थे।

लाला लाजपतराय जब तक जिये राष्ट्र के लिये अपने सदप्रयासो मे कमी न आने दी। राष्ट्र के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने के अतिरिक्त वे स्वय और कुछ नहीं चाहते थे। देश के लिए मर जाना ही उनके जीवन का लक्ष्य था जो उन्होने प्राप्त किया। मृत्यु के विषय मे बहुत कम सोचते थे वे सम्मान से जीना चाहते थे और सम्मान से मरना। वे कहते थे -

'सम्मानपूर्वक मरने के लिये पहले हमे सम्मानपूर्वक जीना सीखना चाहिये। मातृभूमि और मानवता के सिद्धान्तो की रक्षा करते हुए जो जीवन-मृत्यु का आलिंगन करे वही जीवन और मृत्यु सर्वश्रेष्ठ है।

और इसमे कोई सन्देह नहीं है कि जनता के लिए अपना समग्र जीवन व्यतीत करने वाले सर्वश्रेष्ठ नेता लाला लाजपतराय को वही सर्वश्रेष्ठ मृत्यु प्राप्त हुई।

-वरिष्ठ पत्रकार स्व फतेहचन्द्र शर्मा द्वारा दी गई श्रद्धांजली

अग्निवेश किस ओर?

6 नवम्बर, 1988 के अंग्रेजी ट्रिब्यून मे समाचार छपा था कि चार नवम्बर 1988 के दिन दिल्ली मे नवम्बर 1984 के दगा पीड़ितो को न्याय दिलाने के लिए किए गए मार्च मे स्वामी अग्निवेश जी ने भी भाग लिया। यह मार्च आल इंडिया सिख कान्फ्रेंस द्वारा आयोजित किया गया था। समाचार में यह भी लिखा था कि स्वामी अग्निवेश जी ने भारत सरकार को चेतावनी दी है कि यदि तीन मास के अन्दर अपराधियों को दण्ड न दिया गया तो

से (स्वामी अग्निवेश) इस विषय पर जागृति पैदा करने के लिए स्वर्ण मन्दिर से आरम्भ करके सारे देश का भ्रमण करेंगे।

नवम्बर 1984 मे दिल्ली मे जो दगे हुए निस्सन्देह वह एक दुखद दुर्घटना थी जो राष्ट्र के प्रति अपराध तथा द्रोह को रोक पाने मे सरकार की असफलता, अयोग्यता और निकम्मेपन के कारण उस अपराध तथा द्रोह के प्रति आक्रोश था। परन्तु पिछले

सात वर्षो से लगातार पंजाब मे विशेषकर तथा हरियाणा हिमाचल, चण्डीगढ, दिल्ली आदि स्थानो पर सिख उग्रवादियो द्वारा जो नरसहार तथा लूटपाट की जा रही है उसके विरोध मे और उसके अपराधियों को दण्ड दिलाने के लिए तो स्वामी अग्निवेश जी ने कोई आन्दोलन अथवा जन जागृति का काम नहीं किया। सिख उग्रवादी हर रोज कितने ही परिवारों को उजाड रहे हैं, औरतों को विधवा तथा बच्चो को

अनाथ बना रहे है, देश की अथाह सम्पत्ति नष्ट कर रहे है तथा देश मे विघटन और समाज मे विद्वेष पैदा कर रहे हैं। इतनी अपार हानि के खिलाफ तो स्वामी जी की आवाज नहीं उठ रही।

पिछले दिनो स्वामी अग्निवेश जी चण्डीगढ़ आये थे। अगले दिन अखबारो मे छपा था कि स्वामी जी मानते हैं कि पंजाब मे नरसहार तथा लूटपाट का कारण बेरोजगारी है (आर्थिक है) जबकि सच्चाई यह है कि आर्थिक

(शेष पृष्ठ 4 पर)

अग्निवेश किस...

(शेष पृष्ठ 3 का)

दृष्टि से पजाब देश मे सबसे अधिक सम्पन्न है तथा नरसहार व लूटपाट करने वाले स्वय कहते है कि उनकी लडाई सम्प्रदाय के आधार पर एक अलग राष्ट्र (सिखस्तान) स्थापित करने के लिए है। अगर बेरोजगारी के कारण नरसहार व लूटपाट होती तो वह पजाब मे नही अपितु पजाब से बाहर होती जहा बहुत अधिक गरीबी बेरोजगारी तथा भूख भरी है।

1981 र ब्लू स्टार आपरेशन स पहले जनता पार्टी के कुछ नेताओ ने अकालियो के साथ मिलकर स्वर्ण मन्दिर अमृतसर का दौरा किया था। बाद मे इन नेताओ ने बयान दिया था कि स्वर्ण मन्दिर मे न कोई उग्रवादी है और न ही कोई अवैध हथियार। स्वर्ण मन्दिर म जाने वाले उस शिष्टमण्डल के एक सदस्य स्वामी अग्निवेश जी भी थ। स्वर्ण मन्दिर म क्या था यह तो ब्लू स्टार आपरेशन से सारे ससार को विदित हो ही गया था।

1983 म जब अकाली आन्दोलन चल रहा था, स्वामी अग्निवेश जी ने एक वार्ता म जिसमे इन पक्तियो का लेखक भी उपस्थित था अकाली मागो का समर्थन किया था।

इन परिस्थितियो को देखते हुए लगता है कि इस विषय पर स्वामी अग्निवेश जी का चिन्तन और पक्ष वही है जो अकालियों का है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आर्य समाज का चिंतन और पक्ष इसके बिल्कुल विपरीत है। स्वामी जी सात-आठ वर्ष तक जनता पार्टी मे रहने के बाद उससे अलग हो गए हैं। अलग होने के बाद उन्होने कहा कि जनता पार्टी म जाना उनकी सबसे बडी भूल थी। कुछ लोगो का कहना है कि जनता पार्टी मे होने के कारण स्वामी जी अकालियो का पक्ष लेते थ। मगर समझा तो ऐसा जाता है कि आर्य सत्य का पक्ष लेने वाला होता है न कि किसी वर्ग विशेष स जुडकर झूठ का।

—कृष्ण चन्द्र गर्ग
पचकूला (हरियाणा)

डा. भारतीय सम्मानित

आर्य जगत के ख्याति प्राप्त विद्वान डा भवानीलाल भारतीय का उनकी विशिष्ट सेवाओ के लिए परोपकारिणी सभा, अजमेर द्वारा ऋषि मेले के अवसर 13 नवम्बर 1988 का अभिनन्दन किया गया। इसी अवसर पर उन्हे आर्य समाज फुलेरा द्वारा दयानन्द पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

—सयोजक

-आर्यसमाज कावाखेडा के तत्वावधान मे जिलाधीश भीलवाडा के सयोजकत्व मे हरिजन बस्ती भीलवाडा मे ऋषि निर्वाण दिवस क अवसर पर शांति यज्ञ का आयोजन किया गया।

—मत्री

आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार १९८९

सघड विद्या ट्रस्ट जयपुर द्वारा निर्धारित आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार प्रतिवर्ष गुरुकुल कागडी द्वारा दिया जाता है। यदि आपकी दृष्टि म कोई महानुभाव पुरस्कार के योग्य हो तो उसका नाम 31 दिसम्बर, 88 तक भेजने की कृपा करें।

—कुलसचिव
गुरुकुल कांगडी
विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उ प्र)

सत्यकेतु विद्यालंकार सम्मानित

हिण्डौन के प्रहलाद कुमार आर्य द्वारा अपने पिताजी की स्मृति मे स्थापित इस वर्ष का प्रथम पुरस्कार आर्य जगत के मूर्धन्य विद्वान डा सत्यकेतु विद्यालंकार को उन द्वारा लिखित, सम्पादित व प्रकाशित आर्यसमाज के इतिहास पर दिया गया है। एक समारोह मे उन्हे अभिनन्दन पत्र, एक शाल एवम् 1501/- रु. को राशि समर्पित की गई।

—सचिव

आर्यो ! याद करो गौरवपूर्ण अतीत को

स्वराज्य, स्वधर्म, स्वदेश के पुरोधा एव महान समाज सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 7 अप्रेल 1875 ई को बम्बई नगरी मे अपने बाद भी अपने मिशन का निरन्तर कार्य करते रहने, वेदो का प्रचार प्रसार करने, अन्धविश्वासो तथा रूढियो का मूलोच्छेदन करने सत्य का पुरजोर प्रबल प्रचार करने, विद्या की वृद्धि तथा अविद्या का नाश करने एव ससार का उपकार करने हेतु सबका शारीरिक आत्मिक एव सामाजिक विकास करने हेतु 'आर्य समाज' नामक सगठन की स्थापना की थी। आर्य समाज एक प्रजातांत्रिक प्रणाली पर आधारित निर्वाचन का सम्बल लिए हुए क्रांतिकारी विचारो से अनुप्राणित, ओजस्वी एव तेजस्वी सगठन रहा है जिसने स्वामी श्रद्धानन्द, प लेखराम, लाला लाजपतराय, महात्मा हसराज गुरुदत्त, स्वामी दर्शनानन्द जी स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाशय राजपाल जी रामप्रसाद बिस्मिल प्रभृति कई उज्जवल रत्न प्रदान किए जिन्होने देश समाज और धर्म की सेवा मे सर्वस्व अर्पित कर दिया था। स्थापना के एक सौ तेरह वर्षों मे वैदिक धर्म का प्रचार प्रसार करने, अराष्ट्रीय तत्वो का विरोध करने, विधर्मियो के सुनियोजित आक्रमण का मुहतोड जवाब देने, राष्ट्रीयता की भावना का प्रचार प्रसार करने, आजादी की लडाई मे बढ चढ कर भाग लेने, ऋषि दयानद के मतव्यो का देश और विश्व के कोने-कोने मे सदेश फैलाने, गुरुकुल, डी ए वी स्कूल तथा पाठशालाओ का जाल बिछाने, निजाम हैदराबाद के घुटने टिकवाने, हिंदी रक्षा आंदोलन चलाने, गौरक्षा, सस्कृत रक्षा आदि प्रत्येक अच्छे काम में आर्य समाज ने स्तुत्य, श्लाघनीय एव इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य महान काम किये हैं। गौरवपूर्ण इतिहास का निर्माण किया है।

परन्तु गत कुछ वर्षों से आर्य समाज के विशाल सगठन पर दृष्टि डाल तो घोर निराशा होती है। समाजो मे निष्ठाहीन, ऋषि मतव्यो के विपरीत आचरण करने वाले, सामाजिक रूढियों एव अधविश्वासो तथा जाति एव सम्प्रदाय के बधनों मे आकण्ठ निमग्न लोगो का बोलबाला हो गया है। सर्व धर्म समन्वय की विचारधारा आर्यसमाज मे चल पडी है। शास्त्रार्थ को भुला दिया है।

विश्व आर्य महासम्मेलन

महर्षि दयानन्द योगाश्रम सोसायटी (पजीकृत) के तत्वावधान मे निकट भविष्य मे ही दिल्ली मे विश्व आर्य महासम्मेलन का आयोजन किया जा रहा है। सयोजक श्री भगवानदेव के अनुसार इसमें विदेशो से भी काफी सख्या मे आर्य विद्वान भाग लेंगे। विस्तृत जानकारी के लिए—2, पार्क एवेन्यू, महारानी बाग नई-दिल्ली-65 के पते पर लिखे।

—सयोजक

—दयानन्द बाल सदन अजमेर में 'अमर कुलपुरुष' हिन्दी पद्य के तत्वावधान में आर्य कुमार सभा द्वारा महर्षि दयानन्द पर निबन्ध प्रतियोगिता आयोजित की गई।

—वीरमसिंह (मत्री)

—आर्य समाज पुलबगश नई दिल्ली का 27वां वार्षिकोत्सव दि. 26 दिसम्बर 88 से 1 जनवरी 1989 तक मनाया जा रहा है।

—सयोजक

प्रतिक्रिया

भाई श्री वीरेन्द्र कुमार जी आर्य,

महर्षि दयानन्द पर फिल्म बनाने के आप पक्ष मे हैं यह जानकर प्रसन्नता हुई।

सार्वदेशिक सभा ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास करके कोर्ट मे एक गैर आर्यसमाजी को तीस हजार रुपये दिए थे। उस फिल्म और रुपयो का क्या हुआ? यह सार्वदेशिक सभा ही बता सकती है।

फिल्म के प्रचार की दृष्टि से यह लिखा गया है। मेरे जैसे व्यक्ति से आप ऐसी आशा न रखें। वैदिक विचारों को प्रोत्साहन मेरे माध्यम से नहीं मिलेगा। "महर्षि दयानन्द" और "सत्यार्थप्रकाश" अपने आप में ही अजय हैं। फिर भी आपके ध्यान रखूंगा।

भवदीय
सत्यप्रकाश (पूर्व सांसद)

स्वत्वाधिकारी आर्य समाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु पारसमल शर्मा द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सवदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163
सृष्टि सम्वत 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र
आर्य हमारा नाम है वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है सत्य हमारा कर्म।

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाय।

हमारा उद्देश्य ·
समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 4 गुरुवार 15 दिसम्बर 1988
अंक 23 पंजी 43383/84

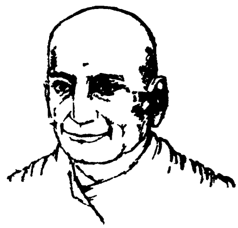
अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभयं नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

मार्गशीर्ष शु 7 सवत 2045
वार्षिक मू 15/ एक प्रति 60 पैसे

मैं उस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हूँ!

—प जवाहरलाल नेहरू—

1926 के आखिर मे हिंदुस्तान मे एक भारी दुखद घटना से अंधेरा सा छा गया। इस घटना से सारा हिंदुस्तान घृणा व रोष से काप उठा। उससे पता चलता था कि जातीय वैमनस्य हमारे लोगो को कितना नीचे गिरा सकता था। स्वामी श्रद्धानन्द को जबकि वह बीमारी मे चारपाई पर पडे हुए थे एक धर्मान्ध मुसलमान ने कत्ल कर दिया। जिस पुरुष ने गोरखो की संगीनो के सामने अपनी छाती खोल दी थी और उनकी संगीनो का सामना किया था उसकी ऐसी मौत करीब करीब आठ बरस पहले इसी आर्य समाजी नेता ने दिल्ली की विशाल जामा मसजिद की वेदी पर खडे होकर हिन्दुओ और मुसलमानो की एक बहुत बडी सभा को एकता और हिंदुस्तान की आजादी का उपदेश दिया था। उस विशाल भीड ने हिन्दू मुसलमानो की जय



अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द
23 दिसम्बर जिनका बलिदान दिवस है

के शोर से उनका स्वागत किया था और मसजिद से बाहर गलियो में उन्होने उस ध्वनि पर अपने खून की एक संयुक्त मुहर लगा दी थी। और अब अपने ही देश भाई द्वारा मारे जाकर उनके प्राण पखेरू उड गये हत्यारा यह समझता था कि वह एक ऐसा अच्छा काम कर रहा है जो उसे बहिश्त को ले जायगा।

विशुद्ध शारीरिक साहस का किसी भी अच्छे काम मे शारीरिक तकलीफ सहने और मौत की परवा न करनेवाली हिम्मत का मैं हमेशा से प्रशसक रहा हू। मेरा खयाल है कि हममे से ज्यादातर लोग उस तरह की हिम्मत की तारीफ करते हैं। स्वामी श्रद्धानन्द मे इस निडरता की मात्रा आश्चर्यजनक थी। लम्बा कद भव्य मूर्ति सन्यासी के वेश मे बहुत उमर हो जाने पर भी बिल्कुल सीधी चमकती हुई आँख और चेहरे पर कभी कभी दूसरो की कमजोरियो पर आने वाली चिडचिडाहट या गुस्से की छाया का गुजरना मैं इस सजीव तस्वीर को कैसे भूल सकता हू! अक्सर वह मेरी आखो के सामने आ जाती है।

(आत्मकथा से)

संरक्षण के बहाने यौन शोषण

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

अजमेर मे समाज कल्याण विभाग का एक अधिकारी अजमेर की नारी शाला मे रह रहा आवासनियो से वर्षों अपनी काम पिपासा शात करता रहा। इस सम्बन्ध मे एक राष्ट्रीय दैनिक ने एक विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की है।

नारी शालाओ नारी निकेतनों व नारी अनाथालयो मे होने वाले यौन शोषण की यह पहली घटना नहीं है। इससे पूर्व भी समय समय पर ऐसी घटनाए प्रकाश मे आती रही हैं। समाचारो की सुर्खिया बनती रही हैं। ये दूसरी बात है कि समाज अपनी सवेदनशीलता खो चुका है कि उस पर ऐसे समाचारो का कोई प्रभाव नही होता।

नारीशाला हो या महिला निकेतन हो इन सबमे निराश्रित समाज से बहिष्कृत स्त्रियो को आश्रय मिलता है। एक तरह से इन सब स्त्रियो की हालत परकटे पक्षी की तरह होती है। ऐसे मे प्रभारी वर्ग के सभी अत्याचारो को चुपचाप सहन करने के अतिरिक्त उनके पास दूसरा कोई चारा नहीं होता। कुछ माह पूर्व जयपुर के महिला निकेतन की आवासनियो का विवाह अनपढ अधेड विधुरो के साथ कर दिया गया। (बहुत खूब! इसी तरह करती है सरकार—समाज का कल्याण!)

नारीशालाओं व निकेतनो में ऐसे यौन शोषण के समाचारो के कारण सरकार से स्त्रियो को ऐसे केन्द्रो की प्रभारी बनाने को कहा जाता है। लेकिन इससे यौन शोषण का यह सिलसिला रुकने वाला नही है जो स्त्री सास के रूप मे दूसरी स्त्री को कम दहेज लाने के कारण जीवित जला कर मार सकती है वह स्त्री क्या अपनी पदोन्नति आर्थिक लाभ आदि के लिये अपने सरक्षण मे रहने वाली आवासनियो से पुरुषो को अपनी काम पिपासा शात करने की इजाजत नही दे सकती।

महिला प्रभारी हो या पुरुष प्रभारी इस बात से कोई अतर नही पडता। जब तक सबधित व्यक्ति की स्वस्थ मानसिकता नही होगी तब तक नारीशालाओ मे आवासनियो का यौन शोषण होता रहेगा।

निदेशक दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक रासासिंह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य कार्या 21010

पाकिस्तान से मुहब्बतनामा

पाकिस्तान के जनप्रिय कवि रईस अमरोवही वहा के सैनिक शासन के कटु आलोचक व विरोधी थे। सितम्बर मे कुछ उग्रवादियो ने उनकी हत्या कर दी यहाँ हम उनकी एक कविता की कुछ पंक्तियां उद्धृत कर रहे हैं। साम्प्रदायिकता और रूढिवाद के वर्तमान दौर मे मूलभूत मानवीय एकता की यह आवाज हमारे लिए भी मार्गदर्शक है।

ओ हिन्द जाने वाले मेरा सलाम
ले जा
ये हिंदियो से कहना ओ हिंद जाने
वाले
भूले से भी नही हम तुमको भुलाने
वाले
मुनकिर न हो सकेंगे हरगिज जमाने
वाले
हैं हिंदोपाक वाले सब एक घराने
वाले
रखो खवास से आ कौंके अवाम
ले जा।
ओ हिंद जाने वाले मेरा सलाम
ले जा
वो खाक जिसपे हमने बचपन के
दिन गुजारे
अब तक बसी हुई है अहसास मे
हमारे
क्यो कर न याद आए क्यो हो न
दिल को प्यारे
उस सरजमी के जर्रे उस आसमा
के तारे
पैगाम दोस्ती के भारत के नाम
ले जा
ओ हिंद जाने वाले मेरा सलाम
ले जा

सम्पादकीय

"सर जावे तो जावे, मेरा वैदिक धर्म नहीं जावे"

एक समय था जब इस गान का आर्य जनो मे धूम मची रहती थी। आर्य समाज मे महात्मा के गीत गाना गौरव समझा जाता था। धर्म रक्षा की खातिर अपने तन मन धन सर्वस्व न्यौछावर करने की तत्परता रहती थी। दयानन्द के मिशनरियो मे एक दीवानापन था। जोश का सागर हिलोर लेता था। जलूसो मे इस गाने को गाते हुए आर्यजन झूम 2 कर अपने अदम्य उत्साह एव वैदिक धर्म के प्रति अटूट निष्ठा का परिचय देते थे। इसके पीछे भावना यही रहती थी कि प्रत्येक वैदिक धर्मी अपने आर्य धर्म के प्रति दृढ एव अगाध आस्था रखे।

वैदिक धर्म की जिसे आज सत्य सनातन धर्म भी कहा जाता है की रक्षा के लिए कभी हकीकत को अपना सिर काट कर विधर्मियो की तृप्ति हेतु अर्पित करना पडा था कभी गुरु तेग बहादुर को चोटो की खूगा के प्रहार सहन करते-2 बलिदान देना पडा था कभी गुरु गोविन्दसिह के दो युवा पुत्रो फतहसिह और जोरावरसिह को जिन्दा दीवार मे चुनवाने के लिए प्रस्तुत होना पडा था। जिस वैदिक (हिन्दू) आर्य धर्म की रक्षा करने के लिए महाराणा प्रताप ने घास की सूखी रोटिया खाना पसन्द किया था जिस धर्म की रक्षा के लिये छत्रपति शिवाजी ने लोहे के चने चबाकर भी शत्रुओ के दान्त खट्टे करने का साहस दिखाया था जिस धर्म की रक्षा की खातिर आनन्दकन्द महर्षि दयानन्द ने भी 16 बार जीवन मे विषपान किया था जिस धर्म के खातिर स्वामी श्रद्धानन्द जी को पिस्तौल की गोलिया खाना पडी थी प. लेखराम को छुरे का वार सहन करना पडा था आज उसी वैदिक धर्म के अनुयायी अपने धर्म को उपेक्षा तिरस्कार और हीनता की दृष्टि से देख रहे हैं। अपने आपको अधिक प्रगतिशील धर्मनिरपेक्ष और समाजवाद का रहनुमा सिद्ध करने के लिये उन्हे वैदिकधर्मी आर्य या हिन्दू कहने मे भी शर्म महसूस होने लगी है। अंग्रेजियत का जामा पहन कर आधुनिकता का लबादा ओढ कर वह धर्म और ईश्वर से मुख मोडने लगा है।

हर मुसलमान के घर मे कुरान की प्रति मिल जायेगी हर ईसाई के घर मे बाइबिल की पुस्तक मिल जायेगी परन्तु आर्य धर्म के अनुयायियो के यहा कठिनता से ही मूल धर्म पुस्तक वेद मिलना तो दूभर रहा धर्म की सामान्य पुस्तक भी नही मिल पायेगी। मुसलमान अपने बच्चो को मस्जिद मे अवश्य भेजता है। जहा उसे धर्म की शिक्षा मिलती है ईसाई भी अपने घरो पर पादरी को आमन्त्रित कर अथवा चर्च मे धर्म की शिक्षा दिलवा देते है, परन्तु आज अभागे हिन्दू को धर्म का आर्य धर्म की शिक्षा घरो या मन्दिरो मे देने वाला कोई नही है। करोडो अनपढो को धर्म का अ ब स द ज्ञान भी नही है। यही कारण है कि छुआछूत और सामाजिक निरादर से पीडित होकर तथा पैट्रोडालर के बल पर हरिजनो एव पिछडे वर्गो का इस्लाम धर्म मे धर्मान्तरण हो रहा है तो करोडो रुपये विदेशो से भेजकर गिरिजनो और वनवासियो को धर्म से पतित करने के लिये सफेदपोश पादरियो द्वारा व्यय किया जा रहा है। इस्लाम और ईसाईयत की आंधी के रथ पर पढे-लिखे नौजवान धार्मिक संस्कारो से शून्य रहकर, फिर बेरोजगारी से पीडित होकर साम्यवाद के शिकंजे मे कसते जा रहे हैं।

आर्यसमाज जैसी वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करने वाली, वेदो के संदेश को घर घर पहुचानेवाली तथा मौलवियो और पादरियो का मुकाबला दृढता से करने वाली राष्ट्रवादी संस्थाए कुछ काम कर रही हैं परन्तु वह आटे मे नमक भी नही है। योग्य उपदेशको, भजनीको, सेवा भावना वाले वानप्रस्थियो विद्वान सन्यासियो, साधुओ तथा प्रकाण्ड पण्डितो की कमी अनुभव हो रहा है साधनो का अभाव है। अर्थप्रधान युग हो जाने के कारण हर आदमी पैसा कमाने वाले धन्धे की ओर अग्रसर होना चाहता है तो फिर विश्व के इस प्राचीनतम एव महानतम धर्म वैदिक (आर्य धर्म हिन्दू धर्म) की रक्षा कौन करेगा। इसे अन्धविश्वासो और बाह्याडम्बरो से कौन मुक्ति दिलवायेगा? कलियुगी अवतारो की बाढ को कौन रोकेगा?

प्राचीनकाल मे कुछ इसी प्रकार की विषम परिस्थितियाँ देखकर जब कुमारिल भट्ट ने यह सुना था — किं करोमि? क्व गच्छामि? को वेदान् उद्धरिष्यति? क्या करू? कहा जाऊ? कौन वेदो का उद्धार करेगा? तब आचार्य आद्यशंकराचार्य तथा स्वयं कुमारिलभट्ट ने इस चुनौती को स्वीकार किया था। उन्नीसवी सदी मे महर्षि दयानन्द ने जिस वैदिक धर्म का पुनरुद्धार किया था, आज ऋषि दयानन्द के अनुयायियो मे पुनः यह भावना भरनी चाहिये कि—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'

अर्थात अपने धर्म की रक्षा करते हुए मृत्यु को प्राप्त हो जाना श्रेयस्कर है।

धन देकर तन राखिये, तन दे राखिये लाज।
धन दे तन दे लाज दे, एक धर्म के काज।।

—रासासिह

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता पर शोध ग्रन्थ की योजना

दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर मे राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत दयानन्द शोध पीठ की ओर से एक ऐसे अभिकृत ग्रन्थ का प्रकाशन करने का निश्चय किया गया है जिसमे वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध की जा सके। इस दृष्टि से ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म और आर्य समाज के सिद्धांतो का समर्थन करने वाले उन सब उद्धरणो विचारो और मान्यताओ का समावेश किया जायेगा जो अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तको और उनके अनुयायी विद्वानो द्वारा लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए एकेश्वरवाद के समर्थन और मूर्ति पूजा के विरुद्ध इस्लाम, कबीर तथा नानक और तेरापंथी जैन सम्प्रदाय की मान्यताए। इसी प्रकार जात-पात छुआ छूत के विरुद्ध तथा सामाजिक एकता और सेवा के सम्बन्ध मे उपरोक्त तथा ईसाई धर्म के विचारो का समावेश करने की योजना है। ग्रन्थ मे प्रकाशित किये जाने वाले विद्वत्तापूर्ण निबंधो और लेखो के लिए उचित पारितोषिक और पारिश्रमिक देने का भी निश्चय किया गया है। जो विद्वान इस कार्य मे सहयोग दे सकें वे कृपया श्री दत्तात्रय आर्य निदेशक, दयानन्द शोधपीठ, दयानन्द कालेज, अजमेर से सम्पर्क करने का कष्ट करें।

नमस्कार क्यों नहीं?

—ब्रह्मचारा व्यास न दन शास्त्री—

नमस्ते शब्द बादक है। वदिक हाने के कारण यौगिक है। यौगिक कदापि रू‍ढ़ि अवक नहीं होना। अत इसके विभिन्न अथ विभिन्न परिस्थिति मे होन हैं इसके अथ मागरभिन और विशेष है।

नमस्ते शब्द दिन दूनी रात चौगनी प्रगति कर रहा है। एक समय था कि यह शब्द अभिवादन के रूप मे सब वगो और सब आयु के लोगो को प्रिय नही लगता था। पर महर्षि दयान द सरस्वती की महती कृपा है कि उनका प्रभ व सब चन ओर छा रहा है घर घर वेद ध्वनि और नमस्ते स अभिवादन चलने लगा है। फि मा दुनिया से लेकर ससद व र ष्ट्र पति भवन तक इसका सम्मान हो रहा है ग इनो प्रय मम त री मस्थ ना एवा म सो ज दि मे नमस्ते अभिवादन प्रचलित है मव स ठ र चक य नगरहार विद्यालय म भा नम त सा अभिवादन हा चल पडा है

नमस्ते शब्द म दो शब्द मेल हैं— नम और ते। आपके प्रति हम झुक है नमन करते है—ऐसा सु ष्ट अथ है इसका

वेद मे तो परमपिता परमात्मा को भी नमस्ते कहा गया है यथा — नमो ब्रह्मणे नमस्ते अय ... नमस्ते मत ने जगकारणाय दवी देवताओ को भी नमस्ते कह गया है। यथा— भगवनी भारती देवी नम वेदो ब्राह्मणो अ रण्यको उपनिषदो व स्मर्ति ग्र थो म यह नमस्ते बा म्बार आ ता है। इतना ह नही वद म नमस्ते सूक्त भा ह यह शब्द ल कि आष ग्र था के अल वा लाकिक ग्र था म यथा महाभारत गीता पुराण सस्कृत के अनेक का य व नाटको मे आया ह।

पडित अयोध्या प्रसाद जी ने निम्नरूपए नमस्ते की व्याख्या अग्र जी मे की है

With all powers of my heart and with all powers of my head I pay respect to you

नमस्ते अभिवादन आ बालवृद्ध सबके लिए प्रस्तुत ह। यदि कोई पुत्र अपने पिता को नमस्ते कहता ह तो पिता भी उसे नमस्ते कह कर आशीर्वाद देता ह। पुत्र ने तो सम्मान भाव से पिता को नमस्ते किया। इस पर पिता ने आशीर्वादात्मक नमस्ते किया।

ये दोनो भाव प्रयोजनवश नमस्ते पद मे ही अन्तर्निहित हैं। कोई समवयस्क व मित्र अपने मित्र को नमस्ते करता ह त यहा समान मक भाव ह। अत नमस्ते शब्द के तीन अ त प्रयोजन सम्मानात्मक समानात्मक और आशीर्वादात्मक ह।

नमस्ते की अनुशासनशीलता

आये दिन हम देखते हैं कि छात्र अपने शिक्षक को छात्र अपने स बडे का हाथ मे कोई वस्तु न रहने हुए भी अभिवादन करते हुए कभी हाथ उठा कर तो कभी चलते चलते केवल मुह से ही प्रणाम या नमस्ते शब्द कहकर या सिर हिलाकर अभिवादन कर लेते है। पर यह उचित नही होता। नमस्ते शब्द का अपना अनुशासन ह। उस अनुशासन का पालन किये बगैर नमस्ते करना नमस्ते शब्द की महत्ता पर बट्टा लगाना ह। नमस्ते अभिवादन करने क पहले हाथो को जोडकर उन्हे हृदय से सटाकर तब मस्तक को झुकाना चाहिये। इस प्रकार हाथ हृदय और मस्तक (Hand heart and head) तीनो से एक होकर श्रद्धापूवक नमस्ते करने का यथेष्ट लाभ प्राप्त हो सकेगा। प्रतिदिन वृद्ध विद्वजनो को नमस्ते अभिवादन करने से चार चीजो की वृद्धि स्वत होगी—आयु विद्या यश और बल। द्रष्टव्य ह—

> अभिवादनशीलस्य
> नि य वृद्धोपसेविन।
> च वारि तस्य वर्धन्ते
> आयुर्विद्या यशाबलम्।
>
> मनु अ० 2

आज के प्रयुक्त अभिवादन

सैकडो वर्षों की गुलामी के चलते हम अपनी वदिक सभ्यता की मर्यादा को भूलकर अनेक तरह के अभिवादन परस्पर करते हैं। यथा—प्रणाम नमस्कार जयगुरु वन्दना जय रामजी की गुड मोनिंग गुड इवनिंग गुड नाइट सलाम वालेकुम वा कुम सलाम सत म आदाब आदि। इनसे हमारी कमी हमारी एकता का कमी आपसी मनो‍ भ्रान्ति परिणाम स मन आते हैं हम क्या न पुन अपनी पुरातन वा क सस्कृति की शरण मे और एकमात्र वदिक अभिवादन नमस्ते का शरण पकडे

(मधुरलोक से साभार)

नमस्कार या नमस्ते

प्राचाय श्री दत्तात्रेय जी आय ने जो दशन देने की तथा जो गोस्वामी ल न के हिन्दी कार्यक्रमों मे नमस्कार के स्थान पर नमस्ते का प्रयोग करने के लिए पत्र लिखकर सुझाव दिया है उसके समथन मे उ होने जो तक दिया है उसका सक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

आ निक भारत के पुनर्निर्माण म ऋषि दयानन्द के अनेक योगदानो मे से नमस्ते भी एक है जो अब प्रेय सवसम्मत भारतीय सबोधन बन गया है जिसका विदेशी भी प्रयोग करते हैं।

सम पु राम राम सीता राम राधेश्याम जयमाता जय गोपाल सत श्रीकाल व हाफिज जैसे धार्मिक तथा सा प्र दायिक भिन्नता को प्रदर्शित करने वाले अथवा गुड मोर्निंग गुड नाइट और सलाम अलेकुम जैसे विदेशी मूल के ... का प्रयोग किया जाता है। इनमे अधिकाश या तो किसी अवतार देव देवता के अथवा अपने 2 पथ और सप्रदाय के द्योतक सूचक नाम मात्र हैं। पर स्पर भेट या पत्र व्यवहार के समय इमानिए इनकी न कोई प्रासगिकता है और न उपयोग। ऐसे अवसर पर इन साम्प्रदायिक शब्दो के स्थान पर किसी उपयुक्त सबोधन का ही उपयोग तकसगत है। इनके अति रिक्त उच्च शिक्षित और कुछ प्रबुद्ध वर्गो मे नमस्कार शब्द का भी सबोधन के रूप मे प्रयोग होता है किंतु ये शब्द सज्ञावाचक होने के कारण सबोधन के लिये अप्रामाणिक ही नही बल्कि उसके उपयोग की दृष्टि से अशुद्ध भी है। क्योकि किसी से भेट करते समय किसी महापुरुष देवी देवता या धर्म विशेष के समान नमस्कार का भी कोई साथक सबध नही है। स्पष्ट है कि ऐसे अवसर पर केवल नमस्ते जसा यौगिक सबोधन ही उपयुक्त हो सकता है जिसका अथ बडा के प्रति आदर और छोटो द्वारा उनके प्रति नमन के रूप मे किया जाता है।

नमस्ते की सार्थकता व उपयोगिता के अतिरिक्त उसका एक राष्ट्रीय महत्व भी है और वह यह कि हमारे देश की धार्मिक भाषायी प्रातीय और वेश भूषा और खान पान व रहन-सहन का वतमान और अनेक नवीन विभिन्नताओ मे कम से कम नमस्ते जसा एक स्वीकृत तथा समान सबोधन हमारी एकता का प्रतीक भी है।

आय समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहि य
प्रो दत्तात्रेय आय द्वारा लिखित पुस्तक

1 देश धम और हिन्दू समाज का आय समाज का देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता के आधार मूल्य रु 1 00
3 आचार सहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 ... आयसमाज हिन्द विश्व ... हिन्दु ... अग्रेज)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आर्यसमाज हिन्दू धम का सम्प्रदाय नहीं मूल्य—50 रु
1 आय समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20 00 रु अजिल्द 16 00 ... नराय
2 धम शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सेट का मूल्य रु 32 00
3 दयानन्द कथा सग्रह मूल्य रु 3 00
4 परिचय निदेशिका (समस्त देश विदेश की आय शिक्षण सस्थाओ का परिचय)—मूल्य रु 12 00

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला 15 भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतत्र ट्रैक्ट)

1 ईश्वर एक नाम अनेक	9 स्वर्ग और नरक कहा है?
2 आदश माता पिता	10 चौके चूल्हे म धम नहीं है
3 शिक्षा और चरित्र निर्माण	11 हिन्दू धम का निबलता
4-गृहस्थाश्रम का महत्व	12-बौद्ध और जनमत
5 स यासी कौन और कसा हो?	13 वेद और ईसाई मत
6 राज्य व्यवस्था	14 इस्लाम और वदिक धम
7 ईश्वर और वेद	15 सत्य का अथ तथा प्रकाश
8 जगत की उत्पत्ति	

विशेष—सभी ट्रैक्ट आय जगत के चोटी के विद्वानो के द्वारा लिखित है एव ग्रन्थमाला का सम्पादन आय समाज अजमेर के प्रधान प्रो दत्तात्रयजी आय ने किया है। ग्रन्थमाला के सैट का मूल्य 8/ रुपये है।

"दयानन्द उवाच"

प्रसन्नता की बात है कि 'दयानन्द वैदिक शोधपीठ' के निदेशक आचार्य दत्तात्रेय आर्य की प्रेरणा से दयानन्द वैदिक शोधपीठ के प्रोफेसर एवं कुलपति डॉ. बाबूराम शास्त्री, आचार्य, एम.ए., पीएच डी, डी लिट् ने महर्षि दयानन्द के धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों को जनता तक पहुंचाने के लिए 'दयानन्द उवाच' नाम से एक स्वतन्त्र स्तम्भ लिखना प्रारम्भ कर दिया है। यह स्तम्भ नियमित रूप से पाठकों की सेवा में प्रस्तुत होता रहेगा, ऐसी आशा है। – स

जिज्ञासु – परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम क्या है? इन्द्र, शिव, अग्नि, ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्र तो विभिन्न देवताओं और भौतिक शक्तियों और पदार्थों के नाम हैं, इन्हें ईश्वर का वाचक कब और कैसे समझा जाय?

दयानन्द – परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम ओ३म् है। इसके तीन अक्षर अ+उ+म् हैं। अकार विराट्, अग्नि और विश्वादि का, उकार हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि का तथा मकार ईश्वर, आदित्य तथा प्राज्ञादि का वाचक है। परमेश्वर सबका रक्षक है, अतः उसकी संज्ञा ओ३म् है (अवतीत्योम्)। देखो! छान्दोग्योपनिषद् में उसी अविनाशी, सर्वरक्षक की उपासना करने का उपदेश है: ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत॥

माण्डूक्य उपनिषद् में भी कहा गया है कि परमेश्वर का प्रधान और निज नाम "ओ३म्" है, अन्य नाम गौण हैं जो उसके गुणों की व्याख्या करते हैं

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्॥"

कठोपनिषद् का उद्घोष है कि सभी वेद जिस पद की महिमा गाते हैं, तपस्वी लोग जिसका वर्णन करते हैं और जिसको प्राप्त करने की इच्छा से साधकगण ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते हैं–उस पद का नाम 'ओ३म्' है। आकाश के समान व्यापक होने से इसे "खं" तथा सबसे बड़ा होने से ब्रह्म कहा गया है।

इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का ग्रहण, प्रकरण विशेष और गुणविशेष से होता है। जहां-जहां स्तुति, प्रार्थना, उपासना (आदि प्रकरण) और सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, [illegible] और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण लिखे हैं, वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है। किन्तु 'ओ३म्' तो केवल परमात्मा का ही नाम है। किसी भी स्थिति में इस पद से अन्य का बोध नहीं होता। इसीलिए यह परमात्मा का सर्वोत्तम नाम है।

—डा. बाबूराम शास्त्री

बिक्री नहीं, विषय-वस्तु को देखें

प्रिय भाई वीरेन्द्र जी,

पत्र पत्रिकाओं में जो विषय-वस्तु या सामग्री छापी जाती है उसका चयन समाज, राष्ट्र तथा मानव हित को ध्यान में रखते हुए किया जाए तो मैं समझता हूँ कि वह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। आप भी समाचार पत्रों की बिक्री की ओर अधिक ध्यान न देकर उसकी विषय वस्तु की ओर ध्यान दें तो वह सार्थक पत्र हो सकता है। आर्य पुनर्गठन परिवार को मेरी ओर से शुभकामनाएं।

—स्वामी अग्निवेश

अध्यक्ष, बंधुआ मुक्ति मोर्चा

नई दिल्ली-1

पत्र और विचार

'आर्य बाहर से आए'-यह कुप्रचार कब तक?

भारतीय दूरदर्शन पर कभी 'अमीर खुसरो' तो कभी 'भारत की खोज' धारावाहिकों में आर्य बाहर से आये यह कुप्रचार किया जाता है। विदेशियों के लिखे मिथ्या इतिहास के आधार पर यदि कभी पं. जवाहरलाल नेहरू ने ऐसा लिख दिया था, तो न्याय पूर्ण, समस्त खोजों के बाद जब यह सिद्ध किया जा चुका है कि आर्य ही भारत के मूल निवासी हैं–वे बाहर से नहीं आये हैं, फिर यह कुप्रचार क्यों किया जा रहा है। ऐसे अंशों को छोड़ कर और भी बहुत कुछ प्रसारण के लिये रह जाता है। विदेशी आक्रान्ताओं की क्रूर चाल थी कि उन्होंने यहां के मूल निवासियों को अपने ही समान बाहर से आया प्रचारित करके समान स्तर प्राप्त करने का प्रयास किया। अब हम उनकी इस चाल को जान गये हैं, तब तो हमें ऐसे दुष्प्रचार से बचना चाहिये। दूर-दर्शन से अपेक्षा है कि वह ऐसे आपत्ति पूर्ण अंशों का प्रसारण बन्द करे।

श्रीमती दमन देवी भारद्वाज आर्य समाज आजमगढ़

सच्चा शंखनाद

'आर्य पुनर्गठन' वर्तमान में ऋषिवर का सच्चा शंखनाद है, जो आर्यजगत् को निरन्तर आर्य पथ की ओर अग्रसर करता रहता है।

– देवनारायण भारद्वाज

नई बस्ती, आजमगढ़

आर्य जनता को सूचना

किसी भ्रामक मुजफ्फर-नगर के साम्प्रदायिक दंगों में मुझे शारीरिक व आर्थिक क्षति पहुंचाये जाने का समाचार आर्य जनों में प्रसारित हो गया है।

प्रभु कृपा से मुझे दंगों में किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंची है। मैं पूर्ववत् अपने प्रचार कार्य में रत हूँ।

कु. सत्यपाल आर्य प्रभाकर

भजनोपदेशक

2/24 केवलपुरी सरवट रोड,

मुजफ्फर नगर (उ.प्र.)

शोक व्यक्त

आर्य समाज अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य व मन्त्री श्री रासासिंह ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय हेग के पूर्व अध्यक्ष तथा विश्वविख्यात न्यायविद्, संविधान विशेषज्ञ एवं भारत सरकार से पद्म विभूषण से सम्मानित तथा आर्य समाज एवं डी ए. वी संस्थाओं के महान हितैषी डूंगरपुर महारावल लक्ष्मणसिंह के अनुज भ्राता डा. नगेन्द्रसिंह के निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त किया है। और कहा है कि डा. सिंह की राष्ट्र तथा विश्व के प्रति की गई सेवायें सदैव चिरस्मरणीय रहेगी।

—का. मंत्री

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एवं सम्पादक रासासिंह हेतु रतनलाल शर्मा द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है ।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सवर्दा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 163

सृष्टि सम्वत् 1972949088

ओ३म्

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥'

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाय ।

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होनेवाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है ।

वर्ष 4 शुक्रवार 30 दिसम्बर 1988
अ क 24 प स -43383/84

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभयं ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवा न: सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

पौष कृ 7 सवत 2045
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

आर्य समाज और हिन्दू यूनिटी फ्रन्ट

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

दिल्ली के एक दैनिक पत्र मे प्रकाशित खबर के अनुसार हिन्दू समाज के उत्थान के लिए विभिन्न हिन्दू सस्थाओ द्वारा एक 'हिन्दू यूनिटी फ्रन्ट' का गठन किया गया है। यद्यपि खबर के शीर्षक एव मुखड़े को पढकर तो यही लगता है कि फ्रन्ट का गठन एक अच्छे उद्देश्य को लक्ष्य मे रखकर किया गया है, लेकिन पूरी खबर पढने पर जो तस्वीर उभरती है—वह दूसरी है ।

हिन्दुओ के उत्थान के लिए फ्रन्ट का गठन करना एक अच्छी बात है । आज हिन्दुओ मे अनेक सामाजिक कुरीतियो एव अंध-विश्वासो ने अपनी जडे जमा रखी हैं । इनके विरुद्ध हिन्दुओ को जाग्रत करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु खेद है कि हिन्दुओ मे व्याप्त किसी भी सामाजिक बुराई या अधविश्वास के विरुद्ध चेतना पैदा करने के स्थान पर फ्रन्ट ने राम जन्मभूमि पर अधिकार करने एव समान नागरिक कानून बनवाने को अपना उद्देश्य बनाना अधिक बेहतर समझा है । इस सदर्भ मे यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि फ्रन्ट के गठन मे जिन सस्थाओ के प्रतिनिधियो ने भाग लिया—उनमे विश्व हिन्दू परिषद तथा राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के अतिरिक्त आर्य समाज के प्रतिनिधि भी थे ।

विश्व हिन्दू परिषद एव राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ द्वारा हिन्दुओ मे व्याप्त सामाजिक कुरीतियो के स्थान पर राम जन्मभूमि जैसे मुद्दे को प्रमुखता देना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। लेकिन आर्य-समाज जैसी क्रातिकारी एव सुधारवादी सस्था द्वारा सामाजिक कुरीतियो के स्थान पर भूमि के लिए आदोलन करना अवश्य आश्चर्यजनक है ।

हम इन तथाकथित आर्य समाजियो से पूछना चाहते हैं कि आखिर वे ऐसा करके महर्षि दयानन्द के सिद्धात विरुद्ध कार्य नही कर रहे ? अयोध्या स्थित भूमि यदि हिन्दुओ को मिल जाए तो इसमे आर्य समाज को कोई आपत्ति नही, लेकिन हिन्दू उस भूमि की प्राप्ति के बाद एक और पाखण्ड के विशाल विस्तार केन्द्र के रूप मे उसे विकसित करेंगे ।

इसके लिये विश्व हिन्दू परिषद ने प्रत्येक हिन्दू से 'राम मदिर' के निर्माणार्थ सवा-सवा रुपया एव एक-एक ईंट देने का आह्वान किया है । जाहिर है कि परिषद एक भव्य पाखण्ड विस्तारक केन्द्र का निर्माण करना चाहती है । आर्य समाजियो को क्या एक पाखड केन्द्र के निर्माण मे भागीदार बनना चाहिये ?

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ नामधारी आर्यसमाजी आर्य-समाज जैसी सार्वभौम प्रेम की पक्षधर सस्था को अपने किन्ही क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बना रहे हैं अन्यथा आर्यसमाज कोई हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही है जो विश्व हिन्दू परिषद एव स्वय सेवक सघ से मिलकर फ्रट बनाए ।

संस्कृत की उपेक्षा क्यों ?

—डा बाबूराम शास्त्री—

नई शिक्षा नीति मे "सेण्ट्रल बोर्ड आफ सैकेन्डरी एजूकेशन" के परिपत्र स ACAD/86/EO (HUM) दिनाँक 16-9-1988 के अनुसार आगामी सत्र 1989 से विद्यालयो मे छठी से दसवी कक्षा तक पूर्ण विषय के रूप मे सस्कृत का अध्ययन समाप्त किया जा रहा है । सस्कृत हमारी सस्कृति का मूल आधार है । वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, गीता व सहस्त्रो अन्य ग्रन्थो की भाषा सस्कृत ही है । हिन्दू धर्म, दर्शन, सस्कृति, इतिहास, पुरातत्व व प्राचीन ज्ञान-विज्ञान का सम्यक् बोध सस्कृत ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है । सस्कृत भारत की समस्त भाषाओं की जननी है ।

देश की एकता व अखडता तथा सनातन (वैदिक) धर्म की रक्षा के लिए सस्कृत का पठन-पाठन अपरिहार्य है । नैतिक मूल्यो मे जो गिरावट आई है—देश का जो चारित्रिक पतन हुआ है—या हो रहा है—आधुनिकता के नाम पर जो युवा पीढी गुमराह की जा रही है—इन सबका एकमात्र कारण है—सस्कृत, सस्कृति और सस्कारो की उपेक्षा । अगर इस देश मे सस्कृत, सस्कृति और सस्कारो की यही उपेक्षा बनी रही तो निश्चित ही एक दिन मानव मानव न रहकर मशीन बन जाएगा और शायद तब देश के युवा प्रधान-मत्री का देश को 21वी सदी में ले जाने का स्वप्न साकार हो जाएगा । हम सुनते आए हैं कि जगद्गुरु कहलाने वाले इस देश के ब्राह्मणो से भूलोकवासी सभी मनुष्य अपने-अपने चरित्र-कर्तव्य-आचरण की शिक्षा लेते थे। कारण क्या है कि आज हम अपने ही राष्ट्रीय चरित्र को भूलते जा रहे हैं । मैकाले को हम इसलिए दोषी ठहराते हैं कि उसने ईसाई धर्म की नीव दृढ करने के लिए और भारतीयो को ईसाई बनाने के लिए इस देश की शिक्षा नीति को विकृत किया । मोक्षमूलर पर हम इसलिए दोषारोपण करते है कि उसने भारतीय सस्कृति-धर्म-दर्शन का अवमूल्यन करने के लिए हमारे धर्मग्रथो की विकृत व्याख्या की । यह कैसी विडम्बना है कि भार-तीय सस्कृति और सस्कृत की जड खोदने वाली वर्तमान सरकार की 'नई शिक्षा नीति' पर एक शब्द भी बोलने का साहस हम नहीं जुटा पा रहे हैं ? यह कैसी परा-धीनता है कि दु शासन भारत-माता का चीरहरण कर रहा है और हम मूक-दर्शक बने हुए है ? मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगिराज कृष्ण, ब्रह्मर्षि वसिष्ठ, राजर्षि विश्वामित्र, जगद्गुरु शकराचार्य और महर्षि दयानन्द के आदर्शों, उपदेशो व आदेशो की सुदृढ नीव पर टिकी हुई यह आर्य जाति लडखडाती क्यो नजर आ रही है? आखिर क्या हो गया है सम्पूर्ण विश्व के मानवो को चरित्र की शिक्षा देने वाली ब्राह्मण जाति को ? क्या राज है उसकी कुम्भ-कर्णी निद्रा का ? समय रहते अगर देश का प्रबुद्ध नागरिक—बुद्धिजीवी वर्ग सचेत न हुआ तो सस्कृत और सस्कृति का सर्वनाश

(शेष पृष्ठ 4 पर)

भारत से मुहब्बतनामा

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के पूर्व उपकुलपति एवं भारतीय प्रशासनिक सेवा के सेवानिवृत्त अधिकारी श्री बी के. हूजा, जिनका जन्म पाकिस्तान मे हुआ था, ने रईस अमरोहवी के पैगाम का उत्तर दिया है

ओ पाक जाने वाले मेरा सलाम ले जा
ये पाकियो से कहना ओ पाक जाने वाले
भूले से नही तुमको भुलाने वाले
मुनकिर न हो सकेंगे हरगिज जमाने वाले

भारत पाक वाले सब एक घराने वाले
रस्ते खलूस ले जा, शौके पयाम ले जा।
ओ पाक जाने वाले मेरा सलाम ले जा।
वो खाक जिस पे हमने बचपन के दिन गुजारे
अब तक बसी हुई है अहसास मे हमारे
क्यो कर न याद आये क्यो हो न दिल को प्यारे
उस सरजमी के जर्रे उस आसमां के तारे
पैगाम दोस्ती के पाकियो के नाम ले जा।
ओ पाक जाने वाले मेरा सलाम ले जा।

—कुमार तौसवी 'हिन्दी'

सम्पादकीय

श्रद्धा से श्रद्धानन्द ने सीने पे खाई गोलियां...,

स्वामी श्रद्धानन्द जी का बलिदान दिवस प्रतिवर्ष 23 दिसम्बर को समस्त आर्य जगत में समारोह पूर्वक मनाया जाता है। आर्य समाज जैसे प्रबल उग्र राष्ट्रवादी तथा क्रांतिकारी सगठन के इतिहास मे स्वामी श्रद्धानन्द का अद्भुत बलिदान और त्याग स्वर्णिम अक्षरो मे अंकित है।

किसी ने ठीक ही कहा है कि आसमान के सितारो को भी कोई व्यक्ति गिनने में समर्थ हो सकता है रेगिस्तान के बालू के कणों को भी कोई व्यक्ति कभी गिनने मे समर्थ हो सकता है, मूसलाधार वर्षा की बूंदो को भी कोई व्यक्ति कभी गिनने में समर्थ हो सकता है परन्तु भारत-माता की कोख से उत्पन्न होने वाले सपूतो की वीरगाथा का बखान करने मे कोई व्यक्ति समर्थ नही हो सकता। ऐसे ही वीर सपूतो मे से एक थे स्वामी श्रद्धानन्द जी, जिनका सन्यास लेने से पूर्व महात्मा मुंशीराम नाम था।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महर्षि दयानन्द सरस्वती के सही अर्थो मे सच्चे उत्तराधिकारी थे जिन्होंने स्वामी जी के प्रति अनन्य आस्था रखते हुए उनके सामाजिक, शैक्षिक सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा संगठनात्मक विचारो को कार्य रूप मे अपने जीवन मे ढाल कर राष्ट्रीय जीवन मे भी क्रियान्वित किया।

स्वामी श्रद्धानन्द जी महान राष्ट्रीय नेता थे जिन्होंने आजादी की लड़ाई में महत्वपूर्ण योगदान दिया था। महात्मा गांधी को "महात्मा" की उपाधि से सर्वप्रथम विभूषित करने वाले स्वामी श्रद्धानन्द जी ही थे। 1902 ई मे भारतीय परिवेश मे वैदिक परम्परा के अनुसार संस्कार और चरित्र निर्माण करने के लिए मानव निर्माणकारी संस्था गुरुकुल कागड़ी की स्थापना स्वामी जी ने करके "गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली" का बीजारोपण किया। इसी गुरुकुल के ब्रह्मचारियो ने स्वामी जी की प्रेरणा से दक्षिण अफ्रीकी सत्याग्रह मे सघषरत गांधीजी के आंदोलन को आर्थिक सहायता भिजवाई तथा वहां से मोहनदास गांधी जब पुन भारत लौटे तो उनका गुरुकुल कागड़ी मे आमंत्रित कर अभिनन्दित किया तथा उन्हे "महात्मा" की पदवी से विभूषित किया जो शब्द आज गाधीजी के साथ अमर है। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, महामना मदनमोहन मालवीय, महात्मा गाधी जैसे राष्ट्रीय नेताओ से उनका निकट का सम्बन्ध था। महात्मा गाधी उन्हे 'बड़ा भाई' कह कर सम्बोधित करते थे। जवाहर लाल नेहरू ने उन्हे "शक्ति का तेजस्वी पुंज" कहा था। स्वामी श्रद्धानन्द अपने सिद्धातो पर अडिग रहकर राष्ट्रीयता एवं स्वाधीनता के प्रबल पक्षधर बने रहे। जलियांवाला बाग कॉण्ड के पश्चात् मार्शल-ला के आतंक से शिथिल पड़े पंजाब मे स्वाधीनता की चिंगारी को पुन प्रज्ज्वलित करने के लिए स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अमृतसर मे 1919 मे मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता मे कांग्रेस का अधिवेशन आयोजित किया और स्वय स्वागताध्यक्ष बनकर उसे जोरदार सफलता प्रदान की। स्वागताध्यक्ष के रूप मे प्रथम बार कांग्रेस को सच्चे अर्थो मे राष्ट्रीयता का जामा पहनाने हेतु अपना स्वागत भाषण जनता की भाषा हिन्दी मे पढा और इस प्रकार हिन्दी राष्ट्रीय स्वाधीनता आदोलन की संवाहिका बनी।

स्वामी श्रद्धानन्द जहां राष्ट्रीय एकता और हिन्दू-मुस्लिम सौमनस्यता के प्रबल पोषक थे वही उन्हे कांग्रेस और महात्मा गाधी की मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति पसन्द नही आई और कांग्रेस के काकीनाडा अधिवेशन मे अलीबन्धुओ द्वारा प्रस्तुत 6 करोड़ अछूतो के विभाजन का प्रस्ताव पसन्द नही आया और सिंह गर्जना की कि अछूत समझे जाने वाले लोग हिन्दू समाज के अभिन्न अंग हैं, उन्हें हिन्दुओ से किसी भी हालत मे अलग नही किया जा सकता, हम उन्हे समानता का दर्जा देंगे, गले लगायेगे, ऊंचा उठायेंगे पर मुस्लिम बन जाने की माग हरगिज नही मानेंगे। वहीं से उनका कांग्रेस और महात्मा गाधी से मतभेद शुरू हुआ तथा वे हिन्दू महासभा की ओर उन्मुख हुए।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने "भारतीय दलितोद्धार सभा" की स्थापना कर दलितो के सुधार के लिये अनथक प्रयास किया। मुस्लिम नेतागण तब लीग की आड मे हिन्दुओ को इस्लाम मे दीक्षित कर रहे थे। स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि का बिगुल बजाया और लाखो नवमुस्लिमो को पुन अपने मूल धर्म हिन्दू (आर्य-वैदिक) धर्म मे दीक्षित किया तथा 'भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा' की स्थापना की।

रोलेट एक्ट जैसे काले कानून की धज्जियां उड़ाने वाले, दिल्ली में उसके विरोध का नेतृत्व करने वाले, अंग्रेजो की संगीनो के सामने सीना खोलकर आगे बढने वाले, जामा मस्जिद के मिम्बर पर खड़े होकर वेद मंत्र से अपना भाषण प्रारम्भ कर राष्ट्रीय एकता का उद्घोष करने वाले, गुरु का बाग सत्याग्रह करने मे शरीक होकर सिक्खो को हक दिलवाने के समर्थक अदम्य साहसी सन्यासी श्रद्धानन्द जी ही थे।

स्वामी जी ने अपना पूरा जीवन ही आर्य समाज और देश की सेवा मे अर्पित कर दिया। उनका व्यक्तित्व विराट, प्रभावशाली एवं प्रेरणादायी था। इंग्लैण्ड के तत्कालीन प्रधानमंत्री रैमजेमैकडानल्ड ने गुरुकुल कांगडी मे दर्शन कर उन्हे "जीवित ईसामसीह" (Living Christ) के रूप मे जाना था।

स्वामी श्रद्धानन्द जी की यह दृढ धारणा थी कि स्वराज्य प्राप्ति के लिये तथा बाद मे उसकी दृढ़ता के लिए हिन्दू समाज मे व्याप्त सामाजिक दुर्बलताओ को दूर करना भी अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण था कि अस्पृश्यता को मिटाने तथा समानता लाने के लिये स्वामीजी ने रचनात्मक कार्य किया। हकीम अजमल खां

(शेष पृष्ठ 3 पर)

दयानन्द उवाच :

शिक्षा और शिक्षक

—डा बाबूराम शास्त्री—

जिज्ञासु स्वामी जी । वर्तमान काल मे युवा पीढी अपनी सास्कृतिक परम्परा से विमुख होती रही है, छात्र स्वेच्छाचारी हो चले हैं, क्या शिक्षा इसके लिये उत्तरदायी नही है ?

दयानन्द निश्चित ही शिक्षा के वतमान विकृत रूप के कारण ही युवा पीढी अपने गौरवपूर्ण अतीत को विस्मृत कर सास्कृतिक मूल्यो से दूर होती जा रही है और निष्ठावान, सदाचारी व कर्त्तव्यपरायण शिक्षको एव आचार्यों की कमी के कारण व राजनयिका के अनुचित हस्तक्षप के कारण छात्र स्वेच्छाचारी होते जा रहे है। बच्चो के जन्मदाता माता-पिता भी अपने-अपने कत्तव्यो का निर्वाह नही कर रहे हैं। वस्तुत जब तीन उद्दाम अथान एक माता दूसरा पिता और तीसरा आचाय हावे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है । जिसके माता-पिता सदाचारी, धर्मपरायण एव विद्वान है— वही सतान धन्य है । गर्भाधान के आदि-मध्य-अन्त म समुचित आहार-विहार का सेवन करने वाली माता ही उत्तम सतान को जन्म दे सकती है । गर्भाधानकाल से ही माता के सस्कार शिशु पर प्रतिफलित होने लगते है । अत उत्तम सतान की कामना करने वाली मा को सुसस्कृत होना चाहिए, सदाचारपूर्वक धर्म की मर्यादानुकूल ही कर्म करने चाहिए, राग-द्वेष से दूर रहकर सतान के विवृद्धचर्थ शिवसकल्पपूर्वक ही दैनन्दिन व्यवहार करना चाहिये । शैशवकाल मे माँ ही दुग्धपानादि के द्वारा बच्चे का पालन-पोषण करती है-इसलिए सवप्रथम बच्चे को मा का ही पूर्ण सान्निध्य प्राप्त प्राप्त होता है, मा के वात्सल्य से अभिभूत वह उसी का अनुकरण-अनुसरण करता है, मा के वाक्य ही उसे आचरण विशेष की ओर आकृष्ट करते है । जब बच्चा बोलने लगता है तो वर्णोच्चारण शिक्षा मा से ही से ही मिलती है सवप्रथम आचार-व्यवहार की शिक्षा भी मा ही दती ह और जन्म के पाचव वष म वही अक्षरारम्भ कराती है । चू कि 'माता निर्माता भवति' मा हा बच्च की वास्तविक निर्मात्री होती हे और 'मातृमान् पुरुषो वद' जिस पुरुष की माता सुसस्कृत और धार्मिक है वही सुशिक्षित व ज्ञानवान् होता है ऐसा शास्त्र भी कहत है । अत शिक्षको म प्रथम स्थान रखने वाली और निर्मात्री माता ही जब अपने कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व का सम्यक् परिपालन नही कर पा रही है तो सतान से उत्तम विद्या व उत्तम आचरण की आशा करना व्यर्थ है । जब पुरुष-प्रासाद की नीव ही कच्[illegible] तो वह स सार मे प्रतिष्ठित [illegible]से हो सकता है ?

पिता बच्चे का दूसरा गुरु है-शिक्[illegible] बच्चा 5 वर्ष का हो [illegible] वर्णोच्चारण शुद्ध शुद्ध [illegible] तो पिता उसे सदाचार [illegible]प्रिय [illegible] यम लोक व्यवहार सत्स[illegible]त, अतिथि सेवा और अभिवादन का महत्व समझावे और इनसे सम्बद्ध मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य-पद्य भी अर्थ सहित कण्ठस्थ करावे । क्योकि आचार्यों की मान्यता है कि जो अभिवादन का प्रकार जानता है और बडो का समुचित अभिवादन करता है- जो वृद्धो की सेवा करता है उसकी विद्या, उसकी आयु, उसकी कीर्ति एव उसका बल निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होत हैं । पिता बच्चो को मिथ्याडम्बर, छल-कपट व धूर्तों के माया-जाल से अवगत करावे, चोरी, आलस्य, प्रमाद, मिथ्याभाषण, हिंसा क्रूरकम, ईर्ष्या-द्वेष, लोभ-मोह आदि दोषो को छोडने और सत्याचार के ग्रहण करने की शिक्षा दे । सब से प्रीतिपूर्वक व्यवहार करने, सज्जनो का सग करन व माता पिता व आचाय की तन-मन-धन से सेवा करने का उपदश करे । विद्या, बल एव विवेक की वृद्धि के लिए आरोग्यकारक भोजन व आच्छादन करने के लिए प्रेरित करे, मद्य-मासादि के भक्षण के दोष समझाए और वीर्य की रक्षा के उपाय हृदयगम करावे । आवश्यकता पडने पर बच्चे को सुसस्कृत एव सुशिक्षित करन के लिए पिता उनका ताडन भी करे किंतु इसके लिए पिता का सुसस्कृत व सुशिक्षित होना अनिवार्य है । एक सुशिक्षित,सदाचारी व धार्मिक पिता ही बच्चे को सदाचारी बना सकता है । इसीलिए शास्त्र भी कहते हैं कि जिस पुरुष का पिता सुसस्कृत, सदाचारी व धार्मिक होता है वही ज्ञानवान होता है ।
'पितृमान् पुरुषो वेद' ।

8 वें वर्ष के आरम्भ मे द्विज अपनी सतानो का उपनयन करके पुत्रो को पूर्णविद्या सम्पन्न गुरुजनो से सुशोभित गुरुकुल मे और पुत्रियो को विदुषी महिलाओ से विभूषित कन्या गुरुकुल मे विद्याध्ययन के लिए भेजें। दुष्टाचरण करने वाले अध्यापक या अध्यापिकाओ के पास बच्चो को न भेजे । पाठशाला ग्राम या नगर से चार कोस दूर एकान्त स्थान मे स्थित हो, कन्या पाठशाला मे 5 वर्ष का लडका लडको की पाठशाला मे 5 वर्ष की लडकी प्रवेश न करे । लडके लडकियो की पाठशाला एक दूसरे से दो कोस दूर हो, लडको की पाठशाला मे सभी शिक्षक व कर्मचारी पुरुष हो और लडकियो की पाठशाला मे सभी शिक्षिकाए व कर्मचारी स्त्री हो छात्र-छात्राए व अष्टविध मैथुन से बचें ऐसा उपदेश दिया जाय । सब को समान भोजन वस्त्र दिये जायें। माता-पिता या सम्बधी अपनी सतानो से और सताने अपने माता-पिता से न मिल सकें और न ही उनका पत्र व्यवहार हो। 5 वें और 8 वें वर्ष के बाद कोई माता-पिता अपन बच्चा को घर न रखे । पाठशाला अवश्य भेजे। और यदि न भेजे तो तो उन्हे राजा दण्ड देवे । सर्व प्रथम बच्चो का यज्ञोपवीत सस्कार कराया जाय पुन सन्ध्योपासन के निमित्त स्नान, आचमन और प्राणायाम की विधि बतलायी जाय और पचमहायज्ञ की शिक्षा भी दी जाय । तत्पश्चात् छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त यम-नियम का सेवन करते हुए ब्रह्मचर्यपूर्वक सागोपाग वेद का अध्ययन कराया जावे ।

मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत के उपयुक्त प्रकरण, प्रसिद्ध दश उपनिषद षड्दर्शन, शतपथादि चार ब्राह्मण ग्रन्थ आदि आदि आर्ष ग्रन्थो की शिक्षा दी जाव, अनार्षग्रन्थ न पढाये जाये । इन शास्त्रो की उपयुक्त शिक्षा सदाचारी विद्वान ही दे सकता है, वही शिष्यो को आचार का ग्रहण कराता है, सदाचारी बनाता है, और जिसका आचाय शिक्षक सुसस्कृत व सदाचारी होता है वही शिष्य सद्वृत्त व ज्ञानी होता है ।

शास्त्रो की भी यही राय है 'आचार्यवान् -पुरुषो वेद' । अत युवा पीढी की सस्कृति के प्रति उदासीनता, छात्रो की स्वेच्छाचारिता के लिए शिक्षा ही नही शिक्षक अर्थात् माता-पिता और आचाय सभी समान रूप से उत्तरदायी हैं ।

श्रद्धा से...

(शेष पृष्ट 2 का)

तथा डा असारी जैसे मुस्लिम नेता एव सी एफ एण्ड्रूज जैसे अग्रेज नेता स्वामीजी से अत्यधिक प्रभावित थे तथा उनसे मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे । हिंदी मे 'सद्धर्मप्रचारक' और 'अर्जुन' जैसे अखबारो को भी स्वामी जी न प्रारम्भ किया । कल्याण माग का पथिक उनकी जीवनी अत्यन्त प्रेरणादायी ग्रथ है ।

स्वामी जी के शुद्धि आदोलन से चिढकर कुछ धर्मान्ध मुसलमान उनके खून के प्यासे हो गये थे । 23 दिसम्बर 1926 ई. को दिल्ली मे (जहा आज श्रद्धानन्द बलिदान भवन है) जब स्वामी जी रुग्ण शैय्या पर थे, एक आततायी इस्लाम के अलम्बरदार ने धोखा करके स्वामी जी से कुछ शकावे समाधान करने के नाम पर झुकते हुए छिपाकर रखे हुये पिस्तौल की गोलियो से उनका सीना वेध दिया और वे बलिदान पथ के पथिक बनकर हुतात्मा बन गये । आज 62 वे बलिदान दिवस पर हम सब उनके अनुपम साहस, निर्भीकता, त्याग और सेवा के सम्मुख नतमस्तक हैं । जब तक सूरज चाद रहेगा, श्रद्धानन्द का नाम रहेगा ।

"गोलिया सीने पर खाके चल दिये,
प्यास कातिल की बुझाके चल दिये ।"

—रासासिंह

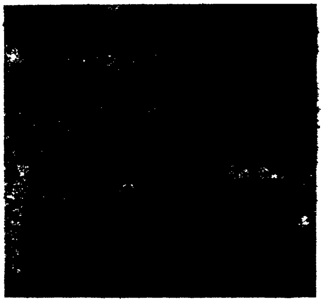
अकाल तख्त का हुक्मनामा

—वीरेन्द्र कुमार आर्य —

अकाल तख्त के जत्थेदार श्री दर्शनसिंह रागी ने अकाली दल (लौंगोवाल) के अध्यक्ष व पंजाब के पूर्व मुख्यमन्त्री सुरजीतसिंह बरनाला को दण्डित करके एक गलत परम्परा को जन्म दिया है।

जत्थेदार रागी द्वारा बरनाला को दण्डित किये जाने को किसी भी रूप में उचित नही ठहराया जा सकता। वस्तुत बरनाला को उनके धार्मिक कुकृत्य के लिये दण्डित नही किया गया है अपितु उन्हें अकाल तख्त के राजनीतिक आदेशो की पालना न करने के लिए दण्डित किया गया है। इस समस्त घटनाक्रम से यह सिद्ध होता है कि श्री रागी चाहते हैं कि अकाली दल का मुख्यमन्त्री अकाल तख्त द्वारा निदेशित हो। देश का कोई भी विवेकशील व्यक्ति अकाल तख्त के इस फैसले से सहमत नही हो सकता। देश का सविधान यह आज्ञा नही देता कि कोई पथ प्रमुख नीति सबधी मामलो मे किसी मुख्यमन्त्री को आदेश दे।

यदि भारत जैसे बहु-सम्प्रदाय वाले देश मे सम्प्रदाय प्रमुखो द्वारा इस तरह राजनीतिक हस्तक्षेप किया जाने लगे तो देश में अराजकता एव हिंसा का वातावरण बनते देर नहीं लगेगी। हमारे देश मे कोई एक सम्प्रदाय या पथ नही है। इसलिये किसी भी एक सम्प्रदाय का राजनीति मे दखल दूसरे सम्प्रदाय को जवाबी कार्रवाई के लिए प्रेरित कर सकता है। क्या ही अच्छा होता कि यदि जत्थेदार श्री दर्शनसिंह रागी बरनाला को दण्डित करने के स्थान पर निर्दोष लोगो के हत्यारे खालिस्तान समर्थक उग्रवादियो के विरुद्ध फतवा जारी करते।



वाल्ले दम्पति के साथ वर-वधू

जापानी पुत्रवधू

आचार्य दत्तात्रेय जी वाल्ले के परिवार में एक जापानी पुत्रवधू आई है, इस सबध मे कुछ लोगो ने अपनी उत्सुकता प्रकट करते हुए जानकारी चाही है, इसलिये इस बारे मे वस्तुस्थिति की जानकारी दी जा रही है।

आचार्य दत्तात्रेय जी की पुत्री अमेरिका मे रहती हैं जहा उनके पजाबी पति डाक्टर हैं। उनके निकट विश्वविद्यालय मे जापान आदि देशो की छात्र-छात्राये पढती हैं, उसी विश्वविद्यालय मे श्री वाल्ले के पुत्र श्री अरविन्द वाल्ले की पत्नी के भाई भी प्रोफेसर हैं और उन्ही का विवाह जापान के एक उद्योगपति टोक्यो निवासी श्री ईवासाकी की पुत्री यूमी से वैदिक रीति मे सम्पन्न हुआ है। वर-वधू विवाह के बाद जब भारत आये तब उनके स्वागत मे देहली मे एक समारोह आयोजित किया गया था। उसी का समाचार कुछ पत्रो मे प्रकाशित हुआ है।

अन्तर्जातीय तथा अन्तरप्रांतीय विवाह

श्री वाल्ले जी की यह मान्यता सब विदित है कि जन्मगत जातपात हिन्दू समाज का ही नहीं हमारे देश का एक अभिशाप है। आर्य समाज जैसे क्रांतिकारी आन्दोलन की शिथिलता का भी वे इसे प्रमुख कारण मानते है। विद्यार्थी काल से ही स्व श्री सतराम जी बी ए द्वारा स्थापित जात-पात तोडक मण्डल के अजमेर शाखा के मत्री के रूप मे उन्होने तथा उनके कुछ मित्रो ने जातपांत तोडकर विवाह करने का प्रण लिया था। वे स्वयं एक महाराष्ट्र ब्राह्मण परिवार मे उत्पन्न हुए किन्तु उनका विवाह लाहौर के एक पजाबी परिवार मे हुआ। उनके लघु भ्राता श्री कृष्णराव जी वाल्ले की पत्नी भी जालन्धर के एक सुप्रसिद्ध आर्य परिवार की विदुषी कन्या है। वाल्ले जी के पुत्र का विवाह अग्रवाल वैश्य परिवार मे हुआ है और उनके मौसेरे भाई, जो सेना मे उच्च अधिकारी हैं और विदेश मे डेपुटेशन पर हैं, ने गोआ की एक सुशिक्षित ईसाई महिला को वैदिक धर्म मे दीक्षित करके विवाह किया है। श्री कृष्णराव जी के छोटे पुत्र का विवाह आंध्र की एक तेलगूभाषी कन्या से हुआ है, दोनो अमेरिका के विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक हैं।

संस्कृत की उपेक्षा क्यों?

(शेष पृष्ठ एक का)

अवश्यम्भावी है और संस्कृत और संस्कृति के बिना भारत भारत न रहेगा—हिन्दू हिन्दू न रहेगा और हम हम न होंगे।

अत सभी राष्ट्रप्रेमी देशभक्त प्रबुद्ध नागरिको शिक्षकों, प्राध्यापको, आचार्यों व धर्माचार्यों का आह्वान किया जाता है कि वे एकजुट होकर सरकार की आत्मघाती "नई शिक्षा नीति" का प्रबल विरोध करें और शिक्षा मे संस्कृत और संस्कृति की शिक्षा का समुचित प्रावधान करने के लिये केन्द्र सरकार को बाध्य करें।

वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता पर शोध ग्रन्थ की योजना

दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय अजमेर मे राज्य सरकार तथा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत दयानन्द शोध पीठ की ओर से एक ऐसे अधिकृत ग्रन्थ का प्रकाशन करने का निश्चय किया गया है जिसमे वैदिक धर्म की सार्वभौमिकता सिद्ध की जा सके। इस दृष्टि से ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म और आर्य समाज के सिद्धातो का समर्थन करने वाले उन सब उद्धरणों, विचारों और मान्यताओ का समावेश किया जायेगा जो अन्य धर्मों की धार्मिक पुस्तकों और उनके अनुयायी विद्वानो द्वारा लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए एकेश्वरवाद के समर्थन और मूर्ति पूजा के विरुद्ध इस्लाम, कबीर तथा नानक और तेरापथी, जैन सम्प्रदाय की मान्यताए। इसी प्रकार जात-पांत छुआ-छूत के विरुद्ध तथा सामाजिक एकता और सेवा के सम्बन्ध मे उपरोक्त तथा ईसाई धर्म के विचारो का समावेश करने की योजना है। ग्रन्थ मे प्रकाशित किये जाने वाले विद्वतापूर्ण निबधो और लेखो के लिए उचित पारितोषिक और पारिश्रमिक देने का भी निश्चय किया गया है। जो विद्वान इस कार्य मे सहयोग दे सकें वे कृपया श्री दत्तात्रेय आर्य, निदेशक, दयानन्द शोधपीठ, दयानन्द कालेज, अजमेर से सम्पर्क करनेका कष्ट करे।

स्वत्वाधिकारी आर्यसमाज अजमेर के लिए प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

oscillation, since the force controlling it only comes from the train, and is subject to variation in friction, whereas the pendulum possesses its own controlling force in its invariable weight, and hence a fixed period of oscillation, which is uninfluenced by the power of the train; the latter being needed only to overcome the air friction of the pendulum, which is less, the heavier the pendulum is made. A new idea was brought into the old clock, which apart from the hanging pendulum was not greatly changed in form, but the effect was something entirely new. trustworthy measurement of time Huygens says himself, in his *Horologium Oscillatorium*: 'Even if there is in the works themselves some defect or other, even if the bearings turn less easily as a result of change of temperature, as long as the movement of the clock does not cease entirely, no irregularity or retardation in motion is to be feared the clock will either always measure the time correctly, or not measure it at all.' It is not surprising that, since the change in construction was so small, existing clocks immediately received pendulums fitted to them in place of the oscillating body. Since the year engraved on the dial, and giving the original date of construction, usually remained unaltered, the opinion later arose, that these clocks had been made as pendulum clocks before Huygens' time, but this opinion can be proved by the literature of the period to be wrong [1]

For navigation, good clocks were and are of the greatest importance for the trustworthy determination of geographical distances, and the correct measurement of position at sea. But in this case the usual pendulum, dependent upon gravity, was not satisfactory in spite of Huygens' special efforts, on account of the oscillation of the ship He therefore proceeded to use elastically controlled pendulums for

[1] See *Horology*, by J. E Haswell (1928), p. 25. In England a model in the S Kensington museum of a 'pin-wheel' escapement is usually referred to as being prior to Huygens. [Trans]

these clocks, such as we still find to-day in the escapements of pocket watches and ships' chronometers. Here again, only the introduction of this essential feature of accurate running was the point of novelty. Pocket watches with trains of wheels, driven by a spring, existed already, they were known, on account of their external form, and their main place of origin, as 'Nuremberg eggs.' In the matter of the introduction of the spring controlled balance wheel, in place of the gravity pendulum, Hooke in England, where the need of good ships' chronometers was most pressing, had priority over Huygens, but not before the latter had realised and introduced the ordinary pendulum clock, the model for the construction of the chronometer.

Huygens further strove after extreme refinement to an astonishing degree in his pendulum clocks. His profound investigation of the peculiarities of the cycloid, which was in other respects of great value, led to his invention of the cycloidal pendulum, in order to produce constancy of period, even in the case of a large arc of swing Though we have again abandoned the special arrangements fully described by Huygens, which are necessary for the use of this type of pendulum, it is because we have learned to work with very small arcs of swing; nevertheless, the *Horologium Oscillatorium* arouses the reader's admiration for the 'double virtuosity' with which Huygens carried out, in the most perfect manner, what had to be derived both from mechanical practice, and from the most subtle geometrical synthesis.

About the same time – from 1652 onwards – Huygens was also busy on improvements in the telescope; upon learning of Snell's law of the refraction of light, which was not yet known to Kepler and Galileo, he was able to estimate the effects of lenses with much greater accuracy than had hitherto been possible. He thus arrived also at an understanding of the errors of lenses (spherical and chromatic aberration) and their dependence upon focal length and aperture. He also ground

lenses himself, assisted in part by his brother Constantine, and introduced the preliminary examination of the glass to be used as regards its freedom from striae (a process later brought to the greatest refinement some two hundred years later by Topler in Dresden); he also improved the eye pieces of the Kepler telescope, the 'Huygens eye piece' being still in use to-day. It consists of two convex lenses, the inner of the two working together with the objective, so that the real image is formed between the two lenses of the ocular. The whole of these investigations were first published after Huygens' death in his *Dioptrics* in 1703, but he had already quite early made a remarkable application of his study of the telescope, by discovering a moon of Saturn and the free rings of this planet, an account of which he published in 1669 in his *Systema Saturnium.* Galileo had only been able to see the ring in the somewhat blurred form of an apparent multiplication of Saturn into three, and this appeared to vanish later; subsequent observers saw other inexplicable phenomena about this planet. Huygens was able, after years of observation with his better telescope, to explain everything: the ring surrounding Saturn but not connected with it is plane and thin, and has a strong inclination to the plane of the earth's orbit, but remains parallel to itself; thus it comes about that twice during a revolution of Saturn in its orbit (that is, about every fifteen years) it is illuminated on the narrow edge only, and thus becomes quite or almost invisible, whereas in the intermediate period it arrives at full visibility. Huygens made these discoveries with a telescope constructed from lenses he had ground himself; its objective, which still exists in Utrecht, was only about five and a half centimetres in diameter, but had a focal length of three metres; the ocular was a small lens of seven centimetres focal length.[1] After the telescope, Huygens also worked on

[1] See *Oeuvres complètes de Christian Huygens* The only English translation of Huygens is of the *Treatise on Light* (S. P Thompson, 1912).

the microscope, and introduced dark field illumination,[1] which, when improved by modern means, gave us the ultra-microscope

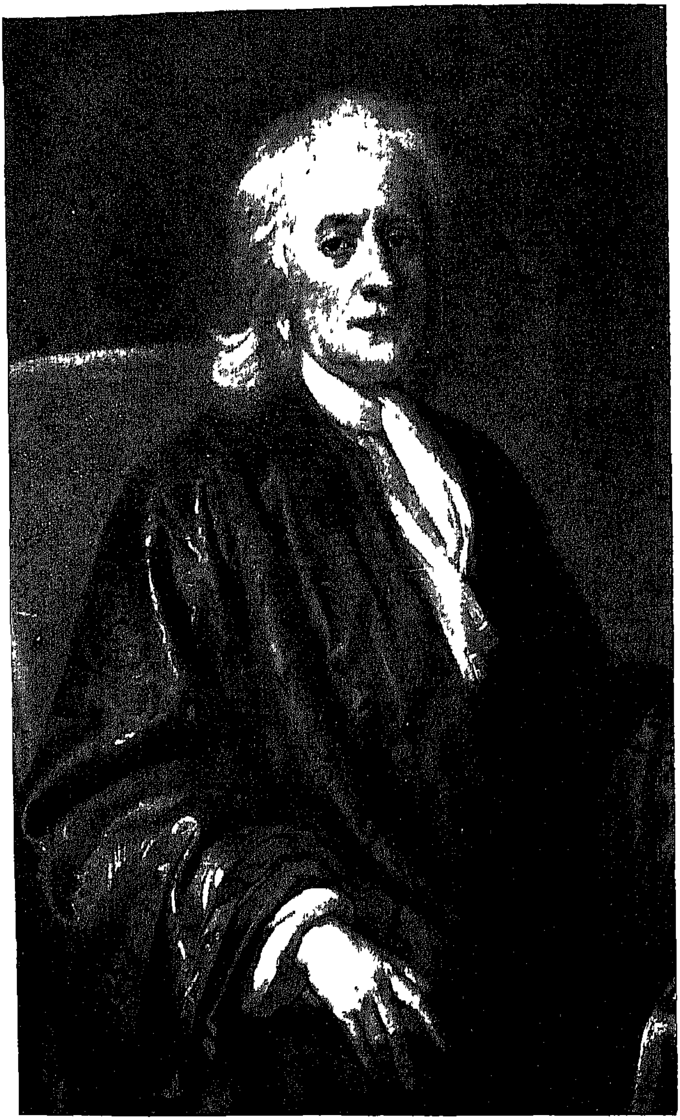
These discoveries, together with the invention of the pendulum clock, resulted in Huygens being called to the newly-founded Academy in Paris, where he occupied an influential position with a substantial salary and free quarters, from 1666 to 1681 Thereafter, Louis XIV went to war with Holland, the minister Holbert, who had a high appreciation of Huygens, lost his influence, and the banishment of the Protestants (Revocation of the Edict of Nantes, 1685) threatened. Huygens therefore gave up for lost all that France had offered him, and returned to Holland to his paternal estate Hofwijck near the Hague, where he died at the age of sixty-seven, after fourteen years of further uninterrupted activity. He did not found a family, and otherwise remained a lonely man Only a journey to England occurred in this latter period of his life, where he made the personal acquaintance of Newton, his fourteen-year younger contemporary Newton had a high opinion of him, and would have liked to keep him at the University of Cambridge, but nothing came of this

Huygens' consideration of the movement of the pendulum first led him to discover the present well-known formula for calculating the time of oscillation from the length, which formula summarises Galileo's laws of the pendulum, and further gives the exact connection with the acceleration of gravity which is operative in free falling [2] He also saw that constancy of the period of oscillation with varying arc or amplitude cannot hold good exactly for the ordinary pendulum, but only for the cycloidal pendulum, in which the bob moves along a cycloid, instead of along the ordinary circular path. He arrived at this view by recognising

[1] See *Oeuvres complètes*, vol 13, 2, p 696 (1692)
[2] In *Horologium Oscillatorium*, second part, paragraph 25.



14. CHRISTIAN HUYGENS



15 Isaac Newton

as the essential point in the movement of the simple pendulum the predetermined path of the bob, along which path the bob moves under the influence of gravity, according to the laws already given by Galileo for motion on an inclined plane; the latter had also himself investigated falling on a circular path.

Further consideration of the motion of the compound pendulum, that is, an oscillating body which cannot even approximately be regarded as a single point (as for example a swinging rod), led Huygens deep into a knowledge of the essential features of rotational motion generally This opened the way to a general mastery of every kind of motion of solid bodies, including also the heavenly bodies. the problem of linear motion under the influence of given forces having been solved in all essential respects by Galileo. If we attempt to follow the main lines of Huygens' thinking in this important matter, we realise that even advances in knowledge relating to very complicated matters are based on simple trains of thought, though the complete working out may be very elaborate.

When a rod hung up at one end swings as a pendulum, each of its single parts swinging about the given axis forms a simple pendulum, and the periods of oscillation of all these single pendulums can be calculated from their lengths. The shorter of these will swing faster, and the longer ones correspondingly slower. But all these single pendulums are rigidly connected together to form a rod, and hence are obliged to move at the same rate, and the question is, what this rate will be. Huygens arrived at a correct answer by making use, as his great countryman Stevin had previously done, of a generally known and therefore well assured existing experience It related to the centre of gravity. In the present case this tells us that when the pendulum rod moves under the influence of gravity, nothing will ever happen to raise its centre of gravity to a greater height than that from which it

originally descended, even when the pendulum during its movement has been subjected to effects which have nothing to do with its weight Galileo had already convinced himself of this in the case of the simple pendulum, by letting such a pendulum swing both freely and also past a projecting peg, which caught and bent the thread in the course of the movement, so that the bob of the pendulum was forced into a new circular path with the peg as centre, from the moment when the thread met the latter. In such experiments the bob never reached a greater height than that from which it had been released, and when it attained a less height, this was obviously only the result of frictional resistances which had nothing to do with the main process. Huygens worked out in an exactly similar manner, by means of an imaginary experiment, the case of the oscillating rod. Imaginary experiments became, after Stevin's time, of ever increasing importance in research, but they must be of a permissible description, that is to say, they must only deal with processes that could be realised with sufficient approximation. We imagine the rod to be let loose and to swing until it reaches its lowest or vertical position, and at the moment when it reaches this, we suppose that the connection between its parts is abolished, so that these now continue to swing as simple pendulums. Even then, the combined centre of gravity of all the parts of the pendulum can only rise to the same point from which it had descended But the motions of all the parts are known, since they are simple pendulums. These pendulums were released with the velocities which they had at the moment of separation, that is with velocities which were proportional to their distances from the axis of rotation. Hence if one of these velocities is known, they are all known, and the motion of the whole centre of gravity while they swing further as simple pendulums, is also known. The question now to be settled by simple and known processes of calculation is conversely the following: how great must

have been the velocities of the paths at the moment of separation, and hence also that of any given point of the undivided pendulum, in order that the total centre of gravity shall only reach the definite height. When this velocity is calculated, the height from which the oscillation began being given, we have the desired period of oscillation of the compound pendulum, or also the length of the simple pendulum having the same time of swing.

When this calculation is made, a sum appears at an important point, formed of all the products of each mass particle of the compound pendulum and the square of its distance from the axis of rotation. This sum, first grasped by Huygens, gives the key to the calculation of all rotational motion of every kind; it later received the name of the 'moment of inertia' of the body in question about the given axis. The moment of inertia is the measure of the inertia for all rotational motion, just as is the simple mass for all linear motion. The part played in this case by the squares of the distances of the single mass particles from the axis depends upon the fact, as we can see from Huygens' argument, that according to Galileo's laws of fall, the square of the velocity of a body is a proportionate measure of the height to which it is able to rise along any path – the choice of which makes no difference – against its own weight, and that in the case of rotary motion, the velocities are proportional to the distances from the axis.

Hence we find in the work of Huygens for the first time the product of the mass and the square of the velocity appearing as a quantity of importance for phenomena of motion. Particularly in investigating the process of the collision of elastic bodies, the importance of this product is made clear by Huygens, inasmuch as he shows that the product in question, when summed up for all bodies entering into collision, is not altered by the latter, however the velocities may change. It is true that Huygens generally uses the

term weight, and often even size, instead of mass, in reference to the body investigated. The peculiar nature of the concept of mass was only cleared up by Newton in the further prosecution of these investigations.

Research into the processes of collision presented quite peculiar difficulties, though the processes are common enough in everyday life; their peculiarity is that they take place in very short periods of time. Galileo himself already paid attention to collision, and contemporaneously with Huygens (1688), the Englishmen Wallis and Wren (the famous architect),[1] Wallis investigated the collision of inelastic bodies, Wren and Huygens that of elastic bodies, and the essential point is that they found simple relations between the magnitude of the masses concerned in the collision and their velocities before and after it, without however needing to investigate the details of the process taking place in the very short period of contact of the two bodies. Huygens in this respect was far in advance of the others, and the manner in which he handles the matter gives us remarkable evidence of his gifts as a scientist. In a manner quite new at the time, he connects the discovery already made by Galileo, that velocities of different origin present together do not interfere with one another, with the fact, already used by him in discussing the compound pendulum, that the centre of gravity does not increase in height. From these premises, with the addition of a few experimental facts derived from simple cases of collision, he deduced a large number of the most important laws concerning collision. The agreement of the laws thus found with the experiments carried out upon 'hard' elastic balls, welded the knowledge of the phenomena of motion into a consistent whole.

In all these investigations of Huygens, we meet for the

[1] Not long afterwards we have Markus Marci in Prague (see Mach, *The Science of Mechanics*, trans by T J. McCormack (4th Ed , 1919). Mariotte's essay on collision, which is more often referred to, came much later (1687)

first time the *dynamic* importance of the centre of gravity, and not only its original, *static* bearing, known since the time of Archimedes. A further discovery is the importance of the product of mass into velocity, to which the name of quantity of motion, or momentum, was given.[1]

A further fundamental step, especially in view of Newton's work which soon followed, was taken by Huygens in determining the laws of centrifugal force, which appears in rotary motion, and in fact whenever bodies of any kind move in curved paths. He was not only the first to observe it, but also to investigate it thoroughly. The law which he found, according to which this force, which is always directed away from the centre of curvature of the path, is proportional to the square of the speed in the path, inversely proportional to the radius of the path, and proportional to the moving mass, was first published by him in his essay on the pendulum clock (1673), but the working out only appeared, together with that of the laws of collision, after his death from his posthumous papers. But the deduction is based on nothing more than Galileo's law of inertia, and this variety of force, as a pure consequence of inertia, was so thoroughly investigated by Huygens, together with its effects, that even to-day there is nothing of importance to be added.

We already find in the work of Huygens on phenomena of motion the elements out of which Newton was soon able to build the whole structure of mechanics, including that of the heavenly bodies.

Very different in nature from these investigations of motion are Huygens' investigations of the nature of light. In

[1] Huygens already, in 1669 (in the *Journal des Savants*) calls the tendency to constancy of this product, summed up over a whole system of bodies, 'une admirable loi de la nature ' Descartes already made use of the same product in calculation, but he did not yet realise that its all-round importance is bound up with a consideration not only of the magnitude, but also of the direction of velocity (treating it as a vector quantity, in other words), and therefore, for example, introducing velocities in opposite directions with opposite signs into the calculation

this case, he himself supplies an entirely new foundation based on observation, and supported by entirely new arguments. What he found as known, were the rectilinear propagation and reflection of light, understood since Euclid's time; the refraction of light, studied by Kepler and, more accurately by Snell, together with its successful application to the telescope by Galileo; and finally, and of particular importance, the propagation from the source to the eye with a limited and known velocity, determined by Roemer only a short time previously. Huygens combined these and all other known facts concerning light and its production, and concluded that we must suppose it to consist of a vibration which spreads outwards from the source, just like sound in air. The medium, however, in which the light is propagated as vibration, cannot be the air Huygens deduces this from Guericke's, and later Boyle's observation of the propagation of light through a space empty of air, and then draws the further conclusion that space free from all matter, even air, must still contain a something capable of permitting vibration to be transmitted This something is called by Huygens the *ether* With him, therefore, we have the beginning of the physics of the ether. The chief point, however, is the proof that light actually, and in every respect, possesses the peculiar properties of a state of vibration which is transmitted in waves, and here Huygens contributed the first pieces of evidence which have been of importance ever since He first of all shows how the property of light waves, coming from any direction, of penetrating one another without hindrance or disturbance, is precisely what we should expect from the propagation of vibrations, it is found also in the case of sound, and, as he showed, in the collision of elastic bodies Here he makes the observation, founded on experiment, that balls in collision experience a momentary flattening, a process obviously requiring time, so that it is clear that a blow transmitted through a row of

balls must experience a certain retardation, in exact correspondence with the finite velocity of light. In sources of light, for example a candle flame, he assumes that each small luminous particle produces waves independently, but that all the single waves unite to form larger wave fronts, which then combine and move forward as the beam of light – an idea entirely in accordance with our present day view.

Concerning the propagation of the wave-front, Huygens then states a law, which has hitherto always been found to hold for wave propagation, and is described as 'Huygens' principle' According to this, every part of the medium of propagation which is disturbed by a wave, acts for its part as a new centre of propagation for its own neighbourhood, whereby the elementary waves proceeding from a single point of the medium, again join together to form new wave fronts along their common surface of contact. By means of this principle, Huygens was able to explain completely the reflection and refraction of light, and the known laws relating to these In the case of refraction, we must assume that the velocity of light in the refracting medium, for example, glass or water, is smaller than in free ether, by an amount proportional to the index of refraction. This was shown by Fresnel a hundred and forty years later to be true, and forty years later still, a further and more direct demonstration was given by Foucault.

Huygens himself carried out another and special test of these ideas, by applying them to the highly complicated phenomenon of double refraction, which was known in the case of Iceland Spar, but had remained completely incomprehensible. In the case of one of the two rays which result from a single original ray upon refraction in the Spar, the one called the 'extraordinary ray,' no law of refraction exists; according to the circumstances it takes very various directions, by no means to be expected from Snell's law of refraction, which holds for the other, or 'ordinary,' ray.

Thus for example, refraction may take place upon normal incidence. Huygens was able to make all these peculiar phenomena intelligible and predictable by means of his principle, by the simple assumption that in the crystal, a part of the light is not propagated in all directions with the same velocity, but more slowly in the direction of the crystalline axis, and with increasing velocity in directions at an angle to the axis; fastest of all in a direction at right angles to it The supposition that light may travel at different velocities in different directions through the crystal was not improbable, since in other respects, for example as regards their mechanical strength, crystals generally exhibit the peculiarity of possessing different properties in different directions, this assumption also proved to be of great value. Huygens compared the conclusions drawn from his principle of the propagation of light with reality by means of numerous observations on Iceland Spar, and in part also on quartz (rock crystal); in this connection, he also made his important discovery of the polarisation of light. He recognised that rays of light in passing through a first crystal of Iceland Spar are given 'a certain form or arrangement, according to which they behave differently, according to the position in which they meet a second crystal of Iceland Spar.' The nature of this certain form was not determined until a hundred and forty-three years later, by Fresnel We see how far Huygens had progressed in these investigations. They were first published in the year 1676 by a discourse to the Academy in Paris, and then in 1690 under the title *Essay on Light*, one of the most remarkable documents of early great progress in scientific investigation. The last essay published by Huygens himself, called *Cosmotheoros* and dedicated to his brother Constantine, discusses thoroughly the idea previously put forward by Giordano Bruno regarding the multiplicity of planets similar to the earth in space, fit for the habitation of living beings and probably also inhabited. Huygens

enjoyed, in respect of this idea also, the advantages of a country in which, thanks to Luther's deeds, he had not to fear the anger of the Pope. Newton, who shared this advantage with him, showed by his success even more clearly its importance for the progress of science.

ISAAC NEWTON

1643–1727

NOT quite a year after Galileo's death, a weakly child was born in the village of Woolsthorpe in East Anglia, whom it was hardly hoped to rear, but who was destined to be the author of one of the greatest revelations which mankind had ever received from scientific investigation. Newton discovered universal gravitation, the force which holds the heavenly bodies together, guides earth, planets, and moon in their paths, acting according to a fixed and highly simple law; while it is also the force which causes a stone to fall to the ground, or to describe its trajectory. Indeed, it acts between all matter, earthly or heavenly, small or large. For the first time therefore, the whole of the visible world appeared as a single great unity; heaven and earth ceased to be opposed to one another. Nevertheless, the Universe only became more astonishing than ever before, when everything was found to form a single whole, united by an all pervading and uniformly acting force, to which all visible motion is subjected, from our nearest surroundings on earth to the whole solar system and likewise to the other more distant suns, which revolve around one another. A new insight was given to man, which once grasped, should have raised him spiritually, and made him better and nobler. This great increase of our knowledge concerning the nature of the world in which, at first completely ignorant, we find ourselves,

was brought forward and supported by Newton in the work *Philosophiae Naturalis Principia Mathematica* ('The Mathematical Principles of Natural Knowledge' would be a suitable translation) At the same time he points out the way to all future investigation, and indeed, as regards mechanics – the phenomena of motion of massive objects – he even completes the investigation in all fundamental respects. If we open the book in order to examine it in detail, we are astonished, quite apart from the main discovery, by every part of it, and overwhelmed with admiration for the greatness, the extent, the power, as well as the fineness of structure, of what he erects upon the foundations given by Pythagoras, Archimedes, Leonardo, Stevin, and in particular Galileo and Huygens, using the material afforded by Copernicus, Tycho and Kepler, and the tools provided by mathematicians from Euclid to Descartes, with very essential additions of his own. We are not less astonished, and almost overwhelmed, by the countless number of single achievements, which, from whatever side the work is regarded and studied, are revealed to anyone capable of comprehending them. The whole, when we consider the richness of its contents, the general and detailed form, and the impression it makes of towering greatness, can only be compared to a grand old Gothic cathedral. one stands in front of it filled with astonishment, absorbed in gazing at it, and without words to express one's impressions. Great cathedrals were built in numbers by the masters of Gothic; but among the works of men of science, Newton's *Principia* is unique of its kind. The artist is in a different position from that of the man of science; he can create and work from his own mind without limits, and in so far as he possesses the necessary materials, he will always produce work corresponding to the greatness of his powers. But the scientific investigator depends in his work, apart from the favourableness or otherwise of external circumstances, upon the laborious and exhaustive

collection of natural knowledge, which can only be obtained from outside, from the world as it is, – and it is generally surprising and peculiar in an unexpected way Without a great store of knowledge thus collected, no great work of science can result, and Newton was fortunate in being in possession of the work of so many rare spirits which we have just reviewed, from Archimedes to Huygens. But the manner in which he grasped this knowledge, and greatly increased it on his own account, was worthy of the great achievement of his predecessors, and forms a monument to them and to him; science should be thankful to possess such a monument.

Coming now to consider the new matter which he himself added, we are compelled by its richness to limit ourselves somewhat – even more than in the case of Huygens – but not to the point of being unable to give a fairly complete picture

One of Newton's especial achievements was his elucidation of the fundamental concepts: mass (*massa* or *corpus*),[1] weight (*pondus*), force (*vis*) Without this elucidation, the *Principia* could not have been written. Mass means for him – and for us to-day – always the measure of inertia, that is, the quantitative expression of the tendency, discovered by Galileo, of every body to oppose change of velocity [2]

[1] Newton wrote his *Principia* in Latin, his *Opticks* was written in English

[2] This meaning of the word 'mass' in Newton's work entirely corresponds with its application throughout the *Principia* The fact that Newton did not expressly define the concept of mass in this way, has often been used as a reproach to him But we must remember that concepts in science do not by any means rest upon the definition of words, but that, on the contrary, a concept must gradually be formed hand in hand with the growth of experience, in order that it may be of such a nature as best to serve the representation of observed reality When growing experience has brought us to such useful concepts, we may then proceed to describe in words this mental possession, that is to say, to put forward a definition of the concept What critics may therefore rightly think is the following that Newton arrived at the complete possession of the concept of mass as we have it to-day, but that he left posterity to produce an improved verbal definition of it, and also to test the usefulness of the concept further The addition which experience has led us to make to Newton's concept of mass is of quite recent date, it belongs to the last of our series of men of science. It has caused no change in the concept itself,

Force is every cause of change of velocity. Weight is the force of gravity, which acts upon the body in question on the earth. The fact that mass and weight are proportional to one another for all bodies, is clearly stated as an experimental fact.[1] The fundamental experimental facts had already been recognised by Stevin and Galileo, in the equal rate of fall of all bodies, and in a more refined form by Galileo in his discovery of the equal rate of oscillation of all pendulums of equal length.[2] The latter fact was tested by Newton with still greater accuracy than Galileo, using pendulums of material of such different specific gravity and nature as gold, silver, lead, glass, sand, rock salt, wood, water, wheat, and he found it to be confirmed in every case[3] In these experiments he took into account the frictional resistance experienced by pendulums, in common with all moving bodies, at least in the air, whereby he brings by way of preface a comprehensive investigation, which itself has become of fundamental importance, concerning frictional forces in various media

A second great advance of Newton's is the clear statement of three laws of motion for all matter. The first two are: (1) Galileo's law of inertia and (2) Galileo's law of the proportionality between force and acceleration, whereby however Newton, instead of taking acceleration, that is the change of velocity in unit time, takes change of momentum, that is to say, the change in unit time of the product of mass and velocity, which had appeared since Huygens' investigation as a measure of the effect of forces It is clear that this refinement, introduced by Newton as compared with Galileo, is only of importance as regards variable masses (and also moments of inertia). But it is also true in this case even for non-material masses, as has been shown by the very latest experimental results.[4] It is directly clear that the law of

[1] *Principia lib.* 1, *def* 1 [2] *Dialogues*, first day [3] *Principia lib* 3, *prop* 6
[4] See my statement in *Über Aether und Uraether*, 2nd Ed (Leipzig, 1922), p. 48

inertia is only a special case of the general second law of motion, but one which, on account of its great importance, appears to merit a special statement. Force, according to the definition of the second law, is decisive for all change of motion. But here we have the peculiar fact that force can be detected and measured without change of motion, namely in cases, investigated by Archimedes, of equilibrium between forces; for example the force of gravity, or weight, in the case of a balance This is taken into account by Newton in a special analysis of the concept of force.

The third law of motion is one introduced by himself; it is the law of the equality between action and reaction. It deals with a peculiarity of all forces in nature, namely their occurrence in pairs, so that to every force acting in any direction, there belongs another force acting in the same straight line, and of the same magnitude, but opposite in direction. Newton derives this law expressly from experience – very simple and everyday experience, of which he gives examples – just as Galileo derived the two first laws from experience. Indeed, every person of sense must regard it as self-evident, that everything relating to natural science can only be derived from experience. To experience then belong all observations made to test the correctness of conclusions drawn from laws which, perhaps, were originally only founded upon a small degree of experience.

These three laws of motion occupy a further peculiar position in Newton's case; they are given by him a meaning hitherto unthought of, even by Huygens, namely that they are simple and self-evidently valid for all matter, including that in cosmic space This makes Newton the founder of the mechanics of the heavens The fact that he could devise this mechanics successfully – and he did so to a point which has left us nothing of importance to add up to to-day – using laws of motion derived only from terrestrial matter, the fact in other words, that there are laws of motion valid for all

matter, could certainly not have been foreseen; Newton had rather to provide the proof by successfully developing his mechanics of the heavens, and this meant, even without the simultaneous discovery of the general law of gravitation, in itself a great and new insight into the nature of the world It may be remarked by the way, that the universal validity of the laws of motion is better assured than the action of gravitation over space of any extent We know from the motion of the farthest double stars, which can be determined by Doppler's principle, that the phenomena of motion there taking place are of the same kind as, and take place under forces similar to, those in our solar system, but we have no definite assurance that the gravitational forces between our sun and stars at any distance act according to the square of the distance; the case might also be otherwise

Newton's three laws of motion are exhaustive even to-day for all known phenomena of the motion of matter, and in part even further; and in so far, dynamics (the doctrine of the motion of matter) reached with Newton its full and fundamental development

By the strict application of the laws of motion to the heavenly bodies, Newton arrived at a knowledge of the forces which act between them. The fact that such forces must exist, say between earth and moon, was shown by the curvature of the moon's path; without the action of force, it would only possess uniform motion in a straight line, according to the law of inertia The case of the moon is the same as that of a body projected horizontally near the earth; this body likewise describes a path curved in the direction of the force acting upon it. If the velocity of the body projected horizontally could be made sufficiently great, it would no longer fall to the ground, but travel around the earth like the moon, which is drawn towards the centre of the earth by the effect of gravity[1] Forces must also be present in the case of all

[1] *Principia, lib.* 1, discussion of definition 5.

the known paths of the moons and planets, which are directed from all sides in each case towards a fixed point. Newton thus arrives at a thorough discussion of such 'centripetal' forces, concerning which he states a large number of theorems. He here covers in part the same ground as Huygens with his 'centrifugal' force;[1] for centripetal and centrifugal forces are equal to one another, but opposite in direction, in the case of a circular path. Newton then investigated the form of the path, and the motion in it, in the case of various laws of centripetal force, both with and without frictional force, which latter may again be proportional to the first or second power of the velocity; here a great development of geometry took place [2] It appeared that motion according to all three laws of Kepler, only occurs when the centripetal force is directed towards a focus of the elliptical path (more generally a path in the form of a conic section), and when it acts according to the inverse square of the distance, and is proportional to the mass, all frictional forces being absent. According to the third law of motion, the force between sun and planet, earth and moon must be mutual, and it follows from this, that both must be in motion about their common centre of gravity, and also that the masses of both enter equally into the magnitude of the force The law of the actual force acting between sun and planets, gravitation, was thus grasped. Since the four moons of Jupiter and the moons of Saturn (in Newton's time five had already been found and observed) act according to the same laws, as Newton shows in detail, the law of gravitation is also proved for these bodies, and finally also for the comets, since, as Newton, with the important assistance of his pupil Halley, shows in the case of several of them, they move in conic sections with the sun as

[1] Newton recognises Huygens' previous work by a special note (*Principia, lib* 1, *sec* 2, *prop* 4, *scolium*)

[2] Newton also studied for the first time, in a special essay, lines of the third order, altogether, he made very great extensions of the analytical geometry founded by Descartes.

focus. The law of gravitation is thus shown to hold for any two masses of the planetary system, they attract one another with forces proportional to the two masses, and inversely proportional to the square of the distance between them.

Newton already regards as a conclusion of this the existence of disturbances, exerted by the planets upon one another through their mutual forces, and thus going beyond the laws of Kepler. He considers in particular the influence of the gravitational force between the sun and the earth's moon upon the path of the latter, and is able to give a full explanation of the irregularities in the motion of the moon. If the law of gravitation is true for any two masses whatever, it must also be true for any two parts of the earth; and therefore for a body on the earth's surface, and the whole mass of the earth. The resulting force upon the body, which is known as its weight, must be the resultant of all the single forces acting between the given body and all single parts of the earth, in accordance with their masses and the square of their distance. This brings Newton to calculate the resulting forces for spherical masses such as the earth, and partly also for non-spherical. He finds that the resulting force for any point outside the sphere has exactly the magnitude and direction that it would have if the whole mass of the sphere were concentrated at its centre The attractive force inside the sphere is given by another law; here the force decreases as we approach the centre of the sphere, in simple proportion to the distance from the centre; from this we know the force of gravity in the interior of the earth. Newton thus arrives at a correct comparison between gravity on the earth's surface and that acting upon the moon, the latter being calculated from the centrifugal force of the moon, and hence from the distance and period of rotation of the latter. It is found, that making use of the size of the earth's radius, first determined in Newton's time with sufficient accuracy, that in

actual fact the force of gravity falls off from the earth's surface to the moon, in accordance with the square of the distance, and hence that the force of gravity known from the weight of objects upon earth is actually only a special case of universal gravitation [1]

Newton also calculated the flattening of the earth at the poles resulting from centrifugal force, at a time when the opinion was still held by some that the earth is an ellipsoid lengthened in the direction of the axis. He also calculated the increase in the force of gravity on the earth's surface as we pass from the equator to the poles, and thus explained hitherto inexplicable observations concerning the change in the rate of pendulum clocks when brought into other latitudes; these observations could then be used to investigate the form of the earth. It now became for the first time directly obvious that, while weight and mass are exactly proportional for all bodies at the same place, the weight of any body can alter independently of its mass, a fact which follows from the law of gravitation.

An especially valuable achievement was the discovery of the true and complete explanation of the tides of the sea, which had been known from the earliest times. Galileo and Kepler had striven after an explanation in vain, although the latter already assumed an attraction exerted by the moon upon the water of the earth, just as he also considered from time to time an attractive force proceeding from the sun and acting on the planets. The attractive force of the moon could only explain the heaping up of the water on the side turned towards it, but not the same effect, always simultaneously present, upon the side turned away from the moon. All these phenomena result, as Newton showed, from the simultaneous action of gravitation and centrifugal force, the latter being produced by the fact that the earth also revolves once a month, namely together with the moon about

[1] *Principia, lib* 3, *prop* 4

the common centre of gravity of earth and moon. Furthermore, the effect of the sun has also to be taken into account, which Newton also did. But he goes further, inasmuch as he did not merely give a correct and complete qualitative explanation of the tides, but carried out calculations which enabled him to find from the known heights of the tide the actual relationship between the mass of the moon and that of the earth.

It was thus possible not merely to ascribe masses to the heavenly bodies according to a well-defined concept, which had never previously been imagined, but even to determine the magnitude of these masses. The calculation of the mass always takes place according to the law of gravitation, it is only possible when the body in question produced sensible motion in another body, as when the moon acts on the earth's water. The earth, Jupiter, and Saturn, move their moons, thus Newton was able to calculate the mass of these planets. The sun moves all the planets, and he is thus also able to deduce its mass. Knowing the mass of all these heavenly bodies, sun, planets, and moon, he is accordingly able, since their diameters are known, to calculate the specific gravity of the material of which they are made, in which calculation the earth always serves as the standard of comparison. He finds for example that the moon consists of specifically heavier material, Jupiter and the sun of lighter material, than the earth. By then estimating the mean specific gravity of the earth quite correctly as between 5 and 6,[1] he is able to give the specific gravity of the other heavenly bodies in ordinary measure He was even able to state the strength of gravity on the surface of the moon, Jupiter and the sun. What a difference as compared with past times in our knowledge of the unapproachable heavenly bodies! Through Newton we almost feel at home upon them.

[1] *Principia, lib.* 3, *prop.* 10.

Newton also calculated the motions of the earth's axis, and the consequences of them: viz., the precession of the equinoxes, and the nutation superimposed upon this.

A very remarkable conclusion was that the whole centre of mass of the solar system was either at rest or in uniform motion in a straight line. This is a great example of the centre of mass principle, in part recognised by Huygens, and fully set forth by Newton in his third law, according to which the centre of mass of a system of bodies, or its momentum, remains uninfluenced, when all forces and their reactions only act within the system. Only when forces act upon the system from without, forces whose reactions operate outside the system, does the centre of mass experience an acceleration in accordance with the second law, and the momentum undergo a corresponding change.

These extensive investigations were rendered possible for Newton by his discovery of a new method of calculation, that of 'fluxions,' as he calls it; it was later called by Leibniz the 'infinitesimal' or 'differential and integral' calculus. This is a method of reckoning with infinitely small quantities, the need for which appeared very early. Galileo was already obliged, in following out the simple motion of free fall, to divide up the whole time of fall into parts, in order to be able to consider the velocity in each part of the time singly, and similar problems arise in the investigation of every kind of motion. But since the velocity changes uniformly, and not in jumps, strictly accurate calculation requires the single periods of time to be infinitely small, whereby the distances corresponding to them also become infinitely small, and the question remains of how we are to regard the relation between distance and time, the velocity, as a relationship between two infinitely small quantities, and how we are to calculate it. In the same way in Descartes' calculation of the rainbow, and Mariotte's calculation of the distribution of pressure in the earth's

atmosphere, it was necessary to undertake a similar division and execute a large number of single calculations, and this could only really be done satisfactorily to any desired degree of accuracy, if the division had been carried to an infinite number of infinitely small parts. Newton recognised that as we proceed to a finer and finer division, the relationship between two corresponding magnitudes, such as distance and time, approaches a fixed limit, although the magnitudes themselves, taken singly, continually become smaller. The essential point of these problems is always of this nature. His special mathematical studies, which we cannot discuss here, but which in themselves were fruitful in results, enabled him to propound rules for the direct calculation of such limiting values, in the case when the division becomes infinitely small. This is the fundamental idea of Newton's calculus of fluxions, which gave him a correct solution of many mathematical problems hitherto only soluble with great difficulty, or not at all.[1]

The *Principia* is not by any means confined to the mechanics of the heavens. It develops and increases our whole knowledge of nature quite generally, and in a fashion fundamental for a long time subsequently, so that many later achievements in single departments appear unimportant by comparison, since they did not bring anything essentially new, but only refined upon what was already known. In particular, the fundamental lines of the phenomena of motion in liquids and gases (hydrodynamics and aerodynamics), in which department only Toricelli's law existed, were developed almost exhaustively by Newton as regards characteristic single cases.[2] He investigates phenomena of flow and formation of eddies in liquids, oscillations of liquids

[1] The method used by Newton for this purpose is not given in detail in the *Principia*. Since our present-day, easily learned, method of calculation was only later fully developed by Leibniz, what Newton managed to achieve at that time is the more astonishing.

[2] *Principia*, book 2.

in U-tubes, propagation of waves, internal friction or viscosity, the resistance to projectiles, damped oscillations, and many similar matters. He thus became the founder of the science of sound (acoustics) He developed, as the result of a profound insight into the phenomena of waves, the method of calculating the velocity of sound, finding it to be equal to the square root of the ratio between elastic force (pressure of the air) and density (specific gravity), and concludes from this that the velocity of sound must increase with increase of temperature. The calculation agreed with that already found since Leonardo's time by observation of echoes. It was a hundred and thirty years later that something new was added to this by Laplace, whereby agreement with later and more refined measurements of the velocity of sound was arrived at. Newton also developed the fundamental and simple relationships, holding for all wave processes, between velocity of propagation, wave-length, and period of vibration, or frequency. He then calculated the wave-length of a note of known frequency, and found it to be double the length of the open pipe producing the note.[1]

The velocity of water waves, and its dependence upon the wave-length, was also calculated by Newton directly (for small amplitudes), with the assumption of rectilinear motion of the particles of water; but he also remarks that the motion really takes place in circles, which fact was further developed

[1] As regards the determination of the frequency, Newton refers to Sauveur in Paris, who was the first to determine absolute frequencies of musical notes This was done by counting the beats – which Sauveur also interpreted for the first time correctly – between two deep notes, which were related to one another as fundamental and second, whereupon the two unknown frequencies could be calculated from the difference and the ratio All other sounds could then be given in absolute terms by ear, making use of Galileo's proof of the fixed relationship between the frequencies of the musical intervals Sauveur (1653–1716) was also the first to investigate thoroughly the different forms of oscillation of stretched strings, which are responsible for the harmonic overtones For this purpose he used paper riders, and gentle contact, in the same manner as to-day, and he invented the terms 'loop,' 'node,' and 'stationary wave.'

by Wilhelm Weber a hundred and forty years later Hydrodynamics, developed further upon Newton's foundation, has also succeeded in calculating the velocity of propagation for any amplitude, but nothing of fundamental novelty concerning these gravitational waves has been added

The wide scope of his *Principia* is already stated by Newton himself in his mention of those parts of science which were then only present in their beginnings, or where merely indicated as possible, and of which he says that we have not sufficient experience (*Copia experimentorum*), to be able to say anything of a definite nature.[1] He mentions the forces with which neighbouring particles of a body attract one another over the shortest distance, so as to hold the body together; from which it appears that he did not regard these forces – the molecular and the chemical forces in our present-day terminology – as did Galileo and even Huygens, as due to external pressure, but as acting like gravitation, but, being different from it. He also mentions electrical attraction and repulsion acting over greater distances, light and its phenomena and heating effects, and the phenomenon of life. The latter phenomenon is one which we, two hundred years later, still regard in all its aspects, with an amazement, and practically complete ignorance, as great as Newton's.

This is true to almost the same extent concerning the cause of gravitation (*causum gravitationis nondum assignavi*)[2] We only know as Newton did, that no matter is without it, that it proceeds from every single particle of the whole volume of every body, acts through everything, and maintains the law of inverse squares to the greatest distances; and we are obliged – if we leave aside assumptions which are not yet sufficiently tested – to continue to say with Newton 'Enough that the existence of gravitation has become clear,

[1] Conclusion of the *Scolium generale* at the end of the *Principia*.
[2] *Scolium generale*.

and that its action according to the laws put forward by us is proved, and sufficiently explains the motions of the heavenly bodies and of our sea.'[1] While in the last two hundred years we have made some progress in the physics of the ether, to which other phenomena, rendered more comprehensible since Newton's time, belong, we can only suppose that gravitation also may be a phenomenon connected with the ether. The phenomena of life are seen to have their roots beyond the region known to us as the ether, just as the ether lies beyond matter as regards its accessibility to our understanding, but not without being very closely connected with matter, a sign that everything in nature, both nearest and farthest, is everywhere interlinked

'Hypotheses non fingo' says Newton[2] in face of the limits of his knowledge, and he means by this: 'mere supposition – what has not been properly deduced from phenomena – is not put forward by me as science.' The warning therein contained is certainly of permanent validity, if the investigation of nature is to remain what all great men of science have held it to be· the collection of knowledge of the truth

Newton regards the question of the existence of God as not outside the range of science; for he treats of it shortly in the *Principia* at the close of the book.[3]

[1] *Scolium generale.*
[2] *Scolium generale.*
[3] End of the *Scolium generale* We may note particularly the following amongst all that Newton says concerning the Divinity: 'Totus est sui similis . . , sed more minime humano more nobis prorsus incognito' (Wholly like to itself, but in no way human in nature . . of a nature entirely unknown to us) This should most of all prevent erroneous interpretations, which certain other of Newton's remarks have caused those to fall into, who are not able to distinguish between words coming from Newton's own mind, which was instructed in so high a degree by the study of nature, and words which he took from the study of the Old and New Testaments, the interpretation of which by the theologians he obviously trusted much more than can the scientist of to-day, when historical knowledge is much further advanced as regards the composition of these writings.

He is right in so far as he sees in all completely understood knowledge the direct action of the Divinity,[1] and inasmuch as a Divinity not recognisable in all natural events, also those in the domain of the non-living, would in no way deserve the name, which is linked with the highest endeavour of humanity, reaching out beyond its own limits. More or less understood knowledge thus appears, from Newton's point of view, as Divine action become more or less intelligible in some of its details. None of the greatest men of science has ever maintained that when it becomes partially intelligible it is any less wonderful than when entirely unintelligible· as are living organisms, for example All their statements testify to the opposite. The results of investigation show this directly, every new piece of insight obtained, as that into the Keplerian laws by means of gravitation, immediately reveals a further great region of which we are ignorant – 'Rationem vero harum Gravitatis proprietatum ex phaenomenis nondum potui deducere' (But I have not been able to discover the reason for this property of gravitation from the phenomena), and the same is true to-day. The whole of the knowledge we have ever obtained through the medium of our senses still presents the same picture as Newton saw in his old age; a few beautiful pebbles and shells picked up on the shore of the great ocean of the Unknown. But the very fact of the astonishing interconnection between everything that we are able to fish up from this ocean, and so come to understand more closely, assures us that the mind of mortal man has the right to take refuge in this ocean, being itself a part of it, and drawn to it when human fears must be overcome, and when humanity strives to understand its own existence.

It is worthy of remark here that Newton's complete humility in face of the great unknown, together with the

[1] This appears particularly from Newton's letters to Doctor Bentley, a theologian who applied to him in regard to these questions

majesty of that which he brought to our knowledge, in no way produced a similar state of mind in the next generation; rather the very opposite was the case. We only need think of the 'Encyclopaedists' (Diderot, d'Alembert and others) and also of Voltaire. This obviously depends in part upon the fact that Newton presented to the mathematically gifted, and those with literary powers – both of which types are much more common than those with a gift for science – a great deal to do and to work out, that was already firmly founded in his own achievements. This led to a high regard being paid to those who performed these functions, whereas their sphere of activity was practically devoid of any contact with nature, which always keeps the true investigator humble by reason of the mass of the unknown hidden in it. It thus came about that the first main result of Newton's magnificent achievement was arrogance. Besides, in this period of 'enlightenment,' the untenability of a great deal of the moral sciences, especially theology, was rendered evident by the sudden advance in natural science due to Newton. Theology was supposed to supply the people with religion (that is, connection with the world of spirit), in this it failed for want of agreement with the unity of reality, and the result was a general uprooting of men's minds.[1] This process is not yet concluded even to-day; it results in materialism, which sees the main objects of the successful investigation of nature in mastering nature and in improving technology; and furthermore, allows these successes to serve, not the good of the people, but as a basis for greed of gain. Before matters got as far as this – the age of steam and then electricity – new investigators were still to come, who were again quite humble-minded, and discovered many more and quite different things. But it is noteworthy, and in conformity with

[1] We only need to remember that both the Popes and Luther had been opponents of well-founded natural knowledge since the time of Copernicus. It is also characteristic in this connection that Diderot and Voltaire were both educated by the Jesuits.

the uprooting, that the period of 'enlightenment,' at any rate the beginning of it, coincides with an almost century-long pause in great scientific progress. This is the time from the appearance of Newton's *Principia* (1686) to that of Watt on the one hand, and Coulomb, Galvani, and Volta on the other, who (all round about 1780 and 1790) created the foundations of the new development we have mentioned. For this however, remarkably enough, the development of new means or new tools of knowledge was in no way necessary, but merely the re-adoption of modest and patient devotion to nature. This is also true of the discoveries of Scheele, Priestley, and Cavendish (in the years 1770 and 1780), who founded the new chemistry.

An important and outstanding part of Newton's investigations was his discoveries concerning the colours of light. Here he appears entirely as an experimenter, as master of the art of observation, who puts carefully considered questions to nature by means of lenses and prisms. The only previous example, although in a quite different direction, of experimental activity so wide in extent, and so comprehensive and illuminating in its effects, was the work of Guericke. A great deal had been found out about light from the time of Euclid to that of Kepler, and so on to Huygens, but the nature of colour, the relation of coloured light to white light, the development of colours in the rainbow, indeed everything in which we have to do not with light alone, but with colour, had still remained incomprehensible The tendency was to regard white light as the original thing given, as by the sun, and as simple in its nature, and coloured light as compounded of white light and something which colours it, something coming from a coloured body and acting upon the white light Newton started from the colours which result from white light without the assistance of coloured bodies, as in the waterdrops of the rainbow, or in the colourless glass of a prism used to refract light. By adding experiment to

experiment in a well considered manner, and conclusion to conclusion – as we may read in the first book of his *Opticks* – he arrives at the proof of the compound nature of white light, and the existence of certain mono-chromatic lights which cannot be further decomposed, as they appear in the rainbow or in the prism, passing from red through yellow, green, and blue, to violet. These when mixed give white, and are contained, already mixed together, in the original white light. When refraction occurs, as in the raindrop or the glass, the various colours separate, forming the spectrum, and they separate on account of their own different degrees of refrangibility. 'Light rays of different colour are also of different refrangibility' is one of the principal results of experiment in Newton's *Opticks*

Every such sentence is always followed by the 'proof by experiment,' mostly by whole series of experiments varied in all sorts of ways, such as to-day also form the introduction to scientific optics. An important matter is the proof that ordinary coloured bodies are in no way capable of changing the colour of light rays, but that they merely act selectively, so that red paper for example, simply has the property of reflecting more red light than light of other colours which falls upon it simultaneously, but not of making, say, red light out of green. If the light of the sun, therefore, were monochromatic, say red, as found in the spectrum, no other colour would be visible; all bodies would then only appear more or less bright red, down to black. Only one hundred and fifty years later did Stokes find, in 'fluorescent' and 'phosphorescent' bodies, cases outside the range of Newton's law; these bodies are actually able to change the colour of light.[1] Newton then also showed that all sensations of colour whatsoever experienced by the eye, may be produced simply by mixtures of the pure colours from red to violet occurring in the

[1] Stokes lived between 1819 and 1903, and was professor of physics in Cambridge.

spectrum; thus purple, for example, is a mixture of red and violet. He also gives a rule, the colour circle, by means of which the results of such mixtures may be predicted approximately. It is noteworthy that he already recognises how imperfect the eye is (without the assistance of a prism) in judging mixtures of colours, for example, the eye perceives as 'white' mixtures in which by no means all colours are present, as they are in ordinary white light, fewer colours are sufficient when mixed in suitable proportion, to produce the sensation of white in a way indistinguishable from the ordinary sensation

These results of Newton's, stated so clearly with so much detail, and with admirable caution, long suffered a peculiar fate. they met with very sharp opposition. Best known from later years is perhaps Goethe's appearance on the field with his colour theory; but even immediately after the appearance of Newton's publication many objections were made. As is often the case in the history of science, when fundamental work, which brings something quite new, appears, simple misunderstanding is responsible. Such misunderstanding frequently depends upon loose terms, which everyone imagines to understand when they are used, but nevertheless does not understand. A bad term of this description is the word *colour*; it has at least three different meanings; 'red' for example may mean: (1) red light, that is the ray of light which when falling on the eye produces the sensation of red; (2) red may mean this sensation itself, the sensation of colour in the observer; (3) red may also mean a red colouring matter, that is a substance which reflects or transmits red light better than other kinds of light, and hence makes red light out of white light. It is obvious that the scientist who wishes to explain the nature of light, will, like Newton, mean the first, which by the way, Newton himself states with complete clarity.[1] It is equally true that the artist like Goethe, who in

[1] *Opticks*, book 1, part 2, prop. 2, definition

the first place is interested in the living man, will generally think of colour in the second sense.[1]

The painter will generally take the third meaning as a basis When he mixes yellow paint (for example gamboge) with blue (for example prussian blue) he gets green. But yellow and blue light when mixed give a more or less pure white. The white light thus obtained is identical for the colour-sensitive eye, and therefore in the second meaning of the word 'colour' above, but by no means in the first meaning of it, with the white of daylight, the latter being a mixture of all colours (in the first sense of the word). These examples serve to show – we have not space here for further discussion – into what confusion we may fall with the word 'colour' if we do not start, as did Newton in his *Opticks*, from a clearly stated and sharply worded definition.

The questions of colour have all of them been set upon a firm foundation by Newton's experiments. This was done by observations in experiments which, in part, were not entirely new, but which were used by Newton to draw new conclusions very general in range, and these led him to important developments of knowledge.[2] From what we have already said, the reader will have formed some conception

[1] We note when reading Goethe's theory of colour, that he does not succeed in grasping what Newton meant by colour Goethe cannot get away from colour *impression*, and hence does not realise that in order to understand the matters in question as far as possible, it is first necessary to investigate that which *produces* the impression, that is the light itself, that which passes through space in the form of a ray and possesses properties which are quite independent of the presence of an observer's eye. This is what Newton was investigating. Scientific research must always proceed from the simpler to the more complicated, and not conversely It is clear from much that Goethe says in his theory of colour, that we are wrong in regarding him as a scientific investigator, he was a great friend and spectator of nature, and that is much, when after the manner of Goethe

[2] Markus Marci in Prague described in about 1648 experiments with prisms and lenses which in part were similar to those of Newton, without however arriving at clearly defined and regular results, upon which further construction could take place, also, he appears to be ignorant of the important law of refraction due to Snell (see E Mach, *The Principles of Physical Optics*, trans by J. S Anderson and A. F A. Young, 1926).

of the confusion upon which Newton threw new light. The fact that his contemporaries did not realise the existence of such confusion, and did not therefore admit it (this, indeed, did not happen until much later) caused Newton much uneasiness, which went so far that at times he was inclined to abandon his scientific activities [1] For the Royal Society, to which he first communicated his results, required in every case that a reply should be given to objections and opposing views communicated to it, of which in this case there was a rich harvest, and Newton usually found it very much more trouble to disentangle the trains of thought of his opponents, than to make fresh discoveries in nature. If we examine the literature in question to-day, we get a strong impression of its complete uselessness, no new knowledge resulted We thus again see quite clearly that great advances only come from single personalities, and not from societies, no matter how excellent the persons may in general be of which they are composed. Such societies should therefore see their province exclusively in protecting and forwarding the work of the single and all too rare individuals who show themselves to be bringers of progress in any direction.

It was not however only the question of colour which brought what Newton felt to be embarrassing complications, but also the question of the nature of light generally. Newton had made careful investigations concerning the peculiar colours shown by 'thin plates,' such as soap bubbles, or the layers of air between two surfaces of glass pressed together, and here also he made fundamental discoveries The coloured rings which are seen under an ordinary lens when it is laid upon a plane glass plate, have since been generally known as 'Newton's rings.' In summarising his

[1] He regrets in a letter written in the year 1672, in one of the connections which follow later above, that he has sacrificed such an important element of happiness, as his peace, in order to chase after a shadow.

account of the phenomena, he concludes that along the path of a light ray there must be states, or 'fits' as he calls them, of periodic change of different kinds, which he regards as 'fits of easy reflection and easy transmission,' and he is able to measure the very small distances apart of these states, and finds it greatest for red light and smallest for violet light. This is the fundamental fact which he deduces from observation in a great variety of experiments He remarks: 'What kind of action or disposition this is; whether it consists in a circulating or a vibrating motion of the Ray, or of the Medium, or something else, I do not here enquire.'[1]

Further advance was actually only assured by quite new experiments made a hundred and thirty years later by Fresnel. Newton carefully avoided dealing with questions which were not directly connected with a comprehensive and clear description of the phenomena he had observed. In particular, he did not propound any theory of light. Quite in opposition to what Newton himself plainly says in the second edition of the *Opticks* in 1717, we quite commonly meet even to-day, and the assertion that he did propound a theory. He did not even set up any definite hypotheses concerning the nature of light. He says at the beginning of the first book of his *Opticks*: 'My Design in this Book is not to explain the Properties of Light by Hypotheses, but to propose and prove them by Reason and Experiments.' In the second book, in which the colours of thin plates are especially dealt with, he describes a series of twenty-four experiments, and follows these by notes and analogies, and then gives thirteen further related observations. In the third book, which he expressly states in the preface to be unfinished, he brings still further observations, which later became of importance, on the diffraction of light, and closes with thirty-one questions concerning a large

[1] *Opticks*, book 2, part 3, prop 12.

number of matters which he regards as worthy of consideration.

In spite of these facts, we nevertheless find all too often even to-day, and even in text books of optics, the description as an historical event of importance, of a controversy between the 'emission or emanation theory or hypothesis of Newton' and the 'undulatory or vibration theory or hypothesis of Huygens'; this must be referred to the feeble mental grasp of Newton's and Huygens' contemporaries, and also to the carelessness of their successors, who for the most part became acquainted with these great men at secondhand, along with polemical statements introduced by others. For Huygens likewise attempted simply to bring facts together, as many as possible, which appeared likely to lead to an insight into the nature of light, and this is also quite generally the manner in which our knowledge of nature gradually comes into being. It has never been furthered by mere opposition of different suppositions, but always by discovery of new facts by means of suitable experiments and observations. It is true, however, that narrow minds are not able to keep the living facts in front of them, and are also unable to regard science as something which is continually progressing; hence for their own part they feel the need for schematising what is already known, with the result that it too easily becomes fixed in a rigid and onesided manner. They should not ascribe this mode of thought to the great scientists, who so obviously did not possess it, and they should not obscure the essential in the progress of knowledge by emphasising controversial questions, these have always been fruitless, since they amount to an 'either – or' (*tertium non datur*), which has nothing to do with nature.

The case of light, as the result of new and in part fairly recent discoveries, has proved to be an excellent illustration of this fact Light is certainly a wave motion in the ether, as Huygens already imagined – this however also includes the

changing conditions in the ray which Newton dimly visualised – but it has astonishing and unexpected peculiarities (namely it is transverse and electromagnetic in character, and not as Huygens first tried to regard it, longitudinal and elastic). Nevertheless, this in no way contradicts the old idea, which Newton also expresses in some places, of a something projected with the velocity of light, inasmuch as every wave is moving energy, and energy always possesses both mass (inertia and also weight), quite as much as any material body. How much more wonderful is nature than we ever suspect before we come to know! All great men of science have been sensible of this; we feel it in reading their works. But most ordinary writers do not do them justice.

Newton's life history is quickly told.[1] He was very comfortable in England He grew up under the care of his mother and grandmother, since his father died before his birth. He proved unfitted to look after the family estate; but they were also not able to do much with him at school. It was great good fortune that in spite of this, and apparently ill-prepared, he was able to enter the University of Cambridge at eighteen His original tastes for mechanical occupations,[2] for drawing, and for reading, then quickly developed, by way of his mathematical studies, in the direction where his lifework was to lie. He worked on his own account on Descartes' geometry and Kepler's works; Euclid soon appeared to him as self-evident. In this early period also fall his own first experiments with the prism on the nature of colours, his first ideas concerning gravitation, and the beginnings of the calculus of fluxions, all of which can be traced back to about the year 1666; they were then

[1] A biography of him by David Brewster appeared in 1831, see also the works by S Brodetsky and V. E. A Pullin, both published in 1927 in London

[2] We are told of all kinds of mechanisms which he built, but which were later all lost.

gradually developed further. His communications on these matters to his university teachers[1] resulted in his being made the successor of one of these, and thus professor of mathematics at Cambridge in 1669 at the age of twenty-seven. He held this position actively until 1695, and all the achievements which we have described above fall in this period, which lasted to his fifty-second year.

Right at the beginning he also gave lectures concerning his optical discoveries. As a result of these, Newton also came upon the idea at that time, that the production of colours by refraction stood in the way of improving telescopes in which lenses were used, and this led him, in 1668, to make the first reflecting telescope. This excited general interest, so that after it had been tested by the Royal Society and a description sent to Huygens, it was also shown to the King, Charles II.[2]

The fame of the telescope soon caused him to be made a member of the Royal Society in 1672, and he remained closely connected with it during the whole of his life. Newton's consideration of the motions of the planets, which already began in 1666, led him, on the basis of Kepler's laws, to assume a power proceeding from the sun and inversely proportional to the square of the distance. An identical force must also proceed from the earth and keep the moon in its path, and this force might – if everything were as simple as possible and nothing else came into play – even be the same as the ordinary force of gravity of the earth, reduced in proportion to the square of the distance. One of the most important ways of testing this idea of universal

[1] The beginnings of the calculus of fluxions were already communicated to wider circles in 1669, and later also in letters by Newton himself. (Thus in 1679 to Leibniz – see the preface to the *Opticks*), the complete publication of the calculus of fluxions only occurred in 1736, after Newton's death

[2] This telescope, or a second apparently likewise built by Newton himself, is still carefully preserved in the library of the Royal Society, it bears the date 1671

gravitation was to see whether it agreed numerically with the radius of the earth and of the moon's orbit, whereby however, it remained to be proved that the force is to be reckoned from the centre of the earth, that is to say, that gravitation acts through the whole mass of the earth, even from the most distant part of it, quite undiminished. According to what was then known concerning the earth's radius, the agreement was only approximate, and this led Newton to lay the idea aside and devote himself entirely to his optical and mathematical studies.

Not until the year 1679 did he again take up the mechanics of the heavens, but he then continued to work at it with the greatest energy. Apparently the occasion for this was furnished by the expression by members of the Royal Society of various ideas, which obviously were linked with Kepler's laws and also with Huygens' laws of centrifugal force (published in 1673), and had already led to the discussion of a law of inverse squares [1] Newton then, after a new measurement of the earth's meridian in 1682 had furnished a secure basis for the above mentioned calculation with respect to the moon, put forward in place of suppositions and disconnected statements, his well-constructed *Principia Mathematica Philosophiae Naturalis*, the rich contents of which we have already admired. The work was finished at the end of 1684; it appeared in print in 1686.

In the year 1685 an event of importance in Newton's life occurred. King James II desired to bring Catholicism into power in England, and for this purpose wished to have a monk of no particular capabilities accepted as a graduate

[1] In particular Hooke, and Halley (the first eight years, the latter thirteen years younger than Newton), and also Wren, may be mentioned as likewise busily engaged in considering the origin of the mechanics of the heavens, there can be no doubt that Hooke was rather a hindrance to Newton, whereas Halley was a help, inasmuch as he continually urged Newton to publish the *Principia*, and was also a close friend in other ways Halley's assistance, particularly as regards the comets, has already been mentioned above

of Cambridge University The University refused. But when the King's command was repeated with threats, it was already near to giving way, but nevertheless formed a committee from among those of its members who stood firm, to defend its rights Newton was also elected to this committee, and it was successful; the King retracted his command. A further result of this was that Newton was elected, in 1688, Member of Parliament for Cambridge University, but he only sat for two years.

Newton's Cambridge professorship did not make great demands upon him, and gave him the freedom necessary for his extensive researches, but it also only afforded him a very modest livelihood It appears often to have happened in England at that time that men distinguished at the University were given another and higher field of activity in their later days So Newton was offered in 1696 the position of Warden of the Mint, being regarded as particularly suited for the post, not only as a person of established reputation and a mathematician, but especially as a metallurgist, by reason of his numerous experiments with alloys for making telescope mirrors, and also in many other and varied chemical matters.

In this position, which was important at the time on account of the reformation in the coinage which was taking place, he was able to perform important services. The change in the coinage was completed in two years, whereupon Newton was made Master of the Mint, which position he retained for the rest of his life. In the meantime, he was able to supply a deputy for his Cambridge professorship, until he gave it up in the year 1703. The leisure afforded him by his position as Master of the Mint, was used for supervising the republication of his work, and for historical study, which however he did not intend for publication.[1]

[1] Such studies were in part published during his life against his will; their full publication only occurred after his death.

He also always remained an active member of the Royal Society, becoming its President in 1703, and remaining in this office until his death.

Newton was the first great and comprehensive investigator in history, to whom age brought no modifications of the convictions which he had expressed during his life. Although he had still many battles to fight, since doubts arose concerning his priority in the invention of the method of fluxions – doubts which he would not allow to be held as being contrary to the truth – he nevertheless had everyone on his side in his own country, and his position as Master of the Mint ensured him a comfortable old age. His household, since he himself did not found a family, was conducted by his married niece; he kept a carriage and three male and three female servants. He was hospitable and amiable, and delighted in great generosity.

Newton was not above the middle height, and somewhat stout in his old age. He had long and wavy hair, which was vigorous and silver white in his old age, so that he did not wear a wig. In his eightieth year he became infirm. He died at the age of eighty-five, and was buried in Westminster Abbey with all the honour due to one of the greatest of the land. A fine memorial with a suitable epitaph is dedicated to his memory.

GOTTFRIED WILHELM LEIBNIZ (*1646–1716*)
DIONYSIUS PAPIN (*1647–1712*)

Leibniz's personality and life cannot here be described as completely as those of Newton and Guericke, although he has much similarity with these, since his achievements as a scientist are in the main indirect, concerned as they are with the great tool of scientific investigation, mathematics

He developed the calculus of fluxions or infinitesimals This method of calculation, which was specially designed for the prosecution of scientific investigation, and has become fundamentally important for it, deals with infinitely small quantities; Leibniz gave it the construction and form which has remained fully adequate until to-day In this mathematical achievement lies his relationship to Newton, to Guericke he is related by his extensive services to his country,[1] and the latter were to him, as for Guericke, decisive as regards his external life, his undertakings, and his manifold travels.

Leibniz was born in Leipzig; his father, whom he lost at the age of six, was professor of moral philosophy at the University there, and at the same time a notary In his earliest years he already began to read in the library of his father, far in advance of his school Latin, the old historians and classics with great enjoyment, and at fifteen he entered the university of his birthplace. Here, and then at times also in Jena, he first turned to mathematics; Descartes and Euclid were his studies, but he soon decided upon practical law as a career. At nineteen years he obtained his doctorate in law, at Altdorf, near Nuremburg, since his youth caused difficulties for him in Leipzig. As in his schooldays, so at the University, he made great progress, mainly by thinking for himself and using books chosen by himself, in everything at that time called science; he always arrived very quickly at the point at which he was able to go beyond the limits of existing knowledge on his own account, and he valued nothing more highly than the power and freedom to do so, as opposed to the advice frequently given that one should not attempt to do something new in matters which one has not yet studied fully.

[1] The latter are fully described in *G W Leibniz*, by Pfleiderer (Leipzig, 1870) There is an English biography of Leibniz by J M. Mackay, published in 1845.

By an essay on the reform of the theory of law, he attracted the attention of the Kurfürst of Mainz, who called him in 1668 to do legal work, whereupon his extraordinary versatility and power of work immediately led to his rising to continually higher posts in the service of the State. At this time, at the age of twenty-four, he was described in a letter of recommendation by one of his patrons as 'learned to a degree beyond anything that can be said or believed . . . industrious and fiery; independent in religion, but otherwise a member of the Lutheran church.'[1] At that time, it is true, State service in Germany was the service of small States, but Leibniz made higher plans on his own account He wished to keep Louis XIV, who at that time was already getting ready to take Strasbourg, well away from Germany, and for this purpose secretly worked out a memorial for this mighty prince which was to recommend to him the idea of conquering Egypt. The memorial was to be handed over in Paris, and Leibniz, provided with good introductions, carried out the project as a senator of Mainz, in the year 1672, the desired success was not attained

On this occasion, Leibniz found himself introduced into the highest circles in Paris, to which his published writings of various kinds no doubt also contributed Here he also made the acquaintance of Huygens, which had long been his desire, otherwise he buried himself, according to his own statement, in the libraries He thus came to know of a calculating machine invented by Pascal, which however only added and subtracted, and this he immediately perfected (no doubt utilising in part ideas which he had previously conceived) so as to make it execute multiplication, division and the extraction of cube roots. The machine was constructed in Paris with the assistance of the minister Colbert, and was recognised by the Academy, its construction served

[1] See, also as regards other matters, Guhrauer's biography of Leibniz, Breslau, 1842

as a model for the further development of calculating machines up to the present day

In the next year, 1673, Leibniz went for the first time to London. There the secretary of the Royal Society (Oldenburg, born in Bremen), quickly introduced him into the circle of the Society, to which he also showed his calculating machine brought from Paris. Boyle, one of the oldest members, gave Leibniz special opportunities to exchange ideas with the mathematicians of the Society, whereby his extraordinary gifts, in spite of his own very modest statements (also in writing to Oldenburg) concerning his then deficient mathematical schooling, appeared to have been correctly estimated; for he was immediately made a member of the Society. A year before, Newton had been made a member.

After two months stay in London, Leibniz went back to Paris, where he remained three years There he carried out extensive mathematical studies, having in this the help of Huygens, whose *Horologium Oscillatorium* formed the subject of his special study He also corresponded with the London Royal Society, exchanging ideas on mathematical subjects Leibniz thus moved in the circles which represented, in the person of the most eminent members, all ideas of that time concerning the necessity for calculation with infinitely small quantities which had arisen in the progress of science since Galileo's time; indeed, ideas concerning actual methods for this purpose, for Newton had already been for ten years in possession of one in his method of fluxions. It is certainly characteristic of Leibniz's quite extraordinary capacity for grasping the essential, and for immediately advancing to new results in all subjects that he took up, however little he may previously have concerned himself with them, when we see from the correspondence of that time that at the end of his stay in Paris, in the year 1676, he was already in possession of the new calculus in a fully developed state, calling it the 'differential calculus,' without anything having been published

about it from any side up to that time. Leibniz also contented himself, like Newton before him and as was common among learned men of the time, with communications to smaller circles, to London and of course in Paris; his first printed publication of the differential calculus, 'a new method for maxima, minima and tangents, which avoids fractional and irrational quantities, and a peculiar method of calculation relating to these,' appeared in 1684

Here we have for the first time the method, which quickly became general, of describing infinitely small quantities (differentials), the rules of differentiation are developed, which to-day belong to the fundamentals of higher mathematics. This terminology was the secret of the easy applicability of the new method of calculation Leibniz says himself on this point in a letter of 1678, that terminological expressions in mathematics are most helpful 'when they express the inmost nature of the matter shortly, and as it were give a picture of it.' 'In this way the labour of thought is reduced in a wonderful manner' In actual fact, mathematics, as far as it serves natural science, has the task of keeping the labour of thought directed entirely towards discovering the inmost nature of things, and then of forming such an image of the discovery, that it is preserved faithfully and unfalsified by means of the rules of calculation, and can assume almost any desired variety of forms, which are necessary for its application in complicated cases.[1]

Leibniz was soon interrupted in the prosecution of his mathematical labours by again entering into active political work. The Kurfurst of Mainz, in whose service Leibniz had hitherto been, died in the year 1673. Three years later,

[1] It happens in the case of more recent applications of mathematics that the labour of thought has been directed not so much to the discovery of the actual behaviour of nature, as rather to arbitrary interference with the course of calculation, whereby the picturing of the inmost nature of the thing can only be falsified This is obviously a misuse of the advantage of reduction of the labour of thought, since what has been saved is applied at the wrong point.

Leibniz accepted an invitation to the court of Duke Johann Friedrich, of Hanover, with whom he had already been in correspondence for some time, and this ended his stay in Paris The return journey to Germany was made via England and Holland When in London, where he only stayed a week, he inspected manuscripts of Newton, which contained matter relating to the calculus of fluxions This was also before his first publication on this subject, and hence it cannot be doubted that Leibniz did not work independently of Newton, who was the first to conceive the idea of calculation with infinitely small quantities But it is likewise clear that these ideas had gradually become known to many both from Newton and from Leibniz's remarks, and that nevertheless no one other than these two was able to give them permanent form, and further, that Leibniz alone gave them the final form which was so favourable for their application

At the court of Hanover, Leibniz was first employed as Librarian, and as writer of the history of the royal house, but he was soon in request for higher matters of law and state Along with these activities, and many other interests, he published during this period a further series of very important mathematical essays, relating to the further development and application of the differential calculus.

The last period of Leibniz's life brought him few satisfactions. It is true that he was able to witness the beginning of the rapid application and development of the differential calculus, but during his lifetime his services in this respect were not recognised It appeared for a time, however, as if he would receive the major portion of the credit, since in his publication he did not refer to the assistance which he had received, apart from Huygens, particularly in the circle of the Royal Society, whereas Newton openly recognised[1] that

[1] *Principia, lib* 2, *sectio* 2, *lemma* 2, *scolium* (1686, two years after Leibniz's first publication concerning the differential calculus)

Leibniz had, in a letter to him in 1676, already communicated to him something concerning the nature and range of his new method of calculation; but the position was soon reversed, since the Royal Society claimed all credit for the first originator, Newton. Contemporary judgments of this kind must necessarily rest upon the opinion of outside persons, that is of persons who not only did not make the discovery or invention, but were actually remote from it, and therefore not capable of making it, or at any rate did not follow the development of the ideas in question, and hence were not capable of forming a judgment The consequence of this is that contemporary judgments concerning the credit for great advances must always be worthless, the more so because even the knowledge of what such achievements depend upon, and what makes their excellence and enhances their value, is in any case only accessible, by inward experience, to the few who themselves belong to the ranks of the great investigators Posterity can more easily form a correct judgment, it already possesses and controls the ideas, about the origin of which a judgment is to be formed, and it also has at its disposal more complete means of following back all threads leading to the origin But contemporaries can form a true judgment of the living investigator from his manner and style of work, and they can recognise unusual powers by unusual achievements, whereby, however, a satisfactory judgment is always only possible between men of like nature (race). For this very reason every man of science ought to, and should, find deserved recognition first of all among his own people This was not the case with Leibniz. He was certainly, when young, highly regarded by not a few German princes, with some of whom he was even on terms of personal friendship, but when these princely patrons of his, whom he served with love and devotion, were dead, he found little consideration, and indeed at the last neglect from their successors (George of Hanover, who became King of England

in 1714); cared for only by his secretary, he died at the age of 70, a lonely man. Not until fifty years after his death was his grave in the Court Church at Hanover made recognisable by a suitable inscription

Leibniz is described as of middle height, stooping somewhat, with broad shoulders but spare of build. His hair was very dark.

Leibniz's many travels, his relationship to the princes, his great versatility, and his extensive correspondence, gave him great influence in the scientific life of his time He became in 1700 founder of the Berlin Academy. His correspondence, particularly with Papin, shows him concerned in many directions with inventions which only later became practicable, as for example the proposal to make a barometer without mercury, consisting of a flexible closed vessel with a vacuum inside and held by a spring in equilibrium with the atmospheric pressure; the aneroid barometer of the present day He was also concerned with the steam engine, as the following facts go to show.

Dionysius Papin, the first to conceive a steam engine with a cylinder and piston, and to construct one, was born in Blois (south of Paris), and studied medicine At the age of twenty-four he went to Paris, where he made the acquaintance of Huygens, to whom he attached himself, and this brought him also in contact with Leibniz, with whom he continued to exchange ideas by a correspondence which at times was very active.[1] Huygens at that time was busy with air-pump experiments (he also introduced in the course of them the flat plate with the convenient bell receiver set upon it, which has always since been retained), whereby Papin proved a very gifted and skilful experimenter. The work of Guericke which had just appeared concerning the

[1] See Leibniz's and Huygens' correspondence with Papin (edited by E Gerland, Berlin, 1881).

Magdeburg experiments, put the great powers of the atmospheric pressure into the minds of all investigators, and Huygens at that time designed a machine which was to pump the water out of the Seine for Louis XIV's fountains by means of atmospheric pressure. Papin carried out the machine and introduced it in the year 1674 to the minister Colbert. It consisted of a cylinder with a piston, this was first pushed upwards by gunpowder ignited on the floor of the cylinder, the excess of the gaseous products of combustion escaping by valves at the upper end of the cylinder; then, when the gases had cooled off, the air pressure drove the cylinder down, whereby it actuated the water pump through a rope running over a pulley. For every stroke, fresh power had to be introduced into a small hold underneath the cylinder, and set on fire [1]

Boyle in England had his attention drawn to Papin, no doubt by Leibniz, and invited him thither in the year 1675; he was to help him in his air-pump experiments and otherwise. Papin fulfilled this task in such a way, that in five years he was made a member of the Royal Society on Boyle's proposal. On this occasion he presented a paper on the 'Digester' which he had just invented, and which is still known under his name to-day, being used for cooking under increased pressure. In this Papin also introduced the safety-valve, which enables high pressures to be limited, and is to be found on every steam boiler He also observed the dependence of the boiling point upon the pressure, although at that time the temperatures were estimated only by the time of evaporation of a certain quantity of water from a hollow in the lid of the pot. Soon afterwards, Papin accepted an invitation to Venice to found a scientific academy, but only remained there two years, returning to the Royal Society

[1] We see that this motor was the forerunner of the later gas-engines which were introduced in about 1873, which also operated by air pressure, and made use of a mixture of illuminating gas and air instead of gunpowder.

in London again, which now gave him the title of 'temporary curator of experiments.' His duties were to attend to the experimental demonstrations at meetings of the Society.

In the year 1685 Papin was to learn that he had lost his native country, since all protestants were banished from France (Revocation of the Edict of Nantes). Many went to Germany, and were welcomed there, thus the Landgrave Carl of Hessen-Cassel invited a relative of Papin, and finally Papin himself, to the University of Marburg, and Hessen thus became a second home to him from that time forth for almost twenty years He also founded a family there. He lectured on mathematics and parts of physics, but his main efforts were directed towards realising several inventions with which he was continually busy, above all a variation of Huygens' powder motor, whereby hot steam was to be used instead of the powder gases, which offered, as he correctly realised, the advantage that a much completer vacuum would be produced after cooling the contents of the cylinder, and hence the air pressure would be made better use of, also no residue would be left behind This was the fundamental idea of the present-day low pressure steam engine The Landgrave also, when first he received Papin, showed great enthusiasm for such a machine, taking as he did a lively interest in all inventions of Papin, no doubt particularly because they were applicable to fountains, mills, and mines Unfortunately, Hessen, like the rest of Germany, was kept in a state of perpetual warfare by Louis XIV, and this continually diverted both the Landgrave's interest and also the necessary financial means from Papin's undertakings, with the result that they were often greatly hindered, this was a repeated disappointment to Papin, the more so as he was without means of his own of which he could make use. Orders were also sent from time to time which meant breaking off the work, or giving it an entirely altered direction. In these circumstances Papin published his plan for

the steam engine in the year 1690 before it had been carried out on an effective scale[1] He there also formulated the idea of the high pressure machine, in which the pressure of the steam in the cylinder drives the piston, and the production of a vacuum by cooling is unnecessary, and he already suggests the use of the machine for other purposes than pumping water, for example, for driving ships by means of paddle wheels. The piston rod was to be toothed, and act upon a toothed wheel on the axis to be turned. A boiler was not provided, the cylinder itself was to be alternately heated and cooled.

In the meantime Papin, in 1692, devoted himself to building a submarine boat, and in 1698 he turned his attention to the centrifugal pump which he had invented. The submarine boat was successful, after one or two failures, to the satisfaction of the Landgrave.[2] The centrifugal pump, a first application of centrifugal force as studied by Huygens, worked well with air, when used to ventilate a mine shaft; but for continuous pumping of water, the man-power used at that time was not sufficient for the very rapid rotation required.

In the year 1698 Papin's circumstances improved, for the Landgrave invited him, to his great joy, to be near him at the Castle, in order to construct a machine to pump water from the river Fulda to the top of a tower of the castle on the river bank Papin departed from the plans he had published, and made use for this purpose of a special iron boiler, the steam from which pressed either directly, or through a piston floating loosely, upon the water, while alternately, when the steam was cut off, fresh water flowed into the space occupied by the steam. The machine was unfortunately destroyed in November of the same year by

[1] *Acta Eruditorum*, August 1690

[2] According to the drawings which have been preserved, Papin's submarine may be described as an improved diving bell, closed at the bottom

the ice floating on the river, and this led also to the Landgrave's losing interest for the affair. Pumps in which steam acted directly upon the water had meanwhile come into use in England. Even thirty-five years earlier (1663) a pump of this kind had been constructed by Lord Somerset, Marquis of Worcester, with the aid of the skilful mechanic Kaspar Kalthoff in London, and excited great interest, so that Lord Somerset composed a special prayer for himself in order to preserve himself from excessive pride over his success [1]

After being forgotten for decades, no doubt for want of sufficiently skilful construction, this invention was taken up again by the Englishman Savery, who in the year 1698 (the same year as Papin) described a new and improved form of the pump, and showed it in 1699 as a model to the Royal Society, and later to the King of England. Landgrave Carl in Cassel heard of this and was thereby led to giving Papin, in the year 1705, a fresh order to carry out a machine of this kind. It was finished in 1706 and pumped water to a height of 70 feet; but the pipe line, which was cemented together from a number of pieces, did not remain watertight. The Landgrave then had a pipe made of copper, but was continually hindered from attending to the matter, and no experiments were allowed to be made without his presence. Finally, in the year 1707, even the copper tube was taken away from Papin, since it was destined for another purpose. This and other similar misfortunes, finally led Papin to carry out the plan he had always borne in mind, of again seeking his fortune in England. He first published in the same year an account of his water pumping machine in a special pamphlet which he sent to Leibniz, whereupon the latter communicated to him the idea of automatic operation of the valves, thus enabling the person who had to work the stopcocks to be dispensed with [2]

[1] See Poggendorff's *History of Physics*, [2] *Correspondence*, p 375

Leibniz advised Papin strongly against moving to England; and the change turned out to be fatal to him For the purpose of the journey he had constructed a small ship (capable of carrying four thousand pounds), which he provided with paddles, such as he had already seen in use in England when previously there; these were to be driven by hand With this he intended to travel down the rivers Fulda and Weser with his family and property to Bremen, where the ship was to be sent over on another ship, since he intended to fit it in England with the cylinder and piston for use with steam.

Before his departure he showed the ship to the Landgrave, on the river Fulda It was destroyed near Munden by the river sailors, who would not tolerate the presence of strange ships, and in England he found himself entirely without assistance His one-time patrons Boyle and Hooke were dead; the Royal Society would not interest itself in the many plans which he laid before them He died, obviously in great poverty, and finally lost to view, probably in the first half of the year 1712

Though Papin's fate was sealed, the further development of the steam engine nevertheless started from his idea of replacing the powder gases in Huygens' piston and cylinder machine by steam, and Leibniz's proposal for automatic operation was also soon carried out, though it was re-invented. Hooke had given Papin's publication of 1690 to an iron merchant, and very skilful smith, Newcomen, who carried it out with great industry, and then joined forces in the year 1705 with Savery, who had already pumped water by using a simple steam boiler, without cylinder and piston, in the year 1699, as we have already mentioned. Thus in the year 1711 the first low pressure steam engine with boiler, cylinder, and piston, and soon also automatic operation of the valves, came into continuous service. Its reciprocatory motion served for operating the drainage

pumps of a coal-mine, and more such engines were soon built for the English coal-mines. More trustworthy and efficient operation, and more general applicability through rotary motion, was first attained seventy years later by Watt, who added the new idea of a separate condenser.

JAMES BRADLEY

1692–1762

THE introduction of the Kepler telescope for astronomical measurement, of which Roemer was the pioneer, and a corresponding improvement in the accompanying divided circles, resulted in increasing refinement in the determination of the positions of the fixed stars. Particularly in view of the annual motion of the earth, astronomers had sought with growing hope of success since Copernicus' time for an apparent displacement, annually repeated, of nearer fixed stars as compared with more distant ones This displacement is called the 'parallax' of the star, and its amount gives us immediately the distance of a star in terms of the diameter of the earth's orbit Signs were also found of such displacement in the position of certain fixed stars, and Halley in 1718, was the first to determine the proper motion of Aldebaran, Arcturus and Sirius; an important discovery in itself.

But these motions were not periodic. Bradley was the first to use sufficiently refined methods and sufficient patience to discover annual displacements, the existence of which had also been asserted (for example by Hooke); he was the first, however, to determine them beyond doubt, so far as the available means at that time permitted, and he also interpreted them correctly. In the year 1778, he had been successful in making sufficient measurements of a star. It

appeared that the displacements had the expected yearly period, but quite unexpectedly did not correspond to a parallax For the motion was not opposed to that of the earth; on the contrary, the star appeared displaced every time in the same direction as the earth's motion

The following explanation was soon found by Bradley for this unexpected displacement, which was then called 'aberration ' If, as Roemer had observed, the light coming from a star takes time to be propagated in the telescope, and the telescope is moving with the earth across the direction of the light ray, it will be necessary to incline the telescope a little in the direction of motion, in order to receive the ray along the axis of the telescope, and the star will thus appear displaced in the direction of motion to this extent This is the same phenomenon as when we move along under rain falling vertically, we become wetter in front than behind, as if the rain were coming from in front of us If this explanation is correct, the angle through which the star appears to be diverted, must be given by the relationship between the earth's velocity and the velocity of light, and this is found to be the case.

This agreement meant new insight of the greatest importance Roemer's measurement of the velocity of light was brought into an entirely new kind of connection with Copernicus' and Kepler's knowledge of the earth's motion, and this amounted to a confirmation of all these facts At the same time, the discovery of aberration gave us a new phenomenon of light, which will be of importance for all time as regards questions of the ether, and of absolute motion through space.

The angle of aberration is very small, in accordance with the very great velocity of light; it amounts only to twenty seconds of arc. The fixed-star parallaxes originally sought for, are still smaller, even for the nearest stars they amount to less than one second of arc It was therefore not until

one hundred and nine years later, after telescopes and divided circles had been again greatly improved by Fraunhofer, that the parallax of a fixed star was determined for the first time

Bradley was born in the English county of Gloucester on the river Severn, and was professor of astronomy in Oxford from 1721 to 1742. He owed the means for his discovery to the private observatories of wealthy amateurs in astronomy He afterwards became Director of the Royal Observatory at Greenwich, and successor of Halley, where he carried out in particular his observations on the nutation of the earth's axis, which had already been calculated by Newton.

JOSEPH BLACK (*1728–1799*)
JAMES WATT (*1736–1819*)

BLACK was the founder of the measurement of quantities of heat, or calorimetry.

The state of heat, temperature, had been measured by thermometers since the time of Galileo, at least in so far as that each investigator was able to mark upon his home-made thermometers points corresponding to definite temperatures. The temperature of melting ice was soon afterwards brought into use as a fixed point, assumed unalterable, in constructing thermometers. A second fixed point was given, when Papin had discovered the boiling point of water to be independent of the pressure, the new fixed point being the boiling point at an agreed 'normal' barometric pressure Thenceforward, properly defined thermometric scales became possible; they were divided between the ice point and the boiling point into 80 (Réaumur), 100 (Celsius), or 180 (Fahrenheit) degrees.

But a quite different question remained, that of stating the *quantity* of heat – the unknown something – which is needed in order to raise the temperature of a given body by a given number of degrees It had never been doubted that double the quantity of the same material requires twice as much heat, but what about the heat required for equal quantities of different substances? This question appeared very difficult, and even insoluble At that time only a few superficial ideas were in existence. Black it was who created the necessary new foundation for dealing with all questions of heat quantity, by an extensive series of observations founded upon a new point of view When he wished to compare a body as regards the heat needed for warming it, or the heat released from it on cooling, with water, he allowed the heated body to give up its heat to water, and determined the two initial temperatures and the common final temperature. Starting from the idea that the one body must have given up the same amount of heat as that received by the other, if transference of heat to or from the surroundings has been avoided, he was able to compare the capacity for heat of different substances with that of water, and hence also with one another, without inconsistencies This is the complete fundamental idea of the mixture calorimeter, by means of which, even to-day, capacities for heat (later called 'specific' heats), are measured. Another calorimetric method, the method of cooling, was also applied extensively by Black for the first time; and he was likewise responsible for the fundamental notion of the ice calorimeter, which was later refined in the highest degree by Bunsen, over a hundred years afterwards, and became one of the most exact methods of measuring heat.

In the latter case, the foundation was given by a particularly important general truth discovered by Black, and entirely opposed to opinion at the time He found that the change of state – melting or boiling – of a given amount of a substance

does not only require a certain temperature, but also a certain quantity of heat, which is always consumed, though it cannot be detected by the thermometer. He proved for example, that when ice becomes water, the thermometer does not rise above zero, although heat is continually added until all the ice is melted; for this reason, also, the ice point is an assured fixed point for the thermometer Black also measured the 'heat of fusion' of ice, and the 'heat of evaporation' of water (he called them the 'latent' heats), and his results are as near to the figures known to us to-day as could possibly be expected from the first practice of a new idea and method of measurement 'It is scarcely possible to gain a deeper insight by attention to experiences by no means striking and accessible to everyone, than Black does here Besides a receptive eye for the processes of our everyday surroundings, we have the acute analysis of each single experiment, and skill in the successful application of simple means '[1]

Black began investigations in calorimetry previously to 1760 [2] In 1762 he communicated the results to a learned society in Glasgow, and thenceforward described them regularly in his university lectures, whence the ideas spread. A printed publication followed after his death, from his manuscript lectures (1803)

Black's earliest work related to another matter, in which

[1] E Mach, *Die Prinzipien der Warmelehre*, Leipzig, 1896, p. 163.

[2] Proof exists that in the year 1760 Black communicated his results to his contemporaries by word of mouth, for example, to Watt as regards the heat of evaporation of water, and its considerable magnitude From the year 1772 onwards Wilke of Mecklenburg – who also rendered services to the investigation of electricity – published in the Swedish Academy, experiments relating likewise to consumption of heat in change of state, and in change of temperature of various bodies He was the first after Black who pointed out the essential features of these questions Lavoisier and Laplace only came forward with calorimetric work in 1780 Very noteworthy in this connection – and otherwise also – is the enthusiastic admiration shown by Lavoisier for Black in his letters, as compared with his avoidance of public mention of Black's name (See the report of the Editor of Black's Lectures, vol 3, pp 21, 31.) Wilke is also only given the date 1781 by Lavoisier

he also brought forward matters of fundamental importance, namely the question of the mutual relationship of 'mild' and 'caustic' alkalis, as for example, chalk and lime. It was supposed that chalk when ignited gave off 'fire-stuff' (which as 'phlogiston' played a great but somewhat mysterious part in the thought of that period), and that it thereby became the corrosive 'quicklime.' Black showed by thorough experiments that it does not take up anything that is perceptible, but on the contrary, gives up something when ignited, namely a kind of air; the same, namely that also results from fermentation (to-day called carbonic acid gas). He also proved that this production of gas is associated with a loss of weight. He recognised this kind of air quite generally as an essential component of all mild alkalis (such as unburnt magnesia, potash, soda), in which it is fixed in a solid form, and for this reason he called it 'fixed air.'

This was the first case in which a gas was recognised with certainty as a weighable constituent of a solid body. Also, for the first time the study of gaseous bodies was shown to be of importance. All sorts of varieties of 'air' had appeared in chemical experiments, but they were merely looked upon as ordinary air with something mixed with it, and not as special substances. At the same time, the idea of phlogiston, or fire-stuff, in the sense of a constituent of chemical compounds, became for the first time rightly suspect. Scheele, Priestley and Cavendish, and as a result of their work, Lavoisier, followed the matter up even during Black's lifetime, while Black himself approached the question of fire in quite a different manner, by means of the calorimetric investigations of which we have spoken.

Joseph Black was born in the south of France, but his family came from Scotland, he was one of thirteen children. His education and first training were received in Ireland, from the age of eighteen he studied medicine and natural science at the University of Glasgow, and four years later in

Edinburgh. In the year 1756, he became Professor of Chemistry at Glasgow as the result of his work on the alkalis, as successor to his own teacher, ten years later he succeeded him again in Edinburgh, and died there at the age of seventy-one. In his early years he practised with great success as a medical man. The fact that he published little during his life, but communicated all his knowledge by word of mouth, particularly in his lectures, which were very much liked and which he left behind him in full manuscript form,[1] is in accord with everything we know concerning his very high character and the never changing calm of his mind. He was very tall and thin, with a pale complexion; his large eyes, we are told, were clear, dark, and deep

James Watt, famous for his development of the steam engine, who produced the low pressure engine by inventing the separate condenser and designing all the other details, and also carried out this engine on a large scale, was born at Greenock, in the west of Scotland. He was a very lively but rather sickly child, who soon began to read greatly, but also had a strong taste for mechanical occupations. By reason of the poverty of his family, he was apprenticed at the age of eighteen to a mechanic in Glasgow, and then sent to London. Three years later he became mechanic at the University in Glasgow. His workshop was much visited by the professors, who took pleasure in his versatility, his skill and his simple and open nature. Black also made friends with the mechanic eight years his junior, who was so allied to him in nature, and an intimacy between the two remained, which was particularly shown in the support which later was given by Black to Watt when in difficulties.

In the year 1759, Watt learned for the first time of the steam pumping engine, called the 'fire machine,' which was

[1] They were collected and published, with a preface by John Robison, in 1803 See also Black's *Life and Letters*, by Sir William Ramsay, 1918



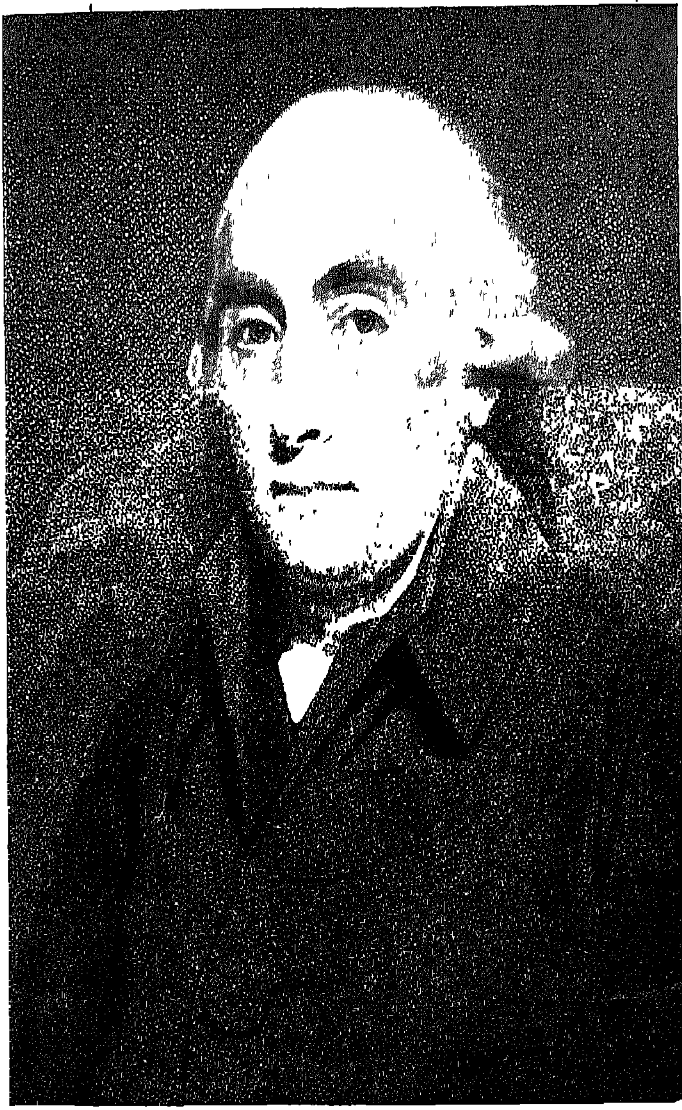
16 Gottfried Wilhelm Leibniz



17. Dionysius Papin



18 James Bradley



19 Joseph Black



20. James Watt

rare at that time, and later that the University possessed a model of such an engine, which however was at the time in London for repairs. The model was sent for at Watt's request, to enable him to repair it but it did not arrive until 1763. In the meantime, Watt had already made a number of experiments with a Papin digester as boiler, and with the piston and cylinder of a syringe, and had also learned all he could from books, whereby Black also helped him in conversation. He saw that the pressure of the steam, if the boiler were sufficiently heated, would be amply sufficient to drive an engine, without the use of the air pressure (which is the case to-day with all high pressure engines, for example locomotives), but at that time it was not to be thought of that boilers capable of standing the necessary high pressure in safety could be built sufficiently large, this was no doubt also the reason why Papin had already preferred the low pressure machine, in which the steam was only used to form the vacuum. Watt then soon set the model going, and he also saw the grave defects which had prevented these machines being popular, namely, the excessive consumption of steam At every stroke of the piston, the cylinder, which had just been cooled, had again to be heated to the temperature of the boiler by the inflowing steam, only to be cooled again, which fact was quite sufficient explanation of the excessive consumption of fuel While walking one day on a Sunday in spring 1765, Watt conceived the idea of the separate condenser He perceived that it would suffice to connect the cylinder, which could then remain always hot, with a space always kept cool, after it had been cut off from the boiler, in order to obtain the required vacuum, since the steam would of itself stream into the cold space and there condense to water He suddenly saw clearly the fact, now a commonplace, that in every space filled by saturated steam, the final pressure will always correspond to the coldest part of the space.

We may imagine how great was the progress represented by this notion as compared with the complete uncertainty concerning questions of vapour pressure, which Leibniz and Papin had found, until they themselves came to perceive that the pressure phenomena exhibited by heated water are to be ascribed to the latter and to its vapour, and not to an 'expansive constituent,' which it was supposed must be present in the water. It was thirty years later before Dalton was able to advance the question of vapour pressure further than Watt had carried it.

The separate condenser which Watt immediately tried out on a small scale proved at once satisfactory in the expected manner. With it Watt's low pressure steam engine was in the main invented, the other accessories necessary for its good performance, such as air pump, feed pump, condenser water-pump, flywheel, centrifugal governor, double action of steam on both sides of the piston, occurred to Watt directly – but not without his having to experience the length of the stride from the invention to practical production on a large scale. We are not able to follow his progress in detail [1]

Papin had been in a like position, and had gone under; Watt had over him the advantage that Papin's ideas had already been carried out in a large scale in the machines, however imperfect, of Newcomen and Savery, while the further great advantage he possessed was that of being not only the inventor, but also himself the mechanic who carried out the work Nevertheless, that did not help him as much as he no doubt imagined it would. It was no trifle

[1] The reader may be referred to the full account of his life given in *Lives of the Engineers* (Boulton & Watt), by Samuel Smiles, London 1878 The worst part of the difficulties which continued to threaten Watt, lay in humanity's greed of gain, which made the more difficulties for him, the greater the success of the machine 'The rascality of mankind is almost beyond belief' was one of his remarks to Black A later work *Watt and the Steam Engine*, by Dickinson and Jenkins, Oxford 1927, reproduces many portraits and historical machine drawings

for the means available at that time, indeed, for a while it appeared almost hopeless, to construct the cylinder and piston of sufficient size and so perfectly formed as to be permanently steam-tight and yet able to move freely, all this was necessary in order to allow the value of the condenser to be felt, and the difficulty became greater still when the attempt was made to work with steam on both sides of the cylinder Nevertheless, Watt devoted himself entirely to the practical realisation of his engine. He left the university in order to open a larger workshop, but was not able to maintain it, since the engine swallowed up money, without being able to show success. Black, who had already helped him out of his own pocket, but was not able to do so further, then brought him into contact with a well-to-do and sensible man, Roebuck, who wished to have a machine made by Watt at his expense for pumping the water from his coal-mines, and who himself possessed the necessary workshops. Watt at that time maintained himself by occasional work as a surveyor. Nine years passed in this way, but the engine was not successful The coal-mines were flooded, and the confiding man became himself as poor and as deeply in debt as Watt.

It was obvious that Watt's ideas could only be carried out, if at all, by means of the most perfect technical appliances available at the time, such as were only found in a few very large workshops in England, but not in the poor Scotland of that period. The possessor of such a workshop, in Soho near Birmingham, Matthew Boulton by name, was a very enterprising person, at the same time full of interest in scientific matters, and a man of very fine character. He was ready to join forces with Watt; so the latter left his own country and went in 1774 to Birmingham, to which place also the most valuable parts of the experimental machine already built were brought. After two years, the first engine was at last completely successful, it was destined to

drive the air-blower of a blast furnace. It was a day of rejoicing such as Watt had not known for long, when this success was obtained, and the joy of his old friend Black, who had always followed his work sympathetically, was also great. The news of the engine's powerful and reliable action, and its low consumption of fuel, soon spread, and the number of engines built according to Watt's design continually increased. Many coal-mines could only be operated at all after Watt's engines were available to pump them dry, and he himself was almost always obliged to supervise the installation in order to make sure of success. Only after six years, 1782, did he find time to construct engines with a rotating flywheel. It is noteworthy that he was obliged to avoid the used of the crank already common to every lathe, for converting the reciprocatory motion into a rotary motion, and had to develop a special mechanism for this purpose (the 'sun-and-planet gear') Someone had guessed Watt's intention, and obtained a patent for steam engines with cranks. With the introduction of the flywheel, the development of the engine on a large scale was completed, and it remained without the addition of any new idea of importance for over a century For the high pressure engine, the expansion engine, and the tubular boiler, had already been thought of by Papin, Watts, and Boulton, and the much deeper theoretical foundation later given by Carnot and Robert Mayer, did not add anything essential to the construction of the machine. Watt had at first hesitated to suggest that even mills and other factories, which were already in existence driven by waterpower, might go over to steam and work on a much larger scale, but this soon occurred, since coal, thanks to the pumping engine, could be obtained easily and cheaply everywhere The result was a revolution in all mechanical factories, in particular a very rapid advance in spinning and weaving, since it was soon possible to employ hundreds of horsepower with

certainty, the age of steam began. Watt was able to experience the promising beginning of all this, and as he grew older he was able to rejoice in greater and greater success; even the headaches from which he had suffered greatly during the period of his highest activity, at last left him, and he enjoyed a comfortable old age. He had married twice – his first wife died early – and he lived to the age of eighty-three.

We must not forget that Watt also took part in pure scientific research As a friend of Priestley, he was concerned in the discovery of the composition of water which was then in progress, and was completed by Cavendish; water had hitherto been regarded as an element.[1] Very notable is the complete clarity with which he deals with the concept of work, in which he makes a considerable advance upon Leonardo and Stevin; however, in the development of the steam engine, this must appear almost self-evident. He measures the work done in the cylinder of his engines quite rightly by the product of pressure and volume, which here takes the place of the product of force and distance. For this purpose he constructed a special instrument, which could be connected to the cylinder, his so-called indicator. Also, the measure at present used for work done in unit time, the horsepower, was introduced by him.

Watt received an impressive memorial in Westminster Abbey; the inscription praises him as benefactor of humanity. He certainly deserves the term as far as he was concerned. He, as the inscription says, 'increased the powers of man.' They are certainly increased ten times to-day by means of the steam engine. But why do we not find that man has become happier and on a higher spiritual level through Watt's present to them, which enables natural force when

[1] The reader may be referred for an account of Cavendish's work to the *Life*, by G Wilson, 1848, also to the *Collected Papers*, Cambridge, 1921

properly used to do what the muscles of man himself and of his domestic animals could never have done? We may equally well ask where are the enterprising people who set up steam engines in order to make people happier, and not in order to gain the financial profits upon which they have calculated. Watt made other use of the gifts of his mind, than these minds have made of his gifts.

WILHELM SCHEELE (*1742–1786*)
JOSEPH PRIESTLEY (*1733–1804*)
HENRY CAVENDISH (*1731–1810*)

THESE three great discoverers, all enthusiastic and exact experimenters, founded, together with Black, the science now called chemistry. This happened by the discovery of a large number of facts hitherto unguessed at, which dealt with the commonest substances, such as water and air, and by the discovery of new substances, which although they had always been present around us everywhere, and had always played a very important part, had not yet been separated and examined in a pure state.

Using their present-day names, these were hydrogen, oxygen, chlorine, which, with their peculiar new properties, suddenly appeared like a new world full of marvels, at the same time much light was thrown on many matters, such as combustion and breathing, which had hitherto remained completely incomprehensible Furthermore, not a few of the newly discovered bodies were gaseous, and bodies of this kind had hitherto been known simply as 'air,' whereas these investigators showed that there are just as many fundamentally different kinds of air (for which the word 'gas' now came into use), as there are liquid and solid

bodies, and that these gases take just as essential and weighable a part in chemical transformations as do other substances. Black had already given us the first example of this, in carbon dioxide.

Thus the gaseous state of matter first became recognisable as of full and general importance. Gases thenceforth became continually the object of ever new investigation, since these three workers had also developed the necessary methods for dealing with them. The chief of these was their enclosure in glass vessels over mercury, which neither dissolves them as does water, nor contaminates them by its vapour

The three scientists cannot be separated from one another. They possess – as did Black also – the characteristic of not quickly publishing in print what they discovered, and of not even sending it, enclosed in sealed envelopes, to academies (which proceeding obviously can only have a purely selfish object); they allowed it to ripen in themselves as far as possible, without however in the meantime hiding it completely from sight It thus came about that each knew more or less what the others were doing, and at times they worked simultaneously on the same subjects, so that much appears as their common achievement

In another respect also, the three investigators were similar. The mass of new things they discovered contained – for them obviously – a great quantity of unknown matter. It is true that many gases were now known, some of them combustible (hydrogen), some supporting combustion to an astonishing degree (oxygen); and they could be weighed with certainty, just like liquid and solid bodies. But the phenomena of combustion, and the heat, and also the light, that were produced, remained something completely mysterious. The heat of course could even be measured as regards its quantity by Black's method, like a substance that could be weighed; but it was not known whether it

weighed anything – anything positive, or even negative It seemed in some way to be a constituent of the combustible body, a constituent which became free upon burning, perhaps identical with the fire-stuff, phlogiston, which had been imagined for some eighty years as passing from one body to another in the form of flame, when burning takes place. But after the weighings carried out since Black's time, and even by Boyle, difficulties had arisen with respect to weight in the case of heat, phlogiston and light, even if one had been willing to regard the invariability of the weight of all things concerned in the reaction, as assured in the case of these mysterious phenomena of fire. For this it would have been necessary to take up a strongly materialistic attitude, regarding what cannot be weighed as of no importance, and this was just as little characteristic of these three investigators as of Kepler or Newton. This alone perhaps explains the manner in which they all held firmly to the concept of phlogiston,[1] which was even defended energetically by Priestley,[2] but it was just these three investigators, who, as Boyle and Black had already done, did everything towards learning by the only possible means – namely common observation of nature – how matters really stand as regards weighable or unweighable stuff taking part in chemical transformations. With the addition of their investigations, just enough facts were known for an attempt to be made with some certainty to discover whether we may reckon with invariability in the weights of the substances concerned in a

[1] Perhaps this explanation does not hold in Scheele's case He says in his *Chemical Essays on Air and Fire* (1777): 'that light must be regarded like heat, as a substance, cannot be doubted' According to this, he cannot have been well acquainted with Guericke and Huygens Alone the multiplicity of the things considered as of uncertain weight – heat, light, phlogiston, – must have much increased the difficulty of arriving at more correct views

[2] May it not be that Priestley was also influenced by a justifiable disinclination to accept, before exhaustive proofs had been given, the ideas of a man who, like Lavoisier, had made so many incorrect statements with regard to facts relating to the origin of discoveries?



21 Wilhelm Scheele



22 JOSEPH PRIESTLEY



23 HENRY CAVENDISH

reaction – taking the gaseous bodies fully into account – ignoring the weight of heat produced or disappearing, and leaving a special fire-stuff (phlogiston) out of consideration. This was first carried out by Lavoisier, who lived from 1743 to 1794 in Paris.[1]

The new discoveries showed that everything was much simpler than people had previously dared to think, and it further continued to appear that in the case of all different kinds of substances, of which new varieties were continually being discovered and in all their changes, combinations, and separations, we only have to deal with matter of invariable weight, which simply arranges itself in various ways Heat, and light, which for Scheele were still objects for investigation on the same footing as the gases with which he was concerned, thus fell outside the limits of the problem; chemistry became purely the science of the internal composition of the

[1] Lavoisier also lays the main stress upon the facts, only that he allows it to appear as if they had all been discovered by himself, whereas in very many cases he is only giving reports or variations of what had become known to him in other ways from his contemporaries, especially from Black, Priestley, Cavendish, and Scheele, or from what had already been published A particular mistake often met with is that of imagining the first use of the balance in chemical investigation to go back to Lavoisier For not only had Black carried out important and illuminating investigations by means of the balance, but even Boyle, and others before him, had already followed the changes in weight taking place in chemical transformations, for instance, the increase in weight when metals are calcined (oxidised). It is obvious that the use of the balance greatly increased as soon as the invariability of the weights of the substances taking part in chemical change had been rendered probable; and that after the discoveries of Scheele and Cavendish had taught us the composition of air and water, and also of nitric acid, the investigation of other substances, such as carbonic acid, sulphuric acid, was soon carried out successfully, this was done by Lavoisier, but he did not state correctly the origin of these discoveries For details of all this the reader is referred to Kopp's *History of Chemistry* (Brunswick, 1843), vol 1, pages 302–312, vol 3, pages 204–206, 266–271 Kopp, who had a thorough knowledge of history, remarked in the latter place quite rightly ' . but the object of history is not to make laudatory speeches, and not its smallest, and for our time, least useful, task, is to show how every appropriation of the achievements of others later becomes revealed, and produces precisely the opposite effect in the case of those who hope thereby to increase their own reputation ' Compare previous note concerning Lavoisier and Black, p 128

matter which can be touched and weighed. The fact that heat is not matter of this kind was proved a little later by Count Rumford

Wilhelm Scheele was born in Stralsund, being the seventh child of a merchant, in accordance with his wish he became an apothecary, and lived as such in different localities in Sweden, finally in Kopingen on the Malasee, where he died in his forty-fourth year. At the age of fifteen years, as apprentice to an apothecary, he already began in his leisure hours – and when they were not enough, at night – special studies in all the available writings concerning assaying, and also experiments on his own account in the laboratory of the apothecary He continued this activity during his whole life, it was his greatest joy and chief care· 'to explain new phenomena, that is my care, and how glad is an investigator when he finds what he has sought so industriously, it is a pleasure that fills his heart with joy For it is only the truth that we wish to know, and what joy it is to have discovered it,' he says himself in letters Though his means always remained very modest – it was only in the latter years of his life that he became the owner of an apothecary's shop, and he rejected salaried posts which would have tied him – he replaced the want of them by persistent skill, and a rare eye for the essential A fortunate element in his development was the fact that his mind had been protected from a long period of compulsory education at school, and that he had been spared professional examinations [1]

He was thus able to absorb freshly and freely what suited him, without having used up his mind previously on unsuitable material. He read books through once or twice, never needing to look at them again; he had obtained what he wanted The enormous number of experiments which he

[1] When he was already known as a learned chemist and trustworthy man, and took over his own business, the legal examination was turned into a small festivity On this point see Nordenskjold, *Scheele's Letters and Laboratory Notes*, with a biography, Stockholm, 1892

had carried out since early youth, simply in order to see their results, which he then always remembered accurately, had enabled him to collect a store of knowledge and observations of nature, such as none of his trained contemporaries possessed. And since he did not work according to preconceived principles, he saw a great deal and was able to discover a great deal that a systematically trained person would have regarded as impossible, because it conflicted with his principles.

Scheele's discovery of 'fire-air' – oxygen as we call it today, – links up with the fact already known to Leonardo and Guericke, that ordinary air consists of two components, one of which supports combustion and breathing (oxygen), while the other is incapable of doing so (nitrogen) Scheele was successful in separately preparing the first of these. He obtained it from saltpetre, from oxide of mercury, from manganese dioxide (pyrolusite), and other substances, by heating them In this experiment, as in other preparations of gases, he tied to the neck of the retort which was inserted in the fire, a pig's bladder previously pressed flat, and this then filled with the gas developed. Only when he wished to examine the gas more carefully, did he allow it to rise up under water into a glass vessel. In the latter he was then able to observe the characteristic property of the new kind of gas, the surprisingly brilliant combustion in it of carbon, sulphur, and phosphorus The burning phosphorus consumed all the 'fire-air,' so that when the experiment was undertaken in a closed vessel, a vacuum remained, whereby a thin-walled vessel was even crushed by the external pressure of the air. Phosphorus, and also a solution of liver of sulphur, which likewise absorbed oxygen completely, gave him the means of determining the amount of oxygen contained in the atmosphere. He also found that nitrogen has a less specific gravity than oxygen, and that the latter is more soluble in water than the former, which must be advantageous for the

breathing of marine animals This work was done in the years 1760 to 1773, but great delay occurred in publication in print, which first took place in 1777.[1]

Scheele not only discovered oxygen from pyrolusite, but also made a very thorough examination of the latter substance In the course of this he discovered chlorine gas (by bringing pyrolusite in contact with hydrochloric acid) studied the compounds of manganese, and discovered the compounds of barium, which are generally contained in pyrolusite, but had hitherto not been recognised He showed that they afford the best means for detecting sulphuric acid How thorough Scheele was in all his work is also shown by his investigation of water. It had been assumed that pure water, when boiled for a long time, turns into a solid substance Scheele, 'in order to see with his own eyes,' kept distilled snow-water boiling in a glass vessel with a very long neck for twelve days The water became somewhat milky and formed a white precipitate, but Scheele was able to show that both the precipitate and also the substances found dissolved in the water, were simply constituents of the glass, and that the vessel had become etched upon its internal surface as far as the water reached No transformation of the water had therefore taken place, and our knowledge of this liquid was thus further advanced

Scheele was also the first to investigate the various acids of the vegetable kingdom, such as tartaric acid, malic acid, citric acid, oxalic acid; and also uric acid and lactic acid, finding how to separate them by precipitation and transformation He also discovered glycerine, as a special substance contained in all fats, and separated it from them by means of litharge. He also discovered molybdic and tungstic acids, and investigated them as special

[1] The first proved entry by Scheele concerning oxygen in his laboratory notes dates from November 1772 (compare Nordenskjold, *ib*, pages 462–466) Bunsen described in his lectures the day on which oxygen was discovered as the 'real birthday of chemistry'

substances, along with a number of others which cannot be given here.

Another achievement of Scheele's was the recognition of heat radiation as a special form of the propagation of heat, different from the well-known conduction of heat, such as takes place in metals, and from the transference of heat by convection, as in liquids, which was already recognised by Black The fact that concave mirrors and lenses collect the heat of the sun's rays along with its light at their foci, had been known for a very long time, but the heat at the focus was regarded as an effect of visible light, and it had not been recognised that invisible rays also exist which produce warmth, and in other respects also, behave like light. Scheele made this clear by a series of simple observations and experiments upon the fire of a furnace The heat of the fire is emitted by convection of the heated air in the chimney, and also of that in the room, but it is also emitted in straight lines, as can be proved by using screens, and this takes place without the air through which it passes being warmed. This 'radiant' heat can also be collected by means of a concave mirror, and sulphur can thus be ignited fairly far away from the fire. Here it is not the light of the fire that produces this effect; for the experiment succeeds equally well when the coals are hot but not glowing, and it fails when a glass plate is interposed between the fire and the concave mirror, though this plate allows the light to pass through it. But the plate becomes warm, obviously because, though it does not absorb the light, it does absorb the radiant heat. At a later date (in the year 1800) W. Herschel, the discoverer of the planet Uranus, showed that the invisible heat rays discovered by Scheele fall, when refracted by a prism, outside the visible spectrum, since they are less refracted than red light Later they were suitably named the infra-red rays.

Scheele also investigated the already known blackening of

silver compound by means of light; he proved that the black is finely divided silver.[1]

Using pure chloride of silver, he observed the blackening of it in the spectrum of the sun produced by a glass prism, and found that it was stronger in the violet than in the other colours. When J. W. Ritter, of Jena, repeated the experiment in 1802, in a somewhat more refined manner, he noticed that the blackening extends considerably beyond the violet end of the spectrum; he thus discovered the invisible ultra-violet rays.

Joseph Priestley was born in a village near Leeds in England; he became a clergyman, and was occupied in turn as a preacher and teacher, but he always busied himself with scientific studies apart from his occupation. His idea of Christianity was essentially different from that general in his country, and this produced many enemies for him.[2]

When in the year 1791, the second anniversary of the outbreak of the French Revolution was celebrated (the deepest causes of which were certainly unknown to Priestley), he gave unchecked expression to his approval, and his enemies seized the opportunity to stir the mob up and destroy his house and laboratory near Birmingham, where he lived at that time, and to plunder it and burn it down. Priestley was scarcely able to save himself and his family, and no longer finding sufficient security in his own country, he emigrated to America, where he died nine years later at the age of seventy-one. In spite of all this, he had faithful friends

[1] The art of photography has developed on the basis of these fundamental facts by gradual addition of all sorts of devices, to a continually increasing degree of refinement, without any fundamentally new facts having been discovered. The first fixation of a photographic image produced by short exposure and subsequent development was effected by the painter Daguerre in Paris, in 1835.

[2] He also published in 1782 a work called *History of the Corruptions of Christianity* (he had also lectured upon this theme previously), in which he devoted great pains to arrive at more truth concerning the life and doctrine of the Founder of Christianity, than was usually accepted.

among the best in England, the few who really knew him, among these were Boulton, Watt (who almost suffered the same fate), and other eminent persons in industry, science, and art in and near Birmingham, which together formed the Lunar Society (also known as the Lunatic Society), since it always met at full moon. In this society there was much discussion concerning the contemporary progress of science. Priestley was in many respects very similar to Boyle; a relentless seeker and defender of the truth, satisfied alone by the joy in new discoveries and observations, with a youthful enthusiasm for all that he undertook, and deeply religious

His own studies of gases began in connection with Black's work on carbonic acid, which he obtained from a brewery. He was the first to introduce the collection of gases over mercury instead of water, which enabled him to recognise and study many gases as peculiar kinds of matter, for these gases, though they must have appeared on occasion before, could not be properly collected and observed. Using our present terms these were nitrous oxide, nitric oxide, carbon monoxide, ammonia, sulphurous acid, gaseous hydrochloric acid, silicon fluoride. He must therefore be called the discoverer of all these. Oxygen and sulphuretted hydrogen had already been discovered by Scheele, but this was no doubt unknown to Priestley, who published the discovery earlier (1774), in his work on the different kinds of air.

Priestley was also the discoverer of the fact that plants consume carbon dioxide and exhale oxygen, whereby the air always remains constant in its composition and suitable for the breathing of animals; he also showed that this phenomenon only takes place under the action of daylight. He also investigated the strength of a sound produced by a bell in different gases, and found it to be very feeble in hydrogen, and distinctly louder in carbon dioxide than in air.

Henry Cavendish belonged to one of the oldest and richest

families in England ; he lived almost continually in London, in solitude and great retirement, devoted entirely to science.

Cavendish discovered in 1766, that is before Scheele's and Priestley's experiments on gases, hydrogen gas as a peculiar body entirely different from ordinary air. It was the second, after the carbonic acid already fully investigated by Black, of the kinds of gas recognised as fundamentally different from atmospheric air It had of course long been known that iron dissolves in acids with effervescence, and Boyle already noticed the inflammability of the kind of air which was emitted, but without investigating it further. This investigation was carried out with great thoroughness by Cavendish He noticed, and also was the first to determine, its strikingly small specific gravity, whereby he also took temperature and pressure into account.[1] He measured the quantities of gas developed by the solution of given weights of iron, zinc, and tin in different acids, investigated the explosive mixtures of hydrogen and air, and made many other contributions to our knowledge of this gas.

He also investigated later the gaseous products of combustion of different substances, and found that carbonic acid is only produced in the combustion of vegetable and animal substances.

In the year 1773 he carried out electrical investigations, which led him to the law of inverse squares for electric force, and even to an acquaintance with what we call to-day the dielectric constant, but he left all this unpublished [2]

[1] Black soon afterwards pointed out that thin vessels filled with this gas would rise in the air Seventeen years later, this was put into practice on a large scale by Charles, professor of Physics in Paris, and thus our present-day airships originated

[2] See Maxwell, *Papers II*, page 612, and *Treatise on Electricity and Magnetism*, 1892, vol 1, pages 80 ff These are investigations which were taken up more than ten years later by Coulomb, and in other matters sixty years later by Faraday, and carried further Scarcely anything else, apart from his published successes, could give us a higher opinion of Cavendish as a scientist, than this pioneer work, combined with his holding back results which obviously did not completely satisfy him.

Very important was Cavendish's discovery in the year 1781, that hydrogen and oxygen when burning together form water, he also showed that the weight of the water formed is equal to the weight of the two kinds of gases which have disappeared. This highly unexpected and astonishing result of the production of water from these newly discovered gases soon became widely known, after Cavendish had first himself communicated it to Priestley; it was the key at last to the composition of water, which had so long been considered, since the ancients, as a simple element. From then on progress was rapidly made in discovering the composition of other bodies, also made up of gases. Cavendish delivered a further important contribution to this, when he showed (1784) that oxygen and nitrogen, mixed together in suitable proportions, disappear when exposed to continual electric sparks, while nitric acid is formed. For this reason, Scheele's fire-air later received the name of oxygen, or 'acid-former,' as being a constituent of acids. It is noteworthy that Cavendish already discovered that a certain proportion of the mixture of air and oxygen remains unchanged even after long passage of the electric sparks. This was the substance only recognised as a separate element a hundred years later, and then called *argon*; a regular constituent of atmospheric air very similar to nitrogen

An entirely different kind of investigation of the greatest importance, and one which could only be carried out with the greatest possible skill in the art of quantitative observation, occupied Cavendish's later years, up till 1798, this was the measurement of the earth's density. Stated more correctly, it was not only the first proof, but also measurement, of the force of gravity between two terrestrial masses small enough to be contained in an ordinary room The fact that any two masses exert an attraction upon one another, depending according to Newton's law upon their magnitude and distance apart, was of course, scarcely in doubt after

Newton's researches But nevertheless, what is required is experimentally proven knowledge, and the proof of the force, which according to the law must be very small, between two not very large masses, and hence had always remained unnoticed, was an important rounding off of our knowledge of gravitation Conversely, the measurement of such a force in the case of two masses known by weighing, gives us the means of estimating the mass of the earth with accuracy in the same units as that in which the two masses are measured In Newton's case, on the other hand, the mass of the earth formed the unit in which the masses of the other heavenly bodies were measured, but this unit itself remained unknown, and could only be estimated upon the assumption of a mean density for the earth's material. It now became possible to determine this density with certainty as the quotient of the total mass and total volume of the earth

In order to measure this very small force to be expected, Cavendish made use of a simple apparatus, the torsion balance, which had shortly before been made use of by Coulomb for another investigation of equal importance It consisted of a long thin wire, at the lower end of which hung a light horizontal rod, carrying at each end a lead ball. It was then possible to arrange near the two movable lead balls, two much larger fixed balls of lead, which by their attraction upon the smaller ones would produce a deflection of the rod and twist the suspension wire The measurement of the very small deflection was difficult, the slightest draught of air made it impossible. The apparatus was therefore observed through an opening in the wall by means of a telescope in the next room; and in other respects also, Cavendish showed the greatest care in this, the first measurement ever made of such extraordinarily small forces His result for the mean density of the earth, namely about 5.5, has been entirely confirmed by much later measurements

according to methods in some respects very different. It implies, since the mean density of all substances on the surface of the earth is much smaller, that heavy substances, no doubt metals, must be predominant in the centre of the earth. This is to be expected if the earth was originally a molten mass, since the heavy substances would have collected near its centre, but we thus know for certain from the density as actually measured, that these substances must be present in the interior in considerable amount.

CHARLES AUGUSTIN COULOMB

1736–1806

AND HIS PREDECESSORS

WITH Coulomb, the knowledge of the peculiar electrical and magnetic phenomena, which had been dimly apprehended from early times, begins to develop into a science; for he made the first quantitative determinations of the laws of both phenomena; the two 'Coulomb's laws.' Upon this followed a rapid and quite unexpected development; on the one hand, fragmentary existing knowledge concerning electrical phenomena was expanded into a complete system of 'electrostatics' (theory of stationary electricity), and on the other hand, magnetism was provided with the foundation upon which Gauss and Weber were later able to build. This then led to the quantitative mastery of all electrical and magnetic quantities, which finds its expression in the construction of the system of units generally used to-day, in which – by way of recognition of the historical connection – the technical unit of electrical quantity is called after Coulomb

Coulomb's law of electricity states the forces with which electric charges attract or repel one another, and tells us

that these forces are always proportional to the quantities acting upon one another,[1] and inversely proportional to the square of their distance apart Coulomb's law for magnetism is also exactly similar. Both laws are thus completely analogous to Newton's law of gravitation discovered one hundred years previously In spite of their simplicity and similarity with what has long been known, the recognition and indubitable proof of these laws was nevertheless at that time a rare masterpiece of experimental skill, and more than this, it required means to be found by which the peculiar electric and magnetic phenomena could be grasped quantitatively, in order to bring to bear on them Pythagoras' ancient insight – the power of number The forces to be measured are very small, and they are very fleeting, for electricity itself, as Coulomb himself found, and also observed quantitatively, even dissipates itself into the air

For measuring small forces, Coulomb worked out the special method of the torsion balance, which has since been made use of in a large number of the finest measuring instruments (galvanometers, electrometers, etc.), all of which depend upon allowing the forces to be measured to twist a very thin fibre or wire, upon which they act through the arm of a lever, suspended in a horizontal position by the fibre or wire The amount of the resulting angle of twist, at which the force to be measured is in equilibrium with the opposing elastic force of the fibre, is then a measure of the force Coulomb was thus obliged to examine the laws of the forces required to twist fibres and wires He found them to be proportional to the angle of twist, and also to the fourth power of the diameter of the wire, inversely proportional to

[1] The proportionality of quantity was not proved by Coulomb by means of special experiments, since he takes the forces from the start as a measure of the quantities of the unknown electricities and magnetisms, but not without having previously proved that this assumption can be carried out consistently, by numerous experiments, for example on the division of quantities of electricity between conductors brought in contact with one another.

its length, and independent of the load on the wire. This was the result of an investigation published in the year 1784, and important in itself in regard to the knowledge of the elastic properties of matter. An interesting point in it was also the method for measuring the force of which he made use He allowed a body suspended by the wire to execute torsional oscillations about the wire as axis, and measured the period of oscillation with different moments of inertia of the suspended body, from which the elastic force governing the oscillations can be calculated. This was a new application, the first of its kind, of Huygens' and Newton's investigations of the pendulum, to the measurement of forces other than that of gravity. Coulomb further applied this measurement of force by means of oscillations (dynamic measurement of force as opposed to static measurement with the torsion balance) in numerous experiments, directly to the measurement of electric and magnetic forces. The first to follow him in this method of measuring force and also in the application of the torsion balance, was Cavendish, who applied it in his important investigation of gravitation.

Coulomb was also active in other directions. He completely investigated the simple laws of sliding friction, according to which it is proportional to the force with which the two bodies are pressed together, and independent of the size of the surface of contact, – as Leonardo had already recognised – and within certain limits independent of the speed of motion, but larger as we approach rest. In one of his last researches (1801), he investigated the internal friction or viscosity of liquids, which Newton had already considered, by means of torsional oscillations, executed by cylinders hung up in the liquid

He came of a family of high social position in the south of France, studied mathematics and science in Paris, and then entered the army. In accordance with his tendencies and capabilities, he joined the technical troops. As officer

of these he supervised the building of fortifications during a nine-year stay in Martinique On his return in 1776, he found for the first time leisure for purely scientific work, and in the thirteen years which followed up to the outbreak of the great revolution, he carried out his fundamental electric and magnetic investigations They brought him recognition, military advancement, membership of the Academy, and an influential position in the academic world, not without difficulties having occurred now and then; thus it is reported that he was condemned to arrest, when an outspoken technical report of his had made him disliked in high places of the government. When the weakness of the king became greater and more obvious, and the rule of the mob had begun (storming of the Bastille, proclamation of the Rights of Man, 1789), Coulomb resigned all his official posts and retired to his small estate near Blois, where he lived entirely for his science and for his family [1] Napoleon, who had restored order, gave him back his former posts in which he worked devotedly until his death in Paris at the age of seventy years

Coulomb's fundamental achievement as regards electricity is best appreciated, when we consider how much detailed knowledge had been collected up to his time, without it being possible to obtain a general and comprehensive idea of it. In this connection, we may recall several eminent investigators, more or less forerunners of Coulomb, who by careful experimenting and clear thinking, had already brought to light from time to time new forms of electrical phenomena. All their work appeared like the 'effects of a magic force,' as Priestley expressed it,[2] as a result of Coulomb's

[1] In this respect he behaved quite differently from his contemporary Lavoisier, who adopted the slogan of the revolutionists 'Il faut tout détruir – oui, tout détruir – parcequ'il faut tout recréer' (Everything must be destroyed – yes, everything destroyed – since all must be created afresh), he himself however, ended by the guillotine

[2] In his *History of Electricity*, 1767

work, it was suddenly brought nearer to being understood as a unity, inasmuch as all phenomena could be referred to two electricities and two magnetisms, – themselves not less wonderful, of course – acting according to the law of inverse squares.

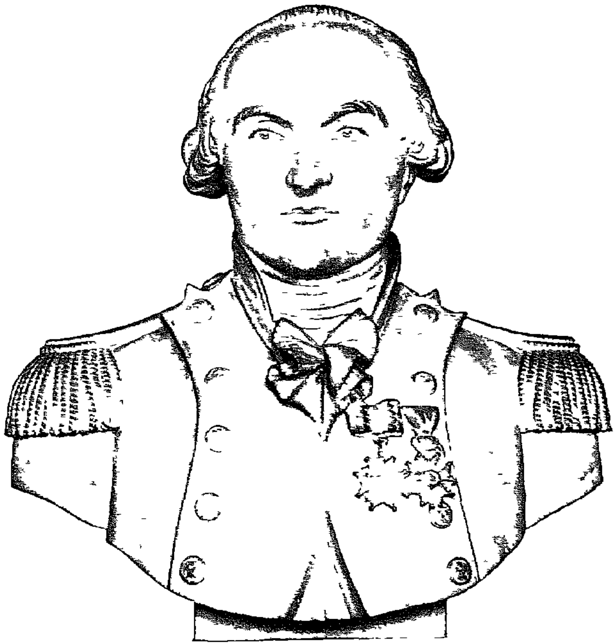
The first discovery of magnetic and electrical phenomena is of very ancient origin. The lodestone, or magnetic iron ore (no doubt so called from its place of first discovery, the town of Magnesia in Lydia), with its property of attracting small particles of iron, and the similar property of amber (called by the Greeks *Elektron*) when rubbed, of attracting small bodies, was known long before our era. Artificial magnets of steel were also made by stroking with lodestone, and it was known very early that magnets, suitably arranged so as to be free to move, pointed in the direction of north and south, a matter of great importance for navigation on the open sea. The small deviation from the true meridian, called the declination, had also been noticed. Columbus noticed on his journey to the west that the easterly declination of the Mediterranean gradually reversed in direction and became increasingly westerly, which caused him great concern in view of his complete ignorance of the cause; for when the sky was overcast he had no means of keeping on his course except the compass.

Only in the year 1600 was further progress made. Gilbert, Queen Elizabeth's doctor, made extensive experiments with artificial magnets; he was indeed the first person who investigated the phenomena scientifically He found among many other things, the fact that could only be fully appreciated after Coulomb's work was known, namely that although the magnetic forces proceed from the poles, of which every magnet has two, and of which those pointing in the same direction repel one another, it was never possible to obtain a single pole separately For if a lodestone or an artificial magnet is broken into pieces, each piece again exhibits two poles, which lie in the same directions as those

of the original magnet. He further recognised, in investigating the poles by the aid of a small suspended needle, that they are never points, but always more or less extended regions of the magnet, from which the attraction or repulsion proceed. These facts, which Coulomb also had to take into account very closely in the course of his investigations, and which altogether pointed to the need for great caution when attempting to calculate with magnetisms or magnetic fluids supposed to be located at definite points in space, and to be the bearers of the magnetic force, could not be explained until more than 300 years later, after Ampère and Faraday had arrived at a better understanding of the matter; their perfectly clear revelation at so early a period by Gilbert is thus all the more admirable. The same is also true of his recognition of the fact that the earth is a great spherical magnet, which at once allows us to form a general, accurate, and comprehensible picture of the behaviour of the magnetic needle, including its inclination (deviation from the horizontal, when hung up at its centre of gravity) at all points of the earth's surface.

In the matter of electrical phenomena, Gilbert's only contribution to progress lay in his finding a number of other substances beside amber – for example precious stones such as diamond and sapphire, glass, sulphur, resin – which are also electrified by friction, and in recognising clearly not only the similarity between the electric and magnetic forces, but also their definite points of difference.

Seventy years later followed Guericke's first step towards the construction of an electrical machine, Leibniz's observation of electric sparks produced by it, Guericke's discovery that electrical repulsion also exists as well as attraction, and Boyle's proof that electric and magnetic force also acts in the vacuum of the air-pump. Thenceforward, thunderstorms were regarded with increasing certainty as electrical phenomena.



24 Charles Augustin Coulomb



25 Luigi Galvani



26 Alessandro Volta

Sixty years later again, Stephen Gray in London found that electricity can be conducted; that there are conductors and non-conductors of it. He carried out the conduction of it over increasingly greater distances; in the year 1729, by means of a string of hemp several hundred feet long and supported by silk thread, he conducted it from a glass rod electrified by friction to an ivory ball, at which the phenomena of attraction could then be observed. From that time it was possible to speak of the 'flow of electricity along conductors,' and it was now more than ever described as a 'fluid.' Gray also was the first to set things, and also persons, who were to be 'charged' with electricity, upon an 'insulating stool,' a cake of resin, and he recognised that a hollow charged cube of wood behaves exactly like a solid one of like size; from which it must be concluded, that electricity has its seat only upon the surface, and not in the whole interior of a body. Very noteworthy is also his observation of the non-interference between electrical and magnetic forces; a key held up by a magnet could be insulated and electrified, and attracted light test bodies, in just the same way as in absence of the magnet.

Not much later, in 1733, Dufay in Paris made the highly important discovery that there are two kinds of electricity, which behave in opposite ways, and were therefore called positive and negative. He found that gold-leaf electrified by glass, and hanging in the air, was not repelled, but attracted, by electrified resin, and he followed this up closely; but it was some time before his discovery was recognised.

Ten years later a new observation was made. As the electrical machine was gradually improved, it was fairly natural for the attempt to be made to fill insulated bottles with electricity, which was now available in plenty. Ewald Jurgen von Kleist, dean of a cathedral in Pomerania, and later president of the High Court of Justice (and of the same family as the poet Kleist) electrified a nail inserted in a

medicine glass (no doubt somewhat moist inside) and received a sharp shock, when he touched the nail with one hand while holding the glass in the other. The effect was further increased when the glass was filled with alcohol or mercury. These observations made in the year 1745 were soon made known in various directions, and produced great astonishment. A year later the same experiment was performed at Leyden in Holland, and hence the 'intensifying jar' with which numbers of people now began to experiment, was called the Leyden jar, to be historically correct it should be called the Pomeranian or Kleist jar [1] It was soon given metallic coatings, and great attention was paid to the shocks which it gave, and to its spark effects. Benjamin Franklin showed in 1747, that the two coatings carry opposite electricities. He also remarked, when he made the coatings removable, that the bare glass surfaces are themselves oppositely electrified. This effect of the glass, which goes beyond the part which it plays as insulator (it is called to-day the residual charge, and is not now of great importance), was at that time regarded as of essential interest, until Wilke and Aepinus, two citizens of Mecklenburg, showed in the year 1762, that the intensifying effect is also present in absence of any glass. They covered two large boards with metal foil, hung them up parallel to one another, and very close together, insulated them, charged one positively while the other was connected to earth, and found that the two proved to be oppositely charged, and when touched simultaneously with the two hands, gave a shock like that from a Leyden jar. They were thus able to clear up to a certain extent the phenomenon called to-day electrification by influence or induction, and Wilke had already made experiments with a rubbed plate of glass and a metal plate, which quite corresponded with the later 'electrophorus' of Volta,

[1] In old writings the name Kleist jar is actually found, and might be reintroduced.

and proved the possibility of obtaining by means of influence any required intensification of an existing charge, as happens in the 'influence machine' to-day

Nevertheless, the idea of the action of the two electricities upon one another, and upon like charges, was still very indefinite, as was also the part played by the matter composing the charged or uncharged bodies in regard to the effect produced, particularly if it could be shown that only one kind of electricity (positive) exists, the other (negative) being only a deficiency of the former, a possibility which could not be rejected. People spoke of an 'electric atmosphere' which every charged body spreads around itself, or of a 'sphere of electrical action' As compared with this, a great simplification, and translation from the undetermined to the entirely determined, occurred when Coulomb was able to announce his laws after this state of uncertainty had existed for about twenty years For these laws actually proved sufficient to render possible a quantitative grasp of all phenomena of stationary electricity (electrostatics), that is of electricity which had reached equilibrium after flowing along conductors Even Faraday's discovery fifty years later of a true and essential influence exerted by the insulators surrounding the conductors, only required the addition of a material constant (the dielectric constant) to Coulomb's law, without any change in the form of the latter Coulomb had himself also investigated very extensively a series of phenomena of stationary electricity, including the distribution of electricity on conductors of different shape (particularly rows of spheres and cylinders), whereby he made use of a 'proof plane' for the first time, along with the torsion balance as a measuring instrument, the proof plane being used to lift off, as it were, the electricity situated at a certain point, on a conductor, and enabling it to be measured. Above all, Coulomb confirmed by very refined methods the fact already noticed by Gray, that electricity is only situated on the external surface

of conductors; and he observed that this also is a consequence of the inverse square law, and can only be true if the latter holds exactly. Every other law would lead to the existence of forces in the interior of conductors, which would set the electricity in motion and change the distribution, a fact which already follows from Newton's consideration of gravitation. He also shows the connection between the distribution of electricity upon, and the curvature of, the surface of a conductor, and the resulting phenomena exhibited by sharp points.

It should be noted that Coulomb had a forerunner in Cavendish as regards the recognition of the fact that the inverse square law of electric force can be deduced from the confinement of electricity to the surface of bodies; Cavendish's observation and considerations on this point, which dated from 1773, had however remained unpublished, and were only discovered much later among his posthumous papers.[1]

LUIGI GALVANI (*1737–1789*)
ALLESSANDRO VOLTA (*1745–1827*)

No sooner had Coulomb rendered the phenomena of stationary electricity comprehensible in a manner for the moment sufficiently satisfactory, than the entirely unexpected discoveries of Galvani and Volta opened up quite new prospects A fresh source of electricity had been found, which supplied a much more plentiful flow than those hitherto known, friction and influence Volta's pile took the place of the electrical machine. A new appliance for obtaining hitherto undreamed of knowledge was given us, it became possible to study also the phenomena of flowing

[1] See p 146 above.

electricity, since the means were given of producing a continuous flow of large quantities of electricity, whereas hitherto only minute amounts, or somewhat larger amounts stored in Leyden jars, had been momentarily set in motion, so that the processes connected therewith had for the most part remained hidden. In the discovery and utilisation of these processes consists practically everything which makes the 'age of electricity.' All this only became possible through the work of Galvani and Volta.

The beginnings, as is always the case with great advances into the completely unknown, lay in a modest and devoted effort to understand processes of nature which had hitherto been little or only superficially noticed, which certainly seemed mysterious, but could not be successfully elucidated by already known methods. Only the rare spirit of born investigators of nature could feel drawn to such activity. It did not promise external success, not even in the academic world, for the object of the investigation was not even regarded as of any importance.

Galvani was born at Bologna, and began by studying theology, but soon decided upon medicine. He married early the daughter of his guardian and teacher, worked on the kidneys and ears of fowls, and then lectured from 1762 onwards on medicine at the University of Bologna, where he became professor of anatomy in 1775, and later also professor of obstetrics.

He had quite early made experiments on the excitation of the motor nerves of frog preparations, as we see from a lecture given by him in 1773, but this had to do with mechanical stimulation only. It was an obvious step to study the electrical stimulation of the frogs; the contraction of living muscle produced by electric shocks was known since the time of Guericke and Leibniz. During work with the electrical machine in the presence of several persons, it happened in the year 1780 that an observation was made which at once

attracted attention as being very curious, namely the fact that strong contractions of the prepared frog legs took place, as they lay upon the table unconnected with the electrical machine and some distance away from it, when the nerves were touched quite lightly with the point of the scalpel. It quickly appeared that this only took place when at the same time sparks were passing in the electrical machine, and further, when the scalpel was held not by its insulating handle, but by the conducting metal part of its blade This quite mysterious phenomenon was made by Galvani, 'animated by an incredible enthusiasm and desire,'[1] the subject of an extensive and very laborious investigation lasting eleven years, and including many hundreds of experiments on animal preparations, mainly frogs' legs, in the course of this investigation he made, step by step, continually new and further observations. The publication took place in 1791 under the title of 'Essay on the Force of Electricity in the Motion of Muscles,' which is in four parts.

The first part starts from the observation already referred to, and elucidates, by all kinds of changes in the experiment, the conditions under which the contraction of frogs' legs without contact with the source of electricity is most successfully obtained We can say to-day that Galvani showed the greatest experimental skill in probing depths which could not at that time be further illuminated, although later observers might well have linked up with his work – which did not as a matter of fact happen. It cannot be denied that Galvani was here dealing with electric oscillations produced by the sparks, with electro-magnetic induction, and even with electric waves[2] – all processes which were discovered in another way, starting from Galvani's third part, by Volta, Oersted, and Faraday, but not until a century later, and then

[1] These are his words in the publication.

[2] A very remarkable observation in this category, not upon frogs' legs, is found in the fourth part of Galvani's Essay.

without reference to the observations contained in the first part.

In the second part, Galvani investigates the action of atmospheric electricity on animal preparations. In these experiments, which were carried out in the open air, he found very powerful muscular contractions taking place at every flash of lightning Here, as in the first part, the frog preparation only acted as a highly sensitive detector of electric forces This part does not bring anything new, in so far as the electrical charges of thunderclouds had at that time been already sufficiently proved by the bringing down of sparks (as in Franklin's experiments with kites in 1652); this part is only short.

The position is different as regards the third part. This starts from an entirely new observation For the experiments of the first and second part it had always been necessary to attach conductors – wires or other metal parts – to both the nerves and the muscles of the frog preparation, and Galvani noticed in experiments carried out in the open air, that contractions occurred even under a clear sky, when metallic parts of different nature touched one another; when, for example, the nerve of the preparation was attached by means of a brass hook to an iron garden fence, and the muscle touched the iron. Galvani thought at first that these contractions were to be referred to changes in atmospheric electricity, 'but when I then carried the animal into a closed room, laid it on an iron plate, and began to press upon the latter the hook attached to the spinal cord, behold, the same contractions, the same motions.' Thus a new discovery was made. It again challenged Galvani to an extraordinary number of fresh experiments, whereby he changed the conditions in all sorts of ways, in order to discover the essential point, but every time entirely without the assistance of any hitherto known source of electricity, for it was obvious that a new source of electricity had been found, the seat of

which remained to be discovered. His chief discovery was the fact that the strength of the contractions depended upon the choice of the two metals, which must touch one another, while one of them also touches the nerve, and the other the muscle; but he also found that the contraction became weaker and somewhat uncertain, but did not quite vanish, when a bow of one single uniform metal was interposed between nerve and muscle. This latter observation, which he made frequently, and always with the same result, led him finally to regard the animal preparation itself as the source of the electricity which caused the contraction Nerve and muscle together thus appeared like a Leyden jar able to charge itself, which was discharged when its two coatings were connected together. 'Animal electricity' had been discovered.

In the fourth part, entitled 'Some Suppositions and Conclusions,' Galvani attempts to offer some hints, particularly for medicine, as the result of his work. He is here very modest in his statement: 'But all this I have thought out, as I have said, in order that it may be considered by the great and learned . in order that they may some day make use of it; that was our main desire' – as he also says in the introduction to the whole: 'For eminent men of learning will be put in a position through reading this essay to develop these results themselves further by consideration and experiment and above all to reach that goal towards which we have striven, but from which we are perhaps still very far.'

Galvani's wish soon reached fulfilment after the appearance of his essay in one direction at least, and in a peculiar way, since Volta took up the study of frog preparations just as Galvani had prepared the way so extensively He started mainly from the observation of Galvani, that the contraction was more lively when two suitable and different metals were used in the circuit. The endless riches of nature presented him with an entirely new and unexpected discovery, that the

point of contact of the different, non-living conductors of electricity act as sources of electricity in just the same way – by mutual production of charge – as Galvani had imagined to be the case with nerves and muscles. He was also able to throw some light upon the relationship between nerve and muscle. Nevertheless, Galvani's conclusion regarding animal electricity is also justified, as cannot be doubted in the least according to our present knowledge – although the relationship between electricity and life is hardly any clearer to-day than in Galvani's time

Galvani was fifty-four years of age at the time of the publication of this essay. He also took part later in the discussion; but his later years were disturbed by great events. Napoleon Bonaparte had entered north Italy in 1796 as victor, and founded the Cisalpine Republic, to which also Bologna, Galvani's place of residence – hitherto in the Papal States – was to belong Galvani refused to take the oath of allegiance to the new constitution, and was then declared removed from all his offices. Though sensible people were able to bring about his reappointment, which was then arranged for the commencement of 1799, he died just before this, in December 1798, at the age of sixty-one.

Volta was born in Como, of an highly esteemed family, became teacher of physics at the High School of his native town at the age of twenty-nine, and was called in 1779 to the University of Pavia He travelled much at this time, first in Switzerland, where he became acquainted with Voltaire, who greatly impressed him, later to Paris, where he made friends with Lavoisier and Laplace; to Germany, and to England, where he met Priestley. Volta, who had a rare gift for experiment, undoubtedly began very early to acquire a thorough knowledge and a profound personal understanding of everything known at the time concerning electrical phenomena. Very famous for a long time

was his 'electrometer,' consisting of two straws, but this was then superseded by the gold-leaf, and later by the aluminium-leaf electroscope, he used it to make measurements of astonishing sensitivity, especially when he added to it the 'condenser,' which consisted of two metallic plates, separated only by a thin coat of lacquer, acting as an insulator, the result being a Leyden jar of high capacity. When the two metal plates were separated, the voltage to be measured on the electrometer was multiplied one hundred times All this, as well as his electrophorus, was not fundamentally new, but it indicated a development and mastery of the art of electrical measurement which at that time was something quite new, and shared by no one besides Coulomb. Volta also was the first to measure atmospheric electricity, by connecting his electrometer to an insulated flame

The introduction of measurement, of quantitative observation, into the study of electrical phenomena, of which Coulomb had been the pioneer, proved also in Volta's case to be fertile in results of fundamental importance, when he took up work on frog preparations, in common with many other people, immediately after the appearance of Galvani's paper. In the course of eight years his work resulted in the revolutionary discovery of the 'pile,' and the 'cups,' which were marvellous and completely novel appliances for investigating entirely new regions of knowledge

First of all, after numerous experiments on frog preparations, which at first were only slight variations on Galvani's, he arrived at the discovery that the muscular contractions are not necessarily conditioned by the transference of electricity from nerve to muscle, but that an electrical stimulus of the nerve alone is sufficient to set the corresponding muscle in motion. He proved this by laying bare a piece of the nerve of the thigh, and providing this with two tinfoil electrodes sufficiently far apart, through which a weak electric discharge could be sent along the nerve without passing

through the muscle. Nevertheless, the muscle contracted strongly. From then on, Volta used frog preparations as a test for electrification, exceeding in sensitivity the finest electroscope provided with his condenser. He now touched the two nerve points with two different metals, for example silver and tin, which were themselves also in contact; from the resulting contraction he concluded that an electric current was passing through the nerve, and says that 'it is clear that the cause of this current is the metals themselves, and that the electricity here is excited in a manner of which we have hitherto had no conception.' He contrasts 'animal electricity' with 'metallic electricity,' regarding the seat of the electrification as being the place of contact of the two metals [1] In this connection he also made an observation which had already been known twenty-five years previously, but which had never been suspected of having any connection with electrical phenomena. If we apply to the tongue two different pieces of metal, we experience at the moment when the two pieces of metal touch one another a sharp sense of a metallic taste. Volta here at once perceived in this the same effect as with the frogs' nerves, only that in place of the latter, the tongue forms the moist conductor. He distinguished according to the sour or alkaline taste experienced, the points of entry and exit of the current on the tongue, and even used this to determine the direction of the current given by different metals.[2] Using frog preparations, other animal preparations, and the tongue, Volta investigated many different kinds of metal and also carbon and pyrites as conductors in the solid state, and he already began to arrange them in a series according to their degree of activity. These conductors he called conductors of the first class, and liquids, such as act in animal preparations or on the tongue,

[1] The quotations are taken from Volta's paper published in 1792.

[2] Volta therefore even observed, although without knowing it, the chemical effects of the electric current

conductors of the second class, and he laid stress on the continual circulation of electricity through the three conductors, which together form a circuit as long as they are in contact. The seat of the driving force ('electro-motive force' as we say to-day) he regards quite generally as lying in all three places of contact.

Volta now proceeds to eliminate organisms entirely from his experiments. The nerve or the tongue became finally for him only means of testing for electrification, he attempts now to replace them entirely by the electroscope with condenser. The undertaking was very difficult to carry out unexceptionably, on account of the smallness of the forces at work, but in August 1796 Volta was able to announce that he had finally succeeded, beyond his expectations, in making the electrification resulting from the contact of two metals only, 'actually perceptible.' This was the fundamental experiment of Volta, still famous to-day. He succeeded only by using in connection with the electrometers of that period repeated multiplication by means of the condenser, a method in which only a very skilful and careful experimenter can avoid deceiving himself.

Thenceforward the way was somewhat easier. Volta proceeded quantitatively, although only approximately, which however, is generally quite sufficient in the first pioneer work, when the experiments are pure in their results By investigating pairs of conductors of the first class, he was able to arrange them all in a series, since called the 'Voltaic series,' in such a way that the electromotive force or electrical tension produced by any pair of conductors together, is proportional to their distance apart in the series. At the top of the series stands zinc; at the bottom, carbon, about in the middle, copper; the higher member is always positive towards the lower This allows us to see that conductors of the first class alone do not permit a continual current of electricity to be produced, since the tensions at the

points of contact cancel one another as soon as the circuit is closed. But if a conductor of the second class is included, a steady current is obtained. Volta tested these liquid conductors by soaking porous wood or paper in them, thus obtaining them in the form of flat plates He found that these conductors on touching suitable metals like zinc, give particularly high tensions, but with other metals, such as copper, only very low ones, so that they do not fit into the voltaic series, and he recognises that this makes it possible, not only to obtain a continual flow of electricity, which had already been assumed in the experiments with frogs and with the tongue, but also by multiplying the points of contact, to multiply the tensions

With this the voltaic pile was invented. Volta made his first announcement on the 20th March, 1800, in a letter to the president of the Royal Society in London, which was afterwards printed in the transactions of this Society[1] He there says·

'Yes, the apparatus of which I am telling you, and which will doubtless astonish you, is nothing but a collection of good conductors of different kinds, arranged in a certain manner 30, 40, 60 pieces, or more, of copper, or better of silver, each laid upon a piece of tin, or, what is much better, zinc, and an equal number of layers of water, or of some other humour which is a better conductor than plain water, such as salt water, lye, &c; or pieces of cardboard, leather, &c. well soaked with these humours; such layers interposed between each couple or combination of different metals, such an alternative succession, and always in the same order, of these three kinds of conductors, that is all that constitutes my new instrument, which imitates, as I have said, the effects of Leyden jars, or of electric batteries, giving the same shocks as they do; which, in truth, remains much below the activity of the said batteries charged to a high degree, as regards

[1] *Phil. Trans.*, 1800, p. 403. The original letter is in French

the force and noise of the explosions, the spark, and the distance over which the discharge can take place, &c., only equalling the effects of a battery charged to a very low degree, of a battery having an immense capacity, but which, besides, infinitely surpasses the virtue and power of these same batteries, inasmuch as it does not need, as they do, to be charged beforehand, by means of outside electricity, and inasmuch as it is capable of giving a shock whenever it is touched, however frequently these contacts are made . . I am going to give you here a more detailed description of this apparatus, and of some similar arrangements, as well as the most remarkable experiments concerned with them '

He then also describes the cup apparatus, in which the liquid conductors are placed in cups, each of which contains a strip of copper and zinc not in contact in the cup, but connected outside in the correct order. Each cup thus forms an element of the pile in another form, called to-day the Voltaic element. Volta also describes at the same time some other special observations with the pile, which however all relate to the physiological action of the current. shocks which are particularly strong when both hands are dipped into vessels of water connected to the ends of the pile Further the continual increasing burning of the skin when the ends of the pile or the chain of cups are touched, which Volta quite rightly regards as a proof of the continual circulation of electricity. He also investigates the effects on the organs of taste, smell, and hearing, and on the eye.

This publication brought Volta an invitation to Paris, to lecture to the Academy, Napoleon Bonaparte also being present; he was at that time First Consul Much honour was shown to Volta, and this must have given him great pleasure, for he always seems to have been an admirer of France. Five years previously, when Napoleon entered Italy at the head of his army, he was member of a delegation sent to meet the victor. Volta was fifty-five years of age when he

discovered the pile, he afterwards made no further contribution to science He thenceforward devoted himself mainly to his family, indeed, in the year 1804 he also wished to lay down his professorship in Pavia, but this was refused by Napoleon with the words. 'I cannot agree to Volta's resignation. If his activities as professor are too great a burden, they must be limited He may give even only one lecture a year, but the University of Pavia would be wounded to the heart if I were to allow so famous a name to be struck off the rolls of its members; furthermore, a good general must die upon the field of honour.' He thus remained for a considerable time suitably employed, only in the last eight years of his life did he live in retirement, in his native town of Como, where he died at the age of eighty-two It is not surprising that Volta did not himself make any further use of his pile, that completely new means of obtaining an ample flow of electricity, in order to investigate the still unknown and special effects of such a flow, the chemical effects, the heat effects, and the magnetic effects, which however are much less obvious. Experimenting with the pile and the ring of cups was taken up on so many sides and with such haste immediately after Volta's announcement, that the discovery of such effects at once occurred in all sorts of places and in a manner which for the moment excluded serious investigation. It was also ridiculously easy to construct the new appliance: a few bits of metal and rag or cups and some salt solution were sufficient It was a finished gun, loaded with powder and shot, already invented, and easy to fire. It is therefore not worth while to collect the names of those who were the first to publish this or that observation on the effects of the current, but we must consider the work of Davy, Berzelius, Oersted, Faraday, Joule, in chronological order, which work, in the course of the next seven to forty years resulted in the thorough elucidation of the effects of the electric current. It is noteworthy that the mass of new

material, which became accessible through Volta's discovery of 'metallic electricity,' has generally been associated with the name of Galvani, though of course these discoveries would not have been made so quickly without his previous work; we still use to-day the term 'galvanic battery, galvanic current, galvanometer, galvanisation, galvanic cautery, galvanism.'[1]

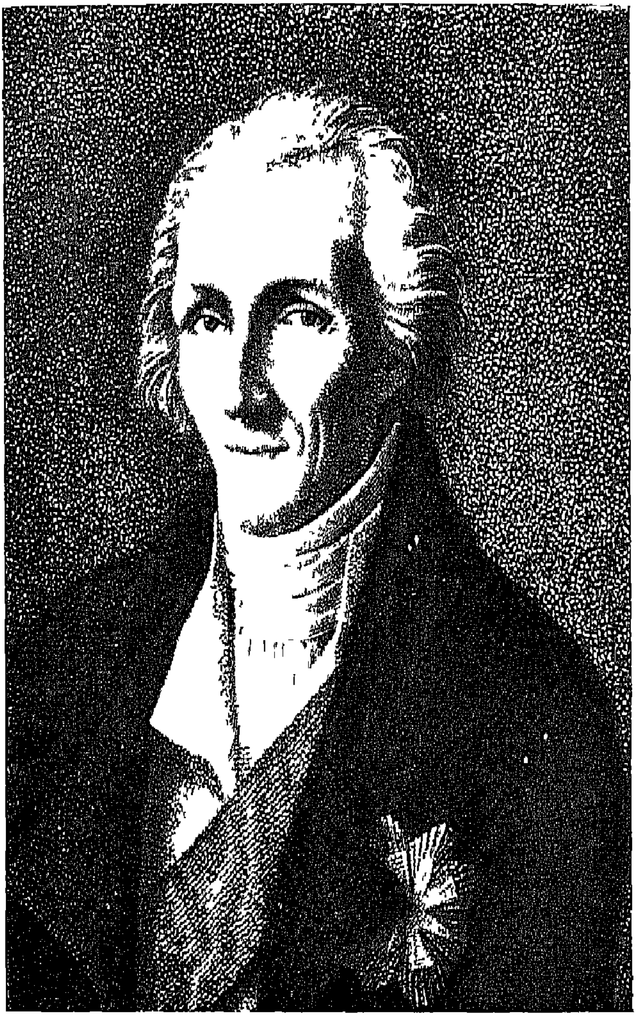
But it was not only in the domain of electricity that in this period an enormous harvest of research was reaped from the seed sown by the devoted work of rare minds such as Coulomb, Galvani, and Volta, work which was handed on to their successors; in other fields as well this was the case, thus as regards Black, Scheele, Priestley and Cavendish in the domain of chemical processes, gases, and heat. Further, as regards light, Huygens' and Newton's results were still open to further investigation Hence from this point onwards, there is a particularly rapid succession of important achievements, not however depending so much upon work from the ground upwards, and this is distributed among a comparatively large number of investigators. In the next thirty years alone, up to Faraday's time, we must name not less than sixteen scientists whose work was remarkable, in the previous thirty years there were only eight, and among these the men already discussed

COUNT RUMFORD

1753–1814

We now come to a mind especially lightly weighted with the ballast of learning, and thus left free to soar to great heights, but nevertheless capable of getting at the bottom of

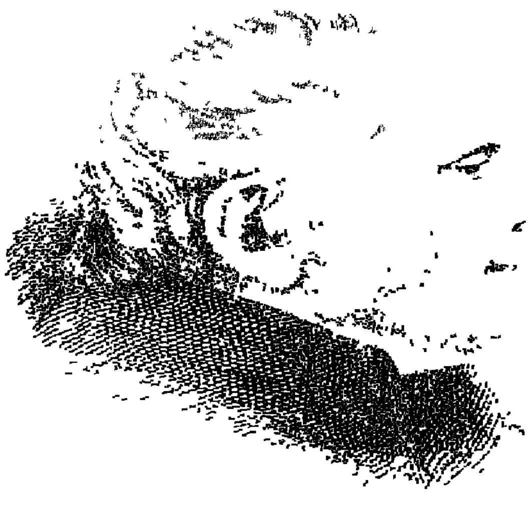
[1] Compare in this connection the later note on *Galvanometer* (under Ampère, p 227).



27 Count Rumford



28 Martin Heinrich Klaproth



29 John Dalton

everything that he undertook, and always hitting the essence of the matter without pedantry. Among the numerous and manifold activities of his varied life, only one, relating to science, concerns us here, namely his endeavours to discover the nature of heat, his other services to science can only be mentioned shortly, or simply referred to

The famous experiment carried out by Count Rumford in the munition workshop at Munich[1] started from the existing knowledge of heat, according to which it appeared as an extremely mysterious something, the amount of which, it is true, could be measured with certainty since Black's time; the addition of it in many chemical transformations, and also in the processes of fusion and evaporation of substances, was known to be necessary, but on the other hand it failed to affect the balance It was thus possible to imagine it as a weightless substance – this was the generally accepted idea, and Lavoisier had introduced the term 'caloric' for this substance – and hence of the same nature as the other forms of matter which chemistry had discovered in ever increasing variety. They all had the feature in common of being fundamental substances, which proved to be unchanged in amount, although they might appear to vanish, together with their properties, in the course of chemical combinations. In like manner, heat appears to vanish when ice is turned into water, but reappears again when the water freezes to ice, while certain chemical processes, such as combustion, do not require heat, but produce it. But this idea of heat necessarily led to difficulties in the case of a common phenomenon, namely the development of heat by friction For here heat appears without our being able to find out whence it has come, or where afterwards a deficiency in it is discoverable This fact struck Count Rumford when he noticed, in the boring of

[1] Published in 1798 in the *Philosophical Transactions of the Royal Society*

cannon, how hot the casting on the machine became when the borer was blunt. He therefore undertook a series of experiments, in order to test the assumptions common at the time concerning the origin of frictional heat. Heavy friction usually results in the production by wear of particles or powder If the particles had a smaller heat capacity than the original substance, of course to a sufficient degree, the liberation of heat in the formation of the particles would be explained. Rumford therefore measured in a mixture calorimeter the capacity for heat of the gunmetal turnings, but found it in no way sensibly different from that of larger pieces of the same metal. It might also be thought that the heat comes from the surrounding air, which has free access. But when borings were undertaken in a closed space, and finally even under water, the development of heat, which was carefully measured in each case, was in no way diminished. In one experiment, boring was then undertaken under water, with an intentionally blunted borer, for an uninterrupted period of two and a half hours; the water in which the metal was immersed came to boiling point, and continued to boil as long as boring took place 'It would be difficult to describe the surprise and astonishment of the spectators,' says Rumford, 'when they saw so great a quantity of cold water heated up and finally caused to boil, entirely without fire' He then calculated the quantity of heat produced in unit time, and found it – not including the obvious loss of heat to the surroundings – at least equal to that given by the combustion of nine large wax candles The borer was kept in motion by two horses, but one only would have been sufficient This unusual way of obtaining heat by the work of a horse is not however very advantageous, as Rumford remarked, for more heat would be produced by using the horse's food, which cannot be dispensed with, as fuel.

In conclusion Rumford once more raises the question.

'What is heat?' and answers in accordance with his observations 'It cannot be a material substance' For it came out of a limited system of bodies, namely the piece of metal in the trough of water, continuously, and so in unlimited amount; none flowed in, yet it flowed away on all sides, without the slightest sign of chemical change appearing, say in the water. The piece of metal subjected to friction was fully demonstrated to be an inexhaustible source of heat: 'It appears difficult, if not quite impossible for me,' then says Rumford, 'to imagine heat to be anything else than that which in this experiment was supplied continuously to the piece of metal, as the heat appeared, namely motion.' This conclusion was a new legacy to natural science. In view of the mass of new material already accumulated, and easier to deal with, it remained for more than forty years untouched until a quite original mind again appeared as a true seeker after truth, and attacked the matter anew: Julius Robert Mayer. 'Heat as a mode of motion,'[1] could, it is true, not be announced upon a perfectly sure basis until sixty years after Rumford's time, when the work of Clausius, and also the earlier work of Carnot, had appeared. The fact that in all the years after Rumford's experiments, his idea, founded upon the observation of nature, did not prevent the general retention of the idea of a special heat-stuff, shows how rarely academic men of learning are seekers of the truth. Only a few noticed the contradictions to reality in which they were involved. Among the few searching and original minds, we have Davy, who, in order to be sure of the matter, caused ice to melt by means of friction, and this succeeded although the capacity for heat of the resulting water was almost twice as great as that of the ice. He also caused wax to melt by friction produced by a clockwork in an

[1] The title of a collection of lectures addressed both to scientists and lovers of nature, given by John Tyndall in 1863 at the Royal Institution in London.

evacuated space, taking precautions which excluded all possibility of conduction of heat [1]

Rumford himself carried out further very refined experiments in order to determine a possible weight of heat-stuff. He had already found earlier (1785), that a heated body did not sensibly weigh more than a cold one, and also not less – as some people believed themselves to have proved – if only care were taken to avoid disturbance by currents of air, which a hot body when not enclosed always produces around itself. 'For a long time I feared to form a decisive opinion on the matter,' he says, 'on account of the great difficulties of carrying out weighings of this kind,' until (in 1799) he had invented a special device for eliminating all temperature differences upon the balance, and other sources of error The result, again completely negative, he then communicated to the Royal Society in London [2]

We may here remark by the way, as illustrating the inexhaustible surprises which nature prepares for us, that since the fairly recent experiments of Hasenohrl (1904), there can no longer be any doubt that heat (like every form of energy) does possess weight, though its extraordinarily small amount makes it quite immeasurable by present methods of weighing.

Rumford, whose original name was Benjamin Thompson, was born in North America, of a family of English origin; he was very poor in his youth, could not gain much schooling, and was entered as an apprentice in a business house at the age of thirteen But he soon set up as a teacher with the knowledge which he had acquired from time to time, and then married a rich widow. When the American War of

[1] These experiments were carried out a year after Rumford's announcement, they are to be found in Davy's first publication See the *Works of Sir Humphrey Davy*, vol 2, pages 11 ff

[2] These communications are to be found in the *Philosophical Transactions*, 1799, page 180 According to the figures he gives there, he was able to show that a kilogram-calorie certainly weighs less than – 0 013 milligrams.

Independence broke out, he took service in the American Army; for he had a passion for a soldier's life. But his aristocratic opinions soon made him suspected in America, so that he was obliged to take flight to an English ship He never saw his wife again, his daughter, at that time in the cradle, only returned to the house of her father twenty years after. He was then in English service, where he soon became Under-Secretary of State in the Ministry for the Colonies by virtue of his attractive personality and tactful and trustworthy manner He then began his scientific investigations, which first dealt with munitions of war.[1] Later on he joined the German princes; he made so good an impression on the Kurfurst Carl Theodor that he was taken into the Bavarian service, and after occupying various high offices of state, became Minister for War. In this capacity he also had workshops at his disposal, in which he carried out the remarkable investigation above described He showed great love for his adopted country, carried out a reconstruction of army organisation, and showed the most active care by means of all sorts of inventions – heating, lighting and cooking apparatus – for the poverty-stricken people He thus became much beloved in Bavaria,[2] where he was given the title of Count Rumford, which he afterwards always used. However, the death of his patron, Kurfurst Carl Theodor (1799), undermined his position in Bavaria, so he decided to live in Paris, where the first Consul, Napoleon Bonaparte, received him with distinction. He died there at the age of sixty-one.

[1] In London he also founded the Royal Institution, an institution for research and lectures, where Davy, Faraday and Tyndal worked Their place is occupied to-day by Sir William Bragg

[2] He laid out the 'English Garden' in Munich. The memorial to him there was put up in 1795.

MARTIN HEINRICH KLAPROTH (*1743–1817*)
JOHN DALTON (*1766–1844*)

GRADUALLY, and particularly by the work of such versatile, learned, and energetic investigators as Scheele and Klaproth, the experience accumulated by chemistry, concerning the composition of the vast number of substances found in nature or prepared experimentally, had arrived at the point at which it was possible to distinguish as their components a not very large number of fundamental substances, out of which perhaps all other substances could be built up, and which themselves were possibly of a simple nature, not susceptible of further decomposition. An important matter was the collection of extensive knowledge concerning the weights of the fundamental components contained in various compounds, or necessary to their formation, and in this connection Klaproth especially did exemplary work.

The assumption of the formation of all kinds of matter from certain fundamental substances discovered by experiment only became possible without inconsistency when Black, Priestley, Cavendish, and again Scheele had shown how seriously it was necessary to take the various kinds of 'air' – gases – which they had been the first to discover, as weighable components, for the fundamental assumption was the invariability in the weight of the components, whether separate or in combination, and in however different a form. Heat on the other hand, fire, (phlogiston) – however important it might be in preparing most substances, and hence itself for long regarded as a necessary component – had gradually been left out of these considerations, for it could not be grasped by the balance Lavoisier had in any case shown that such a limitation in the number of the weighable fundamental substances made everything appear much simpler than one had hitherto dared to think, and a simplification of this kind has at all times been equivalent to the assurance

that our ideas have approached considerably nearer to actual reality. Furthermore, Count Rumford had directly proved that there can be no question of heat having weight.[1]

From this point, Dalton again made a great advance. He saw clearly the great importance of the fixed relationships by weight with which any two components combine to form a new substance the 'law of constant proportion' as it is called To this was added the 'law of multiple proportions,' inasmuch as it was found that in many cases several different relationships by weight of the same components were possible, but that these were then multiples of one another, and also, these multiples were always small whole numbers. Dalton had himself specially examined some examples of this

Along with these facts, Dalton had in mind the extreme divisibility of all bodies, not only of simple bodies, but also of compound ones, such as water, which are not mixtures capable of variation in composition Since division, no matter how far it is carried, leaves their properties unchanged, the smallest parts must still contain the components, for example hydrogen and oxygen, in the correct and fixed relationship by weight in which they are always found in any quantity whatsoever of the same substance. He concluded from this that such bodies as water (we call them to-day chemical compounds, as contrasted with mixtures) must consist finally of very small parts, which are all exactly alike, and which are themselves again composed of still smaller parts of the given fundamental substances, which latter, however, in spite of their obviously imperceptible minuteness, must still have the quite definite weight corresponding to the

[1] In the matter of heat, Count Rumford and Lavoisier agree The difference is however, that the practical imponderability of heat was in Rumford's case a fact of observation proved conscientiously, whereas in Lavoisier's case it was a hypothesis introduced *a priori*, further that Rumford – again as the result of direct experiment – did not regard quantities of heat as invariable in all circumstances, whereas Lavoisier introduced his 'caloric,' which was supposed to be invariable in amount

composition of the substance, e g. water. These final particles, from which all matter is built up, are called by Dalton 'atoms ' He speaks not only of atoms of the fundamental substances, but also of atoms of water, for example where we to-day speak of molecules, in order to distinguish groups of atoms from single atoms Such an atom (molecule) of water might in the simplest case consist of one atom of hydrogen and one atom of oxygen (this is Dalton's assumption), and in this case the known composition of water would already give us the relationship by weight of these two atoms (very nearly 1 . 8 according to our present knowledge, 1 · 7 by the figures known to Dalton) But instead of one atom, there might also be two, three, and so on, of each fundamental substance in each molecule, any multiples of whole numbers, but no intermediate stages, since the atoms are supposed to be alike and unchangeable, this gives the explanation of the law of multiple proportions. The possibility of multiples did not prevent the weights of the atoms being determined; they only made it more difficult, inasmuch as many compounds of the same fundamental substance had to be investigated, in order to exclude as far as possible errors due to multiples. This is the line taken by Dalton with the existing knowledge of the quantitative composition of various compounds, and he accordingly constructs for the first time a table of atomic weights, in which that of hydrogen is already taken as unity

This became the foundation of the whole further development of chemistry, and indeed, of the whole further development of all our knowledge of matter. It was at that time only an hypothesis (supposition), but an hypothesis founded on a very great deal of quantitative knowledge, and one also capable of further quantitative tests It has stood these tests in the fullest possible manner, inasmuch as it has always led – in cases which to-day are innumerable – to correct conclusions. It has thus gradually become a theory, that is to say a

well-founded quantitative piece of knowledge based upon experience, which although it goes far beyond what is directly accessible to our senses, nevertheless possesses the same certainty as direct observations. We are in this way as fully convinced of the existence of the atoms with their weights, as we are of the globular form and axial rotation of the earth, of which we are likewise unable to assure ourselves by the direct evidence of our senses. Starting from Dalton's beginnings, we already know to-day very much more about the atoms than their relationship by weight. Imagined suitably enlarged, though still indefinite in certain details, they form for us to-day quite as much a result of our gradually increasing knowledge, as does the earth's sphere, imagined suitably diminished in size as seen from a distance, with which we are familiar. This was the first great example of our penetration into details of the world not directly accessible to our senses, and was given us by Dalton in the year 1808, in his *New System of Chemical Philosophy*, which was based on the sound investigations of his predecessors, in particular Klaproth.[1]

[1] 'Philosophy' of to-day usually goes back to antiquity when seeking to tell us the origin of our ideas of atoms. It does not notice that it is merely tracing the origin of the word, and it confuses arbitrary imaginings of the human mind – many of which appeared early – with ideas of the external world which are strictly co-ordinated with measurable and quantitative experience, it confuses untrammelled poetic imagining with truth laboriously sought and tested. But in going back to antiquity, it might have learned from Pythagoras how we are to avoid falling into such deadly confusion, by measurement. But even without making invariable use of this method – as the scientist does – since *it cannot* everywhere be applied, it is possible to serve truth, that is to say to follow out the actual course of events, instead of turning fancies into systems, without paying any attention to their failure when confronted with reality, philosophy alone no longer gives heed to this. In this way, being incapable of grasping our advanced science – a matter however rendered much more difficult by the materialistic method of to-day, and not by the extent of our investigations – it has been condemned to an undoubtedly injurious and merely apparent existence, such as it now leads at the universities, being mainly a terror for examination candidates, and serving to superficialise their minds, and many another moral science is in no better case, likewise for want of an unconditional enthusiasm for truth.

Since then, the atomic weight has not only been determined with very greatly increased accuracy through the further refinement of quantitative chemical analysis, but it was soon learned, by the use of determinations of molecular weight and other methods, how unknown multiples could be avoided with complete certainty. A somewhat longer time, about fifty years, was necessary before the movements of the molecules in bodies, particularly in gases (kinetic theory of gases), were understood, and this then led to our learning the actual sizes of the molecules, and also their absolute weight (in ordinary units); and the knowledge in detail of molecules and atoms, which internally are worlds in themselves, is still being rapidly advanced

Klaproth was born at Wernigerode in the Harz mountains, went to school there, and then became apprenticed, and later assistant, to an apothecary in Quedlinburg, but he did not become acquainted with good textbooks of chemistry until his twenty-third year, in Hanover This awakened his desire to find a position in which he could learn more, he went to Berlin, where he became an assistant in, and finally manager of, an apothecary's business In the year 1780 he was able to set up his own laboratory, from which a very large number of exact researches issued He was the first to introduce the custom of stating, as the result of a quantitative analysis, not corrected values, but the data actually obtained by experiment. The loss or excess which almost always results in an analysis, had hitherto always been corrected by the analyst himself according to his own notions, which were often affected by preconceived ideas; and the result of observation stated was not the actual result of the experiment, but almost always only the conclusion which it was supposed possible, with more or less justification, to draw from the experiment Klaproth was the first to introduce the custom of not only publishing one's own convictions regarding the composition of a compound, but also of giving full details of

the investigation. The agreement of the sum of the weights of the components found, with the weight of substance taken for investigation, now gave a measure of the accuracy of the investigation, and of the trustworthiness of the methods used The progress since made by analytical chemistry, the discovery of many new substances, depends solely upon this manner of carrying out and communicating investigations, inasmuch as too great a departure of the weight of the components from that of the substance taken can only be caused by a defective method or by the neglect of an unknown component still contained in the substance [1]

Thus Klaproth himself became above all an essential improver of the methods of quantitative chemistry, which enabled him to discover mistakes made by others, and which often brought him in touch with Scheele's endeavours of like nature He also became the discoverer of a number of hitherto unknown elements, thus in 1782 of tellurium, in 1789 of uranium in pitchblende, and of zirconia as a special substance; in 1793 he undoubtedly separated strontia from baryta, in 1795 he discovered titanium, and in 1803 cerium His methods of exact research enabled many of his successors in the next fifty years to effect similar advances. In particular, the gradual recognition of the remaining elements, so far as they are not present in all too small amount in terrestrial substances, was realised in this way An entirely new method of finding the presence of elements present only in traces was first given us in 1860 by Bunsen and Kirchhoff's discovery of spectrum analysis Klaproth's achievements received as much recognition as was possible in his country In 1809, at the age of sixty-six, he was made professor of chemistry at the newly founded university of Berlin, after he had already taught chemistry for several years previously at the Artillery College He died at the age of seventy-four.

[1] For further information regarding Klaproth see *Encyclopaedia Britannica*, Art Klaproth

Dalton was born in a village in the north-west of England, where his father was a weaver and also leased a small estate. He was taught in a neighbouring school, but already became at the age of thirteen a teacher in his birthplace, where he also helped his father on the farm. From then on he earned his living all his life as teacher in various schools, at the same time always working further on his own education by means of the help of friends. He soon published some original work on mathematical questions At the age of twenty-seven he went to Manchester, which remained his permanent home. His activity as a teacher provided him with sufficient for his modest needs, he did not found a family

His experimental investigations were carried out with simple means, they related mostly to gases and vapours It was natural, since temperature measurement by means of mercury thermometers had been developed, that the investigation of the behaviour of the air and also of that of water vapour at various temperatures began. In particular, the relationship between volume and pressure, and the temperature, was examined; but many contradictory statements were in circulation. Dalton was the first to produce thorough results. Vapours were investigated in barometer tubes, in which he allowed the liquid which was to form the vapour to rise to the surface of the mercury, the tubes were then exposed to various temperatures. He found that for every temperature a corresponding definite pressure of the vapour exists, which is quite independent of the quantity of excess liquid, and of the volume of the vapour. This is the fundamental fact concerning vapours, which determines all matter of evaporation, condensation, and boiling; it was Dalton's original discovery, and he already produced tables of vapour pressure He also found that the vapour pressure corresponding to the temperature is also present unchanged, even when at the same time a gas is present in the space. The pressure of the gas, which is determined by the law of Boyle

and Mariotte, and the vapour pressure, which only depends upon the temperature, do not interfere with one another, they simply add together But if the vapour is not saturated, that is, if no excess of liquid is present, it behaves like a gas and follows Boyle's law

In this connection, he also investigated thoroughly the change of volume of gases on heating under constant pressure. He saw that the data then available could not be of much value, since they came from unsatisfactory experiments, the gases had been enclosed over water, and hence gas and vapour had been measured together. He investigated gases dried as thoroughly as possible; air, hydrogen, oxygen, carbonic acid, and nitric oxide, and he showed that they all expand by an equal amount for each degree, or from the ice point to the boiling point by 100/265, of the volume at the ice point. This is the law published in the same year (1802), but a little earlier, by Gay-Lussac in Paris, and to-day named almost exclusively after the latter[1] The co-efficient of expansion of gases as later determined with increasing accuracy, 1/273, is a little smaller than Dalton's value (and also that of Gay-Lussac) This co-efficient of expansion of gases became of especial importance after the insight furnished by the kinetic theory of gases founded by Clausius, since it gives us the absolute zero of temperature, $-273^{\circ}C$, at which the volume maintained by the motion of the gas molecules, and hence the kinetic energy of these molecules – the true measure of the temperature – becomes zero.

Dalton also used his vapour pressure table for measuring the quantity of moisture in the air, in exactly the same way as is done with the present day dewpoint hygrometer, of which he is therefore the inventor, although it later assumed a more convenient form

[1] In older publications, for example Carnot's important work on heat engines (1824) it is called the law of Gay-Lussac and Dalton, which is as well justified as the usual description of the pressure law as of Boyle and Mariotte

We have also to thank Dalton for the discovery that gases become heated when compressed, and cooled when expanded (against external pressure) The heating effect on compression had been observed not long previously in air-guns, and it then soon led to the invention of the pneumatic 'fire syringe'· Dalton showed by thorough experiments that the cause of the production of heat is not friction, but a very remarkable and unexpected property of all gases.[1] This later became of the greatest importance, particularly to the work of Carnot and Robert Mayer.

Dalton's services to science were soon recognised by many honours, which however had no influence on his circumstances in life. 'He was one of those genuine, and now so rare, philosophical spirits, who find so magnificent a reward in the discovery of truth, that they have but little interest in the passing signs of human recognition, as compared with it.'[2] In the year 1833, he received a small pension from the king; he died eleven years later, at the age of seventy-eight.

LOUIS JOSEPH GAY-LUSSAC (*1778–1850*)
ALEXANDER VON HUMBOLDT (*1769–1859*)

THESE two belonged together as men of science, not only because they carried out important work together and published it jointly, but also on account of the continuous friendship which united them in life, however great otherwise the difference between them may have been as regards the individual importance of each.

Gay-Lussac was born in a small town in the southern part of France, where his father was a judge, and studied technical science in Paris. He then filled various teaching

[1] See E Mach, *Wärmelehre.*
[2] Hermann Kopp, *History of Chemistry*, vol. 1, page 364

posts and professorships of chemistry and physics, and also other public offices, which brought him great public recognition. He died at the age of seventy-two, in Paris

Best known of his work is the law named after him, which states the equal expansion by heat of all gases, and which he discovered simultaneously with Dalton, by performing experiments, just as the latter did, for the first time in a proper manner, with a number of the different kinds of gas then known. The fact that the co-efficient of expansion measured by him, as also by Dalton, turned out a little too large (as we know to-day), was obviously caused by the property of glass vessels, then still unknown, of holding water condensed on their surfaces with great tenacity, and it does not in the least diminish the value of the discovery of this peculiarity regarding the gaseous state, namely that all kinds of matter show the same behaviour without distinction

Gay-Lussac's work, performed partly in collaboration with Humboldt, also related to gases, being an investigation of the relationship by volume in which gases enter into chemical combination with one another. He first, in 1795, investigated the combination of hydrogen and oxygen to form water, in the manner discovered twenty-four years previously by Cavendish, who was then still alive, and whose data as regards volume already showed at least approximately the ratio 2 · 1 for the two gaseous components.[1] Gay-Lussac and Humboldt found that when they allowed the two gases, mixed in correct proportions, to explode by electric spark in Volta's 'eudiometer,' that this simple relationship holds with striking accuracy After this, Gay-Lussac alone investigated, in 1808, a very considerable number of further processes of gaseous combination, such as the union of hydrochloric acid gas and ammonia gas, of carbon dioxide

[1] Even Volta already had stated that hydrogen and oxygen give the best explosive mixture when mixed in this proportion, only no one knew previously to Cavendish's work that the result of the explosion was water

and ammonia, carbon monoxide and oxygen, and many others, and in every case he found no less simple relationships by volume. He also calculated in part the relationships by volume, which would appear in the gaseous state, from the known relationship by weight and the specific gravities of the gases or vapours. He is thereupon rightly able to announce 'that two different kinds of gas, when they act chemically upon one another, always combine in the most simple relationship by volume,' and also that 'the volume of the gaseous products or combination is likewise always a simple proportionate number'

This fact, which powerfully supported Dalton's atomic ideas, was one of the strongest bases for the further development of all knowledge of atoms and molecules, and hence of all investigation of the structure of matter, particularly in the gaseous state It was first of all evident that, in the simplest case, an equal number of atoms or possibly molecules of different gases would be present in the same volume. In this connection, the notions of atom and molecule were not at that time distinctly separated Amadeo Avogadro (1776–1856), in Turin, was the first who, already in 1811, decided to assume the existence of special molecules, even in the case of the elementary gases, not consisting of one, but, at least in the case of the ordinary gases then known, of two similar atoms combined together, whereas the molecules of chemical compounds consist of unlike atoms combined together. When the conception of molecules had thus been defined, it was possible to assume the existence in all gases of equal numbers of molecules in equal volumes, by which agreement was found to obtain with all experimental data of chemistry known at the time. All this necessarily remained for a long time mere hypothesis (supposition), and it was, quite justifiably, only accepted with great diffidence. But all subsequent experience only served to confirm it; though it was only put beyond doubt almost fifty



30 Louis Joseph Gay-Lussac



31 ALEXANDER VON HUMBOLDT

years later, when the same result was obtained in an equally well supported manner, namely from the kinetic theory of gases of Robet Mayer and Clausius 'Avogadro's law' of equal numbers of molecules in equal volumes of all gases (at the same pressure and temperature) is one of the best ascertained facts of science It is the foundation of all determinations of molecular weight and hence of atomic weight

Gay-Lussac was also the first to investigate quantitatively the observation made shortly before by Dalton, that gases when suddenly compressed become warm, and when expanded are cooled, the latter only happening when expansion takes place against external pressure, and not when they flow into a vacuum.[1]

Alexander von Humboldt, son of Major Georg von Humboldt, who served in the Seven Years War, received together with his brother Wilhelm, who was two years older, a careful education at the family seat at Tegel, near Berlin. Neither of the brothers went to school until they entered the university. After many years of varied study, Alexander set out on extensive travels into the interior of North and South America, and to Asia, concerning which he published a very large work containing many geographical, meteorological, zoological, mechanical, geological, historical, and other results. From the year 1827, yielding to the earnest desire of the King of Prussia, he lived permanently in Berlin. He first gave lectures on physical geography to a very large circle of hearers at the university, and then turned his attention to writing his second great work, the *Kosmos*. The leading idea of this he himself states in a letter as follows. 'I have been seized with the mad idea of representing in a single

[1] The investigation in which Gay-Lussac proved the latter fact in the year 1807, later became of particular importance since Robert Mayer was able to use it as an unexceptionable basis for calculating the mechanical equivalent of heat, it is reprinted in the appendix to Mach's *Warmelehre*.

work the whole material world, everything that we know to-day concerning the phenomena of the heavens and of the earth, from the nebulae to the geography of mosses on granite rocks, and this is to be a work stimulating by the liveliness of its language, and also entertaining. Every great and important idea, which anywhere shines forth, must here be given together with the relevant facts. It must represent an epoch of the mental development of humanity as regards its knowledge of nature.' This work, to the repeated revision of which he devoted the greatest care, first began to appear in 1845, and found a very large number of readers, it occupied him until his death, at the great age of nearly ninety.

Humboldt was an investigating mind, though no single great success stands to his credit as an investigator. In his manysidedness he is similar to Leibniz, and also in the peculiar nature of his personality, which enabled him to exert great influence on his contemporaries, and also upon the succeeding age. This gave him a high view of the calling of a man of science, and also of the moral value of the results of investigation; in this sense he also states, in his *Kosmos*, the results of the investigation of nature as for friends of nature, and not for exploiters This power, rarely met with, of emphasising the value of the achievement of past times, is certainly of greater value than the production of a new discovery, if the latter does not meet with people who are educated to a proper understanding of it.

HUMPHREY DAVY (*1778–1829*)
JACOB BERZELIUS (*1779–1848*)

THESE are the two great men of science who were the first to use the electric current, so freely produced by Volta's pile, for thorough and fundamental chemical investigation,

but in other respects also they belong to the most eminent minds of their time The fact that the electric current, when led through aqueous liquids, produces decomposition and develops the two gaseous components of water, hydrogen and oxygen, though in itself highly novel and wonderful, could not fail to be discovered as soon as anyone had set up the pile, and dipped its two end wires into ordinary water It thus soon became known that an appliance of undreamed-of power in chemical investigation was here available. Not long previously, the decomposition of water in red-hot iron tubes had been studied, and it was found that a very high temperature was necessary for this, whereas by means of Volta's pile, the decomposition took place straight away, as it were by itself, and the two components were cleanly separated But the easier these new effects were to observe, the more unsatisfactory were the experiments which were now quickly published in large numbers Water supposed to be pure was said to have been decomposed by the current into acids and bases of various kinds, which were indicated at the two end wires by litmus, and a maze of contradictions came into existence. Davy was the first to clear the matter up by a large number of experiments designed to give clear results, and Berzelius soon followed him in the matter.

They showed that the acids and bases only arise from impurities in the water, and that electrical decomposition does not produce any new components, but only the components of water already known, hydrogen and oxygen An astonishing fact, and one most misleading, was that two quantities of water could be taken in separate vessels, in each of which one of the wires from the pile dipped, the two being only connected through a moist wick or the like, and that then one lot of water only gave hydrogen, and the other only oxygen. But neither Davy nor Berzelius allowed themselves to be daunted by the difficulty of understanding this phenomenon, which as a matter of fact was only thoroughly explained

seventy years later by the investigations of Hittorf. They studied thoroughly and persistently, in well-designed experiments, the action of the current on a very large number of substances, particularly with the object of discovering whether they could be decomposed or not

Here Davy, an investigator possessed of the liveliest mind and gifted with the surest insight into the secrets of nature, made a wonderful discovery (1807). He separated the alkali metals potassium and sodium, the existence of which, though they had never been seen, had already been suspected for twenty years as constitutents of the well-known caustic alkalis. He found them to have very strange and unheard-of properties. He did not succeed in separating them from solutions of the alkalis, only the water was decomposed. He then melted the solid alkalis, free from water, over a blowpipe, and passed the current through the molten substance. The negative wire then showed curious flame effects, the origin of which could not be satisfactorily followed, but when he connected the ends of a voltaic battery of many plates, which he had specially constructed for these researches, with a piece of moistened caustic potash, which was melted by the current, he saw brilliant globules with a perfect metallic lustre appear on the negative wire; they were the new metal which he was seeking. When immersed in water, they took fire and burnt instantaneously, swimming about on the surface, and caustic potash was again formed. The remarkable nature of the discovery lay not only in the highly unusual properties of the metal discovered, in the knowledge of an entirely new kind of matter; it was now clear that the other and still undecomposed alkalis and earths must also be oxygen compounds of unknown metals Thereupon, Davy himself soon actually separated sodium, calcium, strontium, barium, magnesium, in the metallic state, and these bodies themselves soon served as further important aids to chemical investigation.

Davy already made a thorough study of their properties in the course of many careful experiments, as far as the means available at the time allowed. It happened, as may so often be observed in the history of science and technology, that the proof of the presence and properties of newly recognised things was sufficient to result very soon in their production on almost any desired scale. A goal, the nature and direction of which can already be seen, is soon attainable in other ways – it no longer needs a voyage of discovery to reach it, but merely a journey. Davy's discoveries thus immediately led to fresh exertions to separate the new metals, if possible, also by purely chemical means, which were found in the case of sodium within a year; by reduction at high temperatures with carbon and iron it was soon produced on a large scale.

In other respects also, Davy's scientific activity was always directed with the highest and most penetrating clarity towards the discovery of fundamental facts. When he first produced the phenomenon of the electric arc between two carbon rods by means of his large voltaic battery, the great development of heat became to him of the deepest importance. He recognised that here, just as in Count Rumford's experiment with the cannon, and in his own experiments with friction, the notion, still at that time current, of a peculiar heat substance is insufficient as an explanation; for no statement could be made as to the origin of the heat of the electric arc, or of that produced by the heating of wires traversed by an electric current

We must also mention much more remarkable investigations made by Davy. We can only refer here to that concerning chlorine, the elementary nature of which he was the first to demonstrate, after it had been suspected of containing oxygen. He then also proposed the name chlorine for this element, in place of the term hitherto used 'dephlogisticated spirit of salt' (Scheele's term, which, since hydrogen had

been discovered, amounted in meaning to spirit of salt freed from hydrogen) or 'oxidised spirits of salt' (Lavoisier). He also discovered and studied many new compounds of chlorine, among these the very explosive chloride of nitrogen. Many other achievements, among them inventions of value to humanity, but which he refused to patent, cannot be mentioned here.

Davy came from a Norman family,[1] which had settled in the south-west of England His father was a poor wood-carver He went to school until his fifteenth year, but unwillingly, he wrote later· 'To learn in a natural manner is true pleasure; how evil it is that in most schools it only causes misery ' He then was apprenticed to a surgeon and apothecary When there he studied all kinds of books very extensively in his spare time. He first paid closer attention to geometry and mathematics, and only later to chemistry, but this then occupied his entire attention so that he soon began to develop ideas of his own He was also fond of writing poetry. The patients whom he had to bandage liked him greatly, and altogether he was all his life praised for his kindness, readiness to help, and general amiability. At the age of nineteen, he entered an institution which had just been founded with the object of making use for medical purposes of the various varieties of gas then recently discovered Nothing could have been more advantageous than this position for Davy's activity, for it placed at his disposal a special laboratory for chemical experiment He devoted special attention to nitrous oxide, which, as well as other gases, he tested thoroughly by breathing it himself, after finding a suitable means of preparing it He then published in the year 1800 a special work on the subject, which

[1] See his brother John Davy's book, *Memoirs of Sir Humphrey Davy*, London, 1836, also *The Scientific Achievements of Sir Humphrey Davy*, by J C Gregory, London, 1930 Davy was of medium height, had light brown hair and eyes, his head was small at the back, his hair of very fine texture and slightly curly, he had an aquiline nose

resulted in this gas, called laughing gas on account of its effects discovered by Davy, soon becoming a favourite anæsthetic for small surgical operations In 1801 he already, as a result of this, received from Count Rumford an invitation to come to London to his newly founded Royal Institution, where he received a still better equipped laboratory, and undertook the duty of giving every year a certain number of lectures to large audiences [1]

Here he carried out the work with Volta's battery to which we have referred above, and which then also became the subject of his lectures. It may appear astonishing that he was able at once to appear with great success as a lecturer although he had hitherto had no practice of any importance However, not only did his poetic gifts and his unlimited enthusiasm for his chosen subject ensure this success for him; but he was aided by the striking exhibition of entirely new effects, such as the Voltaic battery and its action, the peculiarities of the alkali metals produced by it, and the electric arc. Since Galileo had been able to exhibit the moons of Jupiter, or Guericke the Magdeburg hemispheres, there had certainly been no such great public impression produced by purely scientific successes But Davy, by the depth of his attitude towards scientific research, which he here exhibited, and by suitable historical disquisitions, made his lectures a striking and noble means of culture for old and young and for all circles He thereby firmly founded the reputation of the Royal Institution exactly in the sense desired by Rumford

This tireless activity brought him high recognition; in the year 1812 he was knighted, and he also received many distinctions from abroad He married in the same year His wife was very well-to-do, and this enabled him to make long travels, extending over years, through almost the whole of

[1] For a short time before Davy, Thomas Young had occupied this position

Europe On these occasions he always took with him a small travelling laboratory, and ideas for work never forsook him. In the year 1820 he was chosen President of the Royal Society, which he regarded as the highest possible distinction, since Newton had once filled this position. After about the year 1826 his powers began to decline, he again sought for recovery in long voyages which were by preference to Italy, the Tyrol, and Switzerland; fishing in the Alpine streams was one of his favourite amusements But recovery was not to be his lot; he died on his way home, in Geneva, only fifty-one years of age.

Berzelius was born in East Gothland, where his father was head of the school. He studied medicine and chemistry in Upsala, obtained his medical doctorate in 1802, with a work on the effects of Volta's pile on organic substances, and then became a doctor and, later, teacher of chemistry His work, like that of Davy, was by no means confined to the chemical effects of the voltaic battery, but covered the whole of chemistry. But Berzelius was more inclined to exact quantitative work, and was thus allied, say, to Klaproth. Thus Berzelius was the first to develop methods of obtaining the quantitative composition of vegetable substances consisting of carbon, hydrogen, and oxygen, following paths opened up by Lavoisier and Gay-Lussac. Never since the time of Scheele, surely, had a man of science been in possession of such a store of knowledge as was Berzelius. Since 1807, in his capacity of professor of chemistry in Stockholm, he had trained a large number of pupils, who continued to advance chemistry after his manner.[1]

He perfected Dalton's tables of atomic weight with continually increasing accuracy, and he invented the method, quite general to-day, of using letters as symbols for atoms,

[1] Davy had one pupil only, who however was a host in himself Faraday It was later said that Faraday was Davy's greatest discovery



32 Humphry Davy



33 JACOB BERZELIUS



34. THOMAS YOUNG



35 JOSEF FRAUNHOFER



36 AUGUSTIN FRESNEL

and placing them together, with the suffix giving the number of atoms, to show the molecular formula. Dalton showed atoms as small circles with distinctive symbols written in them; Berzelius' symbolism gradually became more suitable, since the number of elements ascertained to exist increased, whereas for a long time nothing whatever could be ascertained concerning the grouping in space of atoms in molecules, so that a scientist desirous of adhering to truth, such as Berzelius, felt obliged to avoid for preference the suggestion of grouping in molecular formulae

Berzelius received the highest recognition and distinction He married in 1835. He lived to the age of sixty-nine. Both Davy and Berzelius – the first somewhat earlier[1] – made use of their experiments on the chemical effects of the electric current to draw conclusions concerning the nature of the atoms; they recognised that the atoms either contain electric charges from the beginning (Berzelius), or must be capable of communicating them to one another by contact, either singly in the molecule, or in large masses in the case of the plates of the Voltaic battery (Davy). This was the first time that properties of the atom appeared to be capable of deduction on the basis of well-founded experience, and these properties were electrical in nature. A further eighty years were to pass until – by the study of Hittorf's cathode rays – new experience of an essential description was again obtained, but this then only resulted in the addition of more definite matter of the same kind to the original conclusions, and removed all doubt Thus the first discovery by Davy and Berzelius that electric forces must be ascribed to the atom, indeed, that atoms are held together in the molecule by electric forces – in other words, that the chemical forces are electric forces – remained all these years a good indication for research, only forgotten at times to the

[1] See Sir E. Thorpe's *History of Chemistry*, London, 1909, vol. 1, p. 114

disadvantage of the latter It may actually be regarded as the beginning of our present knowledge of the internal characteristics of atoms.

THOMAS YOUNG (*1773–1829*)
JOSEF FRAUNHOFER (*1787–1826*)
AUGUSTIN FRESNEL (*1788–1827*)

THE time had now arrived for a great advance in the knowledge of light Fraunhofer in Munich, and Fresnel in Paris, were responsible for this in different ways, while Thomas Young in England had to a certain extent paved the way for their discoveries Fraunhofer was the first to construct optical appliances of the highest refinement, and he also pointed out new methods in the art of manufacturing them, so that this art could thenceforth develop and spread on a sure basis. His new optical apparatus belonged, however, not only to types already known, such as his astronomical telescopes of hitherto unattained power, but also to those of an entirely new description, such as his optical grating, which enabled him to attack the problem of the nature of light in an entirely new manner

It was Fresnel who rendered the wave nature of light, imagined by Huygens and later by Thomas Young, a certainty, and he is therefore to be regarded as the founder of the wave theory of light. He was a fine observer of recondite phenomena of light, in the same way as Newton had already observed quantitatively the colours of thin plates. He however did not merely investigate such phenomena as had hitherto been the subjects of explanation by the wave theory with further regard to this possibility, but actually experimented with the light waves themselves, in such a way

that their existence or non-existence could be subjected to decisive tests by means of a series of properly planned experiments. Just as, centuries previously, the physics of matter had gradually proceeded from observation of what offered itself more or less without preparation to thorough and well-planned experiment, so now was a similiar transition accomplished in respect of the physics of the ether founded by Huygens

But for the fact that the domain of the ether, the basis of all known and unknown phenomena of light, electricity, and magnetism, is obviously so infinitely more extensive than that of matter (which is certainly nothing more than a peculiar and tangible formation of ether), we might call Fresnel the Galileo of the ether; but while Galileo was already able in his experiments to proceed very far towards a knowledge of the general behaviour of matter, we feel to-day as regards the ether, even after the work of Faraday, Robert Mayer and Hasenohrl, that we are still only quite in the initial stages of knowledge In any case, we owe to Fresnel the assurance that the ether is able to form or produce or carry waves, which are propagated with the velocity already measured by Roemer The length of these waves–measured from peak to peak or valley to valley, without our yet being able to say what peak and valley actually mean, other than states of opposite nature[1] – was determined by Fraunhofer for the first time with very considerable accuracy by means of a new optical apparatus designed for this purpose, the grating. We are provided with a special organ, the eye, for the detection of these ether waves

[1] Fraunhofer, in a manner very characteristic of him as a true investigator of nature, both in definite regions of known phenomena and in unknown, says himself, concerning the wave nature of light 'Whatever we are to imagine under this term, it must in any case be of such a nature that one half of the same is opposite as regards its effect to the other half, so that if one half meets with a half of the opposite kind, the effect is eliminated, whereas it is doubled when two like halves act together in the same sense This is the fundamental notion of interference.

The short lives enjoyed by Fraunhofer and Fresnel coincided almost to a year; accordingly their work is practically contemporaneous In another respect also they were alike, inasmuch as neither had any previous training whatever in preparation for their extraordinary achievements, it is thus all the clearer that these resulted entirely from their own innate gifts, urged on by which, they acquired the necessary preliminary knowledge on their own account.

Thomas Young, who was about fifteen years older than Fraunhofer and Fresnel, had studied chiefly medicine at several universities, and then became a doctor in London. This however was by no means sufficient for his active mind, and as a rich man he was always at liberty to follow up his manifold interests. Among these was the study of the writings of Newton and Huygens, and this led him to interpret Newton's elaborate observations on the colours of thin plates and on diffraction, according to Huygens' assumption of the wave nature of light In this, by making use of the knowledge of sound and water waves already provided by Newton, he succeeded so excellently, that Fraunhofer and Fresnel found in the writings of Young a well prepared foundation for their further investigations

Fraunhofer was born at Straubing on the Danube, as the tenth child of a master glassmaker, who lived in poor circumstances An orphan at an early age, he was apprenticed at the age of twelve to a mirror maker and glass polisher in Munich, where he also had to be of service in the house and kitchen, being bound for six years, since he could not pay a premium. After two years the house of his master collapsed, and Fraunhofer was buried in the ruins. As by a miracle he was extricated uninjured from the ruins, and this event so excited the sympathy of the ruling Prince, that the latter made a handsome present of money to the poor and weakly boy; he also received support in the matter of books,

which his master did not possess. Fraunhofer used part of the present to buy his freedom from his master, and with the other half he bought a glass grinding machine. He also learned engraving on metal, in the hope of being now able to make himself independent But he was not successful in earning his living, so that he could find nothing better than to return to his former employment. Five years later he was taken into a larger optical works, which he himself then helped to become famous. He soon improved all the machines, but also most particularly the manufacture of glass. His efforts led to success in making large pieces of flint glass (a lead glass with high refraction and dispersion) free from striae, and also in other respects suitable for the finest optical purposes; and he also introduced an exact control over the refractive index of the glasses used, by measuring the co-efficient of refraction (according to Snell's law) by means of prisms cut from the glasses to be tested.

These efforts led Fraunhofer to two very great successes. The first was the discovery of 'Fraunhofer's lines' in the solar spectrum, which Newton had not seen; the other was the possibility of providing astronomy with much more effective and larger refracting telescopes, particularly for the purposes of measurement We will discuss these two achievements both separately and in their connection.

Fraunhofer's good glass enabled him to produce prisms giving much purer spectra than Newton had been able to obtain Furthermore, he fully recognised the other requirements necessary to obtain pure spectra: use of a fine slit for admission of the light, parallelism of the rays in the prism, and then along with these, observation through a telescope The result was immediately – as so often in the case of a clean experiment – a new discovery He saw in the spectrum of the sun the dark lines named after him, and he proved by exact measurement of the position of these lines with all kinds of variations in the experimental conditions,

that 'these lines lie in the nature of the sun's light, and do not arise by diffraction, self-deception, etc '[1]

He always actually obtained them under all conditions in the same manner as soon as a pure spectrum of sunlight or daylight was formed. He also sought them in the light from Venus and found them there. Fixed stars, some bright ones which he investigated, showed lines differently grouped Fraunhofer was not yet able to realise that this opened the way to chemical analysis of the atmospheres of the sun and fixed stars, to which the combined efforts of Bunsen and Kirchhoff led forty-five years later Nevertheless the lines of the sun's light, peculiar to it, remained a starting point for future investigations Fraunhofer avoided in his extremely modest, but, as regards everything actually ascertainable, very penetrating manner, every discussion of mere supposition Instead, he gives us an exact drawing of these dark lines of the sun's spectrum, a drawing which remained unsurpassed in its perfection until the time of Kirchhoff. He also immediately used the lines – which he designated by letters from A in the red to H in the violet, as we do to-day – as fixed points in the sun's spectrum, which enabled him always to select quite exactly defined kinds of light, which had not been possible hitherto, when only the colour could be named.

This was of great importance when it was necessary to measure the refractive index of a variety of glass for lenses for different colours, an operation indispensable for the construction of good achromatic (colour-free) telescope lenses. More than sixty years ago, the construction of achromatic lenses from two different kinds of glass had already been begun, but success was uncertain, if the refractive index of the two glasses for different colours did not fulfil certain conditions.

[1] This statement forms the difference between Fraunhofer's discovery and a few previous observations of such lines in the form of chance phenomena varying with the apparatus, which observations, being indefinite in character, had been forgotten.

The measurement of the index by means of his lines, and the manufacture of glasses better adapted in their properties than those hitherto usual, and free from striae, was Fraunhofer's means for the construction of large telescopes exceeding all hitherto constructed, which he was able to supply to astronomy. This method has also since remained the standard, and has continually produced further success in technical optics. Huygens' telescope, with which he discovered the rings and moons of Saturn, had, like Galileo's, only simple lenses, Newton had preferred to make use of reflecting telescopes, which were free from colour effects, and thenceforth reflecting telescopes of increasing size had been used for penetrating more and more deeply into the depths of cosmic space

Since Fraunhofer's time, the refracting telescope again acquired increasing importance, to which his very much improved mechanical construction as regards the mounting and measuring apparatus greatly contributed. By means of a Fraunhofer telescope supplied to the observatory in Konigsberg, success was for the first time gained in the discovery of the parallax of a fixed star, which had been sought in vain since the time of Copernicus, and concerning which Bradley had made such great endeavours, more than a hundred years previously. Star No. 61 in the constellation Cygni was the first to show such a displacement every half year superimposed on its own proper motion (and the aberration), it only amounted to 0.3 seconds of arc, from which the distance of the star is easily calculated as being ten light years. The second star also for which a parallax was found, Vega (distant twenty-seven light years) was measured by means of a Fraunhofer telescope; this was the Dorpat refractor, which at that time was regarded as a giant telescope,[1] being four

[1] Compare in this connection, *Josef Fraunhofer und sein optisches Institut*, by A Seitz, Berlin, 1926, pp 78 ff The diameter of lenses has now increased to about four times this.

metres in length, and having an objective about a quarter of a metre in diameter We know the parallax to-day of well over one thousand stars; the one nearest to us, Proxima Centauri, a weak companion of α Centauri, is distant 4 2 light years.

In his last years Fraunhofer was especially busy with the long-known phenomenon of diffraction. It is seen in a very simple manner when light, for example from the sun, passes through a very narrow opening into a dark room, and here meets with an obstacle, for example a hair or a screen with a small opening. We then find in the shadow of the obstacle a distribution of light which shows clearly a departure from straight line propagation the light 'goes round the corner' This is the diffraction already fully described by Grimaldi [1] Newton made further variation in the experimental investigation of it, and thus provided a basis for interpreting the phenomena, which are complex in their details, but Fresnel was the first to reach a proper understanding of diffraction

Before Fresnel had completed his work, and devised the mirror experiment which proved convincingly the wave nature of light, Fraunhofer had made a great step forward on the basis of the knowledge of Young's discussion, a step which revealed an entirely new phenomenon, namely the pure grating spectrum, which in contrast with the minuteness and feeble luminosity of diffraction phenomena hitherto known, showed a magnificent development of colour, and opened up entirely new possibilities In these spectra, the various colour components of the light falling on the grating, for example white light, appear adjacent to one another, as in the spectrum of the prism, with the further peculiarity, however, that they are arranged in exact accordance with their wave-length, so that for example the extreme red is deflected exactly twice as much as the extreme violet, which has half its wave-length. Fraunhofer's first grating

[1] Grimaldi lived between 1618 and 1663 in Bologna Newton begins the third book of his *Opticks* with a mention of Grimaldi

consisted of fine wires, stretched in large numbers exactly parallel to one another, and at exactly equal distances apart; he then scratched gratings on glass, coated with gold leaf, by means of a dividing engine, which removed the gold in parallel lines, and finally, he engraved plain glass with a very fine diamond point. The finest grating which he made in this manner had 300 lines to the millimetre. The finer the grating, the longer the spectra which it gives. Fraunhofer again found his dark lines in grating spectra of the sun's light – a further proof of the purity of the spectra, and also of the strict relation of these lines to the light of the sun. Both the grating and the prism are used to-day for spectral investigations, the first has the advantage, on account of the peculiarity we have mentioned, of allowing measurements of wave-length to be made with ease and very great exactness, and Fraunhofer was also the first to carry out such measurements with an accuracy, for example as regards his lines, which had hitherto appeared quite unattainable

Almost a century after Fraunhofer's time it was discovered that the newly-found and extremely short ether waves (X-rays), could be investigated by means of gratings; a grating of suitable fineness was provided by crystals, which have their atoms arranged at equal distances apart (X-ray spectroscopy) Fraunhofer scarcely allowed himself any rest in his scientific work, and particularly in the work of his optical factory, and even when he fell ill in 1825, with inflammation of the lungs, he did not take a holiday. He was not married. He lived a very modest and simple life; but the Munich Academy paid him great honour. He did not recover from the disease, he died when only thirty-nine years of age. His grave in Munich bears the epitaph *Approximavit sidera* (He brought the stars nearer) One of his biographers[1] praises in him, summarising excellently what we see from his work and his life, 'profound perspicacity,

[1] E Lommel, *Gesammelte Schriften von Josef Fraunhofer*, Munich, 1888

powerful inventive genius, tireless industry, strict love of truth, and technical mastery'

Fresnel came from Normandy; his father was an architect.[1] He made poor progress at school; he learned slowly and with great difficulty Nevertheless, when he was able to go to the technical high school in Paris, at the age of sixteen and a half, he began to make rapid progress, especially in the mathematical sciences. At about the age of twenty, he had completed his education in road and water engineering, and he then entered State service in this capacity. This remained his chief occupation throughout life The year 1815 brought a short interruption, as Napoleon returned from Elba, and Fresnel was most anxious to join the troops which were to oppose his entry into Paris, in spite of the fact that Fresnel was little adapted to bodily exertion He was taken a prisoner half dead, but was treated with great gentleness.

At this time he began his optical studies, to which he was led by reports from the Academy in Paris, and these studies occupied his thoughts when engaged on the lonely occupation of supervising roadmaking He read at that time of 'polarised light' and complains in letters that he cannot guess what it is. When he was referred to books (such as Hauy's *Physics*) he soon was so far advanced as to be able to undertake his own investigation with the aid of simple apparatus in his leisure hours, and in the same year, 1815, he presented to the Paris Academy his first and valuable paper on the diffraction of light From this time to the year 1826, appeared the great series of his profound optical researches, which are not only astonishing even to-day, but have actually retained their full value as regards their innumerable results The cost of his necessary experimental equipment was met by his entering the Commission for lighthouses, and obtaining the position of an examiner in the technical school; but these were

[1] Compare *Œuvres Complètes de A. Fresnel*, Paris, 1870 3 vols

activities which demanded a great deal of him, and he was not able to obtain lighter work. In the year 1824 his health was undermined, he began to suffer from hæmorrhage of the lungs His life, like that of Fraunhofer's, only lasted thirty-nine years

Fresnel's investigations started from simple cases of diffraction, which were already known, though they are fairly complicated even in the case of the shadow cast by a single hair or aperture. These he investigated in all their details with innumerable variations, and in the finest manner possible, each experiment representing a definite question put to Nature. He found that the phenomena entirely corresponded to a wave motion according to the principle already put forward by Huygens, if we take into account that waves can always exhibit interference Actually, all phenomena of diffraction could be explained as due to interference of the diffracted light The diffraction itself, the possibility of propagation in curved lines, is already contained in Huygens' principle

The further phenomena of interference were also in themselves not new, since they had already been taken into account by Sauveur as regards sound, in the time of Newton, they depend upon the fact that in every train of waves, no matter of what kind, opposite states follow one another regularly, as crest and trough in the case of water waves, condensation and rarefaction in the case of sound waves, the distance apart of these states being half a wave-length. If two trains of waves meet at a point, having opposite states of equal length, they must annihilate one another, and this mutual destruction of two trains of waves is called interference When like states meet, the trains of waves strengthen one another In the case of sound, beats, which result from the meeting of two notes not exactly equal in pitch, had already been thoroughly explained by Sauveur as an interference phenomenon If light is a wave motion, as Huygens already thought, it should also exhibit interference, and this

arises in the case of diffraction as a result of differences in path length from the various illuminated points of the opening producing diffraction, to the screen; half a wave-length difference in the path always gives opposite states of vibration and hence darkness, or destruction of the light at the point in question of the receiving screen. The colours arise from the difference in the wave-length of the lights of different colour If, for example, red is blotted out of white light, the remainder appears green, as had been clear since Newton's study of colour. In this way, the colour phenomena even allowed the wave-lengths of the lights of various colour to be calculated.

Something of this kind had already been attempted, before Fresnel's time, by Thomas Young, in the case of Newton's rings, which he interpreted as a phenomenon of interference, Newton's measurements only needing to be suitably interpreted in order to allow the wave-lengths to be deduced. Young had also interpreted the diminution in the size of the rings, obtained by Newton when he filled the space between his glasses with water, as a reduction of the wave-length in water. He had also concluded from the diminution in wave-length, according to the ideas already developed by Newton, that the velocity of light is smaller in water, and he had shown from Newton's figures that this diminution exactly corresponds in amount to Huygens' explanation of the refraction of waves, so that everything thus corresponds in the best possible way with the assumption of the wave nature of light. Young had also been able to explain the black spot in the middle of Newton's rings, the cause of which is not immediately obvious, by means of an acoustic analogy, and had tested this explanation by special and finely devised experiments, and confirmed it [1]

[1] A good and well-informed critical discussion of the achievements of Young, and also of those of Fresnel, Grimaldi, and Malus, is to be found in E Mach's *Physical Optics*

Fresnel then built further on this foundation, which however led, in the case of interference phenomena, to very difficult calculations, which could never have been carried out without the calculus of Newton and Leibniz. But he could show that the explanation of diffraction by the wave hypothesis is completely successful, and that it suffices without exception even when the experimental conditions are greatly changed. In this matter, and also later, Fresnel worked in part together with Arago (Member of the Paris Academy, lived 1786–1853), whose goodwill he had won through his first communication on diffraction to the Paris Academy.

But Fresnel was not satisfied with a complete explanation by means of the wave theory of diffraction phenomena and the colours of thin plates, but wished to test this assumption on his own account in as clear an experiment as possible. This would have to be an interference experiment of the simplest description without any diffraction, in which two rays would simply be exposed to measurable differences of path, but not treated otherwise differently, so that alternate extinction and intensification as the difference in path grows greater, could be taken directly and exclusively as a sign of the presence of periodically changing opposite states along the ray, that is to say, a wave phenomenon.

Newton's experiments with thin plates appeared almost as simple as this, here however, a bundle of rays is split up into a reflected and a refracted path, which is later reflected, and the possibility cannot be dismissed, that the periodically changing states in the ray already assumed by Newton, might be states of easy reflection and easy refraction, and not states of opposite nature and hence capable of mutual annihilation when they meet, as would be the case with a wave. Such an interpretation was excluded in the case of Fresnel's mirror experiment, which has with justification become famous, since here the two parts of a bundle of rays are reflected at two perfectly equal mirrors which meet at an

obtuse angle, so that the two parts after reflection pass through one another, and therefore are able to produce interference. The experiment was completely successful in the manner expected. Interference bands were seen in the whole space where the two reflections met. This mirror experiment produced conviction on all sides regarding the wave nature of light. It also resulted in Thomas Young's explanation of Newton's rings being shown to correspond with reality

Altogether, it was thenceforward necessary to regard a ray of light as a wave propagated with the velocity of light as measured by Roemer, a wave in a medium consisting in what Huygens had already called ether, and not of the kinds of atoms out of which, as was known since Dalton's and Berzelius' time, the ordinary matter of chemistry is made This result has been subsequently confirmed without exception, although the ether itself is still full of questions. The lengths of the waves could also be measured in the simplest and most convincing manner by Fresnel's mirror experiments. The exactitude could not, however, be driven in this case nearly as far as with Fraunhofer's gratings, but the phenomena of these, since they are more complicated and connected with diffraction, are correspondingly less suited to provide simple and direct insight. These wave-lengths are somewhat different for different colours, but very small throughout the whole visible spectrum, they amount from the violet to the red, only to from four to eight ten-thousandths of a millimetre.

Fresnel also devoted very thorough and important investigations to polarised light and its production. Light of this kind, having unsymmetrical properties, but not directly perceptible to the eye as peculiar, had first been discovered by Huygens, as resulting from double refraction, in which 'natural, unpolarised light' was divided into two polarised rays Not until more than a century later (1808) did Malus

in Paris, who had been a soldier in Napoleon's army in Egypt, but who was fond of scientific studies, find that such polarised light may also be produced by ordinary reflection at a glass or water surface Reflection is likewise also a means of recognition of the unsymmetry of such a polarised ray of light If, for example, such a ray is travelling vertically, and can be reflected by a suitably inclined mirror in a forward or backward direction, the reflection fails in the other two directions, to right and left. From this it is directly deducible, that such a ray is not similarly constituted in every direction, one of the possible directions at right angles to it being in some way preferred If we are convinced, as by Fresnel's mirror experiment (which also succeeds with polarised light), that a ray of light is a train of waves, the polarised ray cannot possibly be a train of waves vibrating in the direction of propagation, as is the case with sound; for if an alternating change of state of any kind existed in the direction of propagation only, the properties of such a ray would be similar in all directions at right angles to it Hence the polarised ray must oscillate transversely, and further, when it is completely polarised, in only a single direction at right angles to the ray It still remained entirely unknown what it is that changes periodically into its opposite in this transverse direction, and in the other transverse direction at right angles does not change at all

Fresnel's recognition of the nature of polarised light became clearer, the further he penetrated into the study of its properties. It is noteworthy that not a single one of the most eminent members of the Paris Academy at that time – neither Laplace nor Arago – was able to follow him. Indeed, Fresnel himself appears to have had difficulties with the idea of transverse oscillations; but he neverthless held firmly to the actual signs given by nature, and followed them – with complete success, as the future showed. The difficulty lay in the fact that transverse waves only occur in solid

bodies, and not in the interior of liquids, let alone gases So how could they be possible in the ether? This difficulty was of course in reality only an imaginary one; it arose from an unclear desire to ascribe the properties of matter to the ether, although as Huygens had already expressly stated, it could not be matter

In this case, and still even to-day, it is a fundamentally crude materialism which stands in the way of an understanding of nature; the belief then and now that everything must possess the properties which have become familiar to us from a study of matter, which study was at that time fairly far advanced. If the investigation of nature – and at the same time our whole mental development – is not to become infertile, it is time that the opposite view should again be regarded as self-evident; that the laws of matter, or mechanics, must remain entirely limited to matter, and that the ether and everything belonging to it form a part of the world of a different nature, the peculiarities of which must be first discovered piece by piece, in which process we shall meet with surprises without end, as far as investigation is able to come to grips with it. The desire to refer everything in the world to mechanism, and the feeling of satisfaction whenever this appears possible, was firmly ingrained in the Paris Academy from the time of the Encyclopaedists. It received a fresh and striking expression in Fresnel's time through Laplace's *Mécanique céleste* This work appeared to lay down the principle that everything could be referred to the laws of motion of matter as settled by Newton, together with Newton's law of gravitation, the similar laws of Coulomb, and the molecular forces (which were also to hold for light and heat, themselves regarded as simple substances)

Fresnel had somehow or other to find a place for himself in this theoretical structure, for the Paris Academy was his only refuge But his teacher in his experimental studies of light was Nature In order to pacify the Academy (perhaps

also himself, in a certain sense?), he stated his deduction of the transverse nature of polarised light accompanied by a hypothetical explanation as to how transverse waves might still be possible even in ordinary liquids This mechanical explanation of transverse ether waves later became of no importance: after the results obtained by Faraday, Maxwell, and Hertz, it has become clear also in detail, that the ether is a thing by itself, not only as regards its intangibility (its incapacity for being confined in vessels).

It is not superfluous to point out these peculiar difficulties of Fresnel's time It was the time of greatest departure of the study of nature (and altogether of humanity's world picture) from reality, as a result of complete submission to matter Kepler, like Newton, was still free from this tendency. Huygens was not; for he says at one point[1] of 'true philosophy,' that in it 'the cause of all natural effects is found in mechanical reasons.' Perhaps that was also the cause of his not discovering gravitation, although no one at that time was nearer to it than he. Newton calmly announced his law of gravitation, although he had no mechanical explanation of it to offer. Newton also remarks concerning polarised light, a long time before Malus, and solely from the study of Iceland spar as with Huygens, quite calmly: 'Has not the ray different sides with different properties?'[2] and he remarks that this would not be possible in the case of a longitudinal or pressure wave. The conclusion as to transverse waves had to be drawn, when Fresnel had proved the existence of waves in the ray

Fresnel then sought to discover the wave nature of ordinary unpolarised light. In view of the complete absence of unsymmetry, it might be longitudinal; according to the manner in which polarised light was derived from ordinary light another supposition was suggested. that the ordinary

[1] At the beginning of his essay on light, 1690.
[2] Newton, *Opticks*, 1717, third book, query 26

light coming from the sun and artificial sources, likewise operates transversely, but with extremely rapid change between all possible directions of oscillations at right angles to the ray, while only a single such direction is present in the case of polarised light. This supposition has always subsequently proved satisfactory. It also allowed Fresnel to render the complicated phenomena of crystalline optics, which Arago had in part observed, comprehensible in a perfectly satisfactory manner.

Fresnel also succeeded in answering, in formulae which still arouse our admiration to-day, the question of the intensity of the reflected and transmitted light in ordinary refraction, together with the associated question of polarisation on reflection and refraction. Finally, we must mention his highly important calculation of the 'light-drag,' that is an influence to be expected of the motion of the material medium (for example, water or glass) through which light travels, upon the velocity of the latter This calculation was also shown to be correct, when measurements were made first by Fizeau in 1853, in Paris, and later by others with much greater refinement. It may astonish us that calculations, such as that of the intensity formulae or the light-drag, should prove correct, for they treat the ether to a certain extent as an elastic material body, which it is not, but with which it has a certain similarity But the question is simply whether the suppositions go beyond the actually existing similarity, and the success proves, that Fresnel had succeeded, here also, in doing the right, thing, without doubt as a result of his insight into the phenomena of light

Fresnel laid the complete foundations of the wave theory of light, and also himself built upon them extensively What was added after his time was on the one hand the treatment of special cases, for instance phenomena of diffraction, in which F. M Schwerd (schoolmaster in Speyer, 1792–1871) did excellent work This provided still further proof of the

adequacy of the theory; while on the other hand, the discoveries of Oersted and Faraday afforded entirely new insight into the peculiar nature of ether waves: they were shown to be electro-magnetic in nature.

HANS CHRISTIAN OERSTED

1777–1851

OERSTED was the discoverer of the magnetic effects of electric currents, and thus of the connection between electricity and magnetism For over a thousand years these two phenomena of nature had been known and regarded as similar, but nevertheless distinct, and without any relationship to one another. Gray had recognised the non-interference between electrical and magnetic forces acting simultaneously on the same bodies, and the conclusion that they were completely independent also remained after more refined observations had been made Later, nevertheless, when magnetisation by means of electric sparks and lightning had been observed, and Coulomb had discovered the laws of both forces to be completely alike, the supposition of a hidden connection reappeared again and again, and in this connection was energetically sought for without success

When Volta's battery became known as a new source of electricity, the attempt was repeated with its aid. Several experiments were published, to show the presence of magnetic force in the pile, in elements in the cup form, or also in the contact of two different metals. They were obviously in part rendered worthless by mistakes; a serious experiment for example was the following, to hang up a Voltaic pile on a silk thread, so as to move horizontally, in order to see whether it would set itself in the meridian like a magnetic needle, which of course did not happen Efforts

of this kind show that attention was paid not so much to the new possibility of obtaining a plentiful flow of electricity by Volta's invention, but rather in a confused sort of way, to the new manner of producing static electrification.

Oersted was obviously the first to investigate seriously the pile with the current flowing. The discovery was then easily made; he saw that the magnetic needle moved when brought close to a conductor carrying a current. It is quite incorrect to describe this as a chance discovery, for the search for a connection was being made, and not even by Oersted alone; hence the simultaneous presence of the pile and the magnetic needle on Oersted's laboratory table, and the observation of their effect upon one another was anything but chance. The fact that the discovery took place during a lecture is, assuming it to be so,[1] not remarkable, when we remember that Oersted delighted to hold a great many lectures, even as many as four in one day.

We may also remark here quite generally, that it is a sign of widespread ignorance of the matter, when the credit due to a discoverer is regarded as diminished by his not having really known beforehand what was to be found. On the contrary, a discovery is always the more remarkable, the further it reaches out into the completely unknown, the less therefore it is possible to see further ahead than that something was to be sought in a certain direction. He who does not know how to judge discoveries in this light, regards Mother Nature as being as poorly endowed as our own human mind. Every great discoverer has been surprised

[1] It is difficult to be clear from Oersted's short Latin publication (for neither Oersted nor ourselves were born to speak Latin) whether he wished to state that the discovery took place during a lecture in the winter of 1819 to 1820, or rather that the first experiment could already be seen at this time at one of his lectures, that is to say by a number of people The latter is more probable, when we consider the overwhelming novelty of the positive result, and the ease with which it was obtained, once one knows how, together with the widespread search going on at that time, and the delay which was inevitable before printed publication of the detailed investigation could take place

by his own discovery[1] What may diminish the credit due for a discovery is – apart from want of understanding of its importance, which was by no means the case with Oersted – mainly the circumstance of its having resulted from appliances previously created by others, appliances which to a certain extent already contained the discovery hidden in them, and only needed to be used in a somewhat different way, in order that the discovery might be brought to light. For this reason, we must place Galvani and Volta alongside Oersted. All the same, it took no less than twenty years before Volta's battery caused a magnetic needle to move before eyes which could understand the matter.

Immediately after the first observation, Oersted obtained, with the help of some of his learned friends, a larger 'galvanic apparatus,' consisting of twenty voltaic elements, each a large copper trough filled with dilute acid and with a zinc plate dipping into it, in order to make a further study of the effect under as favourable conditions as possible.[2] He determined in detail the changes in direction of the magnetic needle with different positions and directions of the conductor, above it, below it, sideways, and at different distances, the result was the discovery of all that we can state even to-day, without going into the matter quantitatively. He saw clearly that the newly discovered force emanating from the conductor was not an attraction or repulsion of the magnetic poles, but that it is directed in circles around the conductor. Conductors of eight different metals were tried, and found practically equal in effect, but the path of the current must not be interrupted, say by too long a layer of water. The effect is operative through glass, metal, wood,

[1] For example, Davy of course knew very well that he was looking for metals in the caustic alkalis, but the peculiar properties of the metals potassium and sodium which he found were no less new and surprising to him than to everyone else See also *Nature*, Aug 29, 1931, Article by Kirstine Meyer, 'Faraday and Oersted'

[2] He later announced that so many elements are not necessary, a fact obvious to us to-day from Ohm's law

water, resin, clay, and stone, when they are placed between the conductor and the magnetic needle. The needle could be placed without change in the effect in a brass box, and this could be filled with water. Needles of brass, glass, resin, and other substances, when suspended so as to be capable of motion like a magnetic needle, remained uninfluenced

A short description in Latin of all these and other experiments was sent by Oersted at the end of July 1820 to many learned societies, single individuals, and periodicals The discovery thus very quickly became generally known. It produced just as much general astonishment as Volta's pile twenty years previously, and though at the time the astonishment was somewhat superficial, the subsequent history up to to-day has shown that almost everything founded and achieved from then on by scientific research and technology has come to us from Volta's pile by way of Oersted's discovery, with the sole exception of the series of ideas derived from Rumford, Carnot, and Robert Mayer, which attacked the study of nature at another point, and went still more deeply

Oersted was born on the island of Langeland, where his father was an apothecary.[1] His family circumstances were not prosperous, for which reason little could be spent on schooling. However, Hans Christian taught himself arithmetic from an old schoolbook, and also much else by an exchange of ideas with his brother, who was a little younger than himself, and by the occasional help of private teachers. At the age of twelve his father took him to assist in the shop, where he soon found great pleasure in chemical work For this reason he was very anxious to go to the University, and entered for the matriculation examination, which he and also his brother succeeded in passing At the age of seventeen he went to Copenhagen, where his studies – combined

[1] Oersted's life is described in a preface to a translation of his book *The Soul in Nature*, by L and J B Horner, London, 1852

with an extremely modest mode of living – were of the widest possible description, but principally concerned with science, philosophy, and medicine. At the age of twenty-two he obtained his doctorate in medicine At the same time he was allowed to give lectures on chemistry and metaphysics, and took over the management of an apothecary's business.

At this time Volta's discovery became known, and Oersted immediately commenced to take an interest in it. Later he made an extensive journey to many German University towns, where he made the acquaintance of numerous eminent contemporaries, who were quickly won over by his lively mind, his youthful freshness, and his almost childlike appearance and behaviour In the year 1806, he became professor of physics at the University of Copenhagen, where he continued, with few interruptions, to deliver a great number of lectures, also public ones Before he made his discovery, he made a second long tour through Germany, and to Paris, and married The discovery brought him great honour, and also many endowments and prizes, and from that time forth he was one of the most eminent and influential personalities in his own country In course of his public activities, which later on increased, he joined the so-called 'Liberal' or 'Free Thought' party, which grew up at that time. He then undertook a third long tour to France, England, Norway, and again to Germany, where he met Gauss. We must also mention his measurements of the compressibility of water, which were executed in his later years At his desire he was presented, as a place of retirement, with a country house surrounded by a park, but before he could move into it, he died at the age of seventy-four

Oersted's discovery was taken up at once by a great many people. Above all, it immediately afforded a good method of measuring electric current, all that was needed was a fixed

piece of wire passing beneath a magnetic needle set in the meridian, to enable stronger currents to be estimated quantitatively according to the amount of the deflection of the needle. Oersted's publication already showed the direct way to deal with weaker currents, namely to bend the conductor in a suitable manner several times round the needle, which led, already in the same year 1820, to the 'multiplier' provided with many turns of wire surrounding the needle (Schweigger in Halle, and Poggendorff in Berlin). The single turns of wire were at first insulated with resin or sealing wax; but silk covered wires were soon introduced. Among all those who immediately busied themselves with the new field, Ampère was pre-eminent by the depth of the ideas and the importance of the further discoveries, which he developed

PIERRE SIMON LAPLACE (*1749–1827*)
ANDRÉ MARIE AMPÈRE (*1775–1836*)

THE French Academy, which had already produced work of such importance in the investigation of light by Fresnel, again placed itself at first in the forefront, thanks to Ampère, in respect of Oersted's discovery. The high reputation of this Academy was certainly favourable both to Fresnel's and to Ampère's activity, and this reputation it owed to a number of great intellects among its members, over whom presided Laplace, at that time seventy years of age, and on the pinnacle of fame.

Laplace came from poor parents in Normandy. He attended a military school, but was soon noticed at a very early age in the circles of the Paris Academy on account of his eminent mathematical gifts, whereby he attained to increasingly important offices, with influence on education, and



37 Hans Christian Oersted



38. Pierre Simon Laplace

also when very young, to membership of the Academy During his life, which coincided with France's most changeful and fateful years, Laplace, who had ambitions in the direction of leading activity in the state, always managed to ingratiate himself with the coming holder of power Thus his influence increased, independently of the fate of his people, right into his old age.

Laplace's achievements as a man of science are above all concerned with the first advances towards full understanding of molecular forces in liquids He is the founder of the theory of capillarity, by which name much more is designated than an understanding and quantitative knowledge of the rise of liquids in narrow tubes, which Leonardo had recognised as of especial interest To this category, for example, also belongs the formation of drops, indeed everything connected with that self-acting assumption of shape which is a peculiarity of liquids, and which is most strikingly shown in the case of small quantities of liquid, where the force of gravity plays a less part, as Galileo also fully recognised. Laplace opened the road to an understanding of all these phenomena from the quantitative point of view, by referring them to the attractive forces of the parts (molecules) of all bodies, which forces act only over very small distances, and had already been recognised by Newton as distinct from gravitation [1] He thus arrives for the first time at a complete explanation of the inverse proportionality between the capillary rise in tubes and the diameter of the latter, a fact already known from observation on the rise of water, Laplace's explanation depending upon the effect of the molecular forces. Attention had hitherto been diverted from this by Newton's idea of the very small range of action of these forces, but it was only possible to make use of this idea by the application of the greatest mathematical skill, which Laplace possessed, using the infinitesimal

[1] This is to be found in the fourth volume of his *Mécanique céleste*

calculus invented by Newton and Leibniz and since still further developed.

This calculus had already been of extensive service to scientific research. Even before the time of Scheele and Watt (from 1759 onwards), the development of the differential equations of hydrodynamics, for example, was begun. Here the answer to all questions whatever concerning the motion of liquids is referred to the mathematical treatment of these equations, which themselves, however, contain only the fundamental laws of Galileo and Newton concerning all motion, applied to the single space element of the liquid. All that is required in addition is certain equations which contain special and simple facts of experience, such as the small compressibility of liquids and the like, and also special statements relating to the case considered. Though these equations, when skilfully handled, answer questions which might otherwise appear insoluble, for example those relating to all details of waves upon liquids, and though they go in their generality far beyond the consideration of characteristic and hence important cases already dealt with by Newton, they nevertheless contain only old knowledge, nothing fundamentally new is added or made evident by their treatment Nothing else can possibly be the case; for mathematics is throughout scientific research, simply a tool, enabling us to apply knowledge derived from the observation of accessible and generally simple cases, in a completely logical manner and without danger of mental error, to all other cases whatsoever, no matter how complicated, but knowledge of nature can only be derived from observation

It is the special virtue of the art of mathematics that, when correctly applied without arbitrariness, it keeps away all foreign matter, and only allows that to take effect which was originally derived from observation and put into the equations. If the final result then leads to matters which excite astonishment, as when for example Laplace concludes that

the solar system, in spite of all disturbances by the mutual gravitation of the single planets and moon, will never at any future time become disordered, these are nevertheless no fundamental advances in knowledge. For they are only exactly as true and correct, that is to say in agreement with reality, as what was originally put into the equations, for example in the case mentioned, Newton's law of gravitation and the laws of motion of matter, discovered by Galileo, Huygens and Newton, and only in so far as nothing unknown and therefore not taken account of in the original equation, plays a part.[1] In such cases we may say that mathematics is able to give us results that we did not know that we knew, that is to say, that we already possessed the necessary knowledge of nature required to determine them

This peculiarity of mathematical achievement in the questions of science is but little accessible to the general mind, it is therefore often overlooked, and mathematicians are thus often confused with scientific investigators Mathematical skill can, of course, bring about advance in scientific knowledge; but this only happens when the discovery and observation of natural processes which are still unknown, or of a new kind, or not yet properly understood – the highest achievement of the experimental investigator – yet fails to bring full understanding of the processes by means of simple considerations, by reason of their complexity

Thus Newton became by means of mathematical skill the discoverer and founder of the law of gravitation, by

[1] Thus Laplace's much admired result concerning the absolute stability of the solar system (which Newton still regarded as quite questionable and even improbable) would be completely upset, as soon as any sufficiently large cosmic body approached too close to the system from outside, and there are far more dark masses having unknown motions in cosmic space, than was earlier assumed by astronomy Should, however, the results of the stability of the solar system be thus upset, this would not lie in the want of validity of Newton's laws of gravitation and Galileo's laws of motion, which are assumed in Laplace's calculation, the calculations would be inapplicable, but not the facts on which they were founded

examining the complicated motions of the planets, and calculating these down to their details But the description we have given, which was entirely limited to essential points, must have shown the reader in this case also that the discovery itself – though not its confirmation in all directions – nevertheless resulted from comparatively simple lines of thought, which also needed only fundamentally simple mathematical means for their support. The same will have been noticed in all revelations of new and unsuspected secrets of nature, such as are characteristic of the whole series of great men of science hitherto considered, indeed, the discoveries which most of all exceeded all previous possibilities, and most strikingly overthrew existing limits of knowledge, such as those of Volta, Davy, and Oersted, did not need the help of mathematics, and the same is true up to to-day. The importance and effectiveness of mathematics in scientific research is quite generally overestimated. Investigation, it is true, must always strive to be quantitative, but the fundamental relationships of a quantitative nature which hold in fact, and the discovery of which is the sole object, have always proved to be of the simplest possible description.

Laplace's great work, the *Mécanique céleste* (celestial mechanics) was for the most part a purely mathematical achievement The work starts from the discoveries already described of Galileo, Huygens, and Newton, and develops extremely valuable mathematical methods for applying them in a far more detailed and accurate manner than Newton, to the motion of the planets, the moon, and the waters of the sea. Laplace thereby developed valuable mathematical methods for calculating the disturbances of planets and moons by their mutual gravitational forces, as well as quite general methods for calculating forces which act according to the inverse square law (the theory of potential).

A second scientific achievement of Laplace, is his discovery of the fact that, and of the degree to which, the

velocity of sound is influenced by the heat phenomena which are necessarily always an accompaniment of the sound waves Dalton had already showed that air becomes heated when compressed, and cooled when expanded, and Gay-Lussac made the first measurements of this phenomenon. But pressure changes of this kind take place in all sound waves, and the temperature changes connected therewith cannot be without influence on the velocity of propagation, for they influence the elastic forces of the air Laplace calculated this influence, using as his basis Newton's first calculation of sound velocity, and found that we need to add to Newton's formula the ratio of the two specific heats of air (at constant pressure and constant volume) under the square root sign. The more accurate determinations of the velocity of sound then available already demanded such an increase as compared with Newton's formula, and the refined measurements of the ratio of the two specific heats which were then undertaken – on the basis of a sharp definition first given by Laplace in this connection – showed full agreement between Laplace's calculation and hence the idea upon which it was based, and reality.

Ampère was born in Lyons, where his father was a well-to-do merchant He early showed extraordinary mathematical ability, but in other respects also a wide range of mental activity He was brought up alone in the country, to which his father had retired, and his studies were accomplished, with a little assistance from his father, by means of books At this time of many sided education and growing personality, at the age of eighteen years, he had the misfortune to be cruelly robbed of his father, who was declared to be an aristocrat, and became a victim of the mass-murder of the Revolution. For over a year he wandered about distracted and planless, until he was seized for the moment by an especial interest in botany, one of the many studies

which he had pursued. At that time also, he wrote poetry. His marriage at the age of twenty-four then gave his life a definite direction again; he settled in Lyons, where he taught mathematics He later became professor of physics and chemistry at a school in Bourg (north of Lyons), but his family, on account of the serious illness of his wife, was not able to follow him thither, he soon lost her, after only four years of marriage. A mathematical work of his then led to an appointment in Paris, where he gradually rose to the highest scientific posts

Oersted's discovery thereafter decided the direction in which his gift for scientific research was to develop. In a short time he unfolded the astonishingly fertile activity which resulted in the creation of the main part of electrodynamics (the science of moving electricity). While Galvani and Volta supplied the means for this development, and Oersted showed a main road to its application, Ampère gave this application – which led to electromagnetism – a fixed form which is serviceable to-day, and forms the main part of its content; only Faraday was later able to add to it something new and important, both in form and matter. Ampère died, sixteen years after Oersted's discovery, at the age of sixty-one. He, like Fresnel, was obviously of a different nature from the majority of his colleagues in the Academy; this is shown by various traits of character, which his contemporary biographers regarded as peculiar,[1] and also by the fact that he, probably alone in the Academy, did not trust the idea of caloric, and also in his wide sympathy for all fundamental questions of natural science, even when they related to ideas, at that time regarded as very far fetched, concerning the evolution of living creatures

[1] Arago, *Oeuvres, Tome II Notices biographiques,* 1854 A somewhat earlier and good biography is found in the *Revue des deux mondes,* vol. ix, page 389, 1837

He retained a childlike disposition up to his old age, but apparently he was not without a great deal of self-will. He was often tortured by doubt in small matters as well as great ones, and at times, after the death of his first wife, suffered domestic misfortune, so that life, in spite of all the recognition that it brought him, was by no means always satisfactory, a fact expressed in the epitaph chosen by himself. *tandem felix* (Happy at last)[1]

Ampère's successes in electro-dynamics depend before all upon his clear grasp of the essential features of these phenomena, first opened up by Oersted, and presenting in the beginning a highly complicated and confusing picture, and upon his own observation His further progress was due to skilful experiment based on questions stated with insight.[2]

Simply to grasp what happens in the connecting wire of a voltaic pile was then a difficult matter, and required a firm hold to be kept on the essential points of observation. Ampère succeeded excellently in this, and settled the idea of the electric current, at that time undefined, in a manner which has been of the greatest advantage to progress. Volta, it is true, had made use of the term electric current,[3] and people were also accustomed since Gray's time to speak of the conduction and flow of electricity. However, when we recollect that on the discharge of the pile, and likewise of a Leyden jar, both electricities were supposed to flow in opposite directions on account of their attraction for one another,

[1] See a collection of letters and recollections, which however does not afford very much information, *André Marie Ampère et J J Ampère*, by an anonymous authoress, Paris, 1875 One thing at least is clear that Ampère's doubts, which often tortured him, related to a considerable extent to the dogmas of the Catholic church, of which he was a member, as was his first wife

[2] Ampère's publications in the period directly after Oersted's discovery were reprinted in Paris in 1921 under the title *Memoires sur l'Électromagnétisme et l'Électrodynamique*

[3] In Volta's original French manuscript, published in the *Philosophical Transactions*, vol 83, 1793, we already have in the first corresponding connection the words 'courant électrique'

whereby their well-known opposite effects were neutralised by their union, the electric current must have appeared as something fairly complicated and indefinite. The idea of it in any case became indefinite, from the fact that the simultaneous 'current' of two electricities, obviously had no defined direction In accordance with this, Oersted did not speak of an electric current at all, but used the expression 'electric conflict'[1] for the process in the wire, and this indefinite terminology also corresponds to the confusion shown in the then rapidly accumulating publications relating to continuations of Oersted's experiment.

As opposed to this, Ampère decides in the same year, 1820, that he will call the whole process in the discharge wire an electric current, whereby no regard will be paid to details (which, by the way, are not too well understood even to-day), and that the direction of the current is to be defined as the direction in which we imagine the positive electricity to move. This made the electric current something definite: a special natural process, the observable peculiarities of which are offered as a subject for investigation undisturbed by difficulties in thought, which could not for the moment be overcome A new and well-defined concept had been formed, and clear concepts, correctly adapted to nature, have ever been the guiding stars of progress in knowledge. In Volta's pile or cup apparatus, this current circulates in a definite direction along the closed conducting circuit, as, by the way, Volta himself also expressly states.

Ampère also distinguished sharply for the first time between the phenomena of electric tension and those of electric current. Phenomena of tension had long been known from static electricity, they appeared in the pile before the conducting circuit was closed, and they could be followed by

[1] The title of Oersted's Latin publication of his discovery in the year 1820 read *Experimenta circa effectum conflictus electrici in acum magneticam.*

means of the electroscope or electrometer, which instruments Ampère now expressly states to be measurers of tension. As phenomena of the electric current, on the other hand, he expressly puts forward the chemical and magnetic effects of the current (the corresponding development of heat was first really grasped by Joule), and he proves with regard to them especially, that they are not phenomena of tension, since they are completely absent when the latter alone is present (before the circuit is closed). The current, he says, is best measured by means of its magnetic effects (which is still true to-day, and for which purpose the multiplier had at that time been invented in Germany) and he introduced for every current measurer working by means of the magnetic effect, the name 'galvanometer,' which has ever since remained in use [1]

Tension, or as we call it to-day, electromotive force (voltage), thus appears as a cause, and current as an effect. As soon as this effect results from closure of the circuit, the phenomena of tension disappear, 'or become imperceptible.' Ampère even imagined the resistance of the circuit already as determining the current strength at a given tension We see that as regards Ampère, Ohm's law was not far off. But in the case of all his contemporaries this would be very far from true, however much they concerned themselves, together with Ampère, with Oersted's discovery; this is seen in the want of comprehension which they exhibited even seven and more years later, when confronted with Ohm's achievement

Ampère's great step forward, taken in the year of Oersted's

[1] We may ask why not 'voltameter'? For it was not Galvani but Volta who was the first to render possible and produce the subject of measurement, namely steady electric currents, although certainly as a continuation of Galvani's investigation I can find no other reason than perhaps the fact that Volta was still alive then, and Ampère wished to honour the dead As a matter of fact the word 'voltameter' was introduced later by Faraday, for apparatus measuring current by its chemical effects, after Volta's death

publication, and relating only to his grasp of the matter, immediately led him to the 'lefthand rule' still in use to-day, for indicating the direction in which a north pole is deflected by a given current. This was an improvement on Oersted's form of statement, which of course led to exactly the same result. Ampère on this occasion also introduced for the first time a clear distinction between electrostatics (the science of stationary electricity) and electrodynamics (science of moving electricity, that is of current effects), and invented these terms themselves.

To all this Ampère immediately also added an entirely new discovery. It was known that electric charges exert forces upon one another, and likewise magnetic poles – both according to Coulomb's law – and it was now known from Oersted's work, that electric currents act on magnetic poles as if they were themselves magnets. This at once gave rise for Ampère to the question whether currents might not also exert forces on other currents. He decided the question in the year of Oersted's discovery (1820), by experiments, and in the affirmative. He found that parallel currents in the same direction attract one another, and those in opposite directions repel one another, it being a matter of indifference whether the two currents acting upon one another belong to the same circuit or to separate circuits. The result was the discovery of again a new and unknown kind of force.

The fundamental experiments were of a simple description, although at that time by no means quite obvious; it was merely a matter of making current-carrying conductors easily mobile, which Ampère effected by suspending them from mercury cups and by similar means A very remarkable fact in this connection was that here like attracted like, and opposites repelled one another, a reverse case to that of static electricity. The newly discovered electrodynamic force was thereby immediately distinguished from

the electrostatic forces, which the electricities in the wires would exert upon one another when at rest. Ampère carried out these experiments also with wires bent into a circular form, and with coils consisting of many circular windings, through which he passed current. In this way coils (called by Ampère 'solenoids') came into use, though these had already, shortly before, appeared in the 'multiplier.' Ampère also showed that Newton's law of reaction also holds for the newly discovered force as well as for the forces discovered by Oersted, so that the current-carrying conductor is able to set the magnet in motion, and conversely the magnet the conductor

The discovery of the forces between current and current immediately led Ampère further to a peculiar conception of magnetism. He regarded a magnetised rod as a coil carrying a current, a current which flows by itself uninterruptedly. He was actually able to show that two coils, one of which is movable, deflect one another, and act upon one another with their ends, in exactly the same way as do two magnetised rods with their poles Indeed he was even able to show that a single circular current, when suspended so as to be free to move, sets itself like a magnetic needle with reference to the earth's magnetism In this way all magnetic forces could be referred to the forces between current and current; and magnetism ceased to be a thing by itself. This was entirely in accordance with reality, inasmuch as it was already clear since Gilbert's experiments with broken magnets, that in actual fact there is nothing peculiar about magnetic poles, but that we have in a magnetised rod a state uniformly distributed and directed.

According to Ampère, every magnet could be imagined as composed of circular currents similar in direction and set side by side, and could actually be completely substituted in all effects of its forces by such a circular current. In the last resort it was only necessary to assume that every iron or

steel molecule of the magnet contains in itself a small permanent circular current; magnetisation would then only consist in directing all these circular currents of the innumerable iron or steel molecules in the same sense As against this idea, and in the immediately subsequent time in an increasing degree, the objection existed, that the continued maintenance of such currents without a source of power would not be possible. This objection has only quite recently fallen to the ground, when a continued circulation of electricities in the atoms and molecules was proved to exist in quite another manner, by special facts (at first by means of Hittorf's cathode rays).

But even without these recent discoveries, Ampère's ideas bore immediate fruit Arago had noticed that the connecting wire of Volta's pile coats itself with iron filings, which were previously entirely non-magnetic, but afterwards show permanent magnetism. He showed this to Ampère, who immediately said that a current carrying coil would turn steel needles placed in its axis into magnets, having north and south poles arranged in a manner which could be predicted This gave the means of making much stronger magnets than had ever been possible before by the use of the lodestone. Furthermore, the way to the electromagnet was open, which retained or lost its power at will by closing and opening the current; it was only necessary to use soft iron instead of steel in the core We know what an enormous number of applications have been found for this, the electromagnet is the main constructional element of a large range of electrotechnics, from the electric bell to the electric locomotive.

SADI CARNOT

1796–1832

THIS man of science was the first since Watt's time to bring an essentially new idea into the science of the steam engine, and this was an idea which he himself already showed to be of much wider importance, namely, as holding for all apparatus which produces work by means of heat.[1] His discovery proved of continually increasing and more general importance, until finally, twenty-five years later, Clausius made it into the 'second law of thermo-dynamics,' which allows us to calculate so many phenomena of heat in all their details in the most astonishing manner In this connection, Carnot also arrived in his short lifetime very near to the nature of heat itself, almost to the point of Robert Mayer's later discoveries, as we now know from his posthumous papers, which only came to light long after.

His starting point was the question of the greatest possible efficiency of heat engines, that is to say, the conditions which finally determine how many horse-power hours of work such machines, and in particular a Watt's steam engine, can deliver, in the best case, by the consumption of a given amount of heat in the boiler. He first realised that, in all such apparatus, heat necessarily passes from a hot body to a colder body, in the case of the steam engine from the boiler to the condenser. Only where such passage of heat is possible, that is to say, only when temperature differences are present, can heat be turned into work. If as much work as possible is to be done, only such transference of heat must take place as is associated with changes in volume; for the work is done by these changes in volume, as in the cylinder of the steam engine, where the steam expands. Every

[1] Nicolas Léonard (called Sadi) Carnot, *Reflexions sur la puissance motrice du feu et sur les machines propres à dévelloper cette puissance*, Paris, 1824, facsimile, Paris, 1912 Eng trans by R H Thurston, London, 1890.

transference of heat that takes place without change of volume, for example by simple conduction, means a loss in work.

Carnot then further remarked, that the changes in volume associated with the performance of work are reversible, whereby his ideas rest upon facts already determined by Dalton and Gay-Lussac, and likewise upon Laplace's calculation of the velocity of sound, which was found to agree with experiment. He says: 'If a gas is compressed quickly, its temperature is raised: conversely, it falls, when the gas is quickly expanded. This is one of the best ascertained facts of experience; we shall take it as a foundation of our proofs '[1] He thus arrives at the conclusion that complete reversibility of the process used must be regarded as a condition of maximum production of work by heat. The process in a steam engine is actually reversible. For if the flywheel of the engine were turned backwards, it would act as a pump, removing the water vapour from the condenser into the boiler, whereby the first would be cooled,[2] the latter heated, so that along with the flywheel and the steam, the heat also would move in a reverse direction, from the condenser to the boiler, from the colder to the hotter body.

The efficiency of the engine depends upon the perfection of this reversibility; everything that is not reversible, such as loss of heat by conduction, frictional processes, and also the passage of steam from the cylinder into the condenser, before it – after being cut off from the boiler – has assumed of itself the condenser temperature,[3] all such processes diminish the efficiency of the engine In the case of a

[1] In this connection, Carnot was also the first to suspect the true explanation of the temperature distribution in the earth's atmosphere, inasmuch as he remarks. 'Must not the cooling of the air by expansion account for the cold in the upper regions of the atmosphere? The reasons hitherto given as explanations of this cold are completely insufficient.'

[2] The steam engine running in a reverse direction is actually, in principle, a refrigerator

[3] Watt already introduced the practice of cutting the steam off from the cylinder long before the end of the piston stroke, in order to make his engines operate more economically

perfectly reversible steam engine, the efficiency could only be increased by an increase in the temperature difference between boiler and condenser.

There now only remained open the important question whether machines using another vapour than water, or generally, another body capable of doing work by expansion, such as some gas or other, might not be more advantageous, inasmuch as with the same range of temperature, and complete reversibility, differences in the power of doing work might exist according to the substance used or according to peculiarities in the construction of the machine. Carnot is able to finally answer this question in the negative by means of an imaginary experiment. He bases this – as was done more than two hundred years previously by Stevin – on our experience of the impossibility of perpetual motion. If one of the two engines compared would work more efficiently than the other, we could allow one to use part of the work produced to drive the other backwards, whereby the temperature range, used in the driving machine, would be maintained without addition of heat, on account of the action of the other machine; while in addition, the excess of work delivered by the better machine would be at our disposal. This would amount to perpetual motion. Since such an arrangement is known to be impossible, the efficiencies of the two different machines cannot differ from one another.[1]

Carnot thus concludes that all completely reversible machines acting over the same range of temperature must be equally efficient, and that their delivery of work can only depend, apart from the available quantity of heat, upon the utilisable range of temperature, increasing with both of these quantities. This discovery has been of fundamental

[1] In this connection Carnot also draws attention to the experience gained with Volta's batteries, and points out that these arrangements also can in no way be regarded as inexhaustible sources of, say, magnetic force, but always show clear signs of exhaustion, and hence cannot produce perpetual motion.

importance for the steam engine and all other heat engines since constructed; also, already without the further knowledge contributed by Robert Mayer and then Clausius, Carnot is able, at the conclusion of his essay, to add a pertinent discussion concerning possible improvements in the steam engine as a result of his work. We may also mention that, in addition, he developed very finely thought-out conclusions as regards the heat properties of gases.

Carnot's ideas are well linked together and with experience, nevertheless this connection is not completely rounded off. Carnot feels this himself, and he notes at several points certain open questions. These particularly relate to the assumption of the invariability in quantity of heat, which Carnot takes for granted, but not without remarking[1] that this assumption, which is the 'foundation of the whole theory of heat' nevertheless still 'needs attentive investigation,' since 'several facts of experience seem to be almost inexplicable according to the theory in its present state.' According to this assumption, made at that time for want of better knowledge, the quantity of heat leaving the boiler with the steam would in the steam engine be given up in undiminished quantity to the condenser, though reduced to a lower temperature, just as the water in a turbine does not diminish in amount, but does its work merely by falling in level. This is not correct, as Robert Mayer showed in 1842.[2] The heat does become less; it is partly transformed into work. It later appeared from Carnot's posthumous papers[3] that he himself had already arrived at a recognition

[1] Footnote to Carnot's essay.

[2] Two years before Carnot's publication, the invariability of quantities of heat had been successfully maintained in the large work of Fourier, *Théorie de la Chaleur*, which appeared in 1822. This work, however, which is distinguished by wonderful clarity and great mathematical power, only deals with processes of heat conduction, for which the invariability is also sufficiently true.

[3] These were first published in the year 1878 by his brother, as appendix to a second edition of the essay *Réflexions sur la puissance motrice du feu*.



39 Andre Marie Ampere



40 Sadi Carnot



41. GEORG SIMON OHM



42 Karl Friedrich Gauss

of this fact, but was prevented by his all too early death from following up the matter, so that it remained completely hidden.

Sadi Carnot, who was born in Paris, was the second son of Nicolas Marguérite Carnot, known as Napoleon's minister and organiser of France's national defence. He studied technical science and entered military service [1]

His last studies, which remained incompleted, as well as other notes by his hand,[2] show, no less than his published essay, that a rare mind was lost by his early death. We will only remark that in his papers a numerical value for the mechanical equivalent of heat (1000 metre-kilograms — 2.7 calories = 370 metre-kilograms per calorie) is given without any further indications of its origin, together with plans for a considerable part of the measurements later carried out by Joule [3] Along with these we find remarks – as concerning the injuriousness of war to the race, religion, and everyday and purified Christianity – which expose with remarkable clearness evils still existing to-day [4]

[1] Our portrait shows him at the age of seventeen in the uniform of a student of the École Polytechnique in Paris Some years later, after Napoleon's abdication, which resulted in his father's banishment, he retired from the service in order to be able to devote himself, in the greatest seclusion, entirely to his scientific studies This mode of life was only interrupted by a journey to Germany, where he visited his father who was living in Magdeburg, and later, after publication of his *Réflexions*, by a short re-entry into the army, during which he was made a Colonel He died early, only thirty-six years of age, the victim of an epidemic of cholera

[2] In the edition by his brother already referred to.

[3] Since Carnot's ideas had remained completely unknown, this does not affect Robert Mayer's credit for having first made this equivalent known, and generally, for having discovered the idea of it, nor Joule's credit for having carried out the experiments, but it bears of course upon the estimate we are to make of Carnot himself

[4] These remarks may be appreciated later, when the time comes for such thinkers to be valued, even when they do not bring us only technical progress, see pages 83–87 of the 1878 edition.

GEORG SIMON OHM

1789–1854

OHM's law is to-day a commonplace for every technical electrician. It is the means by which the strength of an electric current can be calculated beforehand, when the power of the source of current and the nature of the circuit are known. When Volta had provided a plentiful source of electric current, and Oersted the means for easily measuring it, and Ampère had introduced a useful and definite conception of current, one would have supposed that a need for a knowledge of the way in which the current depends upon the factors determining it would have been felt by the many persons who now began to busy themselves with it. This was far from what actually happened. Ohm in his time announced his law to deaf ears, which shows us on the one hand how superficial the requirements of the majority were, and on the other hand how far in advance of his time Ohm was as regards clear thinking As a matter of fact, only Davy and Ampère had approached near to the law before his time Both of them had already grasped, in the year 1821, the idea of the resistance of a conductor, inasmuch as they took note of the dependence of the current strength upon the nature of the circuit, whereby Davy estimated the strength of the current according to its chemical effects, and thus compared a number of different metals as conductors with one another, determined the unessential effect of the form of the cross-section by comparison of simple, multiple and flattened wires, and also discovered the increase of resistance of metals with temperature.

It was Ohm who grasped the questions already illuminated by these investigators, and pursued them in all directions to complete solution Using very poor and deficient apparatus, he performed a series of decisive experiments, which completely settled the question of the distribution of

electromotive force in the circuit and also that of current strength, and he was also able to state his result in a definite manner, in the form of equations, the most important by far being Ohm's law: 'The current is equal to the driving tension or electromotive force divided by the resistance.' If this law is applied not only to the whole circuit, but also to any part of it, the distribution of electromotive force can be found in any part of the circuit.

A part of his experiments were performed with voltaic elements; in particular, he thus demonstrated the fall in potential along a long and thin connecting wire, for which purpose he, like Volta, made use of the condenser In this way it could be proved – a question left open by Ampère, – that the voltage of the force of current does not disappear when the circuit is closed, but that it distributes itself in a definite way, in accordance with the resistances. Ohm also recognised that the sources of current discovered by Volta possess the property of maintaining a definite difference of tension at the points of contact of the different conductors, whether the circuit is open or closed, this difference in tension (electric potential) depending only on the nature of the conductors concerned This difference in tension is also called the electromotive force of the current source in question. The fact that this is not very constant in an ordinary voltaic element, but fluctuates as Ohm says, depends, as Ohm already saw, upon the chemical changes which take place of themselves in the element when the current is used.

The constant galvanic element, which avoids these disturbing chemical changes, had not then been discovered, and this was at first a serious difficulty for Ohm But he found a means of getting over this, by following Poggendorf's advice to use the thermo-electric elements just discovered as a source of current This was a discovery made in the year 1821 by Seebeck (lived between 1770 and 1831 in Germany), that a circuit formed of different metals deflects

the magnetic needle as soon as temperature differences exist in it. Seebeck called this 'magnetic polarisation of metals by temperature differences' or 'thermo-magnetism' Ohm immediately regarded the discovery as the finding of a new source of current, which entirely consisted of conductors of the first class We may also say that what had been found was really that Volta's series changes its order when the temperature is different. When Ohm introduced a piece of bismuth into a circuit otherwise consisting of copper, and kept one of the two points of contact in boiling water and the other in ice, he obtained very constant currents, which he was able to observe by means of a very simple galvanometer included in the circuit

This provided him with a trustworthy and invariable source of electromotive force, and it thus became possible to study the influence upon the current strength of the resistances introduced into the circuit, in a trustworthy and unobjectionable manner. It was thus rendered certain that the resistance of a conductor in Ohm's law is proportional to its length, and inversely proportional to its cross-section, and to its conductivity. The connection with the cross-section shows that electricity in constant flow, as contrasted with that at rest, is not situated on the surface of a conductor, but distributed throughout its whole interior. Ohm already begins to consider the state of transition from rest to flow of electricity, when the circuit is closed, although the knowledge at that time did not allow him to deal with it satisfactorily But he already found quite correctly that the conductivity of liquids, as opposed to that of metals, increases with increase of temperature

Ohm came from an old Erlangen family He received from his father, who was a master-mechanic, a careful education, his mother died when he was young During his time at school he was also introduced successfully by his father to mathematics and physics, who for this purpose, as

also on account of his own desire for knowledge, studied these sciences himself from books in his old days, along with his own work and at the cost of much self-sacrifice. At sixteen Ohm then began to study mathematics, physics and philosophy at the University of his birthplace, but this does not appear to have had a very strong attraction for him. Also, money failed, so that he left the university after two years and took a teaching position in a private Swiss school. He later, however, obtained his degree in Erlangen and became a member of the university. But he was soon again compelled by want of means to leave the university. He endeavoured to obtain employment in school-teaching, and so became from 1813 to 1827 a teacher of physics and mathematics first at the Realschule in Bamberg, and then at the Gymnasium in Cologne. During the ten years at Cologne he produced the important researches we have already discussed. Since he had little free time and very poor apparatus at his disposal, the publication took place in various small papers, which supplemented one another, until a longer period of leave enabled him to produce a more connected account of them.[1]

They then appeared, without, however, any account of the experimental basis, in 1827 in an independent publication, *The Galvanic Circuit investigated Mathematically*.

Ohm was himself well aware of the importance and success of his work, and he expected some recognition, in particular desiring a better opportunity for work than could be found in schools, where his duties gave him but little satisfaction. He therefore resigned his position in the school, but had to wait for five years in very straitened circumstances until, after many petitions addressed to the King of Bavaria, he received

[1] See *The Galvanic Circuit investigated Mathematically*, translated by W Francis, with a preface by T D Lockwood, New York, 1891

Concerning Ohm's later work on optical and acoustical matters, see his collected papers (*Gesammelte Abhandlungen*), edited by E Lommel, Leipzig, 1892.

a suitable teaching position, although not in Munich, where at the time a possibility existed, but at the Polytechnic in Nuremberg.[1] Ohm filled this post for sixteen years, during which recognition of his achievement, particularly from abroad, gradually came to him. In his sixtieth year he finally realised his desire to obtain a post in a University; he was called to Munich. Five years later he died after a short illness He never married, and was always very simple in his tastes.

KARL FRIEDRICH GAUSS

1777-1855

Gauss was called the prince of mathematicians. Here we do not propose to give an estimate of his mathematical achievement, we can only show to what extent he was an investigator of nature. He was one of the great mathematicians who did not deny in his work the original purpose of mathematics, that of forwarding our knowledge of nature, although pure mathematics – mathematics as a mental science – had decidedly more attraction for him.

Gauss was in actual fact also an investigator of nature throughout his life. At the age of twenty-four he already calculated the orbit of the first small planet, Ceres, discovered in 1801, which could only be observed for a short time, since it soon approached too near the sun; without Gauss' calculation it would have again been lost, that is to say not at that time have been recognised as a special planet. This successful calculation from a very short observation of the orbit aroused even Laplace's admiration; but Gauss

[1] Compare the detailed statements in the collection of his posthumous manuscripts made by L Hartmann, *Aus G S Ohm's handschriftlichem Nachlass*, Munich, 1927.

already possessed at that time his 'method of least squares,' discovered in his eighteenth year, which allowed the influence of the inevitable errors of observation to be made as small as possible in working out results. This was the beginning of a series of discoveries of the planetoids which lie between Mars and Jupiter, up to to-day about a thousand of them have been found The method of calculation, according to which all of them are followed in their courses, was first published by Gauss in the year 1809, in his *Theoria motus corporum coelestium* (Theory of the Motion of the Heavenly Bodies), in which he actually goes beyond Laplace's *Mécanique céleste*, which at that time had already partly appeared.

As regards our investigation and knowledge of nature, however, all this amounted to nothing more than skill in calculation according to Newton's inverse square law, none the less, in absence of this skill it would never have been so certain that this law holds without exception, and to the utmost limit of observation, throughout the whole solar system It is just by this experimental verification of new conclusions, capable of exact tests, that all natural laws are continually put to the best possible proof concerning their agreement with reality In this connection we should also mention the calculation – in 1846, and so within Gauss' lifetime – of the orbit of the most distant planet Neptune from the slight observed disturbances of Uranus, a particular shining example of the justified triumph of knowledge, gained on the basis of the methods of Laplace and Gauss, a hundred and sixty years after Newton had shown the way with his *Principia*

In another direction Gauss is to be regarded as completing the work of Laplace, again on the basis of Newton's ideas, in his *Foundation of the Theory of the Form of Liquid in a State of Equilibrium* (1830) where he endeavours to attain the greatest strictness in mathematical calculation, without

which mathematics can actually become no less delusive than ordinary, and even quite superficial, thinking.

Gauss likewise developed in the same way the theory of potential already mentioned under Laplace's achievements and relating to the inverse square law; he developed this considerably further. 'Pauca sed matura' (little but ripe) was his motto, and all his publications do it the fullest honour, although their number, when we count in the purely mathematical work, is not less overwhelming than their contents. Gauss' most profound work as an investigator of nature is found in his researches on the intensity of the earth's magnetic force, reduced to absolute measure (1832) In this he founded the system of absolute units which has become ever more and more indispensable to scientific research, and which was afterwards carried out for all electrical and magnetic quantities, among which also we must reckon the technical units everywhere used to-day, – the Coulomb, the Volt, the Ohm, etc In the experimental work he collaborated in part with his Gottingen colleague Wilhelm Weber, who was twenty-seven years younger, and whose chief life work became the development of the system for electrical quantities, together with all the preliminary work necessary for this purpose. Gauss himself confined his work to laying the foundations on the magnetic side, depending entirely on Coulomb's law for the magnetic pole, which law was also subjected to a very refined test, which it passed successfully.[1]

The system of absolute units takes its origin from three fundamental units space, mass, and time (centimetre, gram, second), all other units are deduced from these, solely by means of laws of nature, and therefore without any other arbitrary act than the choice of these laws. The ordinary unit of force (the gram-weight) is avoided, since it only has a definite value for a definite latitude and height above sea-level,

[1] See *Nature*, Aug 29, 1931, 'Gauss' Investigations on Electrodynamics,' by Clemens Schaefer

and indeed away from the earth may have any value whatsoever. In the absolute system, the unit of force is derived by means of Newton's second law of motion from the units of mass and acceleration (which latter follows from the units of length and time) This unit of force is very small; it is about equal to the weight of a milligram, and later received the name 'dyne.' By means of the unit of force and Coulomb's law it is easy to deduce a unit of magnetic pole-strength. But it would be equally easy to deduce from the same law as applied to electricity a unit of electric quantity It is here that the two branches of the absolute system of units divide. the electro-magnetic units correspond to the first choice, that of Gauss, the electro-static, to the second, which was also later followed up by Weber

The fact that Gauss preferred to take the magnetic pole rather than the quantity of electricity, was mainly due to his desire to reduce the intensity of the earth's magnetism, as regards its geographical distribution, to a single and easily maintained unit of measurement, after comparative measurements had already been made by means of the oscillations of magnetic needles, particularly by Humboldt; and in a balloon, for the first time, by Gay-Lussac.

In this the main necessity was the settlement of an absolute unit of magnetic intensity (strength of the magnetic field, as we also say since Faraday's time), and of a method of carrying out trustworthy measurements in this unit. Both of these goals were reached by Gauss in a manner which is still of full value to-day Unit magnetic field is defined by the fact that a unit pole is acted upon by unit force (one dyne) when placed in it, a multiplication of the pole strength and of that of the field both caused (according to Coulomb's law) a proportionate multiplication of the force. The method of measurement refers to the horizontal component of the field strength (in the sense of the parallelogram of forces), which is completely sufficient when the inclination

is known Gauss' method for the absolute measurement of the horizontal component of the earth's magnetism, which cannot here be discussed in greater detail, goes far beyond its original purpose in importance, on account of the perfection with which it is developed, and has become of fundamental importance for all magnetic field measurements and hence also for the realisation of all common electrical units as used to-day.

The most admirable part of Gauss' structure is the perfect manner in which the conceptual difficulties which surround the 'magnetic pole' – the point of departure – are overcome, since first Gilbert and later Ampère, had made clear that such a pole is neither the seat of a peculiar magnetic fluid, nor in any way sharply defined in space. The difficulty is overcome by the introduction of the 'magnetic moment' of the bar magnets used in carrying out the measurement, taking into consideration Ampère's results, already known at the time. Since Ampère's theory of magnetism is still current to-day, Gauss' plan is still perfectly satisfactory

Gauss was born of poor parents in a small and poor house in Brunswick His was a family of farmers, his grandfather had come into the town, where he earned his living as a gardener. His father had many occupations, but finally also worked mostly as a gardener, he married Gauss' mother, who was the daughter of a stonemason, in a second marriage. The family was very well brought up. Young Gauss already showed signs at an early age of unusual gifts, even when at home and then at school, he learned reading by himself, only by asking how the letters were pronounced, and even before that his power of mental arithmetic, for which he had no preparation of any kind, astonished everyone. He also quickly mastered both ancient and modern languages. All this aroused the attention of a wider circle, even while he was at school, so that the fourteen-year-old boy was finally

brought to Duke Karl Johann Ferdinand of Brunswick, who then became and remained Gauss' patron and protector.

Gauss must have already studied Newton's *Principia* when he was at school, and always praised it as his model; altogether and in every way, he retained a limitless respect for Newton. This early study allowed Gauss to begin his course at Gottingen University, where he remained only three years, by at once inventing the method of least squares, and this was followed uninterruptedly by further remarkable achievements, which belong to the most important advances in mathematics, but for the moment remained unpublished, with the exception of his famous dissertation, on the basis of which he was given his doctorate in Helmstedt without an examination. The circumstances of his industrious life were then fairly simple. Until the death of the Duke, Gauss received a fixed pension in Brunswick, so that he could devote himself entirely to work. In the year 1807 he then accepted a call to Gottingen, where he was professor of mathematics and director of the newly built observatory until he died at the age of seventy-eight. Gauss married twice. Both wives died young; but of his six children his youngest daughter remained to take care of him until his death.[1]

Gauss' own statements concerning his manner of thought and work would be instructive to the many people who, particularly in the school world, allow the high educative importance and effect of scientific investigation and science generally to be overlooked, instead of encouraging it, because they have not been taught better than to seek the main achievement in the mathematical and technical side, which is almost solely cultivated. As opposed to this, and perhaps more impressive than our remark already made relative to

[1] Gauss' family life is described in an account published in honour of the 150th anniversary of his birth, *C F. Gauss und die Seinen*, by H Mack, Brunswick, 1927

Laplace's achievement, the consideration may be put forward that Gauss, the eminent mathematician, regarded analytical calculus – although he was a master of it – only as an appliance for carrying out without error work previously done by pure thought in the simplest manner, to such an extent, that he never sat down to put the calculation on paper, before he saw completely through the problem and regarded it as soluble

What is now taught in all kinds of educational institutions in an increasing degree under the name of science is what Gauss – and of course everyone who is in the first place an investigator – regarded as a mere tool, a subsidiary matter; mathematical technique. Physics taught in this way is not a field for the practice of healthy and simple thinking in direct contact with nature, whereby it could be of the highest value to humanity, but only a field for the practice of the technique of calculation, a pleasure for small minds. In order that there may nevertheless be an appearance of actual science, experimenting in schools is increasingly overdone, technical achievements and showpieces are exhibited, generally of a particularly complicated description – again giving an opportunity for much calculation – while the simple ideas, which have led all great men of science by contact with nature to their successes and to an insight into the world, and which are also of educational value, are lost to view.

A consideration of the work of great men of science should help mankind to rid itself of this insane idea, to get out of its microcosm, back again to the macrocosm, to the greatness of nature itself, in face of which we should not however stand as masters, but as modest admirers. The mastery of motors and wireless waves – by 'knowing all about them' – does not ennoble humanity; it coarsens and degrades them, and even makes them obviously more stupid. On the other hand, the joy at newly found insight lifts them up, when understanding for it has been cultivated

Joy of this kind was to Gauss actually the mainspring of his work, he says that he carried on his scientific undertakings only for their own sake; that is, from the innermost need of his soul.[1] This is also entirely in accord with the fact that he was never in a hurry to publish, since this was a secondary matter for him. On the other hand he thus attained to an unshakable spiritual strength, which was connected with a deeply religious sense. The foundation of it was a striving for truth and a feeling for justice He thus regarded the spiritual life of the whole universe as a great system of justice permeated with eternal truth, and this was the main source of his impregnable faith that the life of man does not end with death.

MICHAEL FARADAY

1791–1867

HERE again we have one of the greatest men of science, of his kind incomparable, and unique in the endowment with the peculiar mental constitution which makes the investigator, who uses his senses to penetrate into the unknown, and actually expects to see everywhere new things in plenty He detects the smallest sign of anything peculiar or not fully understood, and then applies to it a mind already schooled by the thorough study of nature, and completely adapted to it, exhibiting the greatest patience in the pursuit and multiplication of his observations, until the new thing has been understood in its essentials, and thus has become a new mental possession The innumerable occasions on which Faraday brought these gifts to bear in his laboratory had to do with things of very varied importance, from discoveries of the greatest possible range down to small explanations,

[1] See the contemporary recollections of Sartorius von Waltershausen, *Gauss zum Gedachtnis*, Leipzig, 1856

which are a necessity for the thinker, even if they do not always reveal anything essentially new. In this connection we see that even the most gifted investigator is unable to see ahead far into the unknown, and that his value rather consists in exerting his gifts faithfully and with the greatest industry, quite uninfluenced in his steady course by the desire for public success, purely from love of the depth of nature, and – as was the case with Faraday especially – simply from sheer delight in the observation of nature.

Only a small part of Faraday's whole lifework, which extended over all branches of non-living nature, can be touched upon here. His life from the time when he had found his place among men and had most fortunately attained quite early to freedom to exert his powers, was so completely devoted to science, that his life history and the history of his discoveries are necessarily one.[1]

Faraday was the third son of a blacksmith, who had migrated to London soon after his marriage, but came from the north of England (Yorkshire), where Faraday's grandfather was a mason. The family belonged to the small but strict religious sect known as the Sandemanians. After some teaching at school of the simplest description, Faraday was apprenticed at the age of thirteen to a small bookseller and bookbinder. At first he had to deliver newspapers, later, at the age of seventeen, he was allowed to learn bookbinding Books on chemistry and electricity, which thus came into his hands, captured his attention, and led him to continual further study of books, and also to attending evening lectures of a popular scientific character, which were given in his neighbourhood. Finally, a customer of his master afforded him the possibility of attending several

[1] For a description of Faraday's life and work many biographies may be consulted (W R Burgess, J C Geikie, T H. Gladstone, S Martin, W Jerrold, Silvanus P Thompson) A recent one is by J A Crowther, 1918 *Life and Letters*, by H B Jones, and *Faraday as a Discoverer*, by W Tyndall, both London, 1870, are the chief older works

lectures at the Royal Institution Thenceforth he developed the resolution to get out of business life, the manner of thought of which he hated, and devote himself entirely to science, which he loved

At this time he wrote a request, in 1812, to the president of the Royal Society, asking for any scientific employment, no matter how menial, but this letter remained unanswered. With the aid of a book and practice on his own account, he had learned perspective drawing, and in the same way he made progress in all sorts of branches of learning by using the leisure time allowed him by his master.

How great was his progress both in manner of thought and in power of expression, is shown by very long letters, still preserved, which he exchanged with a somewhat younger friend who had had a school education In the meantime he had written out neatly the lectures given by Davy, and illustrated them with drawings in a quarto notebook, and this he sent to Davy with the request to give him some kind of employment in his laboratory.

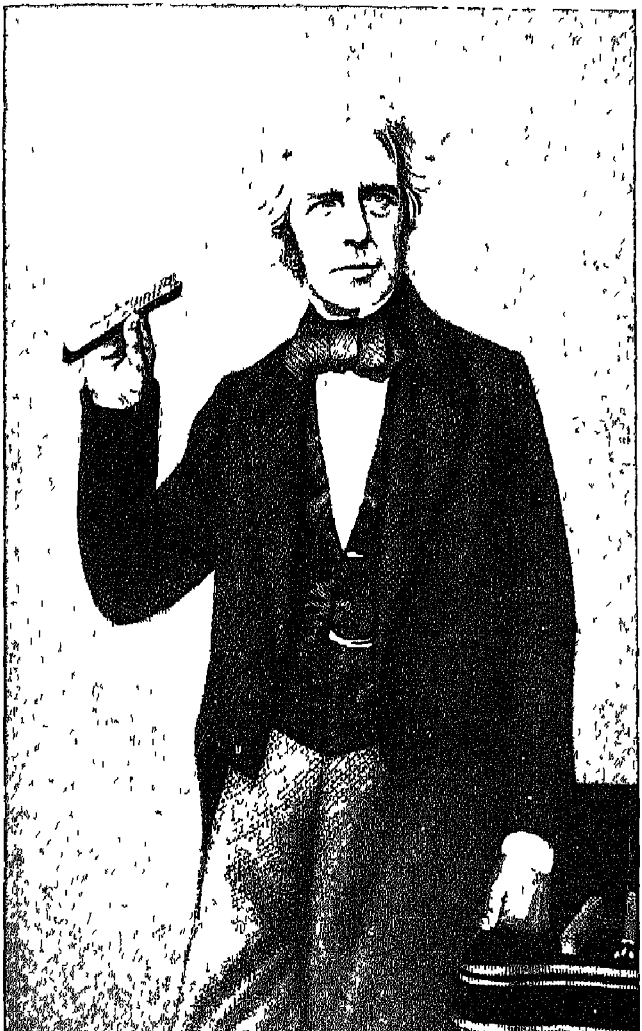
He quickly received a favourable answer Davy immediately asked the advice of one of the governors of the Royal Institution as to what could be done with the petitioner 'Let him wash bottles,' said the governor 'If he is any good he will accept the work, if he refuses, he is not good for anything' This course was followed, although Davy immediately saw that the young man appeared to be fit for something better. This decided Faraday's fate. He remained his whole working life in the Royal Institution, 1813–1858, first as Davy's assistant with a weekly wage, and finally as his successor.

No more suitable teacher of science could have been found for Faraday than Davy, who was undoubtedly more closely allied to him in mind than all other great men of science, as we see when we pass them in review What a piece of good fortune that these two should have been contemporaries in

the same place! If Count Rumford's foundation, the Royal Institution, had had no other success to show, the fact alone that it was a place suited to the work of Davy and Faraday would have been the finest possible justification for all time, of the foundation of the Institute, and its nature and constitution.

Faraday had already begun to experiment with simple appliances, so that he was immediately able to be an efficient help to Davy, in his preparation for experiments, and in the experiments themselves, among others also in the dangerous investigation of chloride of nitrogen then being undertaken by Davy At the same time he was continually and enthusiastically engaged on his own self-education in every direction, for which purpose he joined a small society of kindred spirits, the 'City Philosophical Society,' the members of which strove to educate themselves by evening discussions and by holding, in turn, lectures. Then followed one of Davy's long continental tours, and Faraday was able to accompany him as his scientific assistant and also in a general capacity.

On his return, at the age of twenty-three, Faraday's independent scientific life began, although his position as assistant still remained for several years about the same Davy first entrusted to him small independent chemical investigations, in which however he soon progressed to valuable discoveries, such as the first preparation of the compounds of chlorine with carbon, which he thoroughly investigated and analysed quantitatively. He was also busy on researches on sound, while at the same time he had to prepare the experimental lectures given at the Royal Institution, and to act as assistant during them. Here he was full of ideas concerning everything that could serve for the effective and worthy production of such lectures. He had also begun himself to hold lectures in the City Philosophical Society, which he delivered extempore, but nevertheless prepared carefully in



43 Michael Faraday



44 WILHELM WEBER

writing, and this soon led to his remarkable mastery of description, and also of giving experimental demonstrations.

After he had thus tested his powers for about six years, and received Davy's approval, the apartments previously occupied by Davy in the Royal Institution building were promised him, and he married when thirty years of age the daughter of one of the Sandemanian elders, a goldsmith The marriage was a happy one for the whole of his life, but no children came of it

Ten years of enthusiastic and many-sided scientific activity now followed, of which we can only give a summary, since this time, as we see when we look back, only formed the introduction to his highest achievement, though its results would be quite sufficient to make a reputation for any man of science To this period belong the researches carried out conjointly with Davy, on the liquefaction of gases. Substances originally discovered in the gaseous state, and hitherto only known in this state, such as chlorine, carbonic acid, ammonia, sulphurous acid, hydrochloric acid, were brought for the first time into the liquid state, a fact which at the same time confirmed the conviction of the tangible and ponderable material nature of gases, and of the unessential nature of the state of aggregation, which only depends upon temperature and pressure. Very extensive researches were also carried on concerning steel alloys, and the production of new kinds of glass [1] Faraday further discovered at this time the hydrocarbon benzine, which has later become of so great importance.[2] He obtained benzine by thorough investigation of a product obtained from the condensation of oil gas, and most carefully determined its quantitative composition, vapour tension, and many other properties. This fundamental investigation deserves particular mention to-day,

[1] See *Faraday and his Metallurgical Researches*, by Sir Robert Hadfield, London, 1930, *Nature* (Supplement), Aug 29, 1931

[2] *Philosophical Transactions of the Royal Society*, 1825, page 440.

since the derivatives of benzine (the international name of which is benzol) form so important a part of chemistry.

These years were also signalised by Ampère's important work, which Faraday not only studied with great admiration, but immediately reproduced with his own and extended observations, whereby he exhibited the rotation of magnets about currents and of current-carrying conductors about poles, which is so important for the understanding of these phenomena. Though others had to some extent anticipated him in this matter, these studies nevertheless formed an effective prelude to the great discoveries he was soon to make, inasmuch as he became perfectly familiar with everything known concerning electromagnetism by his own personal observation.

Faraday was now forty years of age, he was an admired successor of Davy's in the delivery of the Royal Institution lectures, and also director of the laboratory, which thus gave him the most favourable possible circumstances for work. In the autumn of 1831 the discovery of electromagnetic induction occurred. This was an entirely new method of producing an electric current, at that time foreseen by no one, but which to-day, now carried out on the largest scale, has superseded almost all other methods. It has also made possible the production of very powerful electric currents, such as could never have been made by Volta's methods, and so laid the foundations of the magnificent success of modern electrical engineering.

The phenomenon could not have been predicted, inasmuch as it was not deducible from any known fact; but Faraday was an investigator who allowed innumerable analogies with the known, of the nearest and most distant description, to arise in his mind, and never became tired of doing this, he never regarded anything as impossible before he had thoroughly tested it, nor did he fail to use every effort to test it in every possible direction. Oersted and Ampère had

obtained magnetism by means of electricity, might it not be possible to obtain electricity by means of magnetism? This was one of Faraday's simple queries. Furthermore, the phenomenon of influence is known, whereby an existing electric charge produces a fresh charge; might it not be possible to produce by means of an existing electric current a fresh electric current?

Guided by these ideas, Faraday prepared amongst other apparatus, a double coil of two insulated wires, which were wound alongside one another upon the same cylinder of wood. The first wire he connected to a voltaic battery, the second to a galvanometer. At first no motion of the galvanometer needle could be observed, the wire in which no source of current existed thus remained without a current, in spite of the presence of the current in the other wire. Even when a hundred and twenty cells were used for the first wire, no greater success was obtained. Nevertheless, Faraday was conscious of the richness of nature, which is revealed to him who knows how to approach sufficiently close to the unknown, it was his custom to pay attention to everything that could in any way be observed during an experiment. He noticed a slight deflection of the galvanometer needle, not during the flow of the current in one of the wires, but on the circuit being connected Likewise, when the current was interrupted, a second deflection of the galvanometer needle occurred, this time in the opposite direction

These phenomena were not of the kind expected, but they were there; the new discovery had been made The battery current therefore 'induced' a current in the neighbouring wire, although not a permanent current such as is given by a voltaic battery, but only a short rush, such as is given by the discharge of a Leyden jar, and this rush of current occurred when the current was introduced into the first conductor, and was repeated in the opposite direction when the original current ceased. This fact, which

depended upon a quite slight motion of the galvanometer needle, was thenceforward the starting point from which Faraday strove persistently to penetrate further into the unknown.

In the midst of work of the highest intensity, he then brought to light, in the course of three months, a large number of the most important new facts. First, induction by bringing together and separating the two conducting circuits, when no iron was present. Then we have magnetic induction, whereby Faraday first made use of a closed ring of soft iron, which carried two windings of wire on opposide sides; when the current was started and stopped in one of these windings, the needle of a galvanometer connected to the other was so strongly affected that it actually spun round several times. This was the first observation of a powerful inductive effect.[1]

He then used also iron rods with coils, and then he proved that simple steel magnets can also produce induction just as well as current-carrying coils, which fact entirely agrees with Ampère's conception of magnetism. The knowledge thus obtained enabled Faraday also to give a direct explanation of a group of phenomena discovered by Arago seven years previously, hitherto unexplained, and known by the name of rotation-magnetism. He then for the first time drew off steady currents by means of rubbing contacts from a copper disc, in which the current was generated by induction, by rotating the disc between the poles of a magnet. Finally he gave in the same first publication concerning induction, the general law of these phenomena, which summed up all the cases observed by him It is a matter of the cutting of magnetic lines of force by conductors, and this entirely new kind of fundamental idea has also proved satisfactory in regard to all further observed forms of induction.

[1] A fine marble statue of Faraday lecturing with the ring in his hand, is on the staircase of the Royal Institution.

The magnetic lines of force were likewise first introduced by Faraday in this essential significance, and in one much wider in scope; they had hitherto been known only as the lines in which iron filings arrange themselves around a magnetic pole. For Faraday they soon became the most essential feature of the magnet, as also of electric current, as picturing the state in the space around the magnets and currents, and indeed everywhere where magnetic forces are present – everywhere as we say to-day, where a 'magnetic field' exists Nothing has proved of greater importance and more fruitful than this conception of lines of force, as regards our continued progress up to to-day in this great domain of electromagnetic phenomena, opened up to us by Faraday

At the same time the way was also pointed out to the use of induction phenomena, some decades later, as means for the production of electric current on a large scale, for every phenomenon, the laws of which are sufficiently well-known and reduced to quantitative expression, is also ready to be carried out on any scale desired. Faraday himself had thus shown the way from the weak galvanometer deflections which he observed to the dynamo machine of Siemens thirty years later; he was the discoverer of the natural processes from which modern electrical engineering derives its possibilities.

Already in January of the following year, Faraday had produced further new forms of induction; 'earth induction,' and 'unipolar induction.' The first, produced by the cutting of the earth's magnetic lines of force by moving conductors, became, in the hands of Wilhelm Weber, particularly important for the extension of our knowledge in this field, up to the foundation of the electrical system of measurement used to-day

Faraday then allowed these investigations to drop for a time, so that the extraordinarily important discovery of 'self-induction' only occurred three years later. In the

meantime he was busy with work on the identity of all kinds of electricity, in which he proved in detail that electricity from all known sources, including induction, is exactly alike in all its effects, which was necessary for mental satisfaction in view of the rapid accumulation of new facts[1] In this connection, Faraday for the first time measured *quantities* of electricity by means of the galvanometer, whereby he proved, for example, that the quantity of electricity delivered by a certain number of revolutions of an electrical machine, when collected in a small or large capacity, and thus by higher or lower voltage, and then discharged through the galvanometer, always produces the same deflection. This is the principle of the measurement of electrical quantity by means of the 'ballistic' galvanometer, and at the same time also the proof that the current strength measured by the galvanometer actually represents quantities of electricity passing through it in unit time in accordance with the conception introduced by Ampère.

Further, in this period falls also Faraday's profound investigation of the chemical effects of electric currents, in which he made a further great step forward beyond Davy and Berzelius, by discovering, as a result of extensive quantitative investigations, the two laws still known by his name regarding the chemical effect of the current. In this connection he also introduced the terms generally used to-day – 'electrolysis,' 'electrolyte,' 'electrode,' 'anode,' 'kathode,' 'ion'; and he also already investigated the secondary chemical reactions so often occurring on the electrodes. On the first of these two laws he founded his voltameter, which measures current strength by means of the quantity of mixed gases produced by electrolysis. The second law, which connects chemical valency with ionic charge, has proved to be just as

[1] Davy had already interested himself in this problem, and had succeeded in showing the identity of the chemical effects of 'frictional' and 'voltaic' electricity.

fundamentally important as the researches of Dalton and Gay-Lussac concerning the combining weights and volume of chemical substances, and it further gave the first evidence of the existence of certain fundamental smallest quantities of electricity – the elementary electric charges – of which all larger quantities are composed, just as all material bodies are made up of atoms.

In the year 1837, Faraday developed the idea of electric lines of force, which represent the total effect of all electric forces, just as the magnetic lines of force do for magnetic forces The course of the electric lines of force, from one electrified body through space to the other on which the opposite electricity produced by influence is seated, is not so easily visualised as the magnetic lines of force are, at least approximately, by means of iron filings Faraday studied the course of lines of force experimentally, in the most admirable manner, by following out in detail the phenomena of influence, particularly in cases where the effect obviously takes place in curved lines around obstacles. Though this action in curved lines is by no means in contradiction with Coulomb's law, it is nevertheless usually only predictable in single cases with the greatest mathematical difficulty.

Faraday's conception of lines of force gives here, as in all other cases, a quick means of orientation, and it also goes beyond Coulomb's law and gives the essential of all electrical force effects, by a geometrical representation of the states of space, otherwise unknown, which condition these effects It was a fundamental advance for all time, that Faraday here attempted to study the behaviour of nature by observation, from an entirely new standpoint. The gain appeared in its full extent, when thirty years after, Maxwell was able to express Faraday's conception of lines of force, which his contemporaries had not been able to follow, by means of equations

However, Faraday's new point of view of electric force

already showed itself in the hands of its creator as immediately fruitful, he discovered the influence of the insulating material through which the lines of force pass upon their effect, a fact that had hitherto been unknown. Every insulator or 'dielectric,' is accordingly characterised by a peculiar 'dielectric constant,' which controls its application to the construction of large electric capacities Here also Coulomb's law received a further extension, inasmuch as this constant appears in it as a factor, when the electric force no longer acts through empty space, but through material media

After this succession of extraordinary discoveries, a period of exhaustion supervened for Faraday These successes had not been obtained without very hard work, for though ideas came to him in plenty and without trouble, the necessary innumerable experiments, and continual modification of the ideas towards a convincing representation of actual facts – the true work of the man of science – had led to an expenditure of energy which reached the nearer to the limits of the possible, the further he was led by his ideas into the unknown

Frequent excursions to the seaside, where he could only sit quietly and look into the distance, brought him some recuperation, but it was only when he finally undertook a journey to the Alps, and remained for a considerable time in and near Interlaken, which at that time was a quiet place, that he was completely restored to health. This was followed by a series of new discoveries and important works, in the time from his fifty-third to about his sixty-fifth year

In this period he made his discovery of the magnetic rotation of the plane of polarisation It is noteworthy that this discovery was preceded by hundreds of unsuccessful experiments with all kinds of crystals and other materials, without Faraday letting go of the idea of seeking some kind of effect of the magnetic lines of force upon light. 'It must be tried,

who knows what is possible ?' was one of his remarks; nevertheless there was a deep conception behind it all, only one that he was not altogether inclined to trust, one and the same ether for the magnetic forces and for light. The first success came when he brought a piece of heavy flint glass, made in his earlier experiments of different kinds of glass, into the magnetic field. The success was a first sign of the correctness of the idea.

Also in the discovery which then followed of diamagnetism and the magnetic properties of all matter, this glass likewise brought the first success, since it was repelled out of the magnetic field, in a manner exactly opposite to the behaviour of iron and substances containing iron. Hereupon he made an investigation of many substances in the strongest magnetic field that he was able to produce, whereby they were all shown to be either magnetic, or 'dia-magnetic,' like Faraday's glass or bismuth.[1]

The course of the magnetic lines of force around currents and magnets, their inductive effects, and the measurement of magnetic field strength by means of these effects, occupied Faraday during the last period of his work. In this connection belong also ideas and experiments concerning a possible connection between gravitation and electricity, concerning also the rate of propagation of electric and magnetic forces, and a possible change in wave-length by a source of light (a flame fed with common salt), in the magnetic field. These latter matters led to no decision. However, his question whether the ether which carries light may not also be the medium for the electrical magnetic forces, was later answered affirmatively by Maxwell, who based his work upon Faraday's achievements, and upon an important result found by Johann Weber. Maxwell's results were first a supposition

[1] It appeared that scattered observations concerning the repulsion of bismuth by magnetic poles had already been published, but no one previously to Faraday had treated the subject as a whole and thus brought it into general importance.

based on his equations, and this prepared the way for H. Hertz to confirm them experimentally and thus discover electromagnetic waves. The idea likewise of an influence of magnetic field upon light sources turned out later, when means of observation had been very much refined, to be correct,[1] and became of no less importance for all further developments of our knowledge right up to the present day.

In the year 1858, Faraday left the Royal Institution and went to live in a house outside London presented to him by the Queen. He began to suffer from rapidly increasing loss of memory, but was nevertheless able to enjoy another ten years of life in his own modest fashion He died at the age of seventy-six

Faraday combined in a rare manner great pride with the highest modesty, and this peculiarity of character depended entirely upon a deeply religious foundation, which however he kept concealed. He remained always true to the small sect of the Sandemanians, which at that time also was scarcely known to the outside world, but in which he was born, and the fundamental idea of which was a simple adherence to Christ's teaching, which was to be interpreted by lay preachers from among the brethren. How deeply he entered into everything that came into the range of his thoughts, may be seen from his definition of friendship, which he gave in one of his letters, in between an account of chemical experiments, at the time when he was a book-binder's apprentice. 'A friend is he,' he says, 'whom one is ready to serve next to one's God.' This serious point of view he retained in every relation, both towards men and towards science, throughout his whole life. Disappointments in regard to human relations could not fail to occur, and Davy already prepared him for such, when he smiled as Faraday once remarked to him that he thought that men of science are animated by higher moral feelings than other men.

[1] 'Zeemann effect'

Faraday knew how to avoid the difficulties which he would have met with, living as he did upon a high and lonely level of thought and feeling, which he was unwilling to leave, among the average of mankind; he avoided all his life activities and memberships to which he, as he was, would not have been adapted For this reason he believed himself obliged to refuse, in the most definite manner possible, the presidency of the Royal Society which was offered to him,[1] and he likewise refused to accept a title. He wished to remain simple Michael Faraday, but this did not prevent the Court treating him with great honour. It is certainly no good sign of the nature of the world, that Faraday had to regard himself as unsuitable for such relationships Newton, who was not by any means more of a man of the world, or more shallow a character, did not regard this as necessary in his time, although he was not without his embarrassments. However, Faraday's desire for the greatest possible retirement agreed, as did also his rejection of profitable activities, entirely with his intention of remaining completely devoted to science. In this respect the laboratory of the Royal Institution was ideally adapted for his work; his only assistant there was an old soldier.

Along with this, he gave, in the large lecture theatre of that Institution, his experimental lectures for an audience drawn from all circles – being in this respect also Davy's great successor – and at Christmas he always added a few special lectures for children.[2] Thus Faraday, in spite of his retired mode of life, was a personality well known and greatly honoured by all circles in London, and his

[1] This refusal had for Faraday in later years a curious consequence, which would certainly not have occurred under his presidency, one of his papers was refused by the Royal Society It was then only published together with his posthumous papers (*Life and Letters*, vol. 2, pages 411–418).

[2] Of these lectures, one in particular later appeared as an immortal example: *The Chemical History of a Candle*, see the edition with preface by J Arthur Thompson, London and Toronto, 1920.

discoveries also brought him much recognition from distant parts. All such signs of goodwill which fell to him he accepted with the greatest warmth and at the same time modesty, but it would nevertheless be a mistake to suppose that his fiery nature and his feeling for a just estimate of humanity did not become evident when he felt that he was in contact with worthless people. Thus he says for example, in a confidential letter (written in 1853) that he prefers the obedience, faithfulness, and instinct of a dog by far to the average stupidity of mankind

In many respects he united in himself the most strongly marked qualities, which might appear to the un-understanding as opposed to one another, but this was the distinguishing characteristic of his rich nature Thus he was, as he once himself affirmed, always very much inclined from his youth upwards to regard the most incredible things as acceptable, but a single fact determined by observation always sufficed to destroy a structure in thought, no matter how beautiful, and however much pleasure he had had in erecting such structure, his final and unconditional guide in every respect was truth, agreement with reality. In one of his experimental investigations he thus describes his ideal of the man of science; enthusiastic, but careful, linking experiment with analogies, mistrustful of preconceived ideas, regarding a fact as more valuable than a theory, not hasty in generalisation, and above all prepared to test his own opinions at every step afresh both by consideration and observation.[1] He himself fulfilled this ideal in the fullest possible manner, and his character as a man of science was his character altogether and in everything, great minds have never been divided against themselves

He wished to have only his relatives and his nearest

[1] *Experimental Researches in Electricity*, London, 1839, vol 1, page 360; No 1161 These have been issued as cheap reprints in the Everyman Library.

friends attend his funeral, and his grave was to be of the commonest description and in the most simple position, which also was followed out

WILHELM WEBER

1804–1890

WEBER was the founder of the electrical system of measurement generally used to-day, and he became so by being the first to work out thoroughly and with the greatest possible refinement the newly discovered domain of knowledge opened up from Oersted to Faraday, and otherwise linking up with what Gauss had already done as regards magnetic quantities. For this purpose he devised new and much improved appliances of different kinds, such as the electro-dynamometer and the earth-inductor, and carried out with the greatest energy measurements of an accuracy hitherto unobtained, which measurements brought all the new discoveries into so firm a connection with one another, that no gap remained The result was that a beginning could at once be made to operate with quantities the conception of which had only just been formulated, or at any rate made measurable, such as electrical current strength, induced electro-motive force and electrical capacity, just as had been possible since Newton's time as regards forces, velocities and masses.

In the course of this work Weber himself also made a new discovery, which could not fail to be the case with any thorough and devoted investigator He found, when he brought into connection the two laws of Coulomb for the electric and magnetic forces – which was possible by using the connection discovered by Oersted – that in this connection a velocity played a part, which he determined by

means of a difficult experimental investigation, and found to be identical with the velocity of light as known since Roemer's time. Here for the first time the velocity of light was found to play a decisive part in the domain of purely electromagnetic phenomena, the velocity which is so characteristic a magnitude for ether waves, that is, light. It was legitimate to regard this as a definite sign of the correctness of Faraday's idea, that the electromagnetic forces are states in space which have to do with the same ether as that which carries light This idea was later thoroughly worked out by Maxwell, whose work rested in particular upon Weber's researches

The velocity of light had also appeared in another connection – also within the range of Weber's researches – as a determining electrical quantity, namely as the velocity of propagation of electric tension along telegraph wires. The electromagnetic telegraph had been introduced by Gauss and Weber in the year 1833,[1] and had very soon spread further, and this led to the velocity being measured by means of a rotating mirror; it was found to be practically equal to the velocity of light, which fact also became of importance as regards conclusions to be drawn later

Weber was also the first who attempted to develop quite

[1] Telegraphy by means of light signals had already long been in existence Ideas of, and attempts at, electric telegraphy were also fairly old, very shortly after Gray had discovered the possibility of conducting electricity to a distance, a beginning was made with telegraphy, and every newly discovered electrical effect – in particular the chemical effects of the current – gave a new spur to plans of this kind, but in every case it was supposed to be necessary to use almost as many wires as there are letters in the alphabet, and hence no practical results were obtained. Gauss and Weber were certainly the first to carry out electric telegraphy with two wires only, for they signalled to one another between the observatory and the physics institute in Gottingen by means of the deflection of a magnet, the current being produced by induction, so that no other source of current was necessary Very shortly afterwards (first in Bavaria), it was found out how to work with only one wire, by using the earth as return for the current Gauss and Weber absolutely refused to attempt to gain any personal advantages for themselves from the introduction of the electric telegraph.

generally the idea of definite smallest amounts of electricity – elementary electrical quantities – which was already given by Faraday's second law of electrolysis, and Davy's and Berzelius' ideas concerning chemical forces. He ascribed to these particles for the first time not only a definite charge, but also a definite mass (inertia), and developed in all essential points the conceptions of the conduction of electricity in metals which were reintroduced more than thirty years later, when they were suggested by the study of cathode rays and the further results of this study In this connection, also, Weber already gave an explanation of diamagnetism

Not a few other results of Weber's long and industrious life cannot here be touched upon, and in the case also of other recent investigators, with whom we are to deal, we shall likewise have to reserve the forefront of our description for that which made the older men of science great and admirable: the discovery or realisation of the fundamentally new. Weber still belongs to the investigators who are well able to bear the application of this measure, and if much has to be passed over in his case and in the case of other more recent men of science, this is only due to the fact that the old investigators left behind so much that was worthy to be further worked upon by the finest minds, but at the same time has so well stood the test of this that nothing essentially new has appeared in the process.

Weber was the fifth child of a theologian in Wittenberg, whose father had been a farmer. He studied science in Halle, and there became a member of the university, and afterwards assistant professor. In the year 1831, he was called to Gottingen at Gauss' suggestion, to the chair of Physics. He there became collaborator with Gauss in the latter's magnetic investigations. In the period of collaboration with Gauss came an event which had a strong influence on Weber's life, he belonged to the famous Gottingen Seven. King Ernst August of Hanover in the year 1837 abolished by

his own autocratic act the parliamentary constitution of the State, though he had confirmed it by oath, and against this act Weber and six of his colleagues in Gottingen issued a manifesto, the consequence of which was their dismissal.[1]

Weber was now five years without a post or a fixed income A collection was made in the whole of Germany for the benefit of the Seven, from which Weber received 1400 Talers.[2] Weber however did not feel that he should make use of this gift, but put it into safe keeping, and lived in an extremely modest manner in a small room. The apparatus needed for his work, which at first was not very much, he received from Gauss.

This work related in the first instance to settling an absolute unit of current strength. Weber based this unit on the magnetic effects of the current, according to which unit current would be that current, unit length of which would exert unit force, at unit distance, at right angles, upon unit magnetic pole as defined by Gauss This idea was realised by means of the tangent galvanometer, for which purpose, however, Weber was obliged to refine the instrument, and

[1] Weber certainly contributed to the feeling against the Prince by remarks which he made at table in the presence of W von Humboldt that German professors had no native country at all, and were no better than dancers, who were ready to go anywhere where they were offered a few pence more The brothers Grimm were members of the Seven, but not Gauss The latter fact is readily understood, since Gauss had extremely little opinion of 'constitutional governments with decision by majorities,' for he had a very low opinion of the understanding and morality of the great majority, and thus regarded revolutionaries always with great mistrust (see *Gauss*, by Sartorius von Waltershausen, page 94) Gauss no doubt had adopted an unusual attitude by holding this view; but he also acted quite obviously, just as did the Seven, in accordance with his convictions Weber's view must have agreed with that of Jacob Grimm (see the latter's statement in *Kleineren Schriften*, edition of 1911, Berlin, pp 28 ff) Where should we find to-day even a few professors, like Gauss or the Seven of Göttingen, who would make their decision from any other point of view than, at the best, the needs of their faculty? ('Professor' originally means a person who *professes* a certain faith)

[2] This was almost double his yearly salary

the method of calculating its results, in a very high degree[1]

In order to fix the unit current thus realised for all time in a simple manner, Weber, relying on Faraday's first law of electrolysis, made use of the voltameter. The choice of the unit current (now called the ampère) and also the means of fixing it, are still valid to-day[2]

In the year 1843 Weber was called to the University of Leipzig, where he then invented his electro-dynamometer, which depended upon Ampère's discovery of the force exerted by one current upon another, and was suited for the finest and most accurate measurement of these effects.

Six years later Weber again returned to Gottingen, where he remained for the rest of his life. He then began the investigation which led to the settlement of the absolute unit of electrical tension or electromotive force (called to-day the volt), for which Weber relied upon Faraday's law of induction, which was possible without the use of the idea of lines of force, since he made use of Gauss' measurement of the earth's magnetic field and the induction produced by it His earth inductor, with which he made very extensive quantitative measurements, afterwards became one of the most important appliances in electromagnetic measurement.

[1] This also allowed a first exact proof of the law, according to which the effect of current of any length and form upon magnetic poles in any position can be calculated This law is usually given under the names of Biot and Savart These scientists only investigated rectilinear currents (see Biot's *Elements of Electricity and Magnetism*, trans J Farrar, Cambridge, N E, 1826), Ampère took for comparison zig-zag currents, and an observation by Laplace gave the generalisation for 'current elements' (short lengths of current), in any position as compared with the magnetic pole The circular currents in the tangent galvanometer then gave the best case for an exact test

[2] The realisation of this in a later and more refined manner, which reached an exactitude not exceeded to-day, was performed in the year 1881 (and repeated in 1886), by Friedrich Kohlrausch (1840–1910, president of the Reichsanstalt in Berlin), he measured the exact amount of silver deposited by one ampère flowing for one second

From the units of current and voltage thus settled, Weber was able, by means of Ohm's law, at once to deduce the absolute unit of resistance (to-day called the ohm), which is particularly suited for realisation and preservation in the form of wire, or much better still, in the form of a thread of mercury, as used by Siemens since 1860 (Siemens unit); and hence a large number of Weber's latest measurements related to this unit. Since the means required for this purpose continually increased, but the State believed it necessary to economise, Weber made use, for the first time, of the money subscribed for him when he was dismissed from office. Weber was not able to witness the complete realisation of all the refinements which he had planned for settling the electrical units, in spite of the high age of eighty-six which he reached; but what he began was continually pursued, most of all in Germany, and resulted in our present-day certainty in electrical measurement, which fulfils every possible requirement.

During Weber's lifetime, in the year 1881, there was a Congress in Paris, which arranged the international acceptance of the system of units founded by Gauss and Weber. Here the main question was the settlement of factors by which the absolute units were to be multiplied in order to provide practical units of a suitable size, and also to fix short names for the units. The numerical factors were necessary, since all the units had been derived from the three fundamental units of space, mass and time, solely by means of natural laws and without any reference to their size Thus for example, the absolute unit of electromotive force would have been much too small for ordinary use, and it was decided to use a unit 100,000,000 times as large, and call it the 'volt' For all this, and also for the settlement of the fundamental units (whether, for example, the centimetre or the millimetre was to be taken as unit of length) an agreement between the various countries was necessary, and such an

agreement can never take place without a certain amount of arbitrary decision [1]

It is a strange fact that in choosing names for the units, the names of the originators of the whole system of units – Gauss and Weber – were entirely unused, and surprise was immediately expressed at the time.[2] It is natural that in Gauss and Weber's own country these objections have been particularly emphasised, and have not yet been silenced.[3]

Weber was extremely simple in his tastes, with a childlike happiness of temperament and very contented by nature, but yet in his way of thought immovably upright and of the strongest character, and this now and then even allowed him to exhibit a certain sharpness of temper, which he also showed in public when he felt it to be necessary, although he in general avoided such actions. His trust in human nature easily led him much too far, and this was made use

[1] Helmholtz's was the principal representative of Germany at this Congress, his influence was the greater because he showed great readiness to meet the wishes of others present in Paris Weber was invited to the Congress, but his refusal was almost self-evident in view of his age of seventy-seven The Congress was reported in *Nature*, September 6th, 1883

[2] See for example, B Wullner in his *Lehrbuch der Physik*, 4th Ed., 1886, vol iv, p. 922, and Werner von Siemens, *Lebenserinnerungen*, 4th Ed , 1897, p 281 The excuse was made for the omission of Weber's name that a 'Weber's unit of current' was already in use, which was ten times smaller than the one chosen by the Congress, and hence might lead to confusion This excuse does not hold water, for in the first place the said smaller unit, though known in Germany as Weber's unit, was nowhere in actual use (current measuring instruments with fixed graduations in units did not exist), and in the second place the larger unit chosen by the Congress was actually in use under the name Weber in England, where the technical employment of electric currents was at that time further advanced The fact that Weber still lived, whereas Ampère, whose name was used instead of Weber's, was already dead, has curiously enough never been put forward as a reason, though at the time it might have been, though unmentioned, one of the grounds for the decision

[3] A recent practice has been to use Weber instead of Ampère as a description of the current unit at will, which cannot produce any confusion. Gauss has likewise been used for some time (without the decision of any Congress) to designate the absolute unit of magnetic field strength

of by the spiritualists, who were particularly active in his day[1]

His kindness and friendliness did not fail him even when these good qualities resulted in his being pushed into the background, accordingly no sign of offence on his part over the behaviour of the Paris Congress on units, not even any remark of his on the subject, has been reported[2] Weber always took a great interest in the fate of the German nation and all events connected with it, thus the foundation of the united Empire in 1870 was hailed by him with great joy. He was small of stature, and did not look very robust, but he was an energetic and tireless walker up to his old age. He always remained in close contact with his brothers; he was never married; a niece kept house for him. He died at the age of eighty-six.[3]

[1] Weber was not alone by any means in this respect, a whole circle of older professors, whose eyes and ears were not adequate to cope with conjuring tricks, and whose knowledge of human nature was equally defective, were also made victims In England also, generally speaking, the same thing happened, as is shown by the example of Crookes, Faraday however repeatedly declined the invitations of the table-turning spirits in the most decided manner, when they were issued to him It is to-day much easier, after so many exposures and confessions, to judge this misuse of science than it was at the time [The English reader may be referred to Podmore's *The Newer Spiritualism*, London, 1910, but of course the literature of this subject, in all shades from extreme faith to extreme doubt, is endless]

[2] On account of Weber's ripe age at the time, the want of recognition shown was easier to bear, since it could no longer act injuriously upon his facilities for work

[3] The reader is referred to a sketch of his life by his nephew Heinrich Weber (Stuttgart, 1892), whom I also have to thank for valuable information by letter

JULIUS ROBERT MAYER (*1814–1878*)
JAMES PRESCOTT JOULE (*1818–1889*)
HERMANN HELMHOLTZ (*1821–1894*)

Julius Robert Mayer, a modest practising physician in the town, at that time very small, of Heilbronn on the Neckar, was the discoverer of, and first to announce, the principle of the conservation of energy. He perceived that, beside the laws of motion of Newton and Galileo, another general law holds throughout nature, the grasp of which meant throwing light on just those parts of science which had hitherto remained dark in spite of investigation, and indeed meant the linking together of several separate branches of knowledge which had hitherto appeared disconnected and indeed contradictory. At the present day, the energy principle may even be described as the highest of all natural laws, inasmuch as it holds for all phenomena of matter as well as of ether, and further, no limits of any kind to its validity have showed the slightest signs of appearing in all the eighty years during which it has been known and applied.

Mayer announced his new discovery in very few words in the year 1842, in Liebig's *Annalen*, a widely read scientific periodical, in which words the essential point, the calculation of the mechanical equivalent of heat, is already stated; it was later discussed in detail in a separate paper which appeared in 1845. He had a heavy penalty to pay for all this. It is necessary to go back to Galileo to find an adequate analogy to his suffering on account of a new and profound idea. But since no two individual cases ever show exactly the same course, here also a difference is present. Galileo was opposed by dark powers hostile to natural science, Mayer's fate lay within science itself The great majority who were the official representatives of science did not understand him, the few who did, who immediately grasped the idea, did not like him.

Matters went so far that when the new ideas finally began

to be accepted, Mayer found that they were actually passing entirely under other names, not merely abroad, but even in Germany. This also finally extended to the daily newspapers, so that Mayer, who was a very popular doctor in his birthplace, soon began to be looked at askance there as someone who pretends to have laid claim to the discoveries of others. After having been repeatedly repulsed by the editors of German learned periodicals, and after having also written to the Paris Academy without success, he turned to a German daily newspaper, which was widely read in learned circles, and which he regarded as of sufficiently good standing to serve as medium for a public explanation and for making his discovery known under his own name. His contribution was also accepted, but soon after there appeared in the same newspaper an article which, written apparently from a competent writer, made Mayer and his discovery appear ridiculous and unscientific [1]

Mayer now repeatedly applied to this newspaper, which was owned by a publishing house of Stuttgart and Tubingen of high reputation, to insert a suitable correction; but without success.

In this way, having been tortured for over five years by similar experiences, Mayer became more and more nervously excited; finally, on a sunny May morning in the year 1850 he suddenly sprang out of the window, after a sleepless night. The window was thirty feet above the ground and

[1] The article was signed by a doctor of philosophy The same doctor was soon afterwards received into the university of Tubingen as *Privatdozent* Another *Privatdozent*, on the other hand, Eugen Duhring in Berlin, who had thoroughly emphasised Mayer's achievements for the first time in historical connection in an article called 'Critical History of the Principles of Mechanics' (1872), which had been given a prize on the decision of Wilhelm Weber, was driven out of the university, when in the second edition of this work (1876) he added some strong expressions, and in another publication exposed further scandal in the university All this shows how little was thought of Robert Mayer, both in his own home university, as also in the capital, where Helmholtz was then representing physics.

Mayer injured his legs badly, and only gradually recovered in Wildbad. This was by no means the end of his troubles. They even became worse, in a manner which did great discredit both to the representatives of science as to those of medicine. But we will proceed with this story after first discussing his work.

When we read to-day Robert Mayer's three main publications[1] we can only once more be astonished at the richness of their contents, they bring in the main already everything fundamental to the energy principle, and we may also be surprised to find therein very much that, even to-day, is still fairly generally ascribed more to his successors than to himself[2] The first paper (1842) puts the discovery in a very condensed form, without any argument based on definite facts;[3] however, the mode of calculating he tmechanical

[1] 'Bemerkungen uber die Krafte der unbelebten Natur,' 1842, 'Die organische Bewegung in Zusammenhang mit dem Stoffwechsel,' 1845; 'Beitrage zur Dynamik des Himmels,' 1848 A translation of these will be found in *The Correlation and Conservation of Forces*, a series of expositions by Grove, Helmholtz, Mayer, Faraday, Liebig, and Carpenter, with introduction and notes by Youmans, New York, 1865

[2] Thus for example, the idea which has become more and more important in regard to the temperatures of the fixed stars, that shrinkage under the influence of force must result in the production of fresh quantities of heat, is already clearly stated in the paper of 1845 (second part of section 3) Later (in the 1848 paper) Mayer put forward the fall of meteoric masses into the sun as the chief means of maintenance of its temperature, but without at all cancelling the other suggestion

[3] The turns of expression used there and elsewhere by Mayer, such as 'ex nihilo nil fit,' 'nil fit ad nihilum,' 'causa aequat effectum' (nothing is made out of nothing, nothing is annihilated, the cause is equal to the effect) are not to be regarded as proofs or preliminary axioms (as has often been stated by way of adverse criticism) but as short expressions of our knowledge, thrown off by way of humorous explanation Mayer was also fond at other times of these turns of speech, and his humour was well known These phrases may be regarded – following Mach – as the sign 'of a mighty, instinctive, and still unsatisfied need for a substantial view of what we to-day call energy,' in which mode of expression 'Mayer in no way behaved differently from Galileo, Black, Faraday, and other great men of science ' The view of energy as a substance has actually, quite recently, turned out to be perfectly tenable (see the remarks concerning Hasenohrl, at the close of the book) The humour of great minds is always of significance, it is always understood only long afterwards

equivalent of heat, and a sufficiently approximate value of it, are given. The second publication (1845) states everything at full length, and in conclusion adduces many applications to living nature; the third publication applies the energy principle to celestial processes

The contents of these papers show that Mayer was the first who (already in the year 1842) saw clearly and in the most general way what had gradually been come upon by a number of investigators, in the course of the development of knowledge either in fragments or in the form of questions of fundamental importance, but was still without foundation. We already find in Galileo, Huygens, and Leibniz, questions regarding mechanical work performed by gravity and other forces, and Huygens was the first to recognise the importance of the product of mass into the square of velocity in phenomena of motion, for example in elastic collision, where the sum of these products remains unchanged, however complicated the phenomena of motion. The product is now of course known as kinetic energy, when divided by two.

Then came the great difficulties of the question 'what is heat?' which had been illuminated by the experiments of Rumford and Davy, in which heat had appeared without having anywhere disappeared, whereas its quantity had otherwise – in particular in calorimetric measurement – proved to be just as invariable as a quantity of any kind of matter. When the phenomena of the electric current came to be known, the heat of the electric arc and of a wire made to glow by a current again presented a riddle, for no compensating cold appeared, excepting only in the case of thermo-elements discovered by Peltier in 1834 As regards Volta's elements, Faraday, as well as Carnot before him, had remarked that they exhaust themselves in the production of all phenomena of whatever kind, and the cause of this might be supposed to be due to the chemical changes shown by Faraday to accompany invariably the passage of current

to the cells All this and a great deal more, which had either remained questionable or merely isolated fact, was suddenly brought by Mayer, in the most astonishing manner, into a grand connected system He notices the fundamental importance of the nature of heat, and answers this question by saying: 'Heat is a force, it can be transformed into mechanical effect '[1]

He there sees how heat is transformed in the steam engine into mechanical work, so that a certain number of calories disappear, while a certain other number of metre-kilograms of work appear He also sees how that product – mass multiplied by square of velocity – likewise denotes a quantity of work, for velocity only results from the expenditure of work, and when the product decreases, some form of work done appears, such as the raising of a body thrown upwards, or in the pendulum, and heat also may be this form of work, as when a moving body comes to rest by friction, or in the case of inelastic collision, where the product also diminishes, while heat is produced, which is not the case in elastic collision.

He further sees that likewise the mechanical separation of

[1] We say to-day, in the same sense that Mayer used the word 'force,' or 'effect,' rather 'energy,' which expression was introduced much later (Helmholtz still used the expression 'conservation of force') 'Energy' is stored-up work, and since work is measured by the product of the working force and the distance moved in the direction of this force, work is thus something other than force defined in Newton's sense (as Leonardo already recognised), it is therefore not permissible to use the word *force* in place of *work* Mayer was perfectly clear on his point (as his publication *Remarks on the Mechanical Equivalent of Heat* in 1851 showed in full detail), only he thought that it would be possible to give up Newton's definition of force This latter fortunately did not happen, instead, it became clear, that Mayer's newly formed concept of stored-up work – in which work appears as a substance unalterable in amount – also needed a new name, and *energy* was introduced for this purpose This also again shows us the great novelty of Mayer's achievement, its formation of a new concept required the introduction of a new word The fact that the concept arrived before the word is a sign of the solidity of scientific investigation at that time, quite by way of contrast in many other cases, where the opposite process so slyly recommended by Mephistopheles, takes place 'for just where ideas are wanting, a new word appears at the right moment' (*Faust* I, Fourth Scene)

bodies which attract one another, such as the raising of a weight, signifies a storage of work, and that in the chemical separation of bodies the same thing holds; 'the chemically-separated existence' for example of carbon and oxygen or chlorine and hydrogen is also 'a force' ('form of energy' as we prefer to say to-day), and when this form of energy disappears, namely when the separation ceases, heat is again produced, as in a coal-fire. Thus Mayer for the first time throws entirely new light on the old and well-known production of heat in chemical processes, which had first been regarded as the setting free of a chemical component (heat-stuff), and then – when this explanation was shown to be incorrect – remained devoid of all explanation

This new point of view put the whole matter and many others in a new and important connection. It thus also becomes clear that the development of heat by electric currents takes place at the cost of the chemical energy used up in the voltaic cells Also, the work stored in electrically charged bodies, which is shown by phenomena of attraction and repulsion, in the effects of the spark and other heat phenomena on discharge, can only be produced by expenditure of work – as Robert Mayer made clear for the first time – for in every such case it is a matter of separating the two opposite kinds of electricity, and since these attract one another this separation can only be effected by expenditure of work, whether this takes place in the electrophorus by influence, or in the frictional electric machine, or in Volta's manner by contact between conductors of the first class

Mayer thus arrives at a statement of the five different forms of energy, which we also enumerate to-day 1 Potential Energy (energy of position); 2 Kinetic Energy (energy of motion), 3 Heat; 4. Electro-magnetic Energy, 5 Chemical Energy.[1] 'In all physical and chemical processes the given

[1] Mayer's terms are only slightly different (see the previous footnote), and he explained quite unambiguously the terms which he uses

force (energy) is a constant quantity' Only the form of energy is changed, its quantity remains unchanged 'There is in truth only one single force (energy). In eternal change this circulates in dead as in living nature In both no process takes place without change of form of the force (energy).' Mayer then gives twenty-five pertinent examples of energy transformations, or changes of position of energy, the quantity remaining the same, which, after what has been just said with equal impressiveness concerning the different forms of energy, cannot leave the slightest doubt in anyone who has even glanced through this essay and is sufficiently prepared by his own thought, concerning the sense and extent of Mayer's achievement.

Mayer continues with an extensive discussion on energy of relationship in living nature, in which he as a doctor took a particular interest [1] Here again he starts from the highest point of view, beginning with the energy of the sun, which pours upon the earth in the form of light, and here, besides warmth and raising of water to the clouds, also produces the chemical energy of plants, and hence that of animals It is also important that he clearly and distinctly points out that in muscular work there is a direct transformation of the chemical energy of food into mechanical (potential or kinetic) energy, without the intermediary of heat energy, which is required by the steam engine.

It is obvious that this magnificent structure of ideas, which this simple doctor had developed in the course of a number of years, at first could only be hypothesis or supposition, and could only gradually become transformed into tried and tested knowledge after many quantitative comparisons had been made with reality This transformation – to which Joule at once greatly contributed – has been completed to-day, and has not changed anything of importance

[1] The title of the essay already puts this part in the forefront, after the first paper had been limited to forces of non-living nature.

in Mayer's edifice[1] Nevertheless, the system set up by Mayer gave from the start the impression of being true to nature, for it threw light upon so many processes in nature that had hitherto been completely in darkness; it provided such a wide-ranging summary of knowledge, as would not have been possible if any of its main points were not correct Just as in the case of Newton's structure of ideas in the *Principia*, where all the knowledge of nature collected by his most eminent predecessors provided proofs in abundance for his system, so also in the case of Mayer's system of ideas, where the proof was provided by the various investigations we have mentioned.

However, Mayer himself had already undertaken a comparison with reality in certain special cases, and here he proceeded quantitatively He calculated the number of metre kilograms (potential energy) resulting from the transformation of one calorie of heat – in other words the mechanical equivalent of heat – by using existing measurements of the specific heat of air at constant pressure and constant volume in an entirely new manner. The fact, grasped by Dalton and confirmed by Gay-Lussac and Laplace, that air is cooled when it expands against external pressure, is regarded by Mayer as a case in which the heat which disappears has been turned into work, which is done against external pressure, and he based the admissibility of this view upon the fact that a gas when expanding into a vacuum – that is to say without doing work – does not show any cooling, as had already been proved by Gay-Lussac in the year 1807. So that, in fact, the performance of work and consumption of heat are connected together in the closest possible way.[2]

[1] We might mention as a necessary correction made afterwards the introduction of the factor $\frac{1}{2}$ into the kinetic energy

[2] Among many statements brought forward against Mayer's view, and one which was only with difficulty and after some time cleared up, since it was brought forward by persons of apparent authority, is the statement that his calculation of the mechanical equivalent of heat is not free from

Since figures were already known for the quantity of heat in question, and also for the change in volume at given pressure, Mayer was able to calculate the equivalent by means of an imaginary experiment, no actual fresh experiment being necessary. Using the figures of that day he came fairly close to our more accurate figure of to-day, 427 metre-kilograms for one calorie. He also remarks that other gases, according to the measurement, give the same value as air, and that this is a confirmation of his view. Furthermore, he himself arranged an experiment in which work was transformed into heat, by measuring in a paper factory the rise in temperature of the pulp, which was being stirred with the expenditure of five horsepower; the resulting amount of heat was found, when the losses were taken into account, to agree with his equivalent.[1]

We see that Mayer produced altogether quite enough experimental basis. Apart from anything else, the experience that perpetual motion was impossible, so often used for the construction of important conclusions, comes in here with its full weight; indeed, it occupies the central position of the whole; it furnishes the assurance that an increase of energy cannot take place in any known process. The apparent fact, long regarded as true, that a *loss* of energy can actually take place, as in the case of every system of frictional processes, was proved by Mayer to be a delusion, for he showed that in such cases there is a transformation into heat, which is likewise a form of energy. With this, the complete invariability of the total sum of energy was made clear, and hence it was above all necessary to clear up the processes connected with heat, in order to arrive at an idea of the way in which energy is concerned. This clarification was also

objection. This statement ignored Gay-Lussac's discovery above-mentioned, and Mayer's express reference to it.

[1] Mayer expressly stated that more exact experiments were needed, but for his own person he regarded the continuance of his medical practice as the more necessary.

effected by Mayer, and quantitatively, by his calculation of the mechanical equivalent of heat All this was overlooked by those who afterwards further developed Mayer's ideas, and by those critics who did not give Mayer his due. As often happens when an entrance door has been opened, entry then appears as something quite natural, as though the door had never been closed, and as though its discovery and opening did not form the main achievement, after which all further steps become almost a pastime.

Why was it reserved for Mayer to find the entry, to recognise and to open it, and even for himself to use it to survey fairly thoroughly the new territory? Why should he alone (and, though in a hidden and unpublished form, Carnot, who died young) have been chosen for this task, so that all others could only follow, although they may have had similar ideas, but had not brought them to this degree of perfection? Without any doubt, it must have been the peculiar nature of Mayer's mind which enabled him to effect this, and it must have been a very rare type of mind, for the ideas on which the whole thing depended had been in the air, so to speak, since Rumford's time, that is to say more than forty years, inasmuch as the fact upon which they mainly depended had been known for that length of time.[1]

Mayer's peculiar cast of mind had remained uninjured by his previous training, for this training had never included a school or university course in physics or mathematics, so that his original freedom of mind to follow his own line of thought had never been interfered with, and books had not

[1] The electrical phenomena, which had been the most recent discoveries, did not give any further impulse in this direction, on the contrary, when not considered very thoroughly, they appeared rather to suggest again the possibility of a perpetual motion, as in the form of an electromagnetic motor driven by Voltaic elements Even in the year 1841, the Swiss government had offered a large prize for an electric locomotive which would be cheap to run (it was even thought that the chemical transformations in the cells might provide valuable by-products) This offer was withdrawn in 1844 See *Encyclopaedia Britannica*, Art. 'Perpetual Motion' 14th Ed., vol. 17, p. 540

been used for examination purposes, but simply as sources of facts But a mental constitution of this kind is also the chief cause of the absence of all recognition, and hence of the unhappy fate of those who possess it He who is not like the great majority of people, and hence does not appear adapted to the traditional form of life in the way in which he expresses himself, will not easily be understood, but will be readily passed over or even regarded with suspicion.

Mayer's first paper in Liebig's *Annalen* (1842) certainly received sufficient circulation; but it can hardly be doubted that the great majority of readers, and particularly of those who were not closely connected with research, could not have recognised the importance of its contents, if only on account of its shortness as compared with its richness in ideas. But it can just as little be doubted that all those whose minds were already busy with the question, which had been before science for forty years, must have been placed, immediately on reading the paper, or at any rate after short consideration, in possession of practically complete insight into the essentials of the new line of thought. It depended upon the few who proceeded to work on the subject and to spread the ideas whether Mayer would at once be recognised as the originator, and after the appearance of the second publication (1845), which was fully detailed, it was self-evident that no one had produced anything of equal value prior to Mayer These few people failed in their duty [1] We

[1] Helmholtz as Referee of the Physical Society in Berlin would have been best situated to report in the *Fortschritten der Physik* details of Robert Mayer's earlier writings as well as his own publication of 1847 But he only refers to Mayer so shortly, that one would suppose him to have published nothing of importance Only later (1852 and subsequently), did Helmholtz gradually admit in public a few facts which had then already begun to be known to wider circles (See in this connection Weyrauch's *Die Mechanik der Warme*, Stuttgart, 1893, pp 226–228 and 316, also the same author's *Robert Mayer*, Stuttgart, 1915, p 67 ff, and Ostwald's *Grosse Manner*, Leipzig, 1909, pp 272–274)

Joule's first publication on the subject dates from 1843 William Thomson (Lord Kelvin) also put him forward as the originator of the idea of the equivalence between heat and work, in opposition to Robert

have only one exception to mention: Tyndall, Faraday's successor at the Royal Institution in London, he above all deserves the credit for the fact that Mayer finally enjoyed a few years of general recognition [1]

Julius Robert Mayer was the third son of an apothecary at the sign 'Zur Rose' in Heilbronn, he early showed signs of a lively mind and receptive sense, and thus found for them plenty of food in his home, where there was much physical and chemical apparatus, a natural history collection, and books of all kinds. As a boy he spent a great deal of time in the open air, and also visited mills and factories in the

Mayer, but he expressly stated that he did so because Joule was a fellow countryman This could not lead to much confusion, and we must also recollect that before Thomson made his report in England, Joule's work also remained unnoticed

[1] For this reason we bring a portrait of Tyndall alongside that of Mayer. Tyndall was in many respects similar to Alexander von Humboldt, only as regards externals, a modestly reduced edition of him, Tyndall was a highly effective representative of, and propagandist for, the highest view of science and research His lectures at the Royal Institution, which appeared for the most part in print, and also in the German translation, give a picture both charming and genuine of the state of scientific research at that time In one of these lectures to a large audience drawn from all circles (Faraday was present) in the year 1862, he spoke in his own highly interesting style on energy and its transformation, and at the conclusion surprised his hearers with the remark, that everything of which he had spoken had been worked out quite independently by a German doctor, Robert Mayer, in Heilbronn, whose name was probably unknown to his hearers. He then added 'When we consider the circumstances of Mayer's life, and the period at which he wrote, we cannot fail to be struck with astonishment at what he accomplished Here was a man of genius working in seclusion, animated solely by a love of his subject, and arriving at the most important results in advance of those whose lives were entirely devoted to Natural Philosophy '

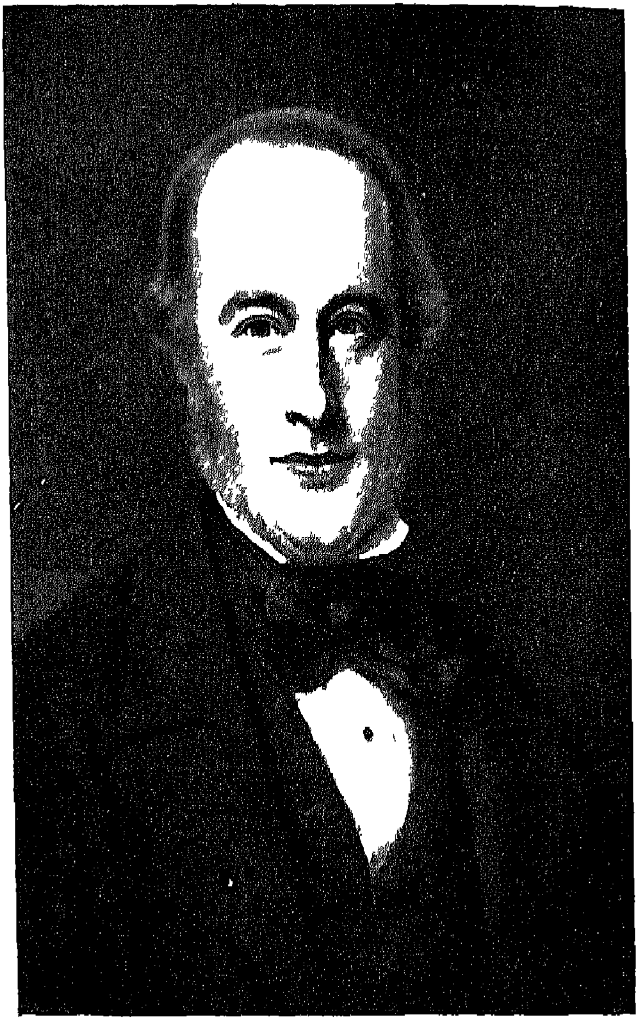
Offence was taken in England over these remarks of Tyndall's and he was called to account publicly, but his opponents were silenced after his last reply (1864) 'To allow Doctor Mayer to remain in the position in which I found him would put the fault for that neglect upon me, from which only a reference to the ignorance of his contemporaries could liberate me In every sentence which I have written in his favour, I was conscious of the force that only a completely original mind is able to offer, and without fear for his and for my faith, I now leave his reputation, and also my own behaviour with regard to it ' (See also Weyrauch, *op. cit*, pp 338–342, also *Kleinere Schriften*, from which we learn that it was Clausius who made Tyndall acquainted with the too little known writings of Mayer.)



45 Julius Robert Mayer



46 John Tyndall



47 JAMES PRESCOTT JOULE

neighbourhood, showing a great deal of gift for understanding their mechanism. The question as to the possibility of perpetual motion, which no doubt at that time was generally discussed, early gave him much cause for thought when he heard of it at home At school he was not regarded as a good scholar; but the old classics, and also Goethe's *Faust* remained favourites all his life. After leaving school, Mayer studied medicine at Tubingen, and then completed his training by visiting the hospitals in Munich, Vienna, and Paris; he did not find in his student days satisfactory lectures on physics at the university

He began his independent career as a doctor on a Dutch East Indian ship with a crew of only twenty-eight, whose health was so good that he had little to do There were also no passengers, so that Mayer was left practically alone with his thoughts for the whole journey, lasting from February 1840 to February 1841, and interrupted only by a stop in Java But he had taken plenty of books with him, and, as he himself writes, 'he enjoyed a harmless peace of mind, which disposed him by preference to scientific occupation, and allowed him to lead a pleasant life, though in narrow circumstances and far from any companions of like taste; no day went by without interest of some kind ' In fact, everything made a great impression on Mayer, everything that he observed in the sky, on the water, or on the ship, as we see from his diary, and physics also, among the sciences, interested him from among his books, only he was not satisfied by the way in which the 'red thread' was interrupted in a thousand places, so that effects without causes, and causes without effects were presented to the reader. In particular, the inexplicability of the heat produced by friction attracted his attention, and also the production of heat in the living organism

In Java he was obliged on account of illness among the crew, to let blood, and he was surprised and astonished to see

that the blood was bright red, although it was not taken from an artery This was the great event in Mayer's life; from this point everything that he had hitherto considered took on a new form in his thoughts, causes and effects appeared to him quite suddenly to enter into hitherto unknown connections. He then began for the first time – in the autumn of 1840 at Surabaya in Java – to think, in the manner to which we are accustomed to-day, about the energy principle. The whole hundred and twenty-one days of the voyage home obviously found him without anything else in his mind; for his diary, which on the journey out reports in detail all events on the ship and concerning the weather, is now completely silent, and a few months after his return he had completed a first draft on the subject.[1] But he continued uninterruptedly to work on the matter, pressing forward with ever increasing clarity, up to the statement of 1842, which appeared in Liebig's *Annalen* as the first public announcement of his thoughts [2] We finally have the complete statement of 1845, which represents the highest point of his achievement in scientific research.

In the same year, after returning from the journey, Mayer took a house in his native town. He soon became the best-known doctor there, and had already married in 1842 the daughter of a well-to-do merchant The following and no doubt happiest period of his life did not last long We have already told above of the unhappy experiences which then overtook him. According to all trustworthy accounts[3] it was most of all the great mental isolation which Mayer

[1] He sent it to Poggendorf for the *Annalen der Physik*, where it remained pigeon-holed

[2] See his letters of this period (Weyrauch, *Kleinere Schriften und Briefe von J R. Mayer*, Stuttgart, 1893)

[3] See the collection of contemporary reports, together with Robert Mayer's own notes, in Weyrauch's edition of the *Mechanik der Wärme* (1893), pp 303–309, and also the report on Mayer's meeting – 25 years after his treatment in the mad-house – with E Duhring, in the latter's book *Robert Mayer, der Galilei des 19. Jahrhunderts* (2nd Ed , Leipzig), pp 132–171.

experienced at home that resulted in a deep depression in view of the complete denial of all recognition, not of the truth of his ideas, but of their originality

He hoped to find some consolation, together with suitable bodily care, in a sanatorium [1] The first that he visited did not suit him, he was recommended another, where the young physician would have more time to pay attention to him The advice was bad, the young doctor had just fitted himself out for a new treatment by means of a strait-chair, and applied this thoroughly to Mayer An attempt to leave the sanatorium failed on account of periods of unconsciousness, which overcame Mayer in his state of complete weakness, he was brought back to the sanatorium and further ill-treated both bodily and mentally The head physician, whom he wished to see, was never available, a Councillor, to whom he was taken approved the treatment, and his freedom was only obtained after thirteen months [2]

His kind and trusting nature, which had been so grievously disappointed by both his scientific and medical colleagues, was completely transformed by his experiences, his iron will came uppermost, he felt capable of defying fate [3] After a convalescence in Switzerland he was able to take up again his work as a doctor in Heilbronn He always remained highly sensitive towards injurious and offensive remarks, and it must be remembered that plenty of opportunity of this kind still continued to occur, for a false report concerning him was spread in newspapers, public lectures, and finally (1863) even

[1] This double hope, which Mayer quite naturally entertained, is a good proof that he himself was an unusually good doctor for his own patient

[2] From the statements of this Councillor, it appears that Mayer was treated for megalomania, for it was assumed that he imagined himself to have made a discovery which he had not really made

[3] It should be particularly noted that Mayer continued to recognise willingly and joyfully all the achievements of his contemporaries such as Joule and Helmholtz, and even went too far in his respect on many occasions Only, as he says, he was not prepared to admit 'that he had expressed any willingness to abandon documented rights of priority '

in a well-known learned dictionary, which best shows the complete indifference shown in Germany towards him while still living The report could not be rooted out; Mayer had died in a lunatic asylum! The fact that Tyndall's championship of Mayer in London in 1862 finally broke the spell, a final consideration of which may be left to the calmer judgment of later times, has already been mentioned. Age brought Mayer still a few quiet and comfortable years; three well-grown children survived him, he died at the age of sixty-four.[1]

'As we stood around his grave,' says one of his biographers, 'a bitter feeling came over us. Suabia had given the world two men of science of the first rank; Johannes Kepler died as the result of want, while attempting to gain recognition of his rights by the Reichstag in Regensburg. Robert Mayer was misunderstood and insulted, until he was broken bodily and mentally. A foreigner brought about a change in his treatment at last. But he was now at rest; he had reached his goal.'

James Prescott Joule was an enthusiastic experimenter, and a wide-ranging thinker with the highest point of view His most important work relates exclusively to the question of the nature of heat, which at the time when he began his work was still at the point reached by Rumford In particular, the fact already recognised by Davy as of fundamental importance, the production of heat by the electric current, attracted his attention from the start. He investigated, and was the first to state the law of the production of heat by electric current, known under his name to-day, according to which the quantity of heat appearing in unit time in a conductor is proportional to the resistance of the conductor and the square of the current strength.

[1] E Duhring, who had been banished from the University of Berlin, later (1877) did his best by means of public lectures in Berlin to enlighten his contemporaries. See his *Sache, Leben, und Feinde*, Leipzig

His experiments in this case were of a simple description He measured the current by means of a very simple galvanometer which he made himself, and which he graduated by means of a voltameter, the resistances were measured by introducing a copper resistance taken as a unit, and measuring the current, and then calculating by Ohm's law. The quantity of heat was measured by means of a simple water calorimeter, the most refined element of the whole equipment was a very sensitive mercury thermometer In the case of metallic conductors he mentions, in connection with the dependence of the quantity of heat upon resistance, the discovery previously made by himself that discharges from the electrical machine produce an amount of heat roughly proportional to the resistance of the circuit; but he also carried out some measurements himself. In the case of liquid conductors this was done with greater elaboration, and both the development of heat in the elements, as also in electrolytic cells, was investigated at various measured currents and resistances, and found to be in good agreement with the law

His measurements were not carried out with great accuracy. However, his experiments were clear in character, all subsidiary matters were recognised and taken into account, thus the development of heat taking place in the cells on open circuit was also deducted, and the polarisation voltage in the electrolytic cells, already discovered by Faraday, was correctly taken into account in measuring their resistance. It is always the case in the first investigation of natural processes, that great accuracy is not of so much importance as clarity in the experiments, and a basis of clear conceptions Accuracy, and a consequent answer to the question whether further hidden phenomena may still be present, comes later, and often best indirectly

Thus our present undoubting trust in Joule's law depends, apart from later and more refined direct measurements,

mainly upon its agreement with the energy principle, recognised somewhat later and always found to hold strictly, this agreement could be demonstrated by the aid of Ohm's law. The three laws thus brought into connection with one another mutually support one another in the best possible manner, so that every new confirmation of one also reacts upon the other two. Nature is a connected whole, every new part that is rightly grasped always fits perfectly into what is already known, and thus actually simplifies our general view of the whole of knowledge.[1]

Joule had carried out these investigations on the heating effects of currents, with the special intention of seeing whether heat was thus actually generated, as in Rumford's friction experiment, or whether heat might possibly pass from the sources of current, the Voltaic cells, into the path of the current, in which case the elements should cool down The result contradicted the latter view, the cells also became warm, in exact accordance with the resistance and the current. Joule already concluded from Faraday's electrolytic laws, that the total heat produced by the current in a closed circuit fed by Voltaic cells of any kind is proportional to the number of atoms chemically changed in the cells. He thus arrived at setting the heat of combustion, for example of zinc, in parallel with the current heat, which is connected in this way with the oxidation of zinc taking place in the cells.

It was therefore for Joule an obvious step, and one which followed directly from his line of thought, to proceed to find out whether the currents generated by induction according to Faraday's method produced cold anywhere in the

[1] It appears to be an increasingly popular device, unconscious or conscious, but in any case objectionable, to talk of 'classical' and 'modern' science, with the result that by introducing a division or opposition between two parts of our knowledge by means of such nicknames, the newer receives an apparent recommendation, instead of our admitting a want of clarity to be the simple cause of the appearance of a division or opposition

circuit He constructed for this purpose an induction machine with steel magnets, the rotating, current-producing armature of which was built into a calorimeter, while the current was led away to the outside to be measured He found by comparison of the results on open and closed circuits, that here also only heat appears in the source of current, as in every other conductor, and he immediately regarded the heat appearing in the whole circuit as the equivalent, not of chemical transformation, as in the cells, but of the mechanical work used by the machine, just as in the case of Rumford's friction experiment. He now allowed the machine to be driven by falling weights, in order to measure the mechanical work, and he thus determined the number of foot-pounds which are equivalent to a calorie.

While Joule's law for the heat of the current had already been published before Robert Mayer's first paper (1840 and 1841), the experiments last described were published after Mayer, in 1843. The agreement, within the limits of accuracy then obtainable, of the equivalent found by Joule in so curious a manner, that is to say by introducing electrical current generation (calculated in metre-kilograms it was 460 for one degree centigrade and 1 kilogram calorie), with the result found by Robert Mayer in a totally different connection, namely by the warmth produced in gases (365 in the same units), must have immediately led to full recognition of the importance of Robert Mayer's discovery, and also of Joule's similar line of thought, that is of the energy principle, by all those who could understand it; there could be no further doubt that new insight of the widest possible range had been actually won into the interconnection of natural processes, as Robert Mayer believed from the start, and all that remained was to see how far the new ideas agreed with what was already known. This agreement was demonstrated in principle and on general lines by Robert Mayer in his

second paper in 1845; it was Joule's endeavour to test the agreement by means of measurement in the most varied manner possible, and this occupied him for thirty-five years with experiments of continually increasing perfection and refinement, lasting from 1843 to 1878.[1]

It was a curious fact in this connection that Joule did not at first (1843) regard it as particularly necessary to carry out more elaborate experiments after what had already been discovered. He says rather – after he had also forced water in a calorimeter through narrow tubes, with measurement of the mechanical work required, and again obtained a fair agreement of the heat produced (423 mkg/cal) – that he did not wish to waste further time on experiments, in the conviction 'that the grand agents of nature are indestructible by the Creator's fiat.'[2]

It was only gradually, and also as the result of requests from outside, that he became more and more absorbed in the investigation, with great exactitude, of further processes of transformation Thus in the period mentioned he measured the work done and the heat produced by compression of air, by friction of a paddle in water, by friction in oil, and in mercury, and finally once more by electrical heating, the latter with greatly refined apparatus. All the values for the equivalent agree with one another and with Mayer's value as far as the accuracy of measurement of the time allows us to expect, and the result of the two most careful investigations (425 mkg/cal) could for long be regarded as the best value known for the mechanical equivalent of heat, whereby Joule, originally a man of practical affairs with an enthusiasm for the highest type of scientific investigation, came to be

[1] From later and more exact measurements of the specific heats of air the figure 424 mkg/cal was found by Robert Mayer's reasoning, while later and more refined measurements by Joule of current heat gave 425 mkg/cal The closer agreement in the two figures corresponds to the improvement in the methods of measurement

[2] *Philosophical Magazine* series 3, Vol 23, 1843, *Collected Papers of J. T Joule*, Vol 1, pp 157–158

regarded as setting an example of the highest accuracy of measurement.[1]

James Prescott Joule was born at Salford near Manchester, being the second son of a brewer. The brewery was a family business, and had been founded by his grandfather. James Prescott was a weakly child, and was brought up entirely at home until his fifteenth year, when he began to work in the brewery, but at the same time received, together with his older brother, instruction in mathematics and science from Dalton. Immediately afterwards he also began to experiment himself, mainly with home-made apparatus, for which purpose he found room in his father's house. At the age of nineteen he wrote his first published paper, concerning a new kind of electric motor, which however he soon himself recognised to be of no advantage, at twenty-two his first publication on the production of heat by electric current followed. His father later built for him a laboratory After he and his brother had taken over the brewery, he married, but his wife died in 1854, in which year the brewery, so far under his direction, was sold. From that time onwards he lived in great retirement, entirely devoted to his scientific work From the year 1872 onwards his health was poor; from 1878 he received a pension from the Queen. He died at the age of seventy-one, at his birthplace, Salford.

Joule, like Faraday, had the rare good fortune to find in his youth a teacher who was worthy of him; in Faraday's case it was Davy, in Joule's, Dalton Neither of them went through a special course of training 'in their science,' any more than almost all other great men of science; they produced their own science. In Joule's case we get the

[1] Later and still more refined measurements (which gave the value 427 mkg/cal) could only be carried out when the fundamental unit of heat, the calorie, had been more exactly defined, but this of course is only important in cases where the accuracy reached is of a most unusual description

impression, as a result of his occasional remarks, that he read little of importance from recent times, and perhaps only kept himself informed by reports from technical journals. He also laid no claim to be regarded as an example of a learned man, but was, like Robert Mayer, the rare man of practical occupation, who sacrificed leisure and the richer enjoyment of life, or perhaps found the latter, in striving to come closer to the secrets of nature

Hermann Helmholtz was the eldest son of a school teacher in Potsdam; he attended the school and gymnasium there, and then studied medicine in the Friedrich Wilhelm Institute in Berlin.[1] The means of his parents did not seem to allow of his studying pure science, whereas in the institute in question future military doctors were trained for low fees after passing as entrance examination. From 1843 to 1848 he was an army doctor in Potsdam, in which time he also passed his state examination in medicine At the same time, he joined the new Berlin Physical Society, and soon became an abstractor to it. The manifold studies in literature, which he carried on at that time, also included fundamental mathematical work He was also occupied with independent physiological investigations At that time the physiologists and chemists were particularly interested in the question of the existence or non-existence of 'life force' and this formed the subject of Helmholtz's studies.

It was this that led to his publication in the year 1847 of a paper on the conservation of force, in which he carried the energy principle already founded by Robert Mayer and Joule, through all domains of physics, in parts going further than Mayer, and also stating it in mathematical form In particular, we there have as a new discovery the fact that Faraday's law of induction likewise agrees with the

[1] For biographical details of Helmholtz see Tyndall's introduction to Helmholtz's *Popular Lectures on Scientific Subjects*, London, 1893

conservation of energy, inasmuch as the cutting of lines of force, which is necessary to induction, always involves the expenditure of work, which is proportional to the induced current, from which it is seen that the heat of the current is the equivalent of the work done by induction (and not derived from the production of cold in some other place), Joule at the time had also shown that this was the fact. Helmholtz also shows in this paper that the law of conservation of energy may be deduced as a consequence of the exclusive existence of attractive and repulsive forces, the strength of which depends upon the distance apart of the bodies which act on one another – a proof, however, which has since lost the importance at that time ascribed to it, since it has become more and more clear that quite other kinds of force occur in nature, as Faraday already was aware

In 1848, Helmholtz received a position as a teacher of anatomy in the Berlin Art Academy, and a year later a professorship of physiology at the University of Konigsberg, whereupon he married He there invented the ophthalmoscope, which enables the retina of the living eye to be seen. In the year 1855 he went as professor of anatomy and physiology to Bonn, and in 1858 as professor of physiology to Heidelberg, where he married for the second time after the early death of his first wife. In the year 1871, he was called to Berlin as the first professor of physics, and in 1888, at the age of sixty-seven, he became president of the newly founded Physikalisch-Technische Reichsanstalt,[1] which post he retained until his death at the age of seventy-three.

Helmholtz's scientific individuality lay in his wide ranging capability of easily making himself at home in all domains of knowledge; the essentials were soon grasped by him, and were then ready to hand for further work. All the great connections within exact knowledge of all kinds had to be familiar to him in order to render possible his numerous and

[1] Corresponding to the English National Physical Laboratory.

manifold researches, which are mostly of a kind developing existing knowledge of nature and connecting it together and enlarging it [1]

The wide range of his gifts included a rare aptitude for mathematics; he thus succeeded in deriving, from the differential equations of hydrodynamics, the characteristic phenomena of eddy formation, and of the structure of jets in liquids and gases, in the most admirable fashion. This was not the achievement of further knowledge of nature, but an unusual mathematical success.[2] For the fundamental equation had already existed for almost a hundred years, and eddies in liquids and their flow as jets had been known for a much longer time; but no one till then had succeeded in showing that these phenomena are not only contained in the fundamental equations – and therefore do not conceal anything fundamentally new, but follow entirely from Newton's and Galileo's laws of motion, as Newton had already seen – but also that they may be completely deduced in detail from the fundamental equation, and represented as they occur, according of course to the fundamental laws, but in gases and liquids having particular properties. This at the same time made clear, in a manner superior to all observation and going beyond Newton's earliest statements, what is the essential and characteristic feature of these phenomena, what are their simplest forms, and what can be further done with them, or thought about them.

The fact that this achievement was reserved for Helmholtz, who had never studied mathematics at the university at all, shows, in a striking manner, the complete uselessness of the extensive mathematical and other courses of

[1] See his collected papers (*Wissenschaftliche Abhandlungen*) Leipzig, 1895. English translations *On the Sensations of Tone*, trans. A. J. Ellis, London, 1875, *The Description of an Ophthalmoscope*, trans. T. H. Shastid, Chicago, 1916.

[2] See what has already been said in this connection under Laplace and Gauss.

training at present-day universities, in which innumerable students are plagued with the most out-of-the-way matters merely for the purpose of examination, and many of these again, as teachers in schools, pass on to the next generation the same endless and useless plague, instead of inculcating modest but accurate fundamental knowledge and the simple great fundamental sense of mathematical thought, whereas only few are capable of originating any kind of progress by means of mathematics, and have no need to waste their time in this way

As an example of Helmholtz's gift of correctly deducing the possibility of unknown natural phenomena from known, we may mention his early reference to electrical oscillation,[1] six years before this process, so well known to-day, had been calculated by William Thomson on the basis given by Faraday, and ten years before it was actually observed. Then we have his proof that light of sufficiently short wave-length would pass through everything in straight lines, three years before rays for which this is true were discovered, and twenty years before the rays so discovered (and quickly used in medicine), were actually shown to be ether waves of extremely short wave-length Helmholtz then also produced works of a general description, which contributed greatly to his public reputation, some of these being of a popular character We may mention his larger works, the *Physiological Optics*, and his *Theory of Sound*, and also many lectures and papers, in which his understanding for art, and particularly for music, played a part, and in which he was able to gain a very large circle of readers, since he met the taste and views of his time halfway, as for example, when he allows himself to give an estimate of Aristotle.

[1] In the paper on the conservation of force, 1847.

RUDOLF CLAUSIUS (*1822–1878*)
WILLIAM THOMSON, LORD KELVIN (*1824–1907*)

AFTER the principle of the conservation of energy had been recognised, and its limitless validity had become increasingly more evident, it became time to follow out further Carnot's ideas concerning the effect of heat, in the direction in which he himself was already pursuing them, as we have learned much later from his posthumous papers The prosecution of this plan was for the most part the work of Clausius in Germany and W Thomson in England, though both of them were the authors of other by no means unimportant achievements Clausius, who was the older, was also the pioneer, and Thomson immediately followed, and supplied a great deal of additional matter, which extended to the most out-of-the-way conclusions It was the recognition of a new fundamental law relating to heat which was here the essential step forward, cleared up Carnot's doubts, connected together into a single system older and more recent knowledge of heat, and allowed many further conclusions to be drawn.

This new fundamental law introduced by Clausius is called the second law of the mechanical theory of heat, or thermo-dynamics, the first law being the energy principle The second law is also founded upon experience, but it was not necessary, as William Thomson at first thought, to collect further experience in order to arrive at a new point of view It is only necessary, as Clausius could show, to make use of a law derived from existing experience, namely 'that heat never passes of itself from a colder to a warmer body.' The fact that this statement is correct is shown by all transference ofh eat, by means of conduction, convection, or radiation, not however without it being necessary to give to the words 'of itself' a particular suitable interpretation. This law of experience can already be described as the second law of the theory of heat; but it may also be given other forms,

in particular such as are directly suited to calculation, this was done by Clausius.

For this purpose he introduced a new quantity, the 'entropy,' which he defined, but which we cannot here discuss any further We can only remark that the second law also enables us to determine what fraction of the heat supplied can be transformed into work in a heat engine of the best possible description, that is to say, as Carnot showed, one completely reversible. This fraction is given by the ratio of the available range of temperature to the absolute temperature, that is to say, the temperature of the body reckoned from – 273° C, at which the heat to be transformed is taken This result was of great importance for all progress in the construction of heat engines, from the steam engine to the most recent type of internal combustion engine.

Regarding other results of thermo-dynamics, we can only mention the deduction of the relationship between melting point and pressure, and the discovery of the peculiar properties of saturated vapours The former is of importance in connection with our estimate of the state of the earth's interior, and also our knowledge of glaciers, the latter regarding the finer observation of the processes connected with water vapour in the earth's atmosphere, and in the steam engine

Before we go into further achievements of these two men of science, we will shortly consider their lives

Clausius was born in Koslin in Pomerania, being the sixth son among the eighteen children of a school inspector. He attended the gymnasium in Stettin, studied in Berlin, went early into teaching as a means of assisting the education of his younger brothers and sisters, became a member of the university of Berlin at twenty-eight, and five years later was called to the technical university in Zurich, where he remained for twelve years and founded a family. He then became professor at Wurzburg, and soon afterwards at

Bonn, where he remained for the rest of his life. When at Bonn he also took part in the campaign of 1870; a wound in the knee occasionally caused him trouble, but he was still able at the age of fifty-six to ride as a means of exercise He died at the age of fifty-six Just as in the case of Robert Mayer, contemporaries also report of Clausius, even in his schooldays, his strict love of truth, trustworthiness, straightforwardness, and devotion to duty, as particularly characteristic qualities.

William Thomson, though Scottish in origin, was born at Belfast, in Ireland. His father was a teacher of mathematics there; he undertook the entire education of his son up to his tenth year, and in a great many directions He was then called to the university of Glasgow, where he entered his son at this early age among the students The result was satisfactory, William paid particular attention to Fourier's work on the conduction of heat, which is full of points of view new at the time, and of mathematical art, and also to Laplace, he soon also published a first small paper in connection with Fourier. At the age of sixteen he then went to Cambridge and later for a year to Paris, where he worked in Regnault's laboratory[1] Shortly after his return to Glasgow, the professorship of natural philosophy became vacant, and William Thomson, at that time only twenty-two years of age, received the post. With very modest means, he immediately laid out an experimental laboratory in an empty wine cellar, it was not until 1870 that a new laboratory was built.

Thomson remained faithful to Glasgow for the rest of his life, together with a pleasant and stimulating degree of teaching activity, he had leisure for scientific work; he was able to overcome the smallness of the means at his disposal by exploiting his technical inventions. Among these were

[1] Regnault, born in 1810 at Aix la Chapelle, died in 1878, was famous for his exact calorimetric measurements.



48 Hermann Helmholtz



49 Lord Kelvin



50 Rudolf Clausius

his quadrant electrometer, which soon became indispensable, together with various forms of direct reading ammeters, which at that time were a complete novelty, and his exact appliances for investigating atmospheric electricity, furthermore, his improvements in the ship's compass and apparatus for taking soundings But one of his most important inventions was his receiving apparatus for cable telegraphy (1867), the well-known siphon recorder, which for a long-time was used exclusively for reception from long distances; such reception was only made possible by its use.[1] These achievements, so rapidly made and of such general interest, no doubt gave much satisfaction to Thomson himself, though they could only be for him a subsidiary matter; but they had without doubt the greatest influence upon his public reputation and also upon his elevation to the peerage, which occurred in 1892, when he took the title of Lord Kelvin They also enabled him to maintain a large country house and a yacht. A wife who always took the greatest care of his well-being was his lifelong companion At seventy-five he gave up teaching, he died at the age of eighty-four.

A particularly important achievement of Thomson's was his first calculation of electric oscillations. He was the first to make clear how the self-induction of a circuit discovered by Faraday must result in the production of alternating electric currents in an open circuit of conductors, and he had calculated in every detail, from the law of induction and Ohm's law, the nature of such oscillations, that is to say their period, damping, and the whole course of their intensity, as dependent upon the capacity, self-induction and resistance [2]

Such oscillations, the existence of which had already been suspected by Helmholtz, could then actually be produced

[1] The laying of the cable, which was also not a simple matter was first successfully accomplished by Werner Siemens, see his memoirs

[2] *Philosophical Magazine*, Vol 5, p 393, 1853

and examined. Maxwell added the idea of electric waves, which should emanate from such oscillations, and showed what the properties of these waves should be, and Hertz, somewhat later, was actually able to discover and study these waves All these discoveries we shall still have to consider in their chronological order

In order to form a true estimate of Clausius and Thomson, but particularly of the former, we must now once more turn to the phenomena of heat.

Clausius was not only (from 1850 onwards) the founder of thermodynamics, but also (from 1857 on) developed the kinetic theory of gases While the former starts from the two laws already mentioned, according to which heat is treated as a form of energy without further enquiry into its nature, the latter discusses the motion of the molecules, which is the essential nature of heat, here heat actually appears as that which Rumford already supposed it to be, namely motion Knowledge of nature was now sufficiently advanced for this to be asserted with certainty, and also for the nature of the molecular motion to be stated This could be done most completely for the gaseous state of matter. Joule had already (1851) made a well-founded beginning of this, which was no longer a simple and arbitrary hypothesis, but was based upon his studies on the mechanical equivalent of heat [1]

Clausius now calculated, in a manner free from all objection, the velocities of the molecules and later their free paths, that is to say, the distance through which they move in a straight line between collisions The velocities are very great, the free paths very small at ordinary temperature and pressure, so that the collisions of the molecules are very frequent These collisions take place according to the laws already founded by Huygens for perfectly elastic bodies.

[1] Joule's *Collected Papers*, Vol 1, p 290 'Some remarks on heat and the constitution of elastic fluids.'

The temperature measured from absolute zero (-273° C) is shown to be proportional to the kinetic energy of the gas molecules, the pressure of a gas is the simple effect of the collisions of the gas molecules with the walls of the vessel. The tendency of every gas to spread through all space, already recognised by Guericke, is simply a consequence of the straight line motion of the molecules according to Galileo's inertia law, and is not caused by repulsive forces between the molecules. The gas laws of Boyle and Mariotte, of Gay-Lussac and Dalton, and of Avogadro, then follow of themselves as purely mechanical consequences of the molecular motion Avogadro's law was first put beyond all doubt as a result of these connections, by its being linked with a large number of well-established facts, both new and old

All this also led to Dalton's and Avogadro's views on the atomic structure of matter, and the union of atoms to form molecules, almost suddenly acquiring practically complete certainty, which up to that time had been gradually approached throughout fifty years, and upon this basis a very great deal more, now almost limitless in extent, was built up.

Furthermore, it was not only possible to state the relative weights of atoms and molecules, towards which science had been feeling its way since Dalton, but to estimate their diameters in ordinary units of length, and soon also their absolute weights, and hence the number of them contained in a cubic centimetre of every gas at given temperature and pressure The internal friction (viscosity) of gases, their diffusion, and their heat conducting power, already studied by Newton and Coulomb, could now be understood in every detail and also quantitatively, with the result that their peculiarities, in part quite unexpected in nature, could be predicted, and then confirmed by measurement. For example gases, as opposed to liquids, increase in viscosity when heated, that is to say, become less fluid. The result was that quantitative relations were obtained, which could then

be used in a converse sense for still further investigation of the peculiarities of the gas molecule The specific heats of gases, with their peculiar laws, could also now be understood, and thus became a new means for the accurate estimation of the number of atoms in a molecule. It was found possible to distinguish monatomic molecules, such as those of the metallic vapours (and later the rare gases), from di- and poly-atomic molecules. All this was put upon a firm basis by Clausius. The further rapid development of these matters, which was completed as regards essentials within ten years, was due, besides to W. Thomson, to Maxwell, Boltzmann, and Loschmidt [1]

After this development in our knowledge, an old problem was also finally solved, namely that of the liquefaction of gases. The present method of manufacturing liquid air on a large scale depends upon the discovery made by Thomson in collaboration with Joule in an experimental investigation carried out with great persistence, and we will now discuss this Originally, all the gaseous substances discovered by Scheele, Priestley, and Cavendish gave rise to the fundamental question whether they could by any means be reduced to the liquid condition

Faraday was the first to work on this problem, which he did in 1823, when still Davy's assistant. He made use of the means which had been known since Dalton's investigations of vapours, for the liquefaction of the latter: pressure and cold. He succeeded in liquefying by simple means chlorine, carbonic acid and other gases. He caused the gases to be generated in sealed glass tubes, and thus produce their own pressure, and cooled one end of the tube, which was bent downwards, in a freezing mixture. It was then found out that this liquefaction could be carried out on a large scale by

[1] Loschmidt was born in 1821, and was the son of poor peasants near Carlsbad in Bohemia, he died in 1895 as professor of physics at the University of Vienna.

means of pumps, but nevertheless, this process failed, even with the highest obtainable pressures, in the case of a number of gases, such as oxygen, nitrogen, and hydrogen.

Faraday therefore took up the investigation again in 1844; now starting from observations published since the time of his first experiment by Cagniard de la Tour, a French engineer[1] In his experiments, liquids such as ethyl ether, carbon bisulphide, and water, were heated in closed glass tubes, and it was observed that they are completely transformed into vapour above a certain temperature, although the pressure, which was measured accurately in several cases, becomes very high, and although the density of the vapour as calculated from its volume cannot be much smaller than that of the liquid He determined for each liquid a definite temperature, later called the critical temperature, above which they did not remain liquid in spite of the highest attainable increase of pressure, for example, this temperature for ethyl ether was 187° C.

Faraday realised that this must also be of importance as regards the converse problem, namely the liquefaction of gases, which would accordingly be more a question of sufficiently low temperature than of the degree of pressure used. He therefore made a large number of new experiments with many gases, in which he made use of simple pumps, and a freezing mixture of solid carbon dioxide and ether, which at that time was already known, and the effect of which he further increased by pumping off carbon dioxide, whereby a temperature of about —100° C was reached.[2]

He thus succeeded in liquefying a further number of gases; but oxygen, nitrogen, hydrogen, nitrous oxide, and carbon monoxide still resisted liquefaction. Faraday also investigated the vapour pressure of the various gases which he

[1] Cagniard de la Tour (1777–1859) was also the inventor of the siren which has become important for acoustical investigations, and is now also used for signalling on ships, and so on

[2] Described in the *Philosophical Transactions of the Royal Society*, 1845.

liquefied, and its dependence upon the temperature; he concludes in the case of carbonic acid that its 'Cagniard de la Tour state' (critical point) lies in the neighbourhood of 90° F. (32° C) at which the gas and the liquid are equal in density, and that it therefore does not become liquid at higher temperatures, whereupon he points out that the other gases which he could not liquefy must require the use of still lower temperatures than he was able to produce. This result was confirmed fully twenty-six years later (1873) by Thomas Andrews,[1] who followed with still greater exactitude and much improved apparatus, the connection between pressure and volume of carbon dioxide at different temperatures; he found, in surprisingly good agreement with Faraday, 31° C to be the critical temperature of carbonic acid, and gave detailed curves showing its complete behaviour.

Upon this basis, Van der Waals (1837–1923; lived in Leyden and Amsterdam) immediately put forward the admirable equation known under his name, which summarised the relationship above stated in a simple manner holding for all gases, and also giving the long known departures from the gas laws of Boyle and Mariotte and also of Gay-Lussac and Dalton; it also summarised all questions of the liquefaction of gases (1873). This achievement represented the interconnection of a large number of single facts, which could thereby also support one another. This equation further connects in the best possible way with the results of the kinetic theory of gases, which likewise leads to perceptible departures from the simple gas laws, as soon as the actual volume occupied by the molecules becomes appreciable in relation to the total volume of the gas, or when the forces begin to come into play, with which the gas molecules attract one another. Van der Waals' equation gives

[1] 1813–1885; began as a practising physician, and then became professor of chemistry at Belfast.

for every gas a special figure for this molecular volume and for the molecular forces The molecular forces are, in agreement with Laplace's theory of capillarity, very small in the case of gases, since the gas molecules when in motion are at an average distance apart much greater than the range of action of these forces, but they do not entirely vanish.

The existence of small molecular forces in the case of gases could already be concluded, long before this time, from the remarkable investigation of Joule and Thomson in the years 1852–1862, which we have already mentioned The investigation showed that cooling took place when a gas expanded without doing external work According to the energy principle, such cooling could only take place when work was done in some way within the gas itself by the increase in volume, which work would then result in a corresponding disappearance of heat This would be the case if attractive forces between the molecules existed. The experiments carried out in 1806 by Gay-Lussac had not shown any cooling; this cooling, and hence the effect of the molecular forces, could thus in any case only be very small. Joule and Thomson finally succeeded, after overcoming many difficulties, in actually demonstrating a small decrease in temperature (a few tenths of a degree), by pumping the gas in a circle, and arranging that it should expand suddenly at a constricted part of the pipe line External work was not done by the gas, since its total volume in the circuit remained unaltered; nevertheless, the small fall of temperature already mentioned was found to take place at the constriction The presence of molecular forces, but also their smallness in the case of gases where the molecules are far apart, was thus proved, in full accordance with the small departures from the laws of Boyle and Mariotte

When so much information had now been obtained concerning gases, the ground was well prepared for an attempt to liquefy oxygen, nitrogen, and also atmospheric air, this

was successfully accomplished in 1877. The higher degree of cooling, already recognised by Faraday as necessary, was attained in these very excellently conducted experiments by very simple means, already known since Dalton's time, of allowing the strongly compressed gas, cooled as far as possible, to expand suddenly.[1]

Although liquefaction only existed for a short time in the form of a mist or a few drops, it was actually seen, and the certainty that liquid oxygen exists was obtained It was now settled that the opinion generally held by the uninstructed public after the failures of so many years, that air is a 'permanent,' or 'incoercible' gas, was incorrect. After the existence of molecular forces, however small, had been proved, this possibility could have been regarded as a certainty; for molecules which have any perceptible attraction for one another, must, at a sufficiently low temperature, and hence at a sufficiently small distance apart, cohere to form a liquid, and finally a solid, as a result of the correspondingly increased molecular attraction.

The method just described, and also that used in ordinary refrigerating machines, was not suitable for the preparation of liquid air on a large scale; here the experiment of Joule and Thomson, carried out in a suitable manner, leads to success. This experiment, in which the gas is pumped round in a circle, only produces a very small fall in temperature, and it might therefore have been regarded as entirely unfitted for the purpose; but Joule and Thomson had shown that the small fall in temperature at the constriction increases considerably when the gas is cooled; this is readily understood, since at the lower temperature the molecules are closer together, and hence their attractive force is greater. Accordingly, in the present liquid air machines, the circuit of

[1] L Cailletet in Paris, he had already carried out, before Andrews, measurements on gases at high pressure, which Van der Waals was able to make use of in support of his equation

the gases is so arranged that the gas cooled after passing the constriction flows back over the pipes carrying the gas arriving at the constriction, and thus cools it. In this way, the fall of temperature continually increases if sufficient time is allowed, until the critical temperature (—119° C in the case of oxygen, — 146° C for nitrogen) is reached and passed, and from this point the apparatus begins to deliver a continuous stream of liquid air, it being of course necessary to continually replace the liquid drawn off by a corresponding amount of gaseous air. One litre of liquid air requires about one cubic metre of gaseous air, which fact gives us a direct idea of the comparatively great molecular distance in the gaseous state as compared with the liquid state The success of this method is one of many examples of the fact that every natural phenomenon, even though at first it appears in so minute a form as hardly to be perceptible, can nevertheless be raised in its effects to any degree, as soon as the laws of it are known.

After air, hydrogen and the most hardly liquefiable gas of all, helium, have been liquefied, and finally also solidified Although the difficulty was very great, no new fundamental knowledge was gained by the process However, the liquefaction of these gases gave us the means of carrying out entirely novel investigations at the lowest temperature; for if liquid helium, for instance, is being used, we are certain of maintaining steadily a temperature which cannot be greater than the critical temperature of this substance – 268° C, that is only 5° C above absolute zero, below which the temperature scale does not extend, since at that temperature the motion of the molecules ceases, and their kinetic energy, which is the measure of their temperature, becomes zero.

CHARLES DARWIN (*1809–1882*)
CARL LINNAEUS (*1707–1778*)

AND THE INVESTIGATION OF LIFE BEFORE AND AFTER HIS TIME

LIVING matter only became an object of science at a late period. The main reason for this is certainly a reluctance to disturb living things, to interfere with them, not to say to destroy them, when they do not confront us as enemies, a reluctance which is particularly characteristic of the type of humanity which is inclined to scientific investigation. The purely utilitarian object of increasing knowledge does not suffice the human mind of a high type, and cannot reconcile him with the idea of torturing an animal or even of making use of a corpse, what has, or has had life has always, and in all ages, been sacred to him But the coming into play of a much higher intention, namely that of actually aiding life by means of knowledge thus obtained, finally induced men with high gifts to examine thoroughly what goes on in the interior of the animal and man

It was thus the art of healing which led to a science of living things (anatomy, physiology, and biology), when it became more and more clear that life could not be effectively aided without such knowledge. Assuredly also, the quite obvious complexity of all processes taking place in living matter was a great hindrance, and this must have been sufficiently alarming, as long as even such a simple process as the fall of a stone had not been grasped in all its details. However, not only had all lifeless machines been already well investigated from Archimedes to Stevin, but even the laws of motion of the planets in their orbits had already been found by Kepler, before anything at all was known of the circulation of the blood in animal and man; indeed such a circulation was almost refused any consideration It was a physician, William Harvey (1578–1657) in England, who first elucidated the movement of the blood, and the function

of the heart as a central pump (1628), long after water pumps with pipes had become quite familiar, while the ideas current concerning the heart and the veins had remained confused and unclear[1] This shows how slow was the progress in the investigation of living things

This example also tells us that people were for a long time disinclined to apply experience gained with non-living things to living It has always been an unmistakable fact that the living creature has something peculiar to itself, which in human beings and the higher animals is so obvious in the form of freedom of will, and that this is wanting in the case of the non-living. The peculiar difference was no doubt accounted for by assuming the two worlds, the living and the non-living to be totally different from one another, and no one was willing to imagine that the same laws of nature could hold for both In a similar way, there was a reluctance to assume the same laws of motion for celestial and terrestrial bodies, until Newton was able to prove beyond doubt that these laws really are the same We have already shown, in treating of the age which followed Newton, that the revelation of this fact soon led to spurious 'enlightenment,' and accordingly, living things were now regarded, quite in contrast to earlier times, as pure mechanisms, of the same nature as non-living things; although it was not known whether really all non-living things were pure mechanism, such as were known from the investigation of material bodies

At that time, the physics of the ether was only, as a result of Huygens' work, in its initial stages, nevertheless it was right, since in any case necessary, first to get to know from all sides the bodily machine of living things, and to investigate

[1] See the *Works of William Harvey*, London, 1847, particularly chapter 8, page 45 Harvey, the physician, also gave expression to the fact that every animal has its origin in some egg-like structure (*omne animal ex ovo*) The sexual reproduction of plants and the mechanism by which this is effected, was only satisfactorily determined about sixty years later (Camerarius in Tubingen, 1694)

it as thoroughly as possible. What goes beyond this could never be quite forgotten by the more farseeing, in particular by physicians, though it might be called, as already by Socrates and Plato, and then by Paracelsus, Descartes, and later writers, some such thing as soul, spirit, *archaeus*, or 'life-force,' and though recognition of it by the learned might pass through the greatest possible variations.[1] The investigation of the mechanism of living things made use of all the means and knowledge already provided by scientific research in general

In the course of two centuries, progress was made, from Harvey to Wilhelm Weber, in the investigation of the coarser mechanisms, the latter together with his brother, investigated for the first time the blood wave which causes the pulse, and must be distinguished from the flow of the blood, and the mechanics of locomotion. In the case of the finer organisms, the application of the optical investigations of Galileo and Kepler ever-increasing improvements in lenses and microscopes lead to starting from Toricelli's simple glass ball, which was so long used with success, in this way smaller animals also could be investigated as regards their internal anatomy, and their manner of life and reproduction, and the smallest forms of life were discovered Already in 1650, Leeuwenhoek and Swammerdam[2] proceeded to investigate the metamorphosis of insects, and to discover the blood corpuscles and the infusoriae; and a hundred to two hundred years later, the cellular nature of the structure of all living matter was made clear, the cells and their contents proving to be the essential carriers of life [3]

[1] The English reader may be referred to W. McDougall's *Body and Mind: A History and a Defense of Animism*, London, 1911

[2] Leeuwenhoek lived between 1632 and 1723 in Holland, he used only simple lenses which he ground himself. Swammerdam lived between 1637 and 1680, likewise in Holland

[3] Here the very gradual progress made appears to have depended almost entirely upon the gradual progress in perfection of the appliances and of the use of the microscope

In the finest elements of structure, right down to the atoms, progress was made in the investigation of living matter by the aid of the chemical knowledge obtained by Scheele, Dalton, Davy and Berzelius. New substances with characteristic properties were continually being discovered and investigated; they were taken from plants and animals, separated, and prepared in a pure state. Scheele himself had already made a good beginning, when he prepared in a pure form such substances as tartaric acid, citric acid, and malic acid, and found out how to distinguish them one from another. These substances were then analysed, and no other elements were found in them than those already known from non-living nature, the chief being always carbon, and along with it almost always only hydrogen, oxygen and sometimes nitrogen, otherwise surprisingly few further elements. In view of this uniformity, it became all the more important to discover the differences in their quantitative composition, for which purpose Berzelius, and twenty-five years later (1837) in a more exact manner, Liebig, developed suitable methods particularly adapted to the case of these few elements.

Berzelius was already able to show that in organic compounds, as the substances occurring in plants and animals were early called, fixed proportions by weight of the elementary components also hold good, and can be expressed in the numerical relationships of Dalton's atoms. The numbers of atoms which had to be regarded as combined with one another in these cases, were often fairly large, and hence difficult to determine with accuracy; but gradually the recognition of the recurrence of certain smaller groups of atoms (radicles) as a common constituent of the larger groups, was of great assistance. The structure of the latter could thus be determined without dependence upon quantitative analysis alone, and without the determination of molecular weight, for which purpose the methods given by

Gay-Lussac and Avagadro, as well as those discovered later, often failed in the case of these organic bodies

This led to an ever-increasing number of substances containing ever-increasing numbers of atoms in the molecule, and of ever-increasing complexity becoming known, and this forms the substance of the sciences of organic and physiological chemistry. These substances, all of them compounds of carbon, were in part taken from living creatures, but also in part had gradually been made artificially from their elements without the intervention of life, they were thus as it were imitated from life, and finally many more substances were made, at least of a simple description, than are actually discoverable in plants and animals.[1]

However, the largest molecules and those containing most atoms, which still provide so many questions for chemistry, are always found in living substances; they appear to form that part of the cell most important for life.

If we thus glance over all that scientific research has discovered in detail concerning living things, little of a fundamentally new description appears The only new fundamental fact concerning the nature of living matter is that the very largest molecules, containing an enormous number of atoms, form the seat of life with its wonderful phenomena, which obviously fall, as regards their origin, outside the frame of all our previous investigation of nature. Everything else which depends upon these centres of life, and proceeds from them, is more or less comprehensible on the basis of our experience with non-living matter. We recognise that these centres make use, in the most varied way, of all the processes which the physics of matter and of ether have already

[1] A particular example of this, which one often finds put forward as a milestone on the progress of chemistry towards living matter, with exclusion of a life force, is the synthesis of urea without the use of urine, which Wöhler (a pupil of Berzelius) succeeded in accomplishing in 1888 in Berlin It must be remembered, however, that urea never appears as a carrier of life; it is a waste product of life, and is as dead as carbonic acid or water vapour and all other products of chemistry hitherto made.

revealed to us, in order to bring about, purely by guidance or release, everything that happens in a living organism. Much of this is quite coarse mechanism, not going beyond our knowledge of the physics of matter, for example the lever action of the skeleton, and the pumping action of the heart.

In finer structures, for example the conduction of nervous stimuli, electrical processes have been recognised as taking part; the working muscle is undoubtedly a molecular mechanism, acting through molecular and atomic forces which can also be studied in non-living matter, and which, at least in part, are of an electro-magnetic nature and so belong to the physics of ether The peculiar fact is simply that the production and continual fresh formation of such well-arranged molecular mechanisms in the nerve and muscle, and indeed the synthesis of the necessary molecules from lifeless groups of atoms, such as their food presents to living beings, can only take place in the presence of the aforementioned centres of life. Nothing of the kind has ever been observed, nor has life itself therefore ever been found, without a previous living germ produced by a living organism [1]

[1] We may here indicate a point of view which occurred to the author more than twenty years ago from the consideration of what we know of life, but which must also occur no doubt to everyone, who, with the whole content of the physics of matter and of ether in his mind, regards as the first task of research in breaking new ground, the formation of notions so adapted to the actual and observable process of nature, that the latter becomes as comprehensible as possible by their means This view regards as quite possible the new formation of life, the spontaneous generation hitherto sought for in vain, as soon as sufficient suitable molecules containing enough atoms are available, and in an environment which is suitable and allows of metabolism What is then necessary for such molecules, forming a body, in order for them to live, is a suitable spirit Spirit is here a name for that which is obviously necessary, apart from the material, to life A name that enables the concept thus grasped, the thing discovered – unknown but still existing – to be firmly retained, in order that it may be investigated as far as possible by further experiment It follows from this that we must assume as existing in space in an available form spirits of many different kinds (derived from dead living beings), and that these have the property of uniting with molecules which suit them, as soon as they find such, whereby these become living beings or the germs of them, which then develop in a suitable environment in accordance with the spirit and guided by it These are ideas which are

It is particularly noteworthy that the general law of the conservation of energy has been found to be followed by all living beings, a fact already thoroughly considered by Robert Mayer. He already pointed out that the muscle transforms the chemical energy of the food brought to it by the blood directly into mechanical energy, whereas the steam engine, and all similar motors, make use of the intermediary of heat. The discovery of the second law of thermodynamics, by Carnot, Clausius, and Kelvin, has made this a certainty; for in the muscle the differences of temperature are absent, which are essential for the action of heat engines, and which determine their efficiency. The efficiency of the molecular muscle machines is therefore actually much greater than that of the best heat engines.

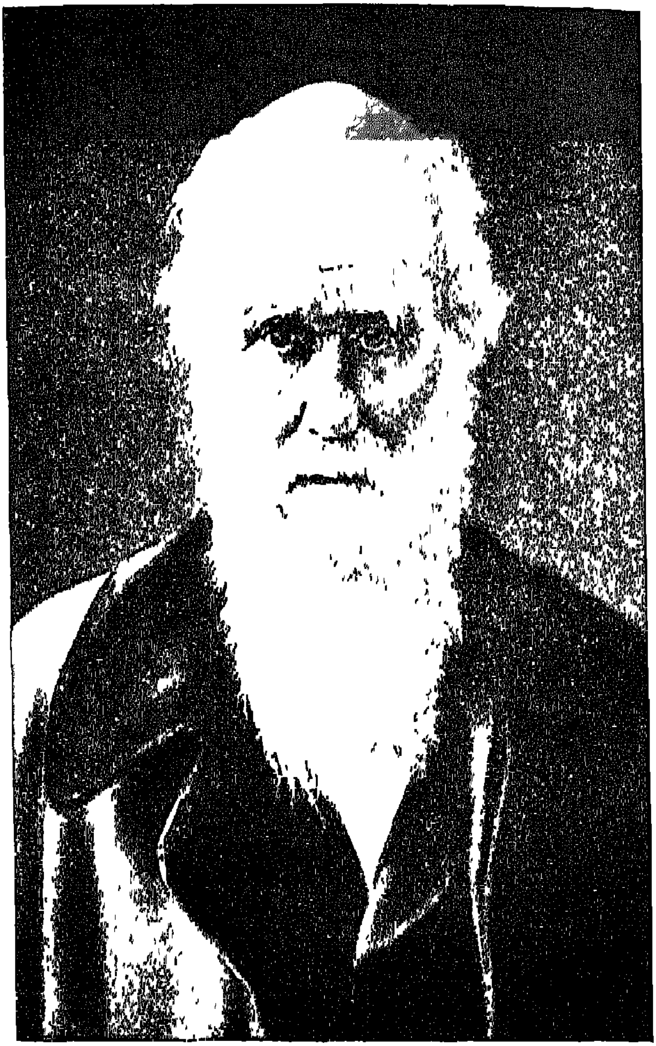
Summarising what we have said so far, life is, at the last resort, bound up with peculiar molecules, which are contained in the cells, in structures visible under the microscope, and beyond this fundamental secret, the phenomena of life do not offer anything fundamentally new in kind. The enormous industry of observers has further brought to light an almost limitless number of single facts, relating to the various species of plants and animals, their constitution, and their life history. Here it is of the highest importance to order the facts in an accessible manner. The first great constructor of systems and summariser of knowledge in the domain of living things, and on the basis of his own observation, was Carl Linnaeus; but he only appeared fifty years after Newton's *Principia*

Linnaeus was born in 1707 as the first son of a country clergyman near Verjo in the south of Sweden, and studied

suited to a comprehension of life, with its coming and going of ever new, and also differently constituted, forms, and with its phenomena, which so obviously transcend everything observed in lifeless matter and in ether These ideas could be of benefit for the further investigation of life, in the first place chiefly of the sub-microscopic forms which must be assumed, without any injury to the continued pursuit of what is more directly accessible to the senses.



51 Carl Linnaeus



52 Charles Darwin

medicine, first in his birthplace and then in Holland, but he always paid particular attention to plants. He then practised in Stockholm, where he married, until in 1741 he received a professorial chair and the botanical garden at Upsala, where he remained for the rest of his life as regards the main part of his work But repeatedly, also in his earliest youth, he undertook expeditions, and proved a tireless and wide-ranging observer of nature, and collector of plants, animals and minerals, which activity, combined with a wide study of literature, made him an incomparable expert regarding all kinds of living beings In later years, when he had already become famous, he was then further aided by receiving all kinds of natural objects from all parts of the world.

Gifted with a rare power of taking a wide view, he was able to create, in several large works, a classification and nomenclature for all living beings, which was immediately generally accepted, and acted upon botany and zoology like a new creation of their whole content. Everything that lived now had a fixed name, and was fitted into classes, orders, families, species, and varieties; a complete survey was now possible of the mass of single facts which had become quite unmanageable, the sciences of life had also likewise received a useful artificial language, which was actually an essential preliminary for all further prosperity, since it enabled one botanist or zoologist to understand others Hence the recognition which Linnaeus, ennobled under the name of Linné, already received during his lifetime was very great The Queen of Sweden, the sister of Frederick the Great, and also her son (Gustave III), showed him the greatest respect and assistance He died in 1778, aged seventy-one

It would be wrong to regard Linnaeus merely as the great systematist, as was done for a very long time.[1] Although his works are by far the greater part, and in the first instance

[1] I must here acknowledge my indebtedness to Professor E Almquist in Stockholm for many detailed hints in the second edition

devoted to systematisation, they contain besides a mass of special observations and of ideas going beyond these; and he influenced in a similar way a wide circle of pupils.[1] For example, at this very early period he already regarded the smallest living beings as the cause of infectious diseases, for which view he gives a number of pertinent reasons.[2] Particular mention should be made of the fact that Linnaeus, as a result of experience derived from his travels, and extensive breeding experiments on plants under the greatest possible change of conditions, soil, and climate, thoroughly satisfied himself concerning the astonishing invariability of existing species, but that he did not regard this invariability as unlimited. He observed the production of hybrid plants in the botanical gardens, and produced them experimentally; studied fertile and sterile hybrids, and saw in the production of such changed forms of plants a pointer towards a possible understanding of the production of new species in the course of long periods of time.[3] Furthermore, he regarded excessively favourable conditions of life as a special cause of the occurrence of new varieties. We see here how unjust it is that Linnaeus' great achievement of having demonstrated the very great and quite general stability of specific form, which is the foundation of all system in the plant and animal world, in later times gradually became almost a reproach to him, as though he had no desire to see any further, indeed, almost as if his personal characteristic had been the defence of complete invariability of species. Surely the fact alone

[1] Much of this is found in Linnaeus' *Philosophia Botanica* (Stockholm, 1751), and in the work published by Giesecke, *Prælectiones Caroli a Linné* (Hamburg, 1792).

[2] The many and varied achievements of Linnaeus are fully appreciated in detail in a work published by the Swedish Academy, *Carl von Linné's Bedeutung als Naturforscher und Arzt*, Jena, 1909. See particularly pp. 148 to 188 in Part IV.

[3] 'He dared to proclaim *plantas hybridas* and gave posterity a suggestion of *specierum causam*,' said Afzelius in a volume published by him in 1823, and containing notes and additions of manuscript jottings by Linnaeus concerning himself. German edition, 1826, p. 83.

that he found good reasons for ranking *Homo sapiens* simply in the animal kingdom, was a particularly effective preparation for ideas which came later Are we not to-day also still far behind Linnaeus, when we are unwilling to recognise the existence of human strains with their distinctive characteristics, and the necessity for selective breeding, although this is recognised in the case of all domestic animals?

A second great creator of order appeared a hundred years later, Charles Darwin namely; but he was also much more than a mere systematist. His great and original survey of all living things no longer starts from existing life as we know it at the present time, but rests upon the beginning of an understanding of the gradual development of life upon earth, a development upwards from the simplest to ever higher forms of living organisms The view generally held and regarded as valid, which Darwin found when he began his work, in spite of Linnaeus' ideas having already reached further, regarded the different species of living creatures as having been set upon the earth from the beginning in their existing forms, and having then reproduced themselves from one generation to another in an identical form However, petrified remains of animals had been found in excavations in the earth's crust, the forms of which were different from those of present-day animals, and it had to be concluded that these were of various ages, in accordance with the arrangement of the layers of rock one above the other. It thus appeared that in course of time certain forms died out, while new ones appeared, as though one had gradually taken the place of the other.

This gave a proof of the appearance of different species at successive times in the history of the earth, and hence almost of a gradual development of these species.[1] This fact

[1] Lamarck had already concluded from this fact, and for other reasons, in his *Philosophie zoologique* (Paris, 1809), that the assumption of the invariability of plant and animal species is untenable, and gave decided expression to this view

suggested to Darwin the idea which showed the wonder of the manifestations of life as connected with the still greater marvel of the coming into existence of life on this planet. His idea made it seem possible that these marvels could be investigated by scientific methods, by methods therefore which only strive after the determination of realities, and which had already revealed so much that had appeared incomprehensible; though not, it is true, without having shown behind every marvel thus explained a still greater marvel, precisely in accordance with the position of man's limited mind when confronted with the whole of nature.

The course of applying scientific research to these wonders of nature was followed by Darwin with great persistence, by collecting an unheard-of mass of relevant facts which, when properly arranged, all pointed in one direction They appeared to show that life on the earth had started from small beginnings, and gradually developed in the course of the long periods of time since the cooling of the earth's surface, to ever higher forms and ever-increasing complexity; and that this had occurred as the result of small variations appearing in the progeny of organisms, combined with the effect of a continual selection of the fittest forms, namely those forms best able to maintain themselves in the given environment for further reproduction, and a continual destruction of unsuitable forms as a result of the perpetual battle with the environment, which battle is actually a characteristic of all development of life. This very general idea is developed by Darwin in every direction in his book *On the Origin of Species*, which appeared in 1859 On account of the indefatigable way in which he investigated everything that told for and against the idea, and estimated it solely from the point of view of truth, and because the idea thus connected with a large range of facts is correspondingly fruitful, and has become of the highest value as regards further progress in our knowledge of life, we have put forward

Darwin as an eminent investigator of life, in the same category as the great investigators whom we have considered from past times

Charles Darwin, who came from a well-to-do landed family, was born at Shrewsbury in the West of England, as the fifth child of a physician [1] From his earliest youth he was an enthusiastic observer of all kinds of living creatures, and showed also a lively interest for all sciences When he was studying at the universities of Edinburgh and Cambridge, first medicine, then botany, and at his father's wish also theology, he made use of the opportunities of university life mainly in a free manner, and obtained by his own choice and responsibility a many-sided education At the age of twenty-two, stimulated by the study of Humboldt's works, and with a desire to see the tropics, he made a voyage round the earth on a small vessel, which lasted for five years. From this he brought back so much experience, and such a mass of plant and animal collections, that he was occupied for several years in working over them Thus began his very industrious, and from that point onwards, very retired life, first in a small house in London, and then permanently on a country estate, which he bought (having meantime married) and made into a fine country seat with garden, park, and hot-houses.

The idea soon came to him that it should be possible to find out something about the origin of species. After spending five years in collecting appropriate facts, he allowed himself to give them a thorough consideration, which led after two further years to the first definite conclusions, which he regarded as probable, and then subjected to continued further tests Not until after a lapse of a further fifteen years was the work already named published. Many special papers and works by him which appeared before and after, containing a rich mass of new observations, also

[1] See *Life and Letters of Charles Darwin*, by his son Francis Darwin

experiments in the breeding of plants and animals, and new ideas in these fields, thus standing in a nearer or more distant connection with the work we have named, can only be mentioned here without detail. Thus Darwin's life, in spite of poor health, was always filled with steady research, until he died at the age of seventy-three.

Like Newton, Watt, and Lord Kelvin, he was buried in Westminster Abbey in London. A particularly fine memorial to him is in the great hall of the Natural History Museum in London, where a mighty marble statue shows him seated amid the rich exhibits from the plant and animal world, the wonderful and astonishingly manifold forms of which he taught us to see in quite new connections, and with much profounder ideas, and which now appear to us as a large and closely connected family of blood relations, right back from the furthest ancestors, up to the human being who thus regards them Darwin's work, after encountering at first very violent opposition, received the fullest recognition, which Darwin himself lived to experience. But there also followed great exaggeration, together with a new wave of materialism, inasmuch as it was made to appear, in a manner quite foreign to Darwin and his works, that nothing remained hidden any longer from our understanding.[1]

This may have been aided by the fact, that in Darwin's time the invariable validity of the energy principle, both for living and for lifeless matter, was practically assured, so

[1] Many may have been led astray respecting Darwin's nature by the fact that it was his lot at the close of his work on the origin of species, to find himself opposed by a generally held view of the complete invariability of species, and of their production by some such process of creation as is described in the Old Testament Darwin was regarded by many as a destroyer of spiritual values, and his views were welcomed, and carried further, in this sense by some Such complete misunderstanding of his work, as contrasted with the search after truth to which his whole life and all his writings bear witness, is again only a part of the thousand-year-old curse, which the Old Testament, regarded as a source of cultural fact and moral elevation, has brought over that part of humanity which seeks the light.

that those of a more superficial nature could now regard the whole world as a mechanism running according to known laws which only needed to be further investigated in a few details, and which now could be regarded as well-earned property open to the exploitation of enlightened mankind. But who, well acquainted with all known natural laws and yet not quite petrified in mind, can even see a plant in Spring, together with the coming and going of the flying insects which it attracts, and not recognise all this and everything that it suggests to our mind, as magical, and entirely unlike the dreary mechanism which such people imagine? To gain further insight into life will certainly require great humility

In actual fact it was again, as in the case of the great men of science of all kinds, a quiet devotion to nature, great patience, and a complete absence of all desire for fame, which again brought further progress after Darwin's time. The Augustinian monk Johann (called Gregor) Mendel united in himself all these qualities, he set to work at the point at which Darwin saw the greatest deficiency 'the laws which govern heredity are completely unknown'[1] Mendel opened the way to a knowledge of these laws by studies in heredity carried out on suitable living creatures, and himself attained important results, which could even be expressed in figures, and the prosecution of which still occupies a great many scientists

We now know through Mendel, that the formation of hybrids, which takes place to such an extent, particularly in life when withdrawn from free nature, does not mean an inseparable mixture, or an obliteration of the qualities of the parents. Every living creature passes on unchanged to its descendants all the characteristics that it has itself inherited, though not all of them to every one of its descendants, since both parents are here concerned, although often in an invisible manner. New kinds of living creatures, also

[1] Darwin, *Origin of Species*, London, 1859, p. 13

new races, therefore do not arise by cross-breeding, the only result of which is to produce a mosaic-like combination of qualities, governed by certain laws, which combination may again fall apart Suitably conducted selection by breeding can again remove from hybrids inherited qualities which are present, and can also again bring other qualities, when they have once existed, into the race again.

Mendel's results obtained by breeding experiments have been shown to be in most significant agreement with the results of microscopical investigation of the contents of the body cells and sex cells of living creatures In this way, the study of the smallest living structure which can be seen under the microscope, the cell nucleus – and perhaps also that of the groups of atoms which compose it, and which cannot be seen separately – may be brought into connection with the study of the peculiarities of inheritance known to us in connection with the great cell-states animated by a single spirit, that is to say, the most highly developed living creatures, a study already forming the science of race. This would perhaps open up the possibility of approaching nearer to the great question of how we are to imagine, in a more satisfactory manner than has been possible since Darwin, and especially since Mendel, the coming into existence of inheritable characteristics of an entirely new description, not inherited from any ancestor, and yet transmissible, which must certainly have occurred in the course of the upward development of species upon earth. This question appears to be one which it will not be possible to answer upon the basis of the material world alone.

But these distant goals again will only be approached by natures of a kind as unprejudiced as Mendel. They will have to be men of science capable of assimilating facts of every kind which have become known, and then working them over like Darwin or Mendel, in seclusion, and adding to them, their attention far removed from those 'isms' in

which small minds are accustomed to enclose the fragments of the achievements of great men, fragments which correspond to their own mental capacity. These investigators will have to go their own way in an entirely independent manner, led by their direct knowledge of facts

Johann Mendel was born in a little village in what at that time was called Mahren, on the Silesian frontier, as the son of simple peasants He was to take over the small piece of land owned by his father; but the familiarity he had gained with the life of plants awakened in the boy a desire for scientific study, which the parents only yielded to reluctantly, and were only able to fulfil by great self-sacrifice. The director of the Gymnasium, which Mendel was then allowed to attend, was an Augustinian priest, he no doubt led Mendel likewise to take the life of a monk, which allows of so much leisure for scientific activity, and mental retirement. At twenty-one years of age he was received into the Augustinian priory in Brunn, under the name of Gregor, after having finished his theological studies He now had the possibility of studying botany, physics and chemistry at the university of Vienna, where Doppler was also one of his teachers In the examination for teachers he failed, obviously on account of too great freedom of mind, but he was nevertheless able to act from the year 1854 onwards for fourteen years as an excellent teacher of natural history and physics at the school in Brunn. In these years also his most important experiments in breeding were performed, mostly on peas and beans, for which purpose the monastery garden was available. In 1868 he became abbot of his monastery, the duties thus undertaken, which he, like Copernicus in a similar case, fulfilled most faithfully under very difficult circumstances, made a premature end of his scientific investigation. He died in 1884, at the age of sixty-two.[1] The

[1] A detailed biography of Mendel has been written by Dr Hugo Iltis (Berlin, 1924)

long postponed publication of his results only took place in great brevity and in a hardly accessible place,[1] they were therefore ignored for a long time. Only from the year 1900 onwards did the important and extraordinary significance of his discoveries become clear to everyone, and they now continue in their effect.[2]

ROBERT WILHELM BUNSEN (*1811–1899*)
GUSTAV KIRCHHOFF (*1824–1887*)

BUNSEN and Kirchhoff, from the days when spectrum analysis was a great and new conquest of the human mind, and old Heidelberg was the place sung by poets and singers, are a combination, which, in spite of all that has passed since their time, is still unforgotten, and will always remain so. Two rare men of science came together at the most fruitful time of their lives; they joined forces in the most fortunate manner for the purpose of investigating an entirely new road to the discovery of facts. This road led far beyond the known, and actually – such an event had hardly happened since Newton's time – beyond the earth and the solar system into cosmic space, to the discovery of the material composition (chemical analysis) of the most distant stars, concerning which, until then, only very slight changes of position measurable in the telescope were known, all questions of their

[1] Mendel's papers 'Versuche uber Pflanzenhybriden' appeared in the *Verhandlungen des naturforschenden Vereins* in Brunn, 1866 and 1870, reprinted in Ostwald's *Klassiker*, 4th Ed , Leipzig, 1923

[2] See W Bateson's *Mendel's Principles of Heredity*, 4th Imp , Cambridge, 1930 Mendel's original papers are here translated in full A well-known small book is Punnett's *Mendelism*, Cambridge, 1927.

Letters from Mendel (written between 1866 and 1873) which show with what difficulty his ideas were understood by specialists at the time, and how little, therefore, Darwin's warning quoted above was understood, even by those who supposed themselves to be adherents of Darwin's doctrines (Darwinism), have been published in the *Abhandlungen der Sächsischen Gesellschaft der Wissenschaften*, vol 51, 1906, p 187

internal constitution being quite insoluble Bunsen and Kirchhoff rendered this possible by taking up again the optical investigations of Newton and Fraunhofer, which in the previous forty-five years had hardly been advanced any further, they started from the question of the emission and absorption of light.

It was known that hot bodies, at a temperature below about 600° C, only emit the dark heat-rays, the infra-red discovered by Scheele, and that as the temperature rises, red light gradually appears (at a red heat), and finally the whole visible spectrum (white heat) Solid and liquid bodies exhibit in this respect, generally speaking, no great difference, any piece of glowing charcoal allows all these phenomena to be readily observed. Hot and glowing gases or vapours however, such as we find in flame, behave differently, at a sufficiently high temperature they are able to glow with coloured instead of with white light, the colours depending not so much upon the temperature, but rather upon the material nature of the gas or vapour. This was long known in pyrotechnics, and used for the production in fireworks of flames of almost any desired colour, for which purpose a large number of recipes always existed; it was further also known that the flame of alcohol, which in itself emits little light, becomes capable of emitting coloured light when certain substances are brought into it A yellow colour in particular always readily appeared in the alcohol flame, but often without any recognisable cause, so that there was a certain doubt as to what the colour was due to What was wanted were clear experiments, which would eliminate, with certainty, all matters of chance in order to allow the true causes of the effects observed to be recognised. When this had been attained in the matter of these flame colourations, they might, for example, also be available for indicating the presence of certain substances.

Bunsen was the true investigator for such problems; he

was never satisfied with what was unclear or half done, and at the same time he had a limitless inventive power for creating new means of satisfying his need for thorough investigation, and was quite tireless in following ways, no matter how difficult, which led to a clearly seen goal His investigations of coloured flames therefore led to a great deal more than merely to chemical analysis by means of flame colourations, and not least because they were happily combined with Kirchhoff's insight into everything that had been ascertained from the time of Newton and Fraunhofer to Clausius.

For clean experiments with flame, the first necessity was a cleanly burning flame; the alcohol flame with its wick, which caused all kinds of disturbance, was not a flame of this kind. Also for many other laboratory purposes, a flame was already much needed, the properties of which could be regulated by hand in a trustworthy manner. Illuminating gas, which had already been used for some fifty years in England, appeared much more suitable from the start than alcohol or other liquid fuel, but Bunsen nevertheless was not in the least satisfied with the English gas burners made for laboratory purposes. When, in 1855, gas lighting was introduced in Heidelberg, Bunsen immediately set to work to invent a suitable burner; the Bunsen burner at once became quite indispensable, and has remained so till to-day, when it is known to everyone

But the result was not only the sole source of heat suitable for the laboratory, and a fundamental constituent of all technical heating arrangements, but above all a flame of hitherto unheard of steadiness, and at the same time versatile in its properties. But none but Bunsen himself understood how to make full use of it for his remarkable flame reactions – a new chemical test for all kinds of substances, which could otherwise only be investigated by the use of wet reagents, or at least by the blowpipe – and by making use of the cleanliness of the experimental conditions, which this

flame allowed of, he was able to lay the foundation of spectrum analysis.

It was now possible to evaporate on a pure platinum wire any substances whatever in the non-luminous gas flame, and so cause them to emit light, and it was now a promising step to continue to purify the substances used by every means known to chemical science, until each of them developed its peculiar flame colour fully and unmixed, a task which Bunsen undertook with admirable persistence In the course of this work, however, the flame colouration was not observed only with the naked eye, but also, following the methods of Newton and Fraunhofer, in a state of spectral decomposition by means of a prism It then appeared, that the yellow colouration of the flame, so often observed, and having a yellow line already well-known to Fraunhofer, belongs exclusively to sodium, and that the uncertainty hitherto felt with regard to the origin of this yellow light was on the one hand to be referred to the incredible minuteness of the quantity necessary to produce this colouration quite visibly, or to exhibit the spectral line, and on the other hand, to the universal distribution of sodium in the form at least of traces as an impurity in practically all substances found on the surface of the earth. But we now had a means of recognition of the constituents of all substances which could be obtained in flames, or in electric sparks, or arcs, or otherwise in the state of glowing gases. This means allowed the certain recognition of the smallest possible quantities, while being easily and simply applicable, spectrum analysis by emission was thus founded

This led Bunsen himself very quickly – five and six years after the introduction of his burner – to the discovery of two new elements, rubidium and caesium, which had hitherto been unrecognised on account of the fact that they only occur in traces, as a rule, and are very similar to the well-known alkali metals. This spectrum analysis was just as

well suited to the discovery of new elementary substances, as to proving the presence of already known elements, since almost all substances are decomposed, when in the state of glowing gas, into their elementary components, so that the single atoms occur in a free condition, and are able to exhibit the emission of light peculiar to them alone So in the following years, other elements such as thallium, indium, gallium, scandium, germanium, were discovered, and the separation and certain recognition of others, such as the noble gases, were rendered possible The result was a very great enlargement of our knowledge of the elementary constituents of matter Thenceforth one quite indubitable proof of the existence of a new element was required. it had to show new spectral lines

Kirchhoff's own particular addition to spectrum analysis, and one of equal magnitude, related to the absorption of light He not only recognised that this stands in the closest relation to emission, but he also gave a proof of this fact, placing the connection among the best founded parts of scientific knowledge, and giving it the clear statement which is essential if such knowledge is to have its full value (1860), this is known to-day as Kirchhoff's law Kirchhoff's proof of the law consists firstly of a series of imaginary experiments of an allowable description, that is employing only means and processes capable of being realised with sufficient approximation, and secondly of the corresponding calculations, which allow the results of these experiments to be connected in a completely satisfactory manner with Clausius' second law of thermo-dynamics, in particular with the general fact, that heat never passes of itself from a colder to a hotter body [1]

[1] The corresponding calculations occupy a very large space in Kirchhoff's statement. By suitable change in the imaginary experiments, they could be very much reduced in extent without injury to the convincing value of the proof As regards our estimate of Kirchhoff's achievement (which he himself, in face of objection made to it, defended satisfactorily, see

Kirchhoff's law thus stands together with these facts of experience, and with the mass of other experimental facts collected together in the theory of heat, and is thus itself as well secured as all these experimental facts themselves The law states that the emission and absorption of light of definite wave-length are proportional to one another in the case of all bodies at the same temperature. A body – such as sodium vapour, for example – that emits the yellow light corresponding to a definite position in the spectrum, and so of definite wave-length, will also absorb the same light to a corresponding degree, and if it does not emit other kinds of light, it will also not absorb them. This means that a flame fed with sodium and placed between a very bright white source of light and the prism apparatus, must likewise cause a dark line to appear in the same position as the bright line given by the flame Kirchhoff himself observed that this is actually the case This provided a special experimental foundation to the law which in Kirchhoff's case preceded its proof.

But at the same time an artificial Fraunhofer line had been produced in the spectrum, at exactly the same position as the line named the D line by Fraunhofer in the spectrum of

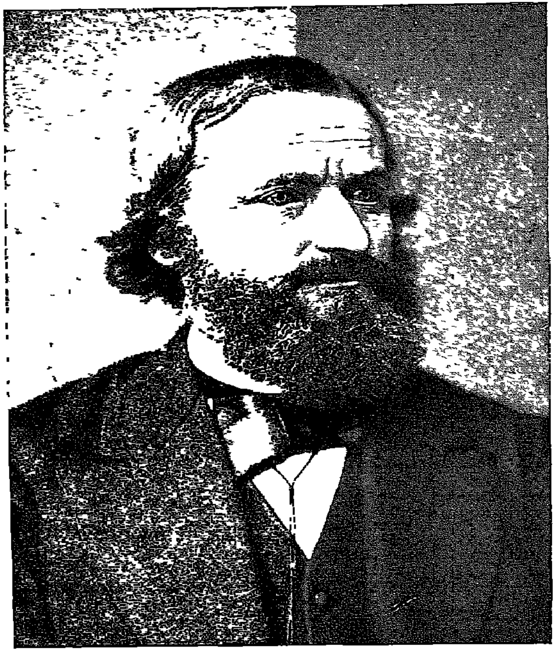
Gesammelte Abhandlungen, p 573) this remark is of no importance, but the same is not true regarding the fact that all such proofs of natural laws have no more and no less value than that of demonstrating convincingly a connection between the new laws to be proved and one or more other laws already regarded as certain, this connection being of such a kind that the new and old laws now stand or fall together, if nature is to remain true to itself (which assumption has always been found to be justified in all non-living matter) In so far as the old laws made use of have been ascertained by experience to hold, that is to say to agree with reality, the same must also be true, in view of the proof, as regards the new law It is a matter of complete indifference how much or how little calculation is made use of in constructing the connection in question If there is much calculation, and if at the same time the laws of experience made use of are not very clearly set forth, we get the deceptive appearance of a 'mathematical proof,' which appearance obscures and hides the high character-forming value of scientific investigation, by leaning to the opinion that its true content is only accessible to mathematicians, or that mathematics of itself leads to knowledge of nature

the sun. According to the law, which is assured by so many other general experimental results linked to it, this cannot be a matter of chance, it is necessary to assume that somewhere in the path of the ray of light from its origin in the sun to our spectroscopes on the earth, sodium vapour exists, consisting of free sodium atoms as in the case of the flame But this can only be in a gaseous atmosphere at a high temperature on the sun itself, an atmosphere which must be traversed by the white light radiated from an incandescent liquid or solid core of the sun. In this way a well-founded explanation of the hitherto unexplained Fraunhofer lines in the sun's spectrum was given, and furthermore, by the aid of Bunsen's results, the possibility of a chemical investigation of the sun's atmosphere was opened up.

Few investigators have ever been able to rejoice at one time in so many important results as Bunsen and Kirchhoff in this case.[1]

Kirchhoff now measured the dark lines of the sun's spectrum still more elaborately than Fraunhofer had already done, and he likewise measured the emission lines of elements, particularly iron, in order to be able to determine coincidences in full detail. In this way, besides sodium and iron, hydrogen, magnesium, calcium, and several other elements known on the earth were proved to exist in the sun's atmosphere In the case of one of the dark lines in the sun's spectrum, the element to which it belonged was only subsequently found upon the earth, as giving a bright line in the same position; this element was therefore called helium (one of the noble gases). At total eclipses of the sun, when the centre of the sun is obscured by the moon, the bright spectrum lines are also seen – for the first time in the year

[1] The place in which this discovery was made is indicated on the house called 'Im Riesen' in the Hauptstrasse in Heidelberg by means of a tablet. On the opposite side of the road is the Friedrichsbau, built three years later, into which Kirchhoff then moved, the chemical laboratory on the Wredeplatz had already (1855) been previously rebuilt for Bunsen



53 Gustav Kirchhoff



54 Johann Mendel



55 Robert Bunsen

1868 – as coming from the sun's atmosphere, which then alone is giving light.

In this way the 'protuberances' of the sun were recognised as stupendous outbreaks of glowing hydrogen gas, and it was then found possible to examine them thoroughly by means of the spectroscope even in the absence of an eclipse Attention was then paid to the spectroscopic decomposition of the light from the fixed stars and nebulae, in which matter Fraunhofer had already made a beginning; it was now possible to perform the same chemical analysis, which had already succeeded in the case of the sun, upon these bodies, which for the most part are many thousand and more light-years distant from us.

It was shown that the whole visible universe, even to the greatest observable distance, consists of no other materials than those found upon the earth. Matter is everywhere alike in character, the universe is a whole, the enormous intervening spaces between one solar system and another do not involve complete separation, all that is familiar to us on earth concerning matter holds good also to the limits of the universe

To these achievements of spectrum analysis further results were soon added, which also concerned the processes taking place in the heavens Christian Doppler, born in 1803, son of a master-mason of Salzburg, and professor of mathematics and physics at various institutions in Austria, finally at the university of Vienna, did not live to learn the results of Bunsen's and Kirchhoff's work, he died early, at the age of fifty But he had discovered a fact which could now be made good use of 'Doppler's principle' This relates to all propagation of waves, including light, and states what happens when the source of the wave, or the observer, move in the direction of propagation. If the motion is not rapid as compared with the rate of propagation of the waves, all that matters is the change in the distance between the source and

the observer; and the principle states that when the two approach one another, a shortening of the wave-length seems to the observer to occur, while a lengthening takes place when they recede from one another, the two effects being in a definite dependence upon the rate of change of the distance apart.

The principle was first experimentally proved in connection with sound waves, the source of sound being situated upon a locomotive in rapid motion, the pitch of the note appears to the observer raised when the source of sound is approaching him, and lowered when it is receding from him, as the principle requires. In the case of light we have to expect, in place of a change of pitch, a displacement in the position on the spectrum, when the source of light and the observer change their distance from one another The rate of change must, on account of the great velocity of light, be considerable, if the displacement in the spectrum is to be capable of observation For this reason it was for the moment only to be expected in the case of the heavenly bodies, in which great velocities frequently occur Observations capable of clear interpretation became possible as soon as the lines in the spectrum of the stars had been assigned by Kirchhoff and Bunsen with certainty to definite elements

The position of every definite line in the spectrum of a certain star could then be compared with the position of the same line of the corresponding element in an earthly source of light, from the distance apart of the two lines the rate of change of the distance between star and earth could then be calculated by Doppler's principle We already know these 'radial velocities' in the case of thousands of stars, which means for us an entirely new possibility of discovering the actual motions taking place in cosmic space Also in the case of the internal motion of certain heavenly bodies such as the nebulae, spectroscopic observation of the radial velocity has already led to important conclusions.

Special mention should be made of the discovery of many

'spectroscopic double stars,' which even through the best telescopes can only be seen as single stars, since they are much too far away. But the regularly recurring doubling of the spectral lines of these stars tells us that, and how quickly, one of the two suns revolving about their common centre of gravity approaches us, while the other recedes, and from this we are able to calculate the orbit and in many cases even the masses of these double suns in a logically consistent manner. An important direct confirmation of the validity of Doppler's principle for light has finally resulted from the observation of earthly sources of light (glowing atoms in the canal rays) moving at extremely high speeds.

Spectrum analysis with all that has been built upon it, by no means forms the only remarkable achievement of Bunsen and Kirchhoff.

Regarding Kirchhoff, we may mention his laws concerning the flow of electric current in networks, and in conductors of two-dimensional or solid form; these being enlargements of Ohm's law. Bunsen further advanced science by a large number of other researches which can only be mentioned here in part, but concerned almost all directions of investigation, and everywhere pointed out new roads and provided new methods of attack. Everything that he undertook was given new shape by him, and at the same time generally became of practical importance. Thus he discovered, continuing Davy's electrolytic researches, the 'Bunsen element'[1] which then remained for a quarter of a century the only existing useful source of strong electric current.

By its use he then found the best method for the electrolytic preparation of pure metals such as calcium, aluminium, magnesium, all of these became of technical importance later. Burning magnesium, and also Davy's arc light fed

[1] This contains zinc in dilute sulphuric acid, and gas retort carbon in concentrated nitric acid, and dates from the year 1841, later (1875) Bunsen also suggested the chromic acid cell, which is likewise much used.

with the strong currents from his new elements, provided him with sources of light of hitherto unattained intensity; and for the purpose of measuring them he invented the grease-spot photometer, which for fifty years was the only photometer used A later refinement was to replace the grease-spot by a special cube of glass

His preparation of new elements in a pure state led him to invent the ice calorimeter, in order to be able to measure, for the purpose of atomic weight determination, the specific heats of the elements with great accuracy, in spite of the small quantities available. This calorimeter again provided the means for further investigations, and remained for a very long time unequalled by any other method.

Bunsen had also not a little to do with investigations concerning the interior of the earth, volcanic phenomena, and the formation of rocks. On a scientific journey to Iceland (1846) he discovered the nature of geysers, and later investigated the dependence of the melting-point of materials upon pressure, most substances being specifically heavier in the solid than in the liquid state He found that the melting-point rose rapidly as the pressure increased, and drew attention to the high pressures which undoubtedly exist in the interior of the earth, where we must therefore assume a considerably increased melting-point for rocks and substances composing them. This agrees with the fact that the interior of the earth must be for the most part solid, as already follows from Newton's investigation of the phenomena of tides, inasmuch as the body of the earth only takes part in tidal motion to a very small extent, a fact which cannot be ascribed solely to the solid state of the surface. Furthermore, Bunsen's results concerning melting-points formed a valuable confirmation of a calculation which at that time had just been based upon the thermo-dynamics of Clausius and W. Thomson. This same calculation led the opposite kind of behaviour to be expected in the case of ice, which is

specifically lighter than water. the melting-point should fall as the pressure rises This was then tested and found to be actually the case

Bunsen's work on cacodyl and its compounds was also important He recognised in this substance, consisting of carbon, hydrogen, and arsenic in fixed proportions, and first prepared and examined by him, a 'radicle,' that is to say a group of atoms always remaining together, which behaves like an element, and hence forms combinations of various kinds More than twenty years earlier, Gay-Lussac had already discovered another radicle, cyanogen, consisting of one atom of carbon and one of nitrogen, and forming a first and particularly simple example of its class, cacodyl was an example of a very complicated radicle, since it contained altogether nine atoms, and led us again a step further in our knowledge of the polyatomic substances of organic chemistry The investigation of the cacodyl series may have particularly appealed to Bunsen's temperament, it was a challenge to his skill to master substances which were explosive, self-igniting, dangerous to life as poisons, and of an unendurable odour even in traces. He had already previously found for the poison arsenic an absolutely certain antidote – at that time a very important matter, since arsenic was one of the commonest poisons.

It is noteworthy that Bunsen, in his publications concerning the cacodyl series, which belong to his youth (1837–1841), makes use of the same atomic weights for representing the composition of the compounds discovered by him, as are known to be correct to-day (according to which, for example, water is written H_2O), but he later abandoned this and took for example the atomic weight – or as he preferred to say 'combining weight' – of oxygen as only eight times as great as hydrogen (instead of sixteen times), as was the assumption at a time when Avogadro's law was still unknown or only an hypothesis, this leads to water being written HO,

as familiar to us in Faraday's work. Bunsen thus withdrew at a period of uncertainty from the quarrel about 'hypotheses which are changeable, and are often changed'[1]

By means of the combining weights, which were free from hypothesis, he was just as well able to express in formulae the actually observed composition by weight of all compounds, as by using the atomic weights, the true values of which could only be discovered beyond doubt later, after Avogadro's law had been rendered certain by Clausius' proof of the kinetic theory of gases. When this matter had been cleared up, Bunsen refused to make a further change, and adhered to combining weights This, however, prevented him from penetrating into the manner in which the molecules of compounds are built up from their atoms, since this requires the use of formulae founded upon true atomic and molecular weights This advance, which represented an important step forward, was left to his younger contemporaries and successors to accomplish. In effecting it they were able to rely upon Avogadro's law, which was already proved to be true, and gives the correct molecular weight. It then appeared that we must ascribe to the various atoms various values expressing their power of combination with other atoms, according as, for example, they are able to combine with one, two, three or more hydrogen atoms, to form a molecule; this value for the combining power also holds good in general as regards the combination of the various atoms among themselves. It is thus possible to ascribe to each atom, in proportion to its combining power – its 'valency' – a corresponding number of valency positions, and to assume that when a molecule is formed, atoms are linked together because their valencies 'saturate' one another in pairs

These hypotheses agreed with Davy's and Berzelius' ideas concerning the electrical nature of the forces holding

[1] Bunsen thus expressed in his lectures his decided distaste for hypotheses which are often put forward as finished theories.

atoms together in combination, and with Faraday's second electrolytic law, to a certain extent, but not in every respect The fact that they could not satisfy Bunsen, particularly when they received an all too definite expression in 'structural formulae,' is still more self-evident than in his time, for in spite of the fact that essentially new data have since come to light, nothing final is yet known concerning the structure of molecules Nevertheless, the idea of saturation, which was expressed in the formulae in question, has become extremely valuable in correspondence with its content of actual fact, particularly as regards the numerous organic compounds, it has become, since the introduction of Kekulé's benzine formula (1865), the best means of orientation and guide to work as regards the preparation of large numbers of these compounds [1]

The life stories of both Bunsen and Kirchhoff were of a very simple character

Robert Wilhelm Bunsen was born in Göttingen as the son of a professor of philology, he entered the university of his birthplace at the age of seventeen, and later became a member of its teaching staff after visits to Berlin, Paris, and Vienna In the year 1836 he was called to the technical school at Cassel, two years later to the University of Marburg, then to Breslau, and soon afterwards, in 1852, to Heidelberg Here he remained for thirty-seven years, and became one of the most eminent figures of university life.

Famed both as a discoverer and teacher, he always drew a large number of pupils to his laboratory; scarcely any scientist of the next generation and none of the founders of the German chemical industry which soon developed, but worked at least a few terms with him His experimental lectures were unique in their elegance, in which Bunsen's

[1] August Kekulé lived between 1829 and 1896, he was born in Darmstadt, became assistant under Bunsen, and finally professor of Chemistry in Bonn

whole personality was reflected, and at the same time in their natural simplicity, combined with perfection of form, the joy of the discoverer was communicated to the hearer in all his demonstrations and explanations[1] He was a shining example of the cultivation of pure science; the idea of gaining personal advantage from his inventions, which would have been easy in the case of the burner, the photometer, and many others, was entirely strange to him. His life lay almost entirely in the laboratory among his pupils, who were also able to be witnesses of his own researches, as they were being carried on. His remarks were often full of humour under the mask of the greatest seriousness, his mode of thought produced its impression without making any direct claim to superiority. He did not found a family; in the university vacations he loved to make long journeys, generally to the south, often accompanied by friends among his colleagues

At the age of seventy-eight Bunsen retired from teaching; for a further ten years he enjoyed walks, and later drives, in the woods around his beloved town, from which no offers, however attractive, had ever been able to separate him.

Gustav Kirchhoff was born at Konigsberg in Prussia as the third son of a legal dignitary, and also studied there. He entered the University of Berlin in the year 1848, and then became an assistant professor in Breslau There he first met Bunsen, who in 1854 obtained an invitation to Heidelberg for him. In the year 1875 Kirchhoff left this scene of his most successful activity, where he had also married a second time after the early death of his wife, and went to Berlin, to work alongside Helmholtz An injury to his foot caused by a fall on a staircase, had been cured, but increasing infirmity appeared, and he died twelve years later at the age of sixty-three.

[1] Wider circles also knew of them, princes and men eminent in intellectual life who travelled through Heidelberg were not seldom seen in his lecture theatre – which lay at the corner of Academiestrasse and Plock – among his own students

JAMES CLERK MAXWELL

1831–1879

CLERK MAXWELL summed up our whole knowledge of the ether as far as it went in his time, and further made so fortunate a use of knowledge then existing only in the form of general indications, that a well finished structure resulted, which – as experience later showed – really corresponds in a very wide degree to the facts This structure has a mathematical form, it consists of certain equations, which state quantitative connections between the states of the ether in space, measurable in the form of electrical and magnetic forces, and the constants representing the properties of the matter likewise present in space [1]

Along with these appears, as a constant of the ether, the velocity of light The equations are differential equations; that is to say, they relate only to a volume element of space and to its immediate neighbourhood, and also only to elements of time. This entirely corresponds to Faraday's idea, derived from all his experience, that it is not forces at a distance – which leap over all volume elements – that are active in the ether, but that everything occurring in it acts only from point to point [2] Altogether, Maxwell founded his equations entirely upon Faraday's conceptions. He summarised in them everything fundamentally known concerning light, electricity and magnetism, that is to say, all that taken together, constituted the knowledge of ether at that time The fact that he was able to include the phenomena of light, which had been since Huygens' time the starting point of the physics of the ether, although only

[1] These material constants are (1) the dielectric constant or specific inductive capacity introduced by Faraday, (2) a constant analogous to the latter, but referring to the magnetic force – the magnetic permeability, (3) the electric conductivity

[2] Wilhelm Weber likewise carried out a magnificent summary, but one founded on the assumption of action at a distance, facts later showed that it did not correspond with reality

electric and magnetic forces appear in the equations, was also derived from a thought of Faraday's, according to which light and electro-magnetic forces might 'by no means impossibly' be phenomena of one and the same ether[1] This idea of the unity of the ether became the great fundamental idea in Maxwell's theory as expressed by his equations The fact that it is a theory (summary of knowledge), and not simply an hypothesis (supposition), was only somewhat dimly indicated in Maxwell's time by Faraday's discovery of the electro-magnetic rotation of the plane of polarisation of light and – more obviously – by the appearance, as the result of Wilhelm Weber's researches, of the velocity of light in electrical phenomena and measurement.

Maxwell's equations summarise, in a manner astonishing even to the mathematician, the fundamental results of whole series of researches. They contain Coulomb's two laws with the essentials of the potential theory, Oersted's discovery and Ampère's researches, Ohm's law, Faraday's law of induction, all this being supported on Faraday's conception of lines of force, which is thus for the first time shown to be in full harmony with the older potential theory of Laplace. They further contain – as a hypothetical addition made by Maxwell – the existence of electric waves, which, starting from the electric oscillations already treated of by W Thomson (Lord Kelvin), are propagated in free space with the velocity of light, are transverse like light waves, and should be refrangible like the latter in material media So magnificent a summary in a few equations had hitherto never been known.

As regards their power of application, the sense of the equations, in which besides the Cartesian co-ordinates of space, time appears as an independent variable, is as follows. let the electric and magnetic forces at an initial moment

[1] Tyndall collected several remarks of Faraday's in this connection, in *Faraday as a Discoverer*, London, 1870, p. 154 ff

everywhere in space be given, the equations then allow these forces to be calculated, by means of the rules of mathematics, for all future time, and therefore likewise every consequence of the given initial condition according to the laws summarised We notice the similarity in structure and applicability between Maxwell's equations, and, for example, the fundamental equations of hydrodynamics The latter also are differential equations, that is they relate also only to volume elements of space and their immediate neighbourhood, and they allow – as far as the powers of mathematics go – the prediction of the future state of the liquid from its initial state. What, therefore, hydrodynamic equations do for a liquid, Maxwell's equations do for the ether. Both sets of equations only depend upon experience, but while the hydrodynamic equations contain in the main nothing but Galileo's and Newton's laws of motion, the content of Maxwell's equations is, as we have explained, very complex, curiously enough, without their being unduly complicated. This fact, as well as the simplicity of the fundamental concept of the unity of the ether, already tells in favour of their agreement with reality, that is to say, for the correctness of the added hypothetical matter. It was only the inaccessibility of the ether which, in this case, made it necessary for many separate and partial discoveries to be made, which could then be simply combined, while in the case of liquids, which are more tangible, it was possible immediately to arrive at the final goal. The agreement with reality was proved fifteen years later by Hertz's discovery and exact investigation of the hypothetical electric waves.

It is noteworthy that Maxwell did not arrive at his equations directly by mathematical summarisation, but – starting from Faraday's experimental investigations – by a thorough consideration of possible mechanical ethers, which might give the observed effects which were to be summarised. He later

abandoned these mechanisms almost entirely, and only retained the equations, whereby he reverted completely to the mode of thought of Faraday, who regarded his lines of force simply as pictures of unknown states of a medium filling space. Hence Maxwell himself says that he has put Faraday's ideas into a mathematical form. In the two volumes of his book *On Electricity and Magnetism* which appeared in 1873, he by no means put the special results of his own differential equations in the forefront, but developed the then existing body of knowledge of electricity and magnetism in such a way that the statement of it is connected as far as possible with Faraday's conceptions, and hence with his own equations, which, however, only appear towards the end of the work and are almost hidden from sight. The special features of Maxwell's work could only take full effect after their experimental confirmation by Hertz.[1]

Nevertheless, even before this, Maxwell's work resulted in Faraday's idea of lines of force being everywhere accepted, and hence also by technical workers. This was all the more important, since Faraday's induction had found increasing application in the production of strong electric currents, particularly for lighting purposes; for the 'dynamo-electric' principle of Siemens had shown us how to replace the inconstant steel magnets of 'magneto-electric' machines by electro-magnets, which were increased in strength by the induced current itself (1860). What then was still wanting, as compared with the present-day perfection of dynamos and electric motors, was the means of finding the best shape for the iron and copper circuits of these machines; and the way to this, simple but long overlooked, was finally indicated by Faraday's line of thought. The unnecessarily long limbs of the electro-magnets disappeared, and the modern compact

[1] Hertz was also the first who was able to express clearly these special features, together with the equations, free from all superfluous matter, after the natural phenomena themselves had shown the way.

form, most favourable to the development of lines of force, brought with it the high efficiency customary to-day in the transformation of mechanical into electrical energy, and vice versa The foundations of electrical engineering were laid

Maxwell in his short life had many other achievements to his credit; of these we can only mention here his contributions to the kinetic theory of gases, which were directed towards deeper penetration into the subject, and an extension of Clausius' work.

James Clerk Maxwell, born in Edinburgh, came from a very old Scotch family He was educated at the family seat, entered at the age of thirteen the university of his birthplace, and went three years later to Cambridge After he had distinguished himself by a series of geometrical, mathematical, and optical publications, and also some concerning lines of force, he was made professor of physics in Aberdeen in 1856 Two years later he married From 1860 to 1865 he was Professor of Physics at King's College in London he there met Faraday Later he retired to his estate, where he lived, apart from a journey to Italy, and short visits to London, entirely for his scientific work, which then resulted in his great work on electricity and magnetism In the year 1871 he again decided to accept a professorship, this was in Cambridge, where, as a novelty, a special physical laboratory was built, which he opened. But only eight years later, in his forty-eighth year, a sudden illness put an end to his activities The important confirmation of his mathematical and theoretical structure by the discoveries of Hertz was made after his death.

WILHELM HITTORF (*1824–1914*)
WILLIAM CROOKES (*1832–1919*)

JUST as Galvani, eighty years previously, had been able to draw forth a new phenomenon from the inexhaustible riches of nature, a phenomenon which, not again forgotten, led to the development of quite new and undreamed of fields of knowledge, so did Hittorf and Crookes also follow up the investigation of processes which, up till their time, being outside the frame of science as ordinarily taught, had been simply regarded as curiosities, which could not otherwise be investigated. The phenomena were those connected with the discharge of electricity through rarefied gases. The processes had been known since Guericke invented the air pump and the electrical machine; Faraday, who later produced in the induction apparatus a still more suitable source of high tension electricity, had also observed these extremely curious phenomena, with their beauties of form and colour, which fill a space in which the pressure of the air is sufficiently reduced, when an electric discharge passes through it. It was also readily possible to follow the gradual transition from the simple short sparks exhibited at atmospheric pressure – which Leibniz was the first to see – to the extensive and complex phenomena which occur as the air pressure is gradually reduced. However, the maze of phenomena which occurred gave no indications of a way which might lead to an understanding of them.

Hittorf and Crookes were the first to find this way, by selecting from the mass of interlinked but incomprehensible processes a single one, and making it the subject of a special investigation, the example chosen being one distinguished by a certain simplicity. This was a process connected with the negative pole of the discharge – the cathode, as we say here as well as in the case of electrolytes – which had the effect of a radiation proceeding in straight lines from the surface of

this cathode: the 'cathode rays' discovered by Hittorf Hittorf was ten years ahead of Crookes in this investigation. But Crookes was able to follow the way thus indicated as the first, and for the time, only understanding mind after Hittorf,[1] and he was able to obtain better and newer experimental apparatus, in particular air pumps and other technical assistance He showed his power of understanding by making very great further progress in the direction of solving the peculiar character of the phenomena of radiation, so that from this point enough was known to lead investigators of nature almost irresistibly in a certain direction, namely to the pure observation of these rays Out of this hardly less actually developed – although a further fifteen years were required for the purpose – than Crookes had promised when he said. 'Here we shall find ultimate truth'

Crookes and Hittorf were in every respect excellent complements of one another in this fundamental research. While Hittorf was very careful not to go beyond facts for which he could vouch with certainty, Crookes opened up vistas with the joy of the discoverer, and communicated this joy to others Although many of his views were erroneous, his faith in the richness of nature was justified, and, holding it so strongly, he was able to induce successors gifted with equal confidence and ability to take the correct direction with complete certainty, when they set out on their discoveries Hittorf's publications were dry, and almost repulsive, their great value was buried in the depths Crookes announced with enthusiasm what he observed; but he had in England the best opportunity for doing so [2]

[1] There had been many observers of discharge phenomena before and after Hittorf, it was a field of work which easily led to descriptions without end of what had been seen But all these descriptions only led, in the best case, to real new knowledge, when that lacking in them all, namely the attempt to reach understanding by means of clearly devised experiments, had been supplied from another side

[2] Hittorf published his results 'On the conduction of electricity by gases' in Poggendorf's *Annalen*, Vol 136, 1869 Crookes gave in 1879

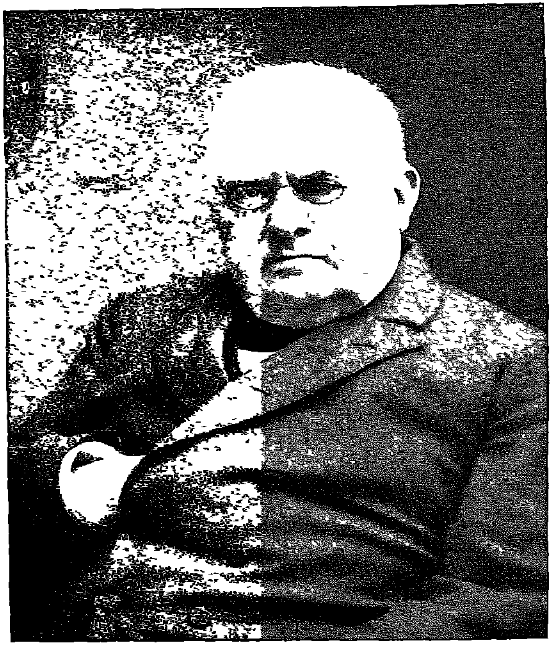
Wilhelm Hittorf was born in Bonn, where his father was a merchant. He studied in his native town with a short interval in Berlin, and gained his doctorate at the age of twenty-two A year later he became a member of the staff of the university of his native town, presenting as his thesis an experimental research to which he had been led by his own observations on electrolysis. At the same time he also received a call to the Academy (later university) at Münster in Westphalia, as a teacher of physics and chemistry It was very fortunate that he thus obtained an independent sphere of action at so early an age. However, he then remained for the whole of his active life in the same position, although his external circumstances improved, he never received a chair at any of the greater German universities. His fate was much the same as that of Ohm.[1]

Hittorf however was even more reserved by nature than Ohm; but since the many confidential petitions to ministries and princes made by the latter had no noticeable effect in giving him a more advantageous opportunity for work, Hittorf's reserve cannot have made much difference. At the age of sixty-five Hittorf retired from his position of teacher in Munster. He lived in his own house and garden, his younger and also unmarried sister keeping house for him. He died at the age of ninety.

William Crookes was born in London and also lived there for the greater part of his life. He appears to have educated himself mainly by the study of literature, and by his own experimenting. At the early age of twenty-three he obtained

in the Royal Institution a lecture entitled 'Radiant Matter, or the Fourth State of Aggregation, and this became still better known – also in its German translation – than his publication in the *Proceedings of the Royal Society*

[1] Both of them received distinctions and honours in their old age, that however is of no importance, for what matters is to be recognised, and to have opportunity to work when still young enough The fact that no specialist of influence in Germany took any notice of Hittorf became particularly clear when Crookes's later achievements were the subject of general admiration. Hittorf still remained un-named without protest.



56 Wilhelm Hittorf



57 James Clerk Maxwell



58 William Crookes



59 Josef Stefan

a post as a chemist, which allowed him to found a family. His important work was done in his own laboratory, which was much less cramped than Hittorf's university laboratory. Crookes reached the high age of eighty-seven

From the work of Hittorf and Crookes, large sections of the physics of the ether have subsequently been developed. It was only necessary to carry out exact experiments with Hittorf's glow discharge, and Crookes' 'radiant matter' or cathode rays, in such a way that they could be observed under more various conditions than had hitherto been the case in the discharge tube. This happened fifteen years after Crookes' publication (1894). From that point all the further progress followed quickly, which can only here be indicated in outline· the discovery of high frequency rays (X-rays), of radio-activity and radium, as well as of the other radio-active elements of high atomic weight and their radiations, the assured explanation of the nature of cathode rays, and then also of the rays of the radio-active elements, and of allied radiation such as the canal rays, the conduction of electricity in gases and finally, in particular, the phenomena of discharge at low pressures – which had been the starting point of the whole matter – became fully understood The cathode rays themselves turned out to be free negative elementary electric charges separated from atoms – they were called 'electrons' – just as Wilhelm Weber had imagined them, without however, having been able to say anything concerning their actual existence, and still less concerning the possibility of completely separating them from matter

Also, the rays of Hittorf and Crookes brought quite fresh information concerning the atoms of matter themselves. This agreed in essentials with that already furnished by Clausius from the kinetic theory of gases, but went beyond it, the interior of the atoms now became accessible to investigation, in spite of their smallness, which removes them from

direct access by our senses. All atoms proved to be built up of positive and negative elementary charges of electricity in a manner which is still the subject of further investigation. It is easily comprehensible that so great and rapid an enlargement of our knowledge (it took place mainly in the years between 1894 and 1905) brought with it many new possibilities – which also included technical, and particularly at first, medical applications – but that it has also produced some confusion, all of which is of great influence at the present time

Pre-eminent among the recent results of the further investigation of atoms is the fact that they can be split up, this can be effected by the action of very rapidly moving helium atoms, such as are furnished by the X-rays. This renders possible the transformation of heavy atoms into lighter ones by human agency, a transformation which occurs of itself in the case of radio-active elements. This, however, by no means exhausts the work and scientific legacy of Hittorf and Crookes; we must still add the following.

Hittorf was the first to continue Faraday's work on electrolysis to an important extent He made a careful quantitative investigation of the motion of the ions in electrolytes during passage of the current, which opened up the road to a knowledge of the internal constitution of electrolytes, such for example as dilute salt solutions Friedrich Kohlrausch began his investigations at this point and obtained further success, upon which depends our present-day exact knowledge of electrolytes, and the processes taking place in them.[1]

[1] Friedrich Kohlrausch, 1840–1910, was born at Rinteln on the Weser. His father, who was a teacher at the High School, had carried out, with W Weber, the important measurements which led to the velocity of light being found as the proportionality factor for purely electrical quantities, it was also the father who induced the son to study physics with Weber in Göttingen Friedrich Kohlrausch also later became a member of the staff of this university, and then assistant professor In the year 1871 he was called to the Technical High School in Darmstadt, in 1875

Hittorf also began the thorough investigation of the conduction of electricity by flame, for which purpose he was able to make use of the Bunsen burner for exact experimenting

Crookes was the first who attempted to follow up experimentally the pressure of light given by Maxwell's equation This pressure, exerted by light or ether wave radiation on any surface which it meets, had been calculated, as also had been its magnitude, by Maxwell It is extremely small, even with the greatest available intensity of light, so that very small currents of air are able to mask it. Crookes made experiments in exhausted vessels Here, it is true, he actually found a pressure upon surfaces exposed to radiation, but it was not the pressure of radiation, but a new phenomenon caused by the gas molecules which were still present in large numbers in the best vacuum that could be obtained in those days. Crookes thus made his 'radiometer,' or light mill, in which a particular demonstration of the motion of gas molecules was given, but the pressure of light still remained masked on account of its smallness

Later on, success in proving the pressure of light was obtained by improved pumps, increased intensity of light, and above all, by taking into account the radiometer effect, the pressure was measured and shown to be in agreement with Maxwell's theories, it has proved to be of no small importance for further reasoning In cosmic space, where everywhere great intensity of radiation and large surfaces exposed to it occur, the effect of radiation pressure may be considerable, it may even outweigh the effect of gravitation

Crookes was also the first to continue Bunsen's discovery of

to Wurzburg, and in 1888 to Strasbourg From 1894 to 1905 he was president of the Reichsanstalt Kohlrausch exercised a very great influence for good upon the progress of electrical measurement, he was also responsible for the exact standard of electric current (ampère or weber) generally used to-day, and depending upon a measurement of the deposition of silver, made by him with the highest accuracy in the year 1881

elements by means of the spectroscope, in this way he discovered thallium, in 1861 Inasmuch as in the same way elements which only occurred in traces in substances found on the earth's crust were gradually brought to light, the possibility then appeared of ordering all the known elements according to their atomic weight in such a manner that series of elements were found all having similar properties. This 'natural system of the elements' then immediately allowed the gaps to be seen by inspection, in which elements still undiscovered belong, and the number of these gaps is already approaching zero The study of fluorescence by means of cathode rays, which was begun by Crookes, has shown itself in its modern form, in which invisible and high frequency fluorescence is used, to be a particularly effective method for the discovery of the last and still missing elements. The spectrum of this fluorescence, produced by means of crystal gratings, shows not merely the presence of new elements by new lines, but also betrays, by the position of the lines, the atomic number of the new element in the periodic system, whereby we are able to calculate directly the approximate value of the atomic weight, and also to derive many indications of the chemical behaviour of the element in question

JOSEF STEFAN (*1835–1893*)
LUDWIG BOLTZMANN (*1844–1906*)

These two investigators made such important developments in the views initiated by Kirchhoff concerning the light and heat radiation of hot bodies, that their work served as the starting point from which the great bulk of our knowledge in this field up to to-day has been acquired Kirchhoff had, by means of his law, established a definite connection between the emission and absorption of radiation. This already

furnished a possibility, that in further investigating the peculiarities of emission, one might become independent of the particular qualities of the hot bodies emitting the radiation, and so be able to investigate the influence of temperature, for itself alone. The point was to determine this influence in the case of a completely 'black' body, that is to say, one which completely absorbed radiation of all wavelengths Any body which does this has the maximum possible power of absorption, and in this respect all black bodies are alike, no matter of what they consist, for none can absorb more than everything But in this case, Kirchhoff's law tells us that all black bodies must be alike as regards radiation also, and must also be possessed of the maximum possible radiating power, which will now no longer depend upon anything but the temperature The emission of a completely black body must be investigated as regards its dependence upon the temperature, in order to find out the essential features of this dependence.

If we are to measure the whole radiation emitted by a body, the infra-red always present must not be overlooked; we cannot therefore make use of the eye, it is necessary to allow the radiation proceeding from the body to fall upon a black and sufficiently sensitive thermometer, such for example as a blackened thermopile, and to measure the corresponding rise in temperature; this gives us the correct measure of the total radiation, since this is completely absorbed by the black surface of the measuring instrument, the whole of its energy being turned into heat, and thus into a measurable form.

Measurements of this kind had already been published in Stefan's time (1879) from various sides Stefan collected them all and made a critical comparison of them, paying particular attention to a possible effect of the heat conductivity of the air, which had in part been overlooked. Good measurements, for example by Tyndall, existed, in

which an electrically heated platinum wire had been measured as regards its radiation from temperatures below redness up to the melting-point of the platinum Stefan found from all such measurements without exception, that the total radiation from a black body is proportional to the fourth power of its absolute temperature (that is, measured from -273°C), this rule has since been known as 'Stefan's law.' Stefan was also able to state, on the basis of some good measurements, the number of calories which one square centimetre of surface of a black body radiates in one second, and since the radiation arriving on the earth from the sun had likewise been measured in calories, he was able by means of his law to make for the first time a well-founded statement concerning the temperature of the sun He found it to be approximately 6000° C (absolute), the sun being assumed to have the properties above defined of a black body, which agrees with all recent experience.

Boltzmann succeeded in making use of an imaginary experiment to bring Stefan's law, which had been derived from experience, into quantitative connection with Clausius' second law of thermo-dynamics, and with the pressure of radiation derived from Maxwell's theory (1884) This was of great importance, since Stefan's law suddenly ceased to depend for support only on the special observations which he used, and took its place in the firmly constructed theoretical structure formed by the theories we have mentioned. This had the greater significance inasmuch as not long after, Hertz was able to bring a further experimental confirmation of Maxwell's theory.

In this way, twenty-four years after Kirchhoff's law of emission and absorption had been firmly founded, Stefan's law could be added as a second and equally well-established law concerning the ether wave radiation of hot bodies From this point progress was now much more rapid, the more so as Boltzmann had already left behind two essential

preliminary investigations of wide importance, which continued to influence research until quite recently. By admirable and very extensive studies concerning the motion of gas molecules, he was able, basing himself upon the previous work of Clausius and Maxwell, to bring the concept of entropy, so important in connection with the second law of thermo-dynamics, into a definite relationship with the value of the probability (as already defined by Huygens) of the physical state of the group of bodies considered, whereby a new foundation was given for the application of the concept of entropy to further deductions Furthermore, Boltzmann in the course of these investigations, and in the same year (1877), had also introduced a peculiar mode of calculation for discontinuous or quantum-like distribution of energy among gas molecules, which later became of especial importance when somewhat differently applied.[1]

The most important questions concerning the radiation of hot bodies remaining open after Boltzmann's time related to the distribution of the total radiation given by Stefan's law among the various wave-lengths in the spectrum. The simplest observation of a body gradually heated to incandescence, such as a piece of carbon or iron, already shows us that from the beginning of a red heat (about 600°C) we have the addition of red radiation to the hitherto invisible infra-red, then yellow appears, until finally at a white heat, the blue and violet also appear in the spectrum The range of rays sent out thus gradually moves in the direction of shorter and shorter wave-lengths as the temperature rises The law of this displacement could again be deduced by means of an imaginary experiment from already well-founded knowledge; it was now necessary to make use, in addition to Clausius' second law of thermo-dynamics, and Maxwell's pressure of light, also of Doppler's principle. The

[1] See Boltzmann's scientific papers, edited by F Hasenohrl, vol 2, page 167.

law states that the most intense wave-length radiated by a completely black body is inversely proportional to its absolute temperature.

There now only remained the question of how the longer and shorter waves always present along with the most intense radiation are distributed over the spectrum; in other words, the question of the exact distribution of the energy of radiation of a black body at any temperature over the whole spectrum. The answer to this question could not be given by the then existing knowledge and theory. In particular, new observations were necessary, the whole distribution of energy in the spectrum had to be examined in detail by means of the thermopile or similar apparatus, before further conclusions could be drawn Here it was a matter of finding as a radiating body a trustworthy completely black body, and not only such a substance as soot or the like.

But Kirchhoft had already shown how to make such a body; it was necessary to use a hollow space having a small aperture, the aperture would behave like the surface of a completely black body. For if a ray of light of any wave-length falls from outside upon the hole, it enters the cavity, and if the internal walls of this are anything but perfectly reflecting, which can be easily arranged, at the worst only a very small part of the energy received escapes again from the hole, and this part can be still further diminished by making the hole smaller or by enlarging the hollow space. This blackness of an aperture opening into a hollow space can be seen at any cellar or in the pupil of the eye But if the aperture behaves like a completely black body as regards absorption, it must do the same, according to Kirchhoft's law, also for emission If, therefore, the hollow space is heated to a measured temperature, the aperture will always radiate exactly like a perfectly black body This radiation can then be decomposed by the spectroscope, and its energy distribution over the spectrum measured.

These results, which are in the first place stated in the form of curves – for every temperature a curve with the wave-length as abscissa and the energy as ordinate – can only be interpreted if we succeed in summarising these curves by means of an equation in the manner of Descartes, which equation would then allow us, conversely, to deduce all the results of observation with the exactness of the original data The production of this equation, and its interpretation, only succeeded after much trial, in spite of Boltzmann's excellent preliminary research, for the phenomena which are concerned in the radiation of a solid body are very complicated.

But the result was something entirely new and unexpected. As a basis we have a fact given by Maxwell's theory, which had already been confirmed by Hertz, and by our knowledge of the structure of matter from molecules and atoms, the unordered motion of which constitutes the heat contained in the body, the fact namely, that the radiating black body is to be regarded as a mass of electric oscillators or wave generators. These are able to respond to, and absorb, every possible wave-length, and are likewise able to emit all possible wave-lengths, in accordance with Kirchhoff's law, for this is the significance of the 'blackness' of the body In radiating, they draw the necessary energy from the heat content of the body The question was. how in these circumstances do the atoms operate as radiators, so that the actual result found by observation for the distribution of energy is produced ?

The answer towards which Boltzmann's calculations concerning discontinuous or quantum-like energy distribution had already pointed the way, was, if we now add the interpretation derived from the most recent research, as follows Every atom radiates with the wave-length or frequency which is characteristic of it, but it does not radiate quantities of energy of any amount, but only multiples of definite quantities (quanta), so that it does not radiate until it has taken up

this definite amount of energy (its energy-quantum or light-quantum) from its surroundings, whereupon this whole amount of energy is radiated in a train of waves. The magnitude of this energy is also proportional to the frequency of the atoms; simply proportional, that is to say. This is the substance of the 'quantum theory', it was soon possible to enlarge it by the hypothesis that atoms altogether only deal with energy in quanta, whereby the magnitude of the quanta is always proportional to a frequency (the reciprocal of a characteristic time) which plays a part in the energy transformation, the proportionality being given by a factor which is always the same as that derived from the radiation of a black body.

We are here justified in speaking of a quantum theory, and no longer of an hypothesis, since many processes have already become capable of observation, in which this quantum-like transformation of energy in the atoms occurs, and particularly because the proportionality factor above mentioned gives rise to an exactly ascertainable quantitative connection between the spectral distribution of energy in black body radiation, and two natural constants which have already been accurately measured, namely the elementary electric charge, and the velocity of light [1]

Josef Stefan was born in a small village near Klagenfurt in Karnten as son of poor parents of Slav race, who kept a small shop in which they sold food, and were unable to read or write. After he had first been occupied in carrying sacks of flour, it was made possible for him to go to school in Klagenfurt, where he made surprising progress, so that he was then allowed to study at the university in Vienna. After four years of study, the almost uninterrupted succession of his

[1] Further details of this development will be found in any modern text book of Physics The lay reader may be referred also to C G. Darwin's *The New Conceptions of Matter*, London, 1931. *The Structure of the Atom*, by E N. da C Andrade, London, 1927, is a full account for the physicist

scientific papers already commenced, and these gradually covered all branches of physics. This versatility and the extraordinary thoroughness with which he undertook everything, also made Stefan very successful in the scientific education of teachers at that period, when, after himself having taught for seven years in a school, he was called at the age of twenty-five to be professor of physics at the university of Vienna, where he then remained for thirty-three years, until his death

His lectures were of unusual clarity and perfection As regards his experimental labours, the difficult investigations of the heat conductivity of gases deserve particular mention, since they afforded a new means of testing and confirming the kinetic theory of gases, which had become important in so many directions; up till then no sufficiently clear experiments and exact measurements had been made by anyone regarding the heat conductivity of gases His mode of life was extremely simple and quiet He was a silent man, but always anxious to assist honest scientific endeavour, regarding this as a self-evident patriotic duty. Boltzmann and Hasenohrl were his pupils. He hardly ever went to scientific congresses, just as little as did Bunsen in his later days His nature became more light hearted after he married, at the age of fifty-six. But he died only two years later after a short illness.

Ludwig Boltzmann was born in Vienna, and there studied mathematics and physics with Stefan, whose assistant he became. At the age of twenty-five he received a call as assistant professor of physics to the university of Graz, and shortly afterwards he became professor of mathematics at the university of Vienna. After he had carried out interesting experimental work concerning the dielectric constant of gases, in which a certain conclusion from Maxwell's theory was tested, he was called in 1876 to Graz as the chief representative of physics, where he remained

until 1889, and carried out the greater part of his most important work. He then followed an invitation to Munich (he had refused Kirchhoff's chair in Berlin[1]), and finally became Stefan's successor in Vienna, in the year 1894 After six years there he moved for two years to Leipzig, but returned finally to Vienna, where the professorship had been kept open for him. It appeared as if his birthplace was after all the best for him and his family. Nevertheless, six years later, at the age of sixty-two years, he put an end to his life while on a journey.

Among all the great men of science which we have considered he was thus the first who took so great a distaste to life upon earth Bodily suffering and periodic depression could not have been the sole causes of this; many others had already suffered from these complaints. We are here confronted with something hidden in the very depths of human development. In any case, Boltzmann was the last eminent man of science in Germany who appeared in the circles of physical congresses in order to give open expression to his opinion, which had been formed in the spirit of the great investigators of past times This expression was often very strong, but nevertheless always met with a certain sympathetic reception.

HEINRICH HERTZ

1857–1894

HERTZ's confirmation of Maxwell's theory, as expressed in the latter's equations, dealt with this theory at its central point, namely the question of the existence or non-existence

[1] The offers in Berlin had been very attractive, but he did not feel comfortable there, for he liked to be free, and he had received a hint from a very important feminine quarter that he did not know how to behave properly at table

of 'electric waves,' with their properties as clearly predicted by the theory.

If these waves could be generated and proved to exist, and if they possessed the required properties, there would be no further elements of doubt in the theory, and it could then be used as a safe guide in dealing with further questions. Hertz approached this goal, which in spite of all previous work was in his time still very obscure or indeed invisible, gradually at first, but finally at surprising speed, and showed that it not only actually existed, but was easily attainable with full certainty [1]

At the same time, therefore, he had opened up a new world of phenomena and placed it at our disposal, he thus became the discoverer of electric waves and 'rays of electric force' (1888). The results of all this with regard to our knowledge of nature will be indicated further on, what resulted in the way of applications is more than well enough known to-day from wireless and broadcasting.[2] We will describe the

[1] It is very noteworthy that in the fifteen years between Maxwell's publication of his work *On Electricity and Magnetism* and Hertz's discoveries, a great deal had been written about 'Maxwell's theory' and in particular concerning the electro-magnetic theory of light, and these subjects had been lectured upon at universities, yet not even the beginning of a way to the goal had been made clear, for people simply played about with Maxwell's equations, but not with the ideas of Maxwell or Faraday, it was a mathematical game and not scientific research that was pursued, and the results were sterile Hertz was the first who not only understood the equations, and knew how to deal with them mathematically when necessary, but also saw the structure of ideas upon which they were based by their originator, and understood how to move about in it The equations are, so to speak, merely ground plans of this structure, and are far from being actual inhabitable apartments, the latter can only be produced by the architect, who knows how to grasp the ideas which have been put into the ground plan

[2] The telephone was invented by a Frankfurt teacher of physics, Philipp Reis, in 1860, it was only perfected considerably later, though this might have happened more quickly considering the state of scientific knowledge at the time To-day, when there are plenty of scientifically educated technicians available, almost everything which the progress of science offers us is at once practically applied, as we see in the 'art' of broadcasting

way taken by Hertz, and leave out of consideration previous reconnaissances.

The meaning of Maxwell's equations showed that the electric waves in question must proceed from electric oscillations, which W Thomson (Lord Kelvin) had already taught us how to calculate in every respect, and the production of which had already been proved, for example in the discharge of Leyden jars. In experiments with the discharge of jars, the periodicity of the oscillations had been measured, by observing the discharge spark in a rotating mirror, whereby it was clearly seen that at every discharge a number of sparks passed to and fro, the intervals between these being half the period of oscillation of the discharge, this period could thus be measured. These frequencies might amount to hundreds of thousands a second.

If the transverse waves imagined by Maxwell proceed from these oscillations, and are propagated with the speed of light into space, the length of the waves – measured from crest to crest – would be easily calculated in the manner rendered clear by Newton for all waves, from velocity of propagation and frequency, they would be measured in miles, and this was much too long, not only as compared with the space in which the waves could be tested for and investigated, but also because the energy available in the discharge generating the waves was not nearly sufficient to allow any perceptible effect to take place, in view of the diminution of intensity with distance, over a range of miles, thus it was not possible to generate even a single such wave with an intensity sufficient to allow it to be detected

This shows that, in order to render such waves perceptible, it would be necessary to generate much more rapid oscillations than those hitherto studied, for the wave-length changes inversely as the frequency. These more rapid oscillations were to be expected, according to Lord Kelvin's calculation, in the case of the discharge of smaller capacities

and with smaller self-inductions in the discharge circuit. The fact that oscillations actually occur in such circumstances was proved by Hertz satisfactorily in experimenting with electric discharges, and this was the beginning of the series of investigations, which led to complete success within two years

In order to prove the presence of the invisible waves, and indeed the actual existence of rapid oscillations in conductors excited by spark discharge, Hertz made use of resonance. This is the phenomenon of sympathetic oscillation, which was quite rightly recognised by Galileo in connection with sound waves, and it only takes place when the resonator is tuned exactly to an equal period of oscillation In the case of electrical resonance, the two conductors which have been tuned to equal electrical period of oscillation are suitably placed alongside one another If one of them, the 'oscillator' or 'transmitter,' is then caused to oscillate by a spark discharge, sparks are seen on the other, the 'resonator,' as a sign that it also is oscillating in sympathy, and the presence of an oscillation is thus proved. The fact that the propagation from oscillator to resonator takes place by means of waves cannot be proved in this way, the phenomenon thus observed can indeed be quite simply regarded as a process of mutual induction, the oscillator being called the primary conductor, and the resonator the secondary conductor

In order to prove the existence of waves, the two conductors must be sufficiently far apart, which gives rise to the difficulty that the effect falls off rapidly as the distance increases. Hence Hertz first attempted to conduct the oscillations along wires. Since in the case of this kind of conduction the velocity of propagation is that of light, as had been shown by Gauss and Weber upon the introduction of the electric telegraph, waves should be demonstrable in the wires of the same length as are required by Maxwell's theory to exist in the free state around the oscillator. This proof

of waves in wires was successful, the waves being made stationary in exactly the same way as is possible with waves in ropes or water, or with sound waves, by reflecting them back upon themselves; this is very simply accomplished in the case of electric waves in wires, by insulating the ends of the wires. Hertz was then able to demonstrate the presence of nodes and loops of electric force in the wires by means of tiny sparks, and double the distance from one node to the next gave, as in the case of all stationary waves, the wave length.

He then also succeeded in producing stationary waves of this kind without wires in free space between the oscillator and a reflecting wall, and likewise in measuring their wave-length. The equality of the wave-length with that found in wires would indicate an equal rate of propagation in the two cases, that is to say the velocity of light predicted by Maxwell. This important demonstration was a matter of some difficulty for Hertz, since the space available to him was too small for an undisturbed development of the waves; this proof only succeeded somewhat later (1893) when the experiments were repeated in a large hall.[1] A metallically conducting wall proved to be suitable for reflecting the waves, which also agreed with Maxwell's theory We then have a node of electric force on the wall itself; no spark is there exhibited by the resonator. At the loops, where the sparks appear, the transverse nature of the waves can be proved, the electric force is at right angles to the direction of propagation of the waves. It was then also possible to study satisfactorily the waves freely radiated from the oscillator by means of the resonator, and compare them with the effects predicted by Maxwell's equation, full agreement being found

[1] A full account of these investigations by Hertz himself is to be found in his work *Electric Waves*, translated by D E Jones, with an introduction by Lord Kelvin, London, 1893 and 1900 See also his *Miscellaneous Papers*, translated by D E Jones and G. A. Schott, London, 1896.



60 Ludwig Boltzmann



61 Heinrich Hertz



62 Friedrich Hasenöhrl

Thus waves were found in the ether, exactly similar to light waves in every respect excepting length. While the waves of visible light, measured by Fraunhofer and Fresnel, were of lengths measured in ten-thousandths of a millimetre, Hertz had obtained invisible light waves of a length measured in feet, or when he made his oscillator still smaller, in inches, and he was able to investigate their electric and magnetic force in detail. No further doubt could exist that the waves of visible light are also such waves of electric and magnetic force, although these forces, in view of the smallness of the waves, cannot be detected by ordinary means. A particular proof of the fact that the waves of electric oscillators have all the properties to be expected in long light waves, was given by Hertz in his well-known concave mirror experiment He here obtained rays of electric force analogous to the rays from a searchlight, and he could demonstrate their refraction by a prism and measure it, everything being again found to agree with Maxwell's equations In this way, not only was the electro-magnetic nature of light waves and of all phenomena of light proved and rendered perfectly clear, but it was also shown that all known electric and magnetic phenomena, including those of light, are processes of the same type taking place in one and the same ether, and only differing in their spatial arrangement, but in every case following Maxwell's equations. Maxwell's equations were now the summary of everything known up to that time concerning the ether.

Since then, ether waves of every length have become known, and can be generated The waves measured in kilometres or centimetres and proceeding from electrical oscillators, link up, in a long scale of wave-lengths, with the longest infra-red waves which proceed from hot bodies, and so with the waves of the visible spectrum from red to violet; these are followed by the still shorter and again invisible ultra-violet, which are contained in the light of electric

sparks and of the electric arc, finally we have the still shorter waves of the X-rays and gamma rays, the latter being given off by radio-active bodies, and their length being measured in millionths of a millimetre

Since the correctness of Maxwell's equations was now placed beyond doubt, it was also clear that they should state correctly the limits of validity of single laws discovered earlier, such for example as Coulomb's law for the force between electrified bodies. This law only relates to stationary electricity, as can be easily recognised If, for example, a quantity of electricity is situated not far from an oscillator, it is exposed to forces which can be more or less correctly calculated by Coulomb's law, in spite of the motion of the electricity upon the oscillator, but if the quantity of electricity is half a wave-length away from the oscillator, the forces have changed their direction, they would now be calculated by Coulomb's law wrongly, not only in respect of their magnitude, but also their direction This also renders clear the fact that 'actions at a distance,' determined in a fixed manner by the distance, are non-existent in these cases. On the contrary, the forces excited by the electricity, and proceeding from it, spread out into space, and require time for this purpose; and although the propagation takes place with the velocity of light when the motion of the electricity is very rapid, and particularly when it is of a to-and-fro character, as in the case of the oscillations, the delay becomes easily perceptible. This propagation with delay is alone that which causes waves to be formed when electricity oscillates. At the same time the forces, though Coulomb's law fails to represent them, are quite correctly given by Faraday's lines of force, only these lines of force must have ascribed to them the property of moving in a direction at right angles to their own direction, with the velocity of light The exact manner in which this happens, and the forms thereby assumed by the lines of force, are correctly given by Maxwell's equations, a

fact of which Hertz brought as complete a proof as possible in the case of the oscillator.

We see that Maxwell's equations exhibit the behaviour of the electric and magnetic lines of force, their form and their motions, even in very complicated circumstances. These lines of force, which, when they are not closed in upon themselves (as are the magnetic lines always, the electric lines in waves), are linked at one end to positive, at the other to negative electricity, afford accurate and exhaustive pictures of states of space – of the ether – which are inseparably connected once and for all with the two kinds of electricity. For this reason Maxwell's equations appeared actually as the equations exhibiting the behaviour of ether, as far as that was known at the time

This necessarily suggested that the behaviour of ether could be compared by means of these equations with the behaviour of matter We know that in liquids and gases propagation of waves also occurs – these are known as sound waves – and that liquids and gases are also able to transmit pressure forces which likewise require time for their propagation In order to compare the ether with a liquid, for example, it was a matter of comparing Maxwell's equations with the equations of hydro-dynamics, and seeing whether complete agreement exists when, for example, the electric forces are interpreted as displacements in the ether, or whether other interpretations also lead to agreement.

Mathematical investigations made for this purpose have all led to the result that striking similarity exists between ether and liquids or gases (or also solid bodies) in certain respects, but that complete agreement is wanting[1] We can

[1] Particularly the profound investigations of Carl Anton Bjerknes, which were begun before the appearance of Maxwell's work, and were also not connected with it, 'On Hydrodynamic Forces at a Distance' were an important contribution to a clearer understanding of the mechanics of the ether They appeared in English, in lectures given in 1905 at Columbia University by his son V F K Bjerknes, and published under the title *Fields of Force*, London and New York, 1906

certainly say that electric lines of force have striking similarity with vortex filaments or threads, and magnetic forces with lines of flow in liquids or gases – which gives a useful basis for considering many problems, but no material body can be described which would behave exactly as the ether of electro-magnetic fields of force, and of light. It has thus become clear that ether and matter are things very different from one another. The first does not consist of the atoms known since Dalton's time; the laws of mechanics, which are all derived from the observation of matter, cannot be applied to the ether at all, or at least only to a limited degree. The ether is not a mechanism of a material nature, but has peculiar properties which go beyond those given by our experience with matter, and can only be studied in connection with the ether itself.[1]

After Hertz's time, new information concerning the electro-magnetic field arrived when the investigation of cathode rays, begun by Hittorf and Crookes, led us to the knowledge that electro-magnetic fields also exist in the interior of the atoms of matter; and the question arises whether these fields also behave in accordance with Maxwell's equations. This question must be answered in the negative, since we have obtained knowledge of the quantum-like behaviour of the atoms, which goes back to Boltzmann. The ether inside the atoms does not however appear to behave entirely differently from that outside

[1] In this connection, Tyndall's description of his impression of Faraday's remarks concerning the behaviour of ether, as regards lines of force, is very remarkable Tyndall says that Faraday often used peculiar, and sometimes obscure, turns of speech, to describe this behaviour, as though he were not in a position to make use of expressions which would be intelligible to anyone with a knowledge of mechanics (Tyndall, *Faraday as a Discoverer*, London, 1807, page 88) Tyndall would surely be able to say to-day that Faraday's remarks were the more correct, since the mechanical mode of expression, which he did not use, could not be suitable for expressing reality It was simply the materialistic preconception, which is still not yet completely eradicated, which prevented Faraday's point of view, in spite of its correctness, from being followed

the atoms,[1] but it shows certain peculiarities there, which are not contained in Maxwell's equations, and still form the subject of continued investigations.[2]

Thus Maxwell's equations also have their limits of validity; they relate only to electro-magnetic fields at a sufficient distance from atoms and to all phenomena thus taking place. It is remarkable in this connection that these fields – which alone were known before the discovery of cathode rays, and have been studied since Coulomb's time – never come into existence in any other way than by springing from the interior of atoms No free electric charges are known which do not arise from atoms, within which the elementary particles of positive and negative electricity are found in the closest connection; if charges are to be collected, it is necessary somehow to separate sufficiently far from one another the two kinds of electricity, which are found nowhere else than in atoms, and by virtue of the lines of force which connect them, always strive to return there When this is done, the field given by Maxwell's equations comes into being between the two kinds of electricity which have been collected in the form of a very large number of elementary charges

The same is true of all magnetic forces which we use, even the strongest, such as those which drive electric railways. They can only be obtained by means of moving electricity obtained from atoms, or directly from atoms (best iron atoms) in which moving electricity is already present, all that is necessary being to arrange the fields of the many such atoms

[1] Accordingly, Maxwell's equations can be applied in certain respects to electro-magnetic fields within matter, for which purpose the constants (di-electric, magnetic, conductivity), appearing in the equations, are required The dependence of the velocity of propagation (refractive index) upon the wave-length can be correctly calculated by the equations when the atoms or molecules of matter are regarded as electric resonators with their own period of oscillation (electro-magnetic theory of dispersion)

[2] A possible conception of the electric and magnetic lines of force which could also be applied inside the atom, will be found in my publication *Über Äther und Materie*, Heidelberg, 1911

or molecules in such a way that they support one another in their external action, and do not become imperceptible externally by reason of want of order in their arrangement. In the same way, all kinds of ether waves, however different they may be, according to their length, in their peculiarities, effects, and mode of origin, nevertheless only come from matter. Matter is therefore without doubt the source of all electro-magnetic fields, and nevertheless these fields have other qualities at their place of origin in the interior of the atoms, than those revealed after they have escaped outside them. They show inside the atoms peculiar properties, which go beyond Maxwell's equations.

As regards the limits of validity, which are thus not wanting also in the case of Maxwell's equations, the course of our progress in knowledge is always such that laws are found and confirmed by experiment before the limits of their validity can be recognised. The latter, that is to say the conditions which must be fulfilled for complete validity, are often discovered much later, as our experience grows. Up to the present, the only principle possessing unlimited validity appears to be the energy principle of Robert Mayer.

In his experiments on electric oscillations and waves, Hertz had continually to observe small electric sparks produced by the resonators. In this connection he noticed that the sparks were longer when the light of another simultaneous spark, or any kind of ultra-violet light, fell upon the spark gap. He also discovered that it was chiefly or exclusively the negative electrode upon which the effect depended (1887). In this way he made a discovery, the further prosecution of which has likewise opened up a large field of knowledge: that of photo-electricity As is always the case, the main matter was to produce the new phenomenon in the simplest possible form, which was very soon done (1888),[1] and then to follow it up with experiments of the

[1] Hallwach's effect.

clearest possible type, which happened eleven years later. It then appeared that when air is excluded, so that the ultra-violet light acts only upon the metallic plate upon which it falls, the light causes free electrons to leave the metals. This is the fundamental process, the thorough study of which then not only brought understanding of the various forms of photo-electric effects, also in air and other gases, but led also to a very great deal of further knowledge.

It should first be mentioned that the phenomenon of 'phosphorescence,' which had been known for over a century, now could be understood, after G. Stokes had already recognised (1853) that these phenomena, as well as that of 'fluorescence,' consist in a transformation of light taking place inside the body concerned, and resulting in a change in the refrangibility, that is the colour, of the light. It now became evident, when phosphorescent material suited to proper experiments had been made, that the exciting light liberates electrons from the metallic atoms of the phosphorescent substance, and that it is the return of these electrons which causes the after-glow with change of colour, which is peculiar to the metal contained in the phosphorescent substance. This rendered it probable that the production and emission of light – for example also in metallic atoms in the Bunsen flame – is connected quite generally with displacements of electrons.[1] This fact, particularly in conjunction with our knowledge of the structure of atoms and the quantum-like manner of their operation, very considerably advanced our understanding of all processes of light emission and its excitation

Furthermore, the photo-electric effect first enabled the

[1] Almost at the same time, studies of the 'canal rays' brought the same idea very close I have given some historical data on an earlier occasion (*Quantitatives über Kathodenstrahlen*, new edition, 1925, pp iv and v). The English reader should consult J J Thomson's *Conduction of Electricity through Gases*, Cambridge, 3rd Ed , 1928, Zworykin and Wilson's *Photocells*, London, 1930

production of cathode rays of very low velocity – slow electrons – for pure experiments in a vacuum. By subjecting them to suitable electric forces, they could be accelerated or retarded at will, as was already known in respect of the rapidly moving electrons in discharge tubes, but they could also be brought to a complete standstill and caused to reverse their direction, so that no continuous emission took place. All this has become of the greatest importance in applications which opened up entirely new possibilities (complete rectification of alternating current, production of undamped electric oscillations, and almost unlimited amplification of weak alternating currents) particularly since success was obtained in producing these slow electrons in a complete vacuum in a still simpler manner, and at the same time in unlimited quantity, by means of their emission from hot wires. It had long been known that incandescent bodies allow electricity to escape; however, as long as the observations were only possible in air, no results capable of leading to an explanation could be obtained.

Here also it was first of all necessary to arrange the experiments clear of all the complication produced by the presence of gas. The fact that these experiments were only possible at so late a date, or at least could only be carried out with certainty, was due to the continual emission of large quantities of gas from all incandescent bodies, which results in the destruction of the vacuum; only tungsten – the suitability of which was not discovered until 1913 – does not exhibit this effect, and hence allows of perfectly definite experiments being made and of satisfactory practical application, in connection with which the experience already gained with photo-electric effects was available.

The discovery of photo-electricity by Hertz came as a surprise, electrified bodies and the possibility of exposing them to ultra-violet light, had already been in existence for three quarters of a century, but no one had appeared to

show us that something was hidden behind it all Even Hertz had only arrived at the discovery by way of his confirmation of an existing theory, which had been derived from Faraday's great store, the man who always searched with confidence in the unknown.

Heinrich Hertz was the son of a lawyer and senator of Hamburg, and partly of Jewish blood. He attended the school in his birthplace, and then first studied technical science, but soon decided to devote himself entirely to physics.[1] After three years of study in Munich and Berlin, he became assistant to Helmholtz in Berlin, entered Kiel University three years later, and only two years afterwards, having in the meantime published a number of papers on different parts of physics, he received a chair at the technical high school in Karlsruhe. He there carried out his investigations on electric waves, and he also soon married. In the year 1889 he went to Bonn as the successor of Clausius. While there he published his remarkable work on the *Principles of Mechanics, presented in a new form.*[2] From 1892 onwards he became afflicted with an incurable disease, which led to his death from blood poisoning at the age of only thirty-seven years.

FRIEDRICH HASENOHRL

1874–1915

FROM the time of Faraday's discovery of self-induction, this phenomenon could already be regarded as an inertia effect. For the electric current in a wire behaves, on account of self induction, like a current of water in a pipe. When it is set

[1] See *Heinrich Hertz, Erinnerungen, Briefe, Tagebucher*, collected by his daughter Dr. Johanna Hertz, Leipzig

[2] Trans by D. E. Jones and J T. Walley, London, 1899

in motion a delay occurs – in the case of the electric current as a consequence of the opposing electromotive force, in the case of the water on account of mechanical inertia; and when the current is interrupted we perceive a striving for it to flow on – again on account of the electromotive force of induction in the wire and on account of inertia in the water.

This phenomenon of inertia in the case of electric current must not be interpreted, at any rate not for the most part, as inertia of electricity in the wire. For the magnitude of the inertia – the self-induction – is very different in the same wire according to the manner of its winding, and to its surroundings; it is for example much larger in a coil of wire, than when the same wire is stretched out straight – and it becomes very much greater still if iron is introduced into the coil If self-induction is to be regarded as a phenomenon of inertia, it would be necessary to look for the inertial mass, not in the current carrying conductor, but in the lines of force belonging to the current; for it is these that determine the self-induction.

This view remained unlikely, as long as Faraday's idea of lines of force still appeared as of minor importance; but it suddenly became very obvious, when Hertz's result had shown these lines of force to be without any doubt representative of states of space or ether, which make up the most essential feature of all electrical and magnetic phenomena. From that time on, an increasing number of attempts were made to connect inertia or mass with self-induction, that is with the states or processes in the ether represented by Faraday's lines of force; the idea being that perhaps all inertia – all mass – even that of ordinary material bodies, might be shown to be simply the mass of the accompanying ether.[1]

[1] In an analogous way Hertz developed his mechanics (1894) by taking account of mass in the ether, though in another way, the object was not to refer tangible mass, but all forces of nature, to hidden ether masses.

These endeavours only found a firm basis when the attempt was made to connect up with mass or inertia, not the ether, which is difficult of access to us, but energy, defined by Robert Mayer's well-founded and repeatedly confirmed law of conservation, and always susceptible of accurate measurement, in spite of the great variety of forms which it assumes Maxwell's theory already suggested that attention should be directed, not to the ether of the lines of force, but to the energy connected with them. For electromagnetic energy can be calculated according to Maxwell's equations from the course of the existing magnetic lines of force, whereby each element of space traversed by lines of force receives a definite fraction of the energy, so that the energy actually appears as distributed in the ether of the lines of force, almost as if this ether, and the energy, were perhaps one and the same thing Hence it might reasonably be attempted to ascribe to the energy of the field of force of an electric current, or of moving electricity generally, the mass or inertia which appears in the phenomenon of self-induction. In this way the idea arose that energy – at least electro-magnetic energy – has mass, that it possesses inertia, that it resists change of velocity

It was first attempted to carry out this idea in the simple case of a moving electron, that is to say, pure electricity without matter, which could be done by means of Maxwell's equations, but the attainment of a satisfactory result was prevented by the necessity for making certain assumptions about the electron which went beyond existing experience. Hasenohrl was the first who put aside the electron, about which too little was known, and turned to those electromagnetic fields which can exist without either matter or electricity. These are the fields of force of the electric waves realised by Hertz, about which it was also known that they behaved according to Maxwell's equations. The fact that these waves carry energy, as do all ether waves of whatever

wave-length, including those of light, is beyond all doubt; the energy can always be measured in the form of heat by causing the radiation to be absorbed in a suitable body. It was a matter of calculating the mass of this energy in the case of these waves.

Hasenohrl carried out this calculation by means of an imaginary experiment with a hollow space, which was pictured as filled with ether waves and given an acceleration. Considerations, in which Maxwell's pressure of light played an important part, this pressure being exerted by the radiation enclosed in the hollow space upon the walls of the same, allowed that part of the inertia due to the enclosed radiation, that is to say, the mass of the energy of the radiation, to be calculated. This mass is shown to be equal in grams to the quantity of energy (measured in Gauss's absolute unit) divided by the square of the velocity of light.[1] This is Hasenohrl's important and highly remarkable result.

In this way the mass of electro-magnetic energy could for the first time be calculated in a well-founded manner. But the assumption could immediately be made that this calculation ought to hold for every form of energy; for otherwise mass would disappear or appear out of nothing in the course

[1] Hasenöhrl's imaginary experiment and calculation of the same (*Berichte der Wiener Akademie*, Vol 113, 1904, and *Annalen der Physik*, Vol 15, 1904 and Vol 16, 1905) is more or less complicated. I have set some value on the most completely attainable simplicity (*Äther und Urather*, Leipzig, 1922, pp 41, 42), and I find that the same was done before me but after Hasenohrl, on another side, but Maxwell's pressure of radiation always remains the chief point. A simplification of the way by which an already known result is reached is naturally a comparatively easy matter, but it increases, and even opens up for the first time, our insight into essential features. We find in Hasenöhrl a factor 4/3 multiplying the mass of energy, which factor we left out above, as being close to unity and in accordance with the result of the simplified view, factors of this kind, which on account of the novelty of the matter, cannot be calculated at first with the completest possible approximation to reality, also appear in allied cases, such as the kinetic theory of gases. Some uncertainty in regard to them makes no difference to the main result, and they can then be corrected later, often with the recognition of further new truth.

of the continual transformation of energy, and this would contradict our experience in mechanics The masses of energy entering into ordinary processes are however very small, for the square of the velocity of light which enters into their calculation in the denominator is a very large quantity Nevertheless, the sun, for example, loses energy in the form of its radiation to the extent of five million tons of mass per second, of which about two kilograms fall on the earth, and these suffice to accomplish all known effects of energy (with the exception of volcanic energy and that of the tide).

If we assume Hasenohrl's result to hold for all forms of energy, it is the more remarkable, since energy now appears exactly like a substance; it is not only invariable in its quantity, as Robert Mayer had already shown, but it also possesses mass. With or without this generalisation to cover all forms of energy, Hasenohrl's result was as well founded as any new form of natural knowledge can be; it needs continual further proof in its application, until it is rendered sufficiently secure, and the limits of its validity are known. The applications of this idea have already progressed very far to-day, although almost entirely in the names of other people – but nowhere has any contradiction with experience been found, but on the contrary continual confirmation. Indeed, Hasenohrl's result could be further extended to show that, associated with the mass of energy, there is a corresponding *weight*, so that energy is subject to gravitation like all masses, and further even, that the masses of tangible and material bodies are to be regarded only as energy masses, and the weights of these bodies as the weights of the energy they contain

In this connection we may make the following further remarks.

A confirmation of the result was obtained by swift cathode rays If we regard kinetic energy as likewise possessing

mass like that of the electro-magnetic energy of light waves, the total mass of a moving body must increase when its velocity is increased, since there is added to the mass which it possesses in a state of rest the ever increasing mass of the kinetic energy which it contains. If this increase of mass is calculated, by means of Hasenohrl's result, with the addition of Newton's second law of motion,[1] we find that the increase of mass only becomes perceptible at very high velocities, approaching that of light; at the velocity of light it would actually become infinite. In order to be able to test whether the calculated increase is actually present in reality, it was necessary to find masses which could be given very great velocities, which velocities could also be increased at will.

Such masses exist in the cathode rays, which are quickly moving electrons. In the course of measurements of great difficulty and increasing refinement, velocities were investigated which reached to within a few per cent. of that of light, and the increase of mass was found to be exactly that calculated from the kinetic energy.[2] This is also the particular reason derived from experience, for assuming that the calculation of the mass of energy is true for all forms of the same. This shows that the velocity of light cannot be exceeded by an electron, and therefore no doubt also not by matter, which is built up of elementary electric charges, for in order to attain the full velocity of light, an infinitely great expenditure of energy would be necessary.

The proportionality between mass and weight already

[1] I carried out the very simple calculation (*Äther und Urather*, Leipzig, 1922, pp. 48, 49) in order to destroy if possible the impression which is widely prevalent that a peculiar, very complicated, and not easily understood theory, originated by Hasenohrl, is necessary to it. I later found that Hasenöhrl himself already gave this simple calculation (Stark's *Jahrbuch*, vol. 6, 1909, p. 501), in which he refers to another author, who carried it out in 1908 after his fundamental publication. It is still more remarkable that even to-day, when these results are used, no mention is made of Hasenöhrl.

[2] Here we must replace Hasenohrl's factor 4/3 by 1, as we can also see from the simplified calculation from the pressure of light.

recognised by Newton at once suggests the question whether the mass of energy possesses a corresponding weight in this proportion, whether, therefore, energy is subject to gravitation. This question has been answered in two ways in the affirmative In the first place, a deviation of the light from fixed stars when passing close to the sun has been observed at eclipses The rays of light are bent towards the sun, and as far as the difficult observations, which are influenced by refraction in the sun's atmosphere, can show, about to the extent that would be expected in the case of any body subjected to gravitation and projected with the velocity of light close past the sun. The energy mass of light thus appears to exhibit, as far as we can see, a gravitation equal to that of the mass of all heavy bodies

On the other hand, radio-active bodies, such as uranium, were used as the bobs of pendulums, in order that in their case the proportionality between mass and weight could be tested as in the pendulum experiments of Galileo and Newton, and this proportionality was found to be confirmed In this case a distinctly sensible part of the mass of radio-active atoms consists without doubt of energy, for these atoms continually emit great quantities of energy in the form of the radiations and heat which they develop If this part of the mass of the atoms did not possess a corresponding weight, the pendulum experiments would have shown a discrepancy, which however was not the case.

According to these results, which were obtained in connection with Hasenohrl's investigations, energy behaves exactly like a substance. It does not alter its quantity, as Robert Mayer showed, it possesses inertia and also a corresponding weight. This immediately suggests that its distribution in space should be investigated in each individual case, and this can at once be carried out. We find that energy in all its forms always exists only in electro-magnetic fields of force. This allows us to assume that the whole

mass of all substances, of all atoms including the non-radio-active, is only energy mass, so that also all ordinary weight is only energy weight. For our experience with cathode rays has shown strong electro-magnetic fields of force to exist in the interior of all atoms, and even the centres of these fields of force, the negative and positive elementary charges, are themselves to be regarded as concentrations of energy. It was further hardly to be doubted that the almost exact whole numbers of the atomic weights is the result of the atoms containing whole numbers of elementary quantum pairs,[1] while the – generally small – departures from whole numbers depend upon differences in the content of energy, and hence the weight, of the electro-magnetic fields of the pairs [2]

If we accordingly regard ether and matter from this point of view, the distinction between the two, which together make up the material world, may appear to be obscured, for in both of them energy and hence mass and weight have been found, although in very different degrees. We have taken away from matter its hitherto imagined distinction from ether Matter appears according to the facts we have just summarised only as a special case of energy, and we now have to set side by side not matter and ether, but rather energy and ether

Of matter we must say that its atoms represent enormous concentrations of energy, which however for the most part must be looked upon as untransformable Only the heaviest and radio-active atoms emit energy of themselves,

[1] Such a pair, consisting of a positive and negative elementary charge with the corresponding field of force, regarded as a fundamental constituent of all atoms, has also been called a 'dynamid ' Hence we may, at the present time, regard it as established that gravitation and inertia are properties belonging to energy and to it alone These properties were at first discovered only in the case of matter, because its atoms are enormous accumulations of energy

[2] A full account of these matters will be found in my paper *Über Energie und Gravitation*, Heidelberg Academy 1929

and disintegrate in the process, otherwise all atoms are able to take up energy from their surroundings, and to give it up again, and as we have found, they do this by quanta We have likewise already remarked that all energy existing outside the atoms (electro-magnetic waves and all electro-magnetic fields of force) is only derived from atoms. As distinctive of matter there remains the positive elementary quantity of electricity, which appears to be a fundamental constituent of all atoms, inasmuch as none of these positive quantities, as distinguished from the negative charges, the electrons, can be removed from an atom without destroying the same, and transforming it into another kind of atom The positive quantity also carries a very much larger mass – that is to say energy – than the negative, a mass over one thousand times as great, if the lightest atom, that of hydrogen, consists of only one positive and one negative elementary charge, as would appear from our present knowledge.

If we cast our eyes over the discoveries made concerning ether from Huygens to Hasenöhrl, we still notice that our knowledge is very incomplete Originally, in Huygens' case, the ether appeared as the medium in which the waves of light are propagated, the knowledge of which was very greatly extended by Young, Fraunhofer and Fresnel. Then, thanks to Faraday, Maxwell, and Hertz it was generally recognised as the medium of all electro-magnetic forces, which are also the essential feature of light-waves Later on, the interference experiment continually refined since the time of Fresnel,[1] together with observations of double stars, showed that the ether cannot be assumed to be either stationary or in motion in the whole of cosmic space, but

[1] We refer particularly to the Michelson experiments, but other electro-magnetic experiments belong in the same category, and these have often been summarised, and will be found specially treated in my *Äther und Urather* A further interference experiment, which has hitherto been far too little followed up, appears to show that the ether does not take part in rotary motions of matter The beginning of all these experiments goes back to Maxwell (see *Nature*, 29th January, 1880, page 314 ff)

that it – as the medium in which light and all electromagnetic fields are propagated with the velocity of light – shares to a corresponding degree the motion of every heavenly body, such as the earth, and indeed of every atom of matter to which it is in close proximity. Finally, after the steps forward initiated by Hasenohrl, new questions regarding the ether can be asked: does it not appear necessary – if every atom has its own ether – to ascribe to every quantity of energy its own quantity of ether, as being always attached to it, quite independently of whether it is energy within or without matter? And does not the ether then appear altogether simply as an appurtenance of energy, which accompanies every quantity of energy in a large radius around it, decreasing in power and reaching as far as the gravitational effect of the energy reaches, that is to say – as far as we know – to infinity? But would this not then immediately make it clear, as we have known to our astonishment since Newton's time, that every atom is at all times everywhere present with its gravitational effect? Every ray of light would then – in accordance with its energy content – carry with it its own ether, moving with the velocity of light through the surrounding ether. The ether would then by no means be a uniform medium filling all space uniformly; but all space would nevertheless be filled with ether. The *Urather* existing in cosmic space far from all heavenly bodies and there determining the velocity of light, would be the totality of all the various parts of ether, more or less equally represented, belonging to the energies (masses) present all around.

Space and ether appear, in view of such considerations, still less identical than ever. The ether is not space; it may be described as the secret of space, especially when we take into account the phenomena of life, caused by mind, but also taking place in space, together with the fact that everything in nature is always found to act as a single unity.

We see that the connection between space, ether and energy (to which matter also belongs), and gravitation, which at present can only be stated in the form of suppositions or questions, shows us to what extent we are surrounded by the vast unknown, which has only been reduced but little since the time of Pythagoras. But the fact that questions of this kind can, thanks to Hasenohrl, be stated in so definite a manner, as to lead to new ideas, means that we stand at the beginning of further progress, which will occupy the great men of science of the future, and will without doubt lead to further surprises, inasmuch as nature will again speak to us, and these surprises will perhaps be very unlike what we now suppose, for this is what has happened in the course of the centuries, through the work of the great men whom we have considered

Friedrich Hasenohrl was born, like Boltzmann, in Vienna. His father was a lawyer, his mother came of an old military family. He first entered an aristocratic school, later the *Gymnasium*, and then studied natural science and mathematics at the university of his birthplace, particularly as a pupil of Stefan and Boltzmann. Before the conclusion of his university course he had already finished several mathematical investigations, which earned him the warm approbation of his teachers, and later also some experimental work. He soon married, and became a *privatdozent* in Vienna After six years he became professor at the Viennese Technical High School, and a little later Boltzmann's successor at the university. He was only able to work there for eight years, under favourable circumstances.

Then the war broke out, and Hasenohrl immediately volunteered. He was everywhere at the front, first at the defence of Przemysl, then in the Tyrolese mountains, which he knew and greatly loved. After a bullet wound, which was more or less healed, he again went to the front, and fell in the second year of the war at Vielgereuth, only forty-one

years old. He was of a simple, kindly and modest nature. Only when it was a matter of self-sacrifice was he to be found in the front ranks; when it was a matter of gaining rewards, he was in the background, even when he was the person most concerned, as we see in the most astonishing manner in his writings. He loved music and his violin, as Galileo his lute; he was very fond of his family and as extremely modest and thankful for the smallest service as Kepler; the Alps were his beloved place of recreation as with Tyndall, in his work we find the thoroughness of Stefan and Boltzmann.

NAME INDEX

SUBJECT INDEX